Gagnanchal

Vol. 10
1987

G. K. V.
Hardwar
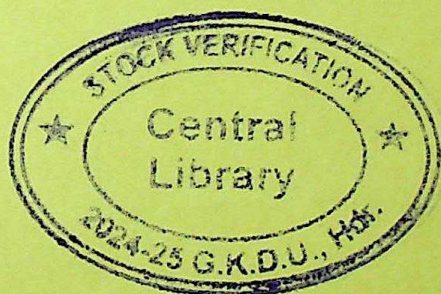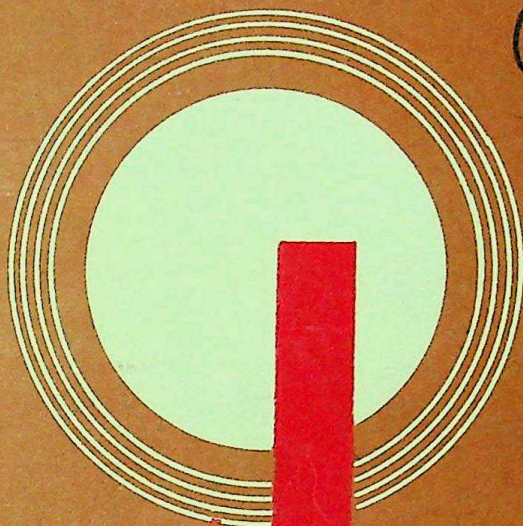
गगनाञ्चल

वर्ष १० अंक १   १९८७

इस अंक में

साथ ही

[illegible] इत्यादि

गगनाञ्चल

वर्ष १० अंक १ १९८७

भारतीय सांस्कृतिक संबंध परिषद्
नयी दिल्ली

प्रकाशक

ललित मानसिंह, महानिदेशक, भारतीय सांस्कृतिक संबंध परिषद्, नयी दिल्ली-११०००२

संपादक

गिरिजा कुमार माथुर

प्रकाशन सहायक

अमरेंद्र मिश्र

आवरण

कांतिराय

मुद्रक :

एस.बी. प्रिंटर्स, बी-१७, सेक्टर ८ नौएडा

शुल्क दरें

एक अंक	वार्षिक	त्रैवार्षिक
रु० ५.००	रु० २०.००	रु० ५०.००
£ १.००	£ ४.००	£ १०.००
$ २.५०	$ १०.००	$ २५.००

भारतीय सांस्कृतिक संबंध परिषद् भारत सरकार के विदेश मंत्रालय के अधीन एक स्वायत्त संगठन है। भारत व अन्य देशों के मध्य सांस्कृतिक संबंधों एवं पारस्परिक सद्भाव को स्थापित तथा संपुष्ट करने के उद्देश्य से १९५० में परिषद् की स्थापना की गयी थी। भारत तथा दूसरे देशों के मध्य इस सांस्कृतिक संवाद के उद्देश्य से आयोजित अपने प्रकाशन कार्यक्रम में परिषद् अन्य गतिविधियों के अतिरिक्त त्रैमासिक पत्रिकाएँ भी प्रकाशित करती है जो हिंदी **(गगनाञ्चल)**, अंग्रेजी **(इंडियन हराइज़न्स, अफ्रीका क्वार्टरली)**, अरबी **(सक़ाफ़त-उल-हिंद)**, स्पेनिश **(पपेलस-दे-ला-इंडिया)** और फ्रेंच **(रकौंत्र अवेक लैंद)** भाषाओं में है। हिंदी, अंग्रेजी, अरबी, स्पेनिश और फ्रेंच त्रैमासिकों की शुल्क दरें साथ दी हुई हैं। 'गगनाञ्चल' के शुल्क के भुगतान से संबंधित पत्र-व्यवहार और प्रकाशन सामग्री के लिए संपादक 'गगनाञ्चल' से निम्नलिखित पते पर संपर्क किया जाना चाहिए :

भारतीय सांस्कृतिक संबंध परिषद्
आज़ाद भवन, इंद्रप्रस्थ एस्टेट
नयी दिल्ली-११०००२

गगनाञ्चल

वर्ष १० अंक १ १९८७

पुस्तकें

वक्त की धूप

डॉ. रवींद्र भ्रमर

वक्त की धूप कितनी कड़ी है।
बन के पत्थर अहल्या पड़ी है।।

सूखकर रह गई है जो काँटा,
फूल की कोई नाजुक छड़ी है।।

पैजनी कहके डाली थी बेड़ी,
चूड़ियों में छिपी हथकड़ी है।।

वक्ष में बिजलियाँ दौड़ती हैं,
आँख सावन की लगती झड़ी है।।

दिल में दुखड़ों की लंबी कहानी,
किंतु ओठों पे चुप्पी जड़ी है।।

कोई सामंत है या पुरोहित,
उसकी गर्दन पे किसकी छुरी है।।

राम आएँ तो उद्धार होगा,
यह प्रतीक्षा की नाजुक घड़ी है।।

वक्त की धूप कितनी कड़ी है।
बन के पत्थर अहल्या पड़ी है।।

□

ऋग्वैदिक सरस्वती का मार्ग

ऋग्वैदिक सरस्वती का मार्ग

लुप्त सरस्वती की तलाश

गुणाकर मुले

प्राचीन काल की सभी प्रमुख सभ्यताओं का विकास नदियों के तट पर हुआ है। नील, दजला-फरात, सिन्धु, ह्वांङ्-हो आदि नदियों ने महान सभ्यताओं को जन्म दिया है। भारतीय उप-महाद्वीप की प्राचीन हड़प्पा संस्कृति के अनेक स्थल सिंधु तथा उसकी सहायक नदियों के तटों पर मिले हैं।

लेकिन वेदों के सूक्तों की रचना करने वाले आर्यभाषियों की प्रमुख नदी सरस्वती थी। सरस्वती के तट पर अनेक आर्यभाषी कबीलों का निवास रहा है। इसके तट पर उन्होंने अनेकानेक यज्ञ किये हैं। कई ऋग्वैदिक ऋषियों ने अपने सूक्तों में सरस्वती की महिमा का सुंदर वर्णन किया है। सरस्वती को उन्होंने समस्त नदियों की माँ और 'नदीतमा' यानी सर्वश्रेष्ठ नदी कहा है। (ऋग्वेद, २, ४१, १६)।

आज के भारतवासी गंगा को सर्वाधिक पुनीत नदी मानते हैं। परंतु ऋग्वैदिक आर्यभाषी गंगा से विशेष परिचित नहीं थे। ऋग्वेद के पहले नौ मण्डलों में गंगा का कोई उल्लेख नहीं है। कुछ बाद में रचे गये दसवें मण्डल में ही गंगा का नाम आया है, सो भी केवल एक बार। गंगा या गंग शब्द भी शायद मूल आर्यभाषा का नहीं है।

ऋग्वेद में गंगा का विशेष जिक्र न होने का कारण यही हो सकता है कि ऋग्वैदिक आर्यभाषी गंगा की द्रोणी में दूर तक नहीं पहुँचे थे। ऋग्वेद में यमुना का उल्लेख तीन बार आया है। ऋग्वेद की **नदीस्तुति** (१०, ७५, ५) में पूर्व में गंगा से लेकर पश्चिम में अफगानिस्तान तक की नदियों के क्रमिक नाम दिये गये हैं—गंगा, यमुना, सरस्वती, शुतुद्रि (सतलुज), विपाशा (व्यास), परुष्णी (रावी), असिकनी (चिनाब), वितस्ता (झेलम), ... सिन्धु, कुभा, गोमती आदि। इनमें से सिंधु के पश्चिम की कुभा आज की काबुल नदी है; और गोमती कुभा की सहायक गोमल नदी है, उत्तर प्रदेश की आज की गोमती नहीं।

ऋग्वेद के अनुसार सरस्वती का स्थान यमुना और सतलुज के बीच रहा है। यह भी जानकारी मिलती है कि सरस्वती के साथ-साथ दृषद्वती नदी बहती थी। ऋग्वेद में कई बार सरस्वती और दृषद्वती के नाम साथ-साथ आये हैं। ऋग्वेद यह भी जानकारी देता है कि इन दो नदियों के बीच में **आपया** नदी का प्रवाह है। अनेक विद्वानों का मत है कि ऋग्वेद की दृषद्वती आज की घग्घर है और आपया शायद मारकंडा है। ऋग्वैदिक आर्यभाषियों के लिए सरस्वती, आपया और दृषद्वती नदियों का यह प्रदेश सर्वाधिक महत्व का था। बाद में अनेक धर्मग्रन्थों ने इसे पुण्यभूमि माना है और **ब्रह्मावर्त** कहा है।

ऋग्वेद यह भी जानकारी देता है कि सरस्वती पहाड़ों से निकलती है और समुद्र में पहुँचती है। इस नदी को वेगवती, अन्नदात्री, प्राचुर्यदायिनी आदि कहा गया है। सरस्वती के बारे में ये तमाम उल्लेख स्पष्ट

रूप में बताते हैं कि उस समय यह काफी बड़ी नदी थी और ऋग्वैदिक आर्यों के धार्मिक और लौकिक जीवन में इसका बड़ा महत्व था।

लेकिन आज सरस्वती शिवालिक पहाड़ियों से निकलकर कुरुक्षेत्र तक मुश्किल से पहुँचने वाली एक छोटी-सी धारा है। ऋग्वेद-काल के कुछ समय बाद ही सरस्वती सूख गई थी, लुप्त हो गई थी। **पंचविंश-ब्राह्मण** में पहली बार सरस्वती के लुप्त होने का स्पष्ट उल्लेख मिलता है। महाभारत के शल्यपर्व में आख्यान है कि बलराम ने सरस्वती के मुहाने से लेकर उद्गम तक की यात्रा की थी और देखा था कि यह नदी कई स्थानों पर विलुप्त है। महाभारत के वनपर्व से यह भी जानकारी मिलती है कि लुप्त होने के बाद जिन तीन स्थानों पर सरस्वती पुनः प्रकट होती है उनके नाम हैं— चमसोद्भेद, शिरोद्भेद और नागोद्भेद। महाभारत के अलावा और भी कई प्राचीन ग्रंथों में सरस्वती के **प्लक्ष-प्रस्रवण** स्थान पर प्रकट होने और **विनशन** स्थान पर लुप्त होने के बारे में उल्लेख मिलते हैं। जिस झरने से सरस्वती का उद्गम हुआ था वह **प्लक्ष** नामक वृक्ष के पास था, इसलिए इसे प्लक्षावतरण या प्लक्ष-प्रस्रवण कहा गया।

अब सवाल है—ऋग्वेद की सरस्वती ठीक किस क्षेत्र से बहती थी और बाद में किन कारणों से सूख गई या लुप्त हो गई?

प्राचीन भारतीय संस्कृति के सम्यक् अध्ययन के लिए इस सवाल का उत्तर प्राप्त करना अत्यावश्यक है। कारण, इस सवाल का जवाब ऋग्वैदिक आर्यों की कर्मभूमि को निर्धारित करता है। आर्यभाषी लोग इसी देश के मूल निवासी हैं या कि बाहर से यहाँ आये, यह पहेली भी काफी हद तक सरस्वती की पहेली के साथ जुड़ी हुई है।

पिछले तीन-चार दशकों में सरस्वती की पहेली के साथ एक और पहेली जुड़ गई है। आरंभिक दौर में सिंधु सभ्यता के अधिकांश स्थल सिंधु नदी की उपत्यका में यानी आज के पाकिस्तान में खोजे गये थे। परंतु १९४७ के बाद उत्तरी राजस्थान, गुजरात, पंजाब, हरियाणा और पश्चिमी उत्तर प्रदेश में सिंधु सभ्यता के बहुत सारे नये स्थल मिले हैं। इसे हम ऋग्वेद की सरस्वती का क्षेत्र मान सकते हैं। पर सवाल उठता है—सिंधु संस्कृति और ऋग्वैदिक संस्कृति, दोनों की उपस्थिति सरस्वती की घाटी में एक साथ कैसे संभव है? आज पुराविदों के सामने यह एक बहुत बड़ी पहेली है। इसे सुलझाने के लिए ऋग्वेदकालीन सरस्वती के प्रवाह को निर्धारित करना अत्यावश्यक है।

आज भारत के विभिन्न प्रदेशों में अनेक नदियों का नाम सरस्वती है। इलाहाबाद में गंगा, यमुना और लुप्त सरस्वती का संगम माना जाता है, पर वहाँ सरस्वती का कहीं कोई अस्तित्व नहीं है। ऋग्वेद में प्रयाग के इस त्रिवेणी-संगम का कोई उल्लेख नहीं है। रामायण या महाभारत में भी इस त्रिवेणी-संगम के पास कोई सोता आ गिरता हो और उसे ही बाद में सरस्वती मान लिया गया हो। पर यह ऋग्वैदिक सरस्वती कदापि नहीं हो सकती।

उत्तराखंड में माणा गाँव के पास एक नदी अलकनंदा में गिरती है; उसका नाम भी सरस्वती है। पर उसे ऋग्वेद की सरस्वती मानने में अनेक कठिनाइयां हैं।

महाराष्ट्र में कृष्णा की एक सहायक नदी का नाम सरस्वती है। सौराष्ट्र में सोमनाथ के समीप की कपिला नदी की एक सहायक नदी का नाम सरस्वती है। इसी प्रकार, बंगाल, बिहार और केरल में भी सरस्वती नाम की नदियां हैं।

एक ही नाम की अनेक नदियों को होना एक स्वाभाविक बात है। ऋग्वैदिक आर्यों के लिए सरस्वती का महत्व सबसे ज्यादा था। इसलिए बाद में आर्यभाषी जहाँ भी गये, वहाँ किसी न किसी नदी का नाम उन्होंने सरस्वती रख दिया। गंगा के साथ भी ऐसा ही हुआ है। आर्यभाषी लोग श्रीलंका पहुँचे, तो वहाँ की

सबसे बड़ी नदी का नाम उन्होंने महावेलिगंग रख दिया।

कंदहार (अफगानिस्तान) के पास हेलमंद नदी की एक सहायक नदी का नाम अरगंदाब है। अवेस्ता के अनुसार किसी समय इस नदी का नाम हरह्वैती था। सम्राट दारयवहु के बेहिस्तुन शिलालेख में इस नदी को **हरौवतिश** कहा गया है। कुछ विद्वान अफगानिस्तान की इस हरह्वैती को ही ऋग्वेद की सरस्वती मानते हैं। पर इस समीकरण को स्वीकार करने में अनेक कठिनाइयां हैं। हाँ, यह संभव है कि हरह्वैती के तट पर अपने आरंभिक पड़ाव के बाद आर्यभाषी लोग जब भारत पहुँचे तो उन्होंने यहाँ जिस नदी के पास पड़ाव डाला उसे भी सरस्वती नाम दे दिया हो। हरह्वैती और सरस्वती में निश्चय ही नामसाम्य है। ऋग्वेद और अवेस्ता की भाषा में भी काफी साम्य है।

ऋग्वेद में सिंधु की महिमा का भी वर्णन है, इसलिए कुछ पाश्चात्य विद्वानों का मत रहा कि ऋग्वेद की सरस्वती असल में आज की सिंधु ही है। लेकिन यह समीकरण संभव नहीं है। ऋग्वेद में जिस सप्तसिंधु प्रदेश की जानकारी है वह सिंधु-सहित पाँच नदियों और सरस्वती तथा दृषद्वती का सम्मिलित प्रदेश है। ऋग्वेद के एक ऋषि भारद्वाज ने इस सातों नदियों को **सप्त स्वसा सरस्वती** (सात बहनें सरस्वती) कहा है। सभी तथ्यों पर विचार करने से स्पष्ट होता है कि ऋग्वेद की सरस्वती एक तरफ सिंधु से और दूसरी तरफ यमुना-गंगा से पूर्णत: पृथक रही है।

अब शिवालिक पहाड़ियों से निकलने वाली नदियों पर विचार कीजिए। सरस्वती नदी इन्हीं शिवालिक पहाड़ियों के आदिबद्री स्थान से निकलकर कुरुक्षेत्र के निकट से बहती है और आगे चलकर रेत में सूख जाती है। आज भी स्थानीय लोग इसे एक पवित्र नदी मानते हैं। घग्घर-हकड़ा की धाराएँ भी शिवालिक पहाड़ियों से ही निकलती हैं। घग्घर को भी कुछ लोग सरस्वती के नाम से ही जानते हैं।

शिवालिक पहाड़ियों से निकलने वाली ये नदियाँ पिघली बर्फराशि का जल प्राप्त नहीं करतीं; इसलिए ये बारहमासी नदियां नहीं हैं। सिंधु, गंगा, ब्रह्मपुत्र, यमुना और सतलुज का उद्गम ऊँचे हिमालय के हिमक्षेत्र में हुआ है, इसलिए वे बारहमासी नदियाँ हैं। सतलुज और यमुना के बीच शिवालिक पहाड़ियों में ऐसा कोई मार्ग नहीं है जिससे होकर ऊँचे हिमालय की कोई बड़ी नदी मैदान में पहुँच सके। सरस्वती और घग्घड़-हकड़ा (दृषद्वती) के प्रवाह इन दो बड़ी बारहमासी नदियों के बीच में हैं। इसलिए सरस्वती और दृषद्वती के प्रवाहों के आगे जाकर सूखने या लुप्त हो जाने के कारणों को हमें सतलुज और यमुना के प्रवाहों में ही खोजना होगा।

पिछले करीब सौ वर्षों से देश-विदेश के अनेक पुराविद सरस्वती के प्रवाह को निर्धारित करने और इसके लुप्त होने के कारणों की खोज करते आ रहे हैं। सबसे पहले अंग्रेज भूगोलवेत्ता सी. एफ ओल्डहम ने राजस्थान के रेगिस्तान में घग्घर, नईवाल और हकड़ा के सूखे पाटों की खोजबीन की थी। उनका मत था कि अभी एक हजार साल पहले तक सतलुज नदी घग्घर-हकड़ा के सूखे पाटों में बहती थी। प्रसिद्ध भूगर्भशास्त्री डी.एन. वाडिया का मत रहा है कि किसी समय यमुना क़ा पानी आज की सूखी सरस्वती में पहुँचता था। एफ. अहमद का मत है कि पहले यमुना एक बहुत छोटी नदी थी और अपना जल हिंडन मे छोड़ती थी। बाद में उसने दृषद्वती की सहायक नदियों का जल चुरा लिया और वह बड़ी नदी बन बैठी।

पिछले कुछ दशकों में पुराविदों के कई दलों ने हिमाचल प्रदेश के सिरमौर जिले के शिवालिक पहाड़ियों से निकलने वाली नदियों के पाटों की छानबीन की है। पता चला है कि यहाँ से निकलने वाली जो धाराएँ पहले सरस्वती या दृषद्वती में गिरती थीं, वे अब पूरब की ओर यमुना में या पश्चिम की ओर सतलुज में मिलती हैं। गिरी नदी पहले घग्घर में गिरती थी, लेकिन अब यमुना में मिलती हैं। इसी

प्रकार, पहले जो धाराएँ घग्घर की सहायक नदी मारकंडा में मिलती थीं, वे अब नाहन के पास यमुना में गिरती हैं।

डा. सूरजभान तथा कुछ अन्य पुराविदों का स्पष्ट मत है कि यमुना नदी प्राचीन काल में दृषद्वती के मार्ग में बहकर सरस्वती में मिलती थी। शिवालिक पहाड़ियों में आज भी यमुना का मार्ग दृषद्वती के काफी निकट है।

पश्चिम की ओर यही हाल सतलुज का है। प्राचीन काल में सतलुज का जल नईवाल (या नाईवाल) नदी के मार्ग में बहकर घग्घर या सरस्वती में पहुँचता था। सतलुज के ये पुराने मार्ग नईवाल के नाम से आज भी मौजूद हैं।

इधर के वर्षों में प्राचीन सरस्वती के अन्वेषण की दिशा में वैज्ञानिक महत्व का एक और प्रयास हुआ है। धरातल से नदियों के सूखे पाटों को पहचानने में अनेक कठिनाइयां हैं। परंतु अंतरिक्ष की ऊँचाई से बड़ी आसानी से पहचाना जा सकता है कि नदियों के पाट कहाँ-कहाँ हैं या रहे हैं। तीन-चार सौ किलोमीटर की ऊँचाई पर स्थापित भूसर्वेक्षक उपग्रहों से धरती के चप्पे-चप्पे की जानकारी प्राप्त की जा सकती है। भूमिगत जल-प्रवाहों को भी खोजा जा सकता है।

लैंडसैट नामक भूसर्वेक्षक उपग्रहों के कैमेरों से धरातल के बहुत सारे चित्र उतारे गये हैं। अहमदाबाद की भौतिकीय अनुसंधान प्रयोगशाल के वैज्ञानिक डॉ. डी. पी. अग्रवाल ने लैंडसैट उपग्रहों द्वारा १९७२-७७ के दौरान लिये गये राजस्थान, पंजाब और हरियाणा के चित्रों का विस्तृत अध्ययन किया है। इन चित्रों से उन्हें इन प्रदेशों के अनेक सूखे पाटों के बारे में जानकारी मिली है।

यदि हम आज की सतलुज के प्रवाह का ध्यान से निरीक्षण करें, तो पता चलता है कि रोपड़ के पास यह नदी एकाएक समकोण बनाती हुई दक्षिण से पश्चिम की ओर मुड़ जाती है। यह स्थिति इस बात की सूचक है कि अतीत में सतलुज यहाँ दक्षिण की ओर बहती थी, पर किन्हीं भूगर्भीय विप्लवों के कारण उसका प्रवाह यहाँ खंडित होकर पश्चिम की ओर मुड़ गया।

अब आइए, पटियाला के पास। पटियाला से कोई २५ किलोमीटर दक्षिण में घग्घर की घाटी एकाएक आठ किलोमीटर चौड़ी हो जाती है, जबकि इसके ऊपर वह काफी संकरी है। कारण स्पष्ट है। एक समय था जब रोपड़ के पास से दक्षिण की ओर आगे बढ़कर सतलुज अपना पानी यहाँ (पटियाला के करीब २५ किलोमीटर दक्षिण में) घग्घर में उड़ेलती थी। लैंडसैट उपग्रहों से प्राप्त चित्रों में सतलुज का घग्घर में प्रवाहित होने वाला सूखा पाट साफ नजर आता है। इसी तरह, कई धाराएं, जो आज यमुना में मिलती हैं, किसी समय जींद, हिसार और नोहा से होती हुई सूरतगढ़ के पास सरस्वती से जाकर मिलती थीं।

अतः स्पष्ट है कि ऋग्वैदिक सरस्वती और दृषद्वती की अनेक सहायक धाराओं को पश्चिम की ओर सतलुज ने और पूर्व की ओर यमुना ने ले लिया है। यह रद्दोबदल आज से करीब तीन हजार साल पहले हुआ।

रोपड़ के पास पश्चिम की ओर मुड़ने के बाद सतलुज समय-समय पर कई धाराओं में बहती रही है। उसके पुराने पाट नईवाल नामक धाराओं के रूप में आज भी पहचाने जा सकते हैं। सतलुज अंततः व्यास से जाकर मिली। इस संगम के आगे आज इसका नाम सतलुज है। पर फीरोजपुर के आगे स्थानीय मल्लाह सतलुज को आज भी बिआह (व्यास) कहते हैं। अतः स्पष्ट है कि पुराने समय में यह सतलुज नदी व्यास के नाम से जानी जाती थी।

इस प्रकार, स्पष्ट होता है कि सतलुज और यमुना ने सरस्वती की धाराओं को अपने में मिला लिया। इसलिए ऋग्वैदिक काल की यह नदी बाद में सूख गई, लुप्त हो गई। नदी का पाट बदलना या सूख

जाना कोई अनोखी घटना नहीं है। आधुनिक काल में ही कोसी नदी ने अपना मार्ग करीब १५० किलोमीटर तक बदला है। कभी-कभी तो एक साल में ही उसका मार्ग २० किलोमीटर की छलांग लगाता है।

ऋग्वैदिक सरस्वती का क्षेत्र और मार्ग निश्चित हो जाने पर भी प्राचीन भारत के इतिहास से संबंधित प्रमुख गुत्थियों का खुलासा नहीं होता। ऋग्वैदिक आर्यों का सरस्वती के तट पर निवास होना निश्चित है। साथ ही हम देखते हैं कि आज की विलुप्त सरस्वती के मध्य भाग में सिंधु सभ्यता की हड़प्पा-पूर्व और हड़प्पा काल की बस्तियां थीं, और हरियाणा में इसके तथा इसकी सहायक नदियों के तटों पर उत्तर-हड़प्पा काल की बस्तियां रहीं। उदाहरण के लिए, उत्तरी राजस्थान के गंगानगर जिले में सरस्वती के तट पर **कालीबंगां** में ठेठ हड़प्पा काल में (आज से ४५००-३७०० साल पहले) वैसी ही बस्ती थी जैसी कि मोहेंजोदड़ो या हड़प्पा में थी। इसी तरह, प्राचीन दृषद्वती के तट पर उत्तर-हड़प्पा काल के अनेक स्थल खोजे गये हैं। सरस्वती के सूखने के कारण ही कालीबंगां का अवसान हुआ होगा। यही बात हरियाणा के दूसरे कई हड़प्पा-स्थलों के बारे में कही जा सकती है। रोपड़ भी हड़प्पा संस्कृति का स्थल है। उत्तर-हड़प्पा संस्कृति के स्थल पूर्व में हिंडन नदी तक मिले हैं।

प्रश्न है— सरस्वती की घाटी में सिंधु सभ्यता और ऋग्वैदिक सभ्यता, दोनों का अस्तित्व कैसे संभव है? अब तक इन दोनों सभ्यताओं को हम देश और काल की दृष्टियों से अलग-अलग मानते रहे हैं। यह भी मान्यता रही है कि आर्यभाषी लोग बाहर से इस देश में आये, और इन्होंने ही सिन्धु सभ्यता का सफाया किया है। पर नई जानकारी अब इस मान्यता पर प्रश्नचिह्न लगाती है।

इतना निश्चित है कि सिंधु सभ्यता केवल सिंधु की घाटी तक सीमित नहीं थी। यह सरस्वती की घाटी में भी फैली हुई थी। जब तक सरस्वती में जल का भरपूर बहाव रहा, तब तक इसके तट पर हड़प्पा संस्कृति की बस्तियां फलती-फूलती रहीं। सरस्वती के सूख जाने पर इन बस्तियों के लोगों ने सौराष्ट्र, हरियाणा, पंजाब तथा उत्तर प्रदेश में नई बस्तियां स्थापित कीं।

जब सरस्वती भरपूर पानी के साथ बहती थी तब इसके तट पर ऋग्वैदिक आर्यभाषियों का भी निवास रहा है। तो क्या ऋग्वैदिक सभ्यता और सिंधु सभ्यता, दोनों ही समकालीन थीं? या फिर, दोनों सभ्यताएं वस्तुतः एक ही थीं, और आर्यभाषी लोग बाहर से नहीं आये, बल्कि इसी देश के मूल निवासी थे?

डा. गंगानाथ झा, डा. सम्पूर्णानंद आदि कई विद्वानों का मत रहा है कि आर्यों का मूल स्थान भारत ही है। अभी पिछले साल डा. विष्णु श्रीधर वाकणकर के नेतृत्व में एक अभियान-दल ने आदिबद्री से कच्छ तक सरस्वती के पुराने पाट की पुरातात्विक खोजबीन की है। वाकणकर भी सिंधु सभ्यता को ऋग्वैदिक सभ्यता ही मानते हैं। इसे वे **सारस्वत सभ्यता** का नाम देना उचित समझते हैं।

परन्तु वस्तुस्थिति यह है कि पूरी समस्या अभी सुलझी नहीं है। जटिल समस्या यह है कि आर्यभाषियों का भरपूर वाङ्मय उपलब्ध है, उनकी भाषा भी हमें ज्ञात है, पर उनके लौकिक जीवन के साक्ष्यभूत पुरावशेष नहीं मिलते। दूसरी तरफ, सिंधु सभ्यता के वैभव को व्यक्त करने वाले बहुत सारे पुरावशेष मिले हैं, मुहरों पर उत्कीर्ण संक्षिप्त लेख भी मिले हैं। लेकिन इन लेखों को पढ़ पाना अभी संभव नहीं हुआ है, इसलिए सिन्धु सभ्यता की भाषा अभी अज्ञात है। पुरातत्वविद् डा. एस. आर. राव का दावा है कि उन्होंने सिंधु लिपि का उद्घाटन कर लिया है। उनके मतानुसार सिंधु लेखों की भाषा प्राक्-वैदिक है। परंतु दूसरे अनेक पुरालिपिविदों का मत है कि सिंधु सभ्यता की भाषा द्रविड़ परिवार की थी।

अतः सारी समस्या सिंधु लिपि के पूर्ण उद्घाटन के बाद ही सुलझ सकती है। सिंधु लेखों की भाषा मालूम हो जाने पर ही स्पष्ट हो सकेगा कि ऋग्वेद की सारस्वत सभ्यता का सिंधु सभ्यता के साथ क्या संबंध था। □

परंपरा का सवाल और काव्य-भाषा

डॉ. जगदीश गुप्त

परंपरा जब अस्मिता की अन्वेषणात्मक धारणा से उपजती है तो वह स्वत्व की पहचान बन जाती है। उसे नकारना खुद अपने को नकारने जैसा हो जाता है। परंतु सार्थकता और मूल्यवत्ता के बिना उसे ढोते रहना भी बेमानी लगने लगता है।

सूखी नदी परंपरा नहीं रचती। प्रवाह ही उसे संभव बनाता है। परंपरा अनुसरण से अधिक अर्जन की वस्तु है। विवेकहीन अनुसरण रचनाशीलता को न तो दीप्ति देता है, न प्रेरणा को आत्मबल प्रदान करता है।

परंपरा की सजीवता और उसकी शक्ति तभी अनुभव में आती है जब कोई उसका विरोध करने या उसे तोड़ने के लिए कृतसंकल्प हो जाता है। परंपरा को धारण करने वाला सत्य भी तभी उजागर हो पाता है। धारा का बोध धारा के विपरीत चलने पर ही प्रकट होता है। धारा में बह कर उसकी गति, वेग-प्रवेग, प्रसार और कटान का पूरा अंदाज नहीं लग पाता। जो धारा को आत्मसात् करना चाहते हैं वे विरोध को भी उसके जीवंत अनुभव का ही एक रूप समझते हैं जो उन्हें अधिक गहराई तक ले जाता है और जोखम उठाने का सुख भी देता है। धारा को अपनाना उसके भीतर रहकर तो होता ही है पर वह उसके बाहर जाकर भी उससे नया संबंध जोड़ने की प्रेरणा देता है। सौंदर्य बोध की प्रामाणिकता के लिए और सौंदर्य की सही परख के लिए भी वस्तु के पास आने के साथ-साथ दूर जाने की प्रक्रिया भी अनिवार्य होती है।

> दूर जाकर देखते, नज़दीक आकर देखते।
> हम से हो सकता तो हम तुमको बराबर देखते।

पर प्रेम के लिए ऐसा कहना जितना सहज है, परंपरा के विषय में उतना सरल नहीं है। लोग 'दूसरी परंपरा' की बात जितनी आसानी से कर लेते हैं उससे यही लगता है कि वे या तो परंपरा में गहरे पैठे नहीं हैं या एक परंपरा के समाप्त होने का इंतजार किये बिना दूसरी परंपरा पर पैर ज़माने का लोभ संवरण करने में कठिनाई का अनुभव कर रहे हैं। हो सकता है कि तीसरी परंपरा उन्हें इस द्विधा से मुक्त कर दे।

परंपरा दृष्टि-सम्पन्न होकर ही सार्थक होती है और दृष्टि का प्रमाण विकृतियों के भीतर संघर्षशील प्राणवत्ता, विवेक तथा धैर्य से मिलता है। कालिदास की धारणा आज भी प्रेरणाप्रद सिद्ध होती है।

विकारहेतो सति विक्रियन्ते,
एषां न चेतासि त एव धीराः।

भारतीय नाट्य परंपरा में नायक की कल्पना इसी धारणा के गुण से संबद्ध रही है जो धीरप्रशांत, धीरोदत्त, धीरललित के साथ धीरोद्धत तक को अपने में समेट लेती है। ''प्रशान्त'', उदात्त और ''ललित'' से धीर की संगति सहज ही ग्राह्य हो जाती है पर ''उद्धत'' से ''धीर'' का मेल अनुभव के प्रगाढ़ विस्तार से संभव हुआ। राजाश्रय में पनपी मानसिकता में उद्धत का निषेध हो ही नहीं सकता। अतः वहाँ भी धीरता को सर्वोपरि मूल्य मान कर संयत आचरण को नायकत्व प्रदान किया गया है। विदेशी प्रभाव से तथा बदलते हुए जीवानुभव से शास्त्र की मर्यादाएँ टूटने लगीं और कोई भी नायक हो सकता है, यह बात मान ली गई। परंपरा के टूटने, बदलने, नये आयामों में विकसित होने तथा सुखान्त से दुखान्त की सीमा-रेखा मिटा देने की ज़रूरत का यह ऐसा प्रमाण है जो सांस्कृतिक दृष्टि से असाधारण कहा जा सकता है। लोक-नाट्य तथा पौराणिक नाटक में ''धीरता'' के स्थान पर ''वीरता'' प्रधान हो गयी। श्रव्य काव्य ने भी दृश्य काव्य को प्रभावित किया। विदेशी साहित्य ने मनौवैज्ञानिक आधार ग्रहण करके मनुष्यता की खोज का ऐसा मार्ग प्रशस्त किया जिसमें वर्जना का कोई प्रश्न ही नहीं रह गया। आदर्शवादी धारणाएँ उपदेश प्रधान भाषा और साहित्य की सृष्टि करती रहीं।

मैथिलीशरण गुप्त का समस्त साहित्य इस आधार पर ही टिका है और उसमें आस्था ही उनकी प्रेरणा बनती रही। यथार्थवादी स्थितियों को उन्होंने अनदेखा नहीं किया परंतु कोई भी समाधान वे आदर्श रहित होकर नहीं दे सके। गांधीवादी जीवन-दृष्टि उनमें अंत तक जाग्रत रही। प्रेमचंद की तरह वे अपने द्वारा निर्धारित आदर्शोन्मुख यथार्थवाद का अतिक्रमण करके कठोर यथार्थ के पक्षधर नहीं हो सके। क्रांति की उत्कट कामना उनके मन में भी थी परंतु उसका रास्ता आदर्श, उपदेश और सुधार की सीमा तोड़कर नहीं। उनकी भाषा अंत तक ''भद्रभावोद्भावनी'' बनी रही। उसमें विकासशील राष्ट्रीयता तथा ''विश्वात्मेकता'' की वैदिक भावना तो आई परंतु कोई मौलिक परिवर्तन घटित नहीं हुआ। अन्तः हिंदू धर्म से वे विश्व धर्म की दिशा में बढ़े तो पर अपनी धरती को छोड़कर दूसरे के आकाश में उड़ने की कल्पना उन्हें सहज और प्रेरक नहीं लगी। विराटता की धारणा उन्हें अपनी मिट्टी से उन्मूलित नहीं कर सकी। आज की मूल्यहीनता और अस्थिरता के बीच कभी-कभी उनकी यह सीमा अशक्ति की जगह शक्ति का बोध कराती है।

> तुम्हारी वीणा है अनमोल
> हे विराट जिसके दो तुंबे
> हैं भूगोल-खगोल।

के साथ ही वे आस्था और निष्ठा के साथ भाषा की नितांत सहजता के साथ लिखते हैं—

> मेरी मिट्टी मैं वलि जाऊँ
> तुझे पात्र में परिणत पाऊँ।

भाषा की रचनात्मक प्रौढ़ता प्रतिमान बन कर जो उपलब्धि ब्रजभाषा में सूर को, अवधी में तुलसी और जायसी को मिली, खड़ी बोली में गुप्त जी को मिलने लगी थी। उसी पथ पर चलकर आज हिन्दी कविता अपने को निराला की परंपरा से जोड़ती हुई क्रांति की दिशा में गतिशील हो रही है। तुलसी, मैथिलीशरण गुप्त और निराला राम-काव्य के संस्कारों का संवहन करने वाली उस भाषिक चेतना से जुड़े हैं जो लोक मानस में अवतरित होने वाले जीवनमूल्यों का रचनात्मक प्रतिफलन करती रही है। मर्यादा तोड़ने पर वह बड़े से बड़े व्यक्ति को कभी क्षमा नहीं करती परंतु स्नेह और करुणा उसमें सर्वोपरि स्थान रखती रही हैं। आगे भी लगता है यह परंपरा निःशेष नहीं होगी। भाषा को जीवन मूल्यों से काटकर विकसित नहीं किया जा सकता और न ही उसके बिना साहित्यिक रचना प्रेरणाप्रद हो सकती है।

परंपरा को अनुकूल या प्रतिकूल अर्थ देने की क्षमता भी कवि में होती है जिसका एक विचित्र उदाहरण गंगा के प्रतीकात्मक वर्णन में देखा जा सकता है। भृतहरि ने पुण्यतोया भागीरथी को भी पतन का चरम प्रतीक मानकर ऐसी उक्ति राय दी जो आज तक लोक प्रसिद्ध है।

शिर: शर्व स्वार्गात् पशुपति शिरस्तार्सित धरम्।
महीद्रादुत्तगान्मवमनिभवनेश्चापि जलधिम्।
अधो धो गंगेय: पदमुषगता स्तोकमथवा
विवेक भ्रष्टाना भविति विनिपात: शतमुख: १९।।

—नीतिशतकम्

पद्माकर ने गंगा के इस चरम पतन क्रम को सर्वोच्च उत्थान-क्रम में बदल दिया और उनकी दृष्टि भी लोक-मान्य हो गयी।

कूरम पै कोल, कोल हू पै सेस कुंडली है, सेस हू पै फबी फैल सुफन हजार की।
कहै पदमाकर त्यों फनन फबी है भूमि, भूमि पै फबी है छिति रखत पहार की।
रजत पहार पर संभु सुरनायक है, संभु पर जोति जटाजूटन अपार की।
संभु जटाजूटन पै चंद की छुटी हे छटा, चंद की छटान पै छटा है गंगधार की।

भर्तृहरि ने जो कहा है वह द्विवेदी युग में ब्रजभाषा पर लागू होता है और पद्माकर ने जो कहा है वह मैथिलीशरण गुप्त की खड़ी बोली पर चरितार्थ होता है।

भाषा और परंपरा के विषय में मेरा अनुभव अनेक मुखी रहा है। मध्यकालीन कवियों के अंतर्जगत में पैठने का मुझको इतना अवसर मिला कि कवि रूप में मैंने उनसे प्रगाढ़ अभिन्नता अर्जित कर ली। यहाँ तक कि मैं स्वयं उनकी भावनात्मक एवं रचनात्मक संपत्ति का वारिस बन गया। किससे मैंने क्या लिया, क्या पाया इसका छंदात्मक उल्लेख करते हुए जो पंक्ति मैंने लिखी वह आपको रोचक ही नहीं विश्वसनीय भी लगेगी।

पतियाहि के कोउ नहीं पतियाहि
मैं सम्पत्ति याहि परम्परा पायी।।

परंपरा से प्राप्त रचनाशक्ति को मैं ऐसी विरासत समझता हूँ, जिस पर कवि रूप में मुझे आत्म परितोष के साथ गर्व भी है। उसके लिए मैंने कभी अफसोस नहीं किया और न मन में किसी प्रकार का संकोच ही अनुभव हुआ। हाँ, नयी कविता के दौर से गुज़रते हुए और कविता और चित्रकला दोनों में नयी अभिव्यक्ति की सृजनात्मक अनुभूति के आंतरिक संघर्ष का साक्षी होकर मैंने अपने आप जो समाधान खोजा वह आपके सामने रख रहा हूँ।

ढोऊँगा कहाँ तक
परंपरा व्यर्थ का बोझ है,
दे दूँ इसे किसी योग्य याचक को
ऐसा सोच
ज्यों ही बढ़ाया दायाँ हाथ
सहसा मुझे याचक पहचाना लगा
रोशनी में देखा-
अरे, यह तो मेरा ही बायाँ हाथ था।

इस कविता को लिखने के बाद मुझे भीतरी तनाव से मुक्ति मिल गयी और मैंने अपने सारे कृतित्व को सहज भाव से ग्रहण कर लिया। यह मुक्ति मुझे भाषा ने दी या पूर्व अर्जित परंपरा ने या मेरी निजी

सृजनशीलता ने इसका निर्णय आप ही कर सकते हैं। मैंने तो अपनी बात स्वयं खोलकर सामने रख दी।

मैं अच्छी तरह जानता हूँ कि मनस्वी लोग परंपरा का अनुसरण नहीं करते, वे समर्थ होते हैं तो नयी परंपरा का सृजन कर देते हैं जैसा निराला ने किया। जो परंपरा व्यक्तित्व का अंग नहीं बनती, नयी प्रेरणा नहीं देती, उसे आगे चलाना परंपरा को ढोना ही कहा जायेगा। वस्तुत: ''पुराण मित्येन न साधु सर्व' ही परप्रत्यय' से मुक्ति देता है। □

नयी कविता के विकास की प्रमुख प्रवृत्तियाँ

अलेक्सांद्र सेंकेविच

१९४७ में स्वाधीनता प्राप्ति के बाद भारत के इतिहास में एक नये चरण का आरंभ होता है।

आज़ादी से पहले का युग एकदम दूर का अतीत लगने लगा व आजादी के बाद केवल सुंदर व न्यायप्रिय समाज के स्थापित होने की आशाएँ ही आशाएँ नज़र आ रही थीं। अधिकाँश लोगों के लिए गांधीवादी आदर्श अब भी प्रभावशाली थे, गांधी जी की शिक्षाओं के अनुरूप नए समाज ने आकार ग्रहण करना था। लेकिन राष्ट्रीय स्वतंत्रता आंदोलन ने जिस वर्ग-अंतर्विरोधों को छिपा रखा था वे अब तीव्रता से प्रकट होने लगे। सामाजिक सामंजस्य अब असंभवप्राय लक्ष्य लगने लगा। अमीरी और गरीबी के दो ध्रुव साफ-साफ उभर आए थे।

देश के स्वतंत्रता-आंदोलन का सक्रिय सेनानी-बुद्धिजीवी वर्ग नए जीवन में प्रवेश कर रहा था। पहले जो संघर्ष का आरंभ था, गांधी जी के सपने को व्यावहारिक रूप देने में धार्मिक व सामाजिक पूर्वाग्रह, जीवन की रुढ़ मान्यताएँ बाधा पहुँचाने लगीं। लोगों की नैतिक चेतना में नये मूल्यों के निर्माण की कष्टदायक प्रक्रिया चल रही थी। मोहभंग की स्थिति से इंकार नहीं किया जा सकता था। यह तय कर पाना आसान नहीं था कि कहाँ कटुसत्य है और कहाँ सुखद भ्रम।

स्वाधीनता-संग्राम ने मनुष्य की सामर्थ्य व हितों के दायरे को विस्तृत कर दिया था। लेकिन राजनीतिक स्वतंत्रता प्राप्त करने के बाद भी उस पहले के ही जैसे सामाजिक अन्याय का सामना करना पड़ रहा था। परिणामतः वह स्वाभाविक निराशा व हताशा का शिकार हुआ और उसकी इस हालत का राजनीतिक गुर्गों व नौकरशाहों ने लाभ उठाना शुरू किया। इसके साथ ही जीवन के कई क्षेत्रों में सामंती व औपनिवेशिक उत्पीड़न समाप्त न करने के कारण सामाजिक व राजनीतिक विषमता ने नए रूप ग्रहण किए। सामाजिक जीवन के इन अंतर्विरोधों का साहित्य जैसे सर्वाधिक महत्वपूर्ण क्षेत्र में प्रतिफल होना ही था। लग रहा था कि पुराने जीवन का ढाँचा सड़ कर टूट जाएगा और वह भारत में नये जीवन के निर्माण को कोई आधार प्रदान नहीं कर सकता। गांधी जी की भविष्य की अवधारणा वास्तविकता से मेल नहीं खा रही थी। सामाजिक न्याय की परिकल्पना को यथार्थपरक व ठोस अर्थवत्ता प्रदान करना आवश्यक हो गया था।

१९५०-७० के वर्ष पहले की आशाओं की भ्रामकता के अहसास व तीव्र सामाजिक संघर्ष के वर्ष रहे हैं जिन्होंने भारतीय साहित्य के स्वरूप में निर्णायक परिवर्तन लाए हैं। वास्तविकता साहित्य का नये विषयों व द्वंद्वों से साक्षात्कार रही थी। यह सच है कि ५० के वर्षों में हिंदी साहित्य प्रासंगिक व विवादास्पद विषयों से बचने की कोशिश करता रहा। पर धीरे-धीरे भारत में वैचारिक संकट गहरा होता गया। अब वे लेखक भी जो विचारधारा से कांग्रेस से जुड़े थे गहरी होती निराशा अनुभव करने लगे थे।

बुद्धिजीवियों का प्रगतिशील तबका जो हताशा और निराशा का शिकार नहीं हुआ था भारत के पुनर्निमाण के संघर्ष को जारी रखे हुए था। उसकी मान्यता थी कि इस लक्ष्य को देश की सब प्रगतिशील शक्तियों का संयुक्त लोकतांत्रिक मोर्चा बनाकर प्राप्त किया जा सकता है। लेकिन इन परिस्थितियों में बुद्धिजीवियों का यह तबका १९६० के मध्य में भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस द्वारा प्रस्तावित कार्यक्रम को स्वीकार नहीं कर सका। इसका परिणाम एक ओर यह रहा कि साहित्य में निराशा की मन:स्थितियाँ फैलने लगीं व दूसरी ओर आलोचनात्मक व पैनी सामाजिक किस्म की कृतियाँ प्रकाश में आने लगीं।

गांधीवाद के सामाजिक आदर्शों में संदेह व्यक्त करने वाले जिन विचारों ने १९६० के अंतिम वर्षों में हिंदी के कथा साहित्य की नयी विशिष्टता को निर्धारित किया वे इसी दशक के आरंभ में उन कवियों की रचनाओं में अपनी पूरी ताकत के साथ प्रकट हुए जिन्हें बाद के वर्षों में 'नये कवियों' की संज्ञा दी गई।

'नई कविता' नाम केवल भारतीय साहित्य में ही नहीं बल्कि दूसरे विकासशील देशों के साहित्य में भी प्रयुक्त हुआ था। ईरान, अरब के देश, नेपाल, बंगलादेश जैसे देशों के साहित्यों में अपनी स्थानीय परंपराओं व काव्य-शास्त्र से अलग ढंग से लिखी जाने वाली कविता को 'नयी कविता' से पुकारा जाने लगा। 'नयी कविता' में विकासशील देशों में आधुनिक पाश्चात्य संस्कृति के रचनात्मक आत्मसात्‌करण की प्रक्रिया व प्राच्य कविता के अभिव्यक्ति के साधनों व विषयों का एक तरह का एकीकरण प्रतिफलित हुआ है।

यों पाश्चात्य संस्कृति का वृहद् आत्मसात्‌करण पिछली शताब्दी के उतरार्द्ध में आरंभ हुआ था, पर स्वाधीनता प्राप्ति के बाद यह प्रक्रिया और अधिक तीव्र हुई। सांस्कृतिक संबंधों व साहित्यिक संपर्कों में वृद्धि हुई। चूँकि स्वाधीन भारत की अधिकांश समस्याएँ पाश्चात्य देशों के जैसी थीं। भारतीय साहित्य अपने क्लासिकी साहित्य के प्रति नहीं बल्कि विश्व साहित्य की आधुनिक प्रवृत्तियों की ओर आकर्षित होता है और विश्व साहित्य-प्रक्रिया का हिस्सा हो जाता है। १९५०-६० के दशकों के कवि पूर्व व पश्चिम के समकालीन कवियों (जिनमें बेटोन, इलियट, पाउण्ड व अमेरिकी बीटनिक कवि शामिल हैं) से प्रभावित हुए। इस संबंध में बंगला देश के आलोचक मुर्शीद हसन लिखते हैं: 'यदि सन् तीस व चालीस के कवि मुस्लिम परंपराओं का गुणगान करते हुए उनके गुलाम बन कर रह गए तो आधुनिक कवियों ने मानवीय संस्कृति के सीमाहीन आकाश में आने पंख स्वछंदता से फैला दिए हैं। विचारों की विविधता, उपमाओं की विराटता व रचना की स्वतंत्रता जैसे गुण नई कविताओं की विशेषता है।'

स्वर्ग व मनुष्य के परम सुख की विषयवस्तु रामराज्य की अवधारणा से जुड़ी हुई थी जिसे राजनीतिक अभिव्यक्ति गांधी जी के सर्वोदय के सिद्धांत में मिली। भारत के आदर्श जीवन के विचार— रामराज्य में सामाजिक जीवन का इस तरह का प्रारूप निहित है जिसमें हिंदुत्व के अनुरूप ही व्यक्ति के सुख का प्रश्न सामाजिक संदर्भ में देखा जाता है न कि मनुष्य की एकांगी सत्ता के संदर्भ में। इसका

एक कारण यह भी है कि भारत में मनुष्य की कभी व्यक्तिपरक सत्ता नहीं मानी गई बल्कि उसे दूसरी सामाजिक संस्थाओं की सीमाओं के भीतर देखा जाता रहा है। लेकिन राष्ट्रीय स्वतंत्रता आंदोलन की प्रक्रिया में मनुष्य की व्यक्तिपरक सत्ता की भूमिका निरंतर बढ़ती गई और इसमें आंदोलन का स्वतंत्रता-प्राप्ति का अपना उद्देश्य भी सहायक रहा। स्वतंत्रता आंदोलन ने मनुष्य में उसके व्यक्तित्व की अर्थवत्ता का अहसास जगाया। भावी सामाजिक मंगल के लिए बलिदान व यातनाएँ सहने की भावना ने मनुष्य को गरिमा प्रदान की।

अतः उत्तर छायावादी कवियों (हरिवंशराय बच्चन) के लिए भविष्य संबंधी विषयवस्तु एकांगी मनुष्य की सुख-समृद्धि की परिकल्पना से जुड़ जाती है और भविष्य के नाम पर संघर्ष अधिकाधिक अनिवार्य व अर्थपूर्ण हो जाता है। 'नये कवियों' को भविष्य मानव विरोधी उन्नत पूंजीवाद रूप में दिखता है, इसीलिए वह विवेकहीन व प्राणहीन है। उसकी घातक छाया वर्तमान पर भी पड़ रही है। 'भूखे', 'नंगों', 'ठुकराए हुओं', 'क्रुद्ध' इत्यादि कवियों के भय का स्रोत भविष्य के नाभिकीय विनाश में नहीं बल्कि ऐतिहासिक घटनाओं व उन अंतर्विरोधों में निहित था जिन्हें वे समझना नहीं चाहते हैं। इस संत्रास से हिंदी के अन्य कवि भी परिचित हैं पर उनमें सामाजिक विद्वेष का सामना करने की छटपटाहट देखी जा सकती है। अतिवादी कवि संत्रास व सामान्य विवेक के विपरीत भविष्य के प्रति कोई उम्मीद रखे बगैर सामाजिक व्यवस्था के स्थान पर सामाजिक अराजकता को तरजीह देते हैं और अराजकता पैदा करने के आह्वान देते हैं।

सशस्त्र क्रांति के नारे को स्वीकार करना भारत के वामपंथी उग्रवादियों के नेतृत्व के अराजकतावादी रूझान के कारण ही संभव हुआ था। निम्नपूंजीवादी नेतृत्व ने भारतीय समाज के सामाजिक व आर्थिक जीवन के अंतर्विरोधों को समझने की कोशिश नहीं की थी। इसकी तार्किक परिणति यही होनी थी कि छद्म क्रांतिकारी रणनीति की दुसाहसिकता के कारण उग्रवादी तत्वों ने तथाकथित मार्क्सवादी, लेनिनवादी, वामपंथी दल के संकीर्ण कार्यक्रम को अपनाया जिसके अनुसार राजनीतिक व आर्थिक संकट का विकल्प ऐसा खूनी विद्रोह हो सकता है जो असंगठित किसान-वर्ग के बीच फैल सके। अतिवादियों की दृष्टि में किसान-वर्ग ही वह ताकत है जो भारत में पूंजीवाद के गढ़ों के रूप में शहरों को ध्वस्त कर सकता है।

इसी तरह के विद्रोह का आह्वान 'नयी कविता' के अतिवादी तत्व कला व साहित्य के क्षेत्र में देते हैं। यह चारित्रिक महत्व का तथ्य है कि ऐसे कवियों का कृतित्व पत्रकारिता व सनसनीपूर्ण घोषणापत्रों का चरित्र ग्रहण करता है। उनके द्वारा कविता-साहित्य की अधिक रचना नहीं हुई और जितनी हुई है वह जीवन से दूर व सौंदर्यवादी किस्म की है। इस संदर्भ में सुभाष मुखर्जी का यह कहना है कि 'सब से अधिक शोर 'भूखे' कवियों ने मचाया। उन्होंने वैयक्तिक कला, वैयक्तिक धर्म व राजनीति में वैयक्तिक हिस्सेदारी की माँग की। जहाँ तक उनके कृतित्व का संबंध है उन्होंने कविता की अपेक्षा घोषणापत्र अधिक प्रकाशित किए हैं। 'भूखे' कवि कर्म की कला के पक्षधर थे न कि शब्द-कला के। साहित्य को उन्होंने राजनीति के इतने नज़दीक खड़ा कर दिया कि व्यवहार में वे कविता के स्थान पर अपरिपक्व नारे देने लगे। शीघ्र ही उनमें से बहुत से कवि अतिक्रांतिकारी नक्सलवादियों की पांतों में शामिल हो गए और कुछेक को राजनीतिक दुसाहसिकता की कीमत अपनी जान देकर चुकानी पड़ी।'

'नयी कविता' के अतिवादियों की दृष्टि मनुष्य यदि केवल विवेकहीन बलिदान में वीरोचित कर्म कर सकता है तो 'नयी कविता' का लोकतांत्रिक तबका यह मानता है कि मनुष्य रोजमर्रा की जिंदगी के संघर्ष में अपनी सार्थकता को प्रतिष्ठित करता है। इन कवियों द्वारा [illegible] चरित्र को बचाए

रखने के आग्रह का अभिप्राय पितृसत्तात्मक अतीत को सुरक्षित रखने से नहीं है। उन्हें यह अच्छी तरह मालूम है कि अतीत का वर्तमान में रूपांतरण केवल नये, औद्योगिक समाज में ही संभव है। यहां 'नयी कविता' के सशक्त प्रतिनिधि गजानन माधव मुक्तिबोध का यह कथन उल्लेखनीय है कि 'नया कवि' मनःस्थिति को आधुनिक संस्कृति के प्रतीकों से व्यक्त करता है। यह कहते हुए उनके आगे यह तथ्य रहा होगा कि हिंदी के कवि १९४० के वर्षों में ही, सांस्कृतिक कूप मंडूकपने से मुक्त हो चुके थे जिसके परिणामस्वरूप उनकी रचनाओं में उठाई गई समस्याएँ अधिकाँशतः आधुनिक थीं।

'नयी कविता' के लोकतांत्रिक पक्ष के कवियों की यह देन महत्वपूर्ण है कि उन्होंने हिंदी कविता की यथार्थवादी परंपरा को आगे बढ़ाया है। उन्हें ऐसी रचनाएँ अपने स्वभाव अनुकूल नहीं लगतीं जिनमें सामाजिक विश्लेषण न हो व उसके स्थान पर 'तर्कहीनता', शाब्दिक प्रयोग, रूपवादी रूझान व पाठकों से संपर्क स्थापित न करने के प्रयास व नयी कलात्मक व्यवस्था का ध्वस्त करने की प्रवृत्ति प्रमुख रही हो। 'नयी कविता' का मुख्य स्वर रघुवीर सहाय की इन पंक्तियों में मुखरित होता है :

आज एक अतुकांत जिज्ञासा
जो काव्य को नहीं मानती
शांत जो करती है कौतूहल...
विचित्र को जैसे नहीं पहचानती
जानती है सब कुछ एक ही बार में रहस्य
फिर भी जानबूझ कर नहीं जानती
वह आज शब्द नहीं रही।
कोई और कोई और कोई और—
और अब भाषा नहीं
शब्द, अब भी चाहता हूँ
पर वह कि जो जाए वहाँ वहाँ होता हुआ
तुम तक पहुँचे
चीजों के आर पार दो अर्थ मिलाकर सिर्फ एक
स्वच्छन्द अर्थ दे
मुझे दे।

नया शब्द

यथार्थवादी कला की ओर उन्मुख इन 'नये कविओं' की सोवियत कविता में विशेष रुचि रही है। इनमें से अनक कवियों ने पास्तेरनाक, अख्मातोवा, मान्देल्श्ताम, वोज्नेसेन्स्की जैसे अनेक कवियों की रचनाओं के अनुवाद किए हैं। सोवियत कविता के इन कवियों पर पडे सीधे प्रभाव के विषय में कहने का तो अभी समय नहीं आया हे पर मायकोटवस्की का 'नयी कविता' पर प्रभाव पड़ा है— इससे इंकार नहीं किया जा सकता।

प्रयागवाद में काव्यभाषा ने बोलचाल की भाषा का इंटोनेशन ग्रहण किया, छायावाद की दार्शनिकता व आतिशयोक्तिपरकता का स्थान दैनिक जीवन से जुड़ी उपमाओं व रूपकों ने लिया। कविता और गद्य की भाषा की विभाजन रेखा अस्पष्ट पड़ने लगी। मनुष्य की समाज व प्रकृति के साथ
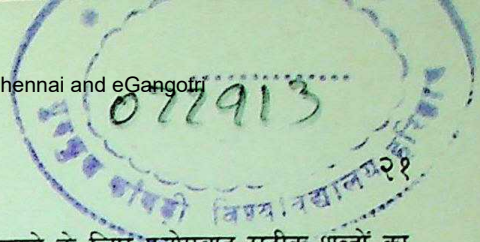
क्रिया-प्रतिक्रिया में जन्मी अनुभूतियों व भावों को व्यक्त करने के लिए प्रयोगवाद सटीक शब्दों का प्रयोग करने लगा। काव्य-भाषा का विस्तार होने लगा, पुराने शब्द अपने अर्थ बदलते हुए कवि के आत्मविश्लेषण का साधन बनने लगे। शब्द संस्कृति की अज्ञात तहों के अनुसंधान की दिशा में यह सशक्त प्रयास था। प्रयोगवाद ने चिर प्रचलित प्रतीकों की नई अंतर्वस्तु प्रदान करने की कोशिश की। व्यवहारतः प्रयोगवाद कला में यथार्थ के वैयक्तिक व संवेगात्मक संज्ञान के माध्यम से अस्मिता का कलात्मक अन्वेषण था।

इस सबके बावजूद नये काव्य-आंदोलन की कलागत संभावनाएँ सीमित ही सिद्ध हुई। उसमें शीघ्र ही ह्रासोन्मुख व पतनशील प्रवृत्तियाँ प्रकट होने लगीं। आत्मनिष्ठ, व्यक्तिपरक सत्य को वस्तुनिष्ठ सामाजिक सत्य के विरुद्ध स्थापित किया जाने लगा। परिणामतः वास्तविक समस्याओं से प्रयोगवादी काव्य दूर रहने लगा और उसका पाठकवर्ग अल्पसंख्यक अभिजातवर्ग तक ही सीमित रह गया। चालीस के अंतिम वर्षों तक वह हिंदी साहित्य के हाशिये पर ही सिकुड़ा रह गया और उन दिनों की समालोचना का उसके प्रति अविश्वास व व्यंग्य का रवैया रहा।

लेकिन प्रयोगवाद का काव्यगत अनुभव व्यर्थ नहीं गया। दस वर्ष बाद उसके काव्यशास्त्र की उपलब्धियों का वृहद् उपयोग नई कविता करने लगी। हमारी दृष्टि में हरिवंशराय बच्चन, नामवर सिंह ठीक ही प्रयोगवाद को 'नयी कविता' का अग्रदूत मानते हैं।

नयी प्रकार की कविता के आविर्भाव के लिए यह आवश्यक था कि भारत का प्रभुसत्ता-संपन्न राष्ट्र के रूप में अस्तित्व हो जो कवियों में स्वतंत्र देश के नागरिक होने का अहसास पैदा कर सके और ये कवि सामाजिक न्याय की समस्या को नये दृष्टिकोण से देख सकें। चालीस के अंतिम वर्षों में प्रयोगवाद में हिंदी की भाषागत व विषयगत संरचनाओं के बीच की खाई छिपी न रह सकी (यह अचानक नहीं कि कुछ आलोचकों को नये कवियों की रचनाओं में छायावाद के भावों की व्याख्या का ही विकास दिखा)।

नये कवियों में सबसे पहले मुक्तिबोध की कविताओं में वह मानसिक समस्या प्रतिफलित हुई जिससे भारतीय बुद्धिजीवी वर्ग जूझ रहा था। नए समाज के नियमों के अनुरूप जीने में वह असफल रह रहा था। कवि इस प्रश्न पर गहराई से सोचने लगता है कि किस तरह इन नियमों को पारंपरिक नैतिक मूल्यों को नुकसान पहुँचाए बिना न्यायसंगत व प्रभावशाली बनाया जा सकता है। परंपराओं की अवहेलना का परिणाम परंपराओं की पूर्ण अनुपस्थिति के रूप में सामने आना ही था। पुरातन व आदर्शानुकूल नवीन के बीच ऐसी विध्वंसकारी शक्ति पैदा हो रही थी जो कुरूप तरीके से वास्तविकता का निर्माण कर रही थी। भारतीय जीवन में यह शक्ति पूँजीवाद ही थी जिसने उद्योग के कई क्षेत्रों में एकाधिकारवादी चरित्र ग्रहण कर लिया था।

विश्व के प्रति मुक्तिबोध की दृष्टि भौतिकवादी सिद्धांतों व अवधारणाओं से मेल खाती है। नयी समस्याओं का चित्रणं उनकी कृतियों में वैज्ञानिक सत्यों के अधिभौतिक वर्णन का रूप नहीं लेता। मुक्तिबोध के लिए विश्व के निर्जीव तादात्मय के स्थान पर मनुष्य के अस्तित्व का प्रश्न अधिक महत्व-पूर्ण था, ऐसा अस्तित्व का प्रश्न अधिक महत्वपूर्ण था, ऐसा अस्तित्व जिसके प्रायः वैज्ञानिक तर्क से स्वतंत्र अपने नियम होते हैं।

'मुझे नहीं मालूम' शीर्षक कविता को विश्व की बुद्धिसंगत व्याख्या के ऐसे प्रयास के रूप में देखा जा सकता है जिसमें कवि की कोई आस्था नहीं । हमारे आगे ऐसी पुरानी दुनिया की तस्वीर उभरती है

जिसमें समाज व प्रकृति के बीच पूर्ण सामंजस्य दिखता है। ऐसा करते हुए आवश्यक नहीं कि कवि का प्रकृति के नियमों को समाज पर लागू करने का प्रयास ठीक ही हो तब जबकि समाज के अपने निजी जटिल नियम रहते हों।

मुक्तिबोध की कविता में मनुष्य व संसार की सत्ताएँ अलग-अलग हैं, लेकिन उनके बीच निश्चित संबंध रहता है। पर समाज में अब भी सदियों पुरानी प्रथाएँ व संस्कार प्रचलित हैं। मनुष्यों के बीच के जीवन संबंधों का निर्माण तुरंत नहीं होता। नये का अभ्यस्त होने में समय लगता है। फिलहाल छोटी-छोटी सफलताओं पर ही संतोष करना पड़ जाता है। परंपराओं के पुराने संसार को प्राणपीड़ा उठानी पड़ती है पर यह पीड़ा लंबी और यातनादायक रही। भारतीय जनजीवन अब भी हिंदुत्व से नियमित हो रहा था। हिंदू धर्म की मान्यताओं में जीवन विश्व की समग्रता व समन्वय का रूप है। लेकिन यह समग्रता 'अपंग' थी। ब्रह्मांड व मनुष्य के अतीत के मृत संसार का स्थान नया संसार व नया मानवजीवन ले रहा था जिसकी सीमाएं वृहद़ हो रही थीं और जो विभिन्न संस्कृतियों को समीप ला रहा था। पूर्व व पश्चिम की धाराओं के मेल से विराट् नदी का रूप ले सकेगी—मुक्तिबोध की ऐसी मान्यता थी। पुराने की मृत्यु व नए के जीवन की विषयवस्तु मुक्तिबोध की सभी कृतियों में विद्यमान रहती है।

मुक्तिबोध प्रत्यक्ष सामाजिक सरोकारों के कवि हैं। उन्होंने झूठ का निर्ममता के साथ पर्दाफाश किया। प्रतिकूल परिस्थितियों से जूझने की भावना व उनके सक्रिय विरोध की विषयवस्तु उनके कृतित्व में अत्यंत गंभीर व महत्वपूर्ण हो उठती है। असत्य की घातक जीत का 'मोटिव' उनकी कविता 'भूल-गलती' में पूरी तीव्रता के साथ मुखरित होता है।

भूल-गलती
आज बैठी है जिरहबख्तर पहन कर
तख्त पर, दिल के
चमकते हैं खड़े हथियार उसके दूर तक
आंखें चिलकती हैं नुकीले तेज़ पत्थर-सी
खड़ी हैं सिर झुकाए
सब कतारें
बेजुबां बेबस सलाम में
अनगिनत खम्भों व मेहराबों थमें
दरवाजे आम में।

असत्य की जीत ऐसी भ्रांति के परिणामस्वरूप होती है जो शासक वर्ग के पक्षधरों को ही नहीं बल्कि जनता के बहुत बड़े हिस्से को अपने घेरे में कैद रखती है। भ्रांति फैलाने का काम सच्चाई पर पर्दा बिछाए रखने वाले सामाज़िक डेमागोग ही नहीं करते, उसके लिए बुद्धिजीवी व कलाकर्मी भी जिम्मेवार हैं। लेकिन प्रभु वर्ग को अपनी सेवाएं अर्पित करने वाले लेखकों व कलाकारों को न केवल अपनी प्रतिभा बल्कि अपनी इज्जत से भी हाथ धोना पड़ जाता है। भ्रांतियों के समाज से न केवल सत्य को बाहर धकेल दिया जाता है बल्कि उसके साथ ईमान को भी तिरस्कृत होना पड़ता है क्योंकि असत्य और ईमान एक साथ नहीं रह पाते।

झलकते लाल लम्बे दाग
बहते खून के
वह कैद कर लाया गया ईमान।

सत्ता कई तरीकों से कलाकर्मियों को अपने पक्ष में करती है। इन्हें पदोन्नति देती है, पुरस्कार देती है, जीवन की अन्य सुविधाएँ देती है। फिर सत्ता के पक्षधर कवि अर्थहीन शाब्दिक जुमलों को मौलिक रचना की संज्ञा देते हैं। उन्हें केवल सत्ताधारी का गुणगान करने की स्वतंत्रता रहती है। सत्ता लेखक से ईमान खरीदती है। लेखक को विश्वास दिलाया जाता है कि सत्ता के सामने चुप्पी पूरी तरह नैतिक है। ऐसी परिस्थिति में लेखक व्यवस्था व अमन का समर्थक हो जाता है। खामोश न रहने की सज़ा मृत्यु हो सकती है।

खामोश
सब खामोश
मनसबदार, शायर और सूफी
अली, गज़ाली, इब्नसिंभा, अलबरुनी
आलिमो फाजिल, सिपहसालार, सब सरदार हैं खामोश।

मुक्तिबोध की दृष्टि में मानववादी आदर्श संस्कृति में सम्माहित हुए हैं। सर्पदंश से पीड़ित इस युग में तिरस्कृत व कुचली हुई संस्कृति का अंत हो जाएगा। हिंसा का सामना न कर पाने पर संस्कृति कर्मी प्रतिसंस्कृति की सेवा में जुट जाते हैं। जिसमें:

वो आँखें सच्चाई की निकाले डालता,
सब बस्तियाँ दिल की उजाड़े डालता,
करता, हमें वह घेर
बेबुनियाद, बेसिर-पैर...
हम सब कैद हैं, उसके चमकते तामझाम में,
शाही मुकाम में।

ऐसे युग में जिंदगी एक तरह का दमघोंटू सपना बनकर रह जाती है। लेकिन इसके बावजूद कहीं न कहीं सच्ची संस्कृति के सर्जक मानववादी आदर्शों को धोखा दिए बिना निष्कलंक रह कर अपनी साधना में जुटे रहते हैं। ये साहसी संस्कृति-कर्मी अपनी संस्कृति व उसकी परम्पराओं को नष्ट होने से बचाते हैं व नया जीवन प्रदान करते हैं। मुक्तिबोध की कविता में वे रोमानी आशाओं में आलोकित सत्य व सद् के योद्धा के रूप में प्रतिष्ठित होते हैं।

कहीं पर खो गया
बेमालूम दर्रों के इलाके में
सच्चाई के सुनहले तेज अक्सों के धुंधलके में
मुहैया कर रहा लश्कर,
हमारी हार का बदला चुकाने आयेगा
संकल्पधर्मा चेतना का रक्तप्लावित स्वर...

मुक्तिबोध के काव्य की खिड़कियाँ संसार की ओर खुलती रहती हैं और कवि स्वयं दुनिया के बीच रहता है। उसे यह अच्छी तरह मालूम है कि उसकी मातृभूमि व विश्व की नियति अलग नहीं। मानवीय नियति के लिए उसे दुनिया के विभिन्न भागों में प्रकट होते प्लेग के लक्षण खतरनाक लगते हैं। कवि को अपने देश के लिए फासिज़्म एवं लोकतांत्रिक रूपांतरण में बाधा डालने वाली प्रतिक्रियावादी शक्तियों का पूरा अहसास है।

मुक्तिबोध की कविता मानववादी है। उसके केन्द्र में जनता के आध्यात्मिक स्वास्थ्य की चिंता निहित है। इसीलिए कलाकर्मियों से मुक्तिबोध ऊँची अपेक्षाएँ रखते हैं। वह उन्हें अधिकारहीन व धोखा खाए लोगों के रक्षकों के रूप में देखना चाहता है। जीवन उनके भ्रमों को तोड़ देता है, लेकिन कवि का दायित्व नए भ्रमों की रचना में नहीं बल्कि यथार्थ के निर्भीक कलात्मक व प्रतिभाशाली मूल्याँकन में निहित है। वास्तविकता यदि सपनों के अनुरूप न दिखे तो कवि को हताश नहीं होना चाहिए बल्कि इसके विपरीत उसे भविष्य के प्रति आशावान रहना चाहिए और विरोधी शक्तियों के साथ संघर्ष में अपने को मज़बूत बनाना चाहिए :

और जाने क्यों
मुझे लगता है ऐसा ही अकेला नील तारा
तीव्र गति
जो शून्य में निस्संग
जिसका पथ विराट्—
वह छिपा प्रत्येक उर में
प्रति हृदय के कल्मषों के बाद
जैसे बादलों के बाद भी शून्य नीलाकाशं।
उसमें भागता है एक तारा
जो कि अपने ही प्रगति-पथ का सहारा
जो कि अपना ही स्वयं बना चला चित्र,
श्रीविहीन विराट-पुत्र!
इसलिए प्रत्येक मनु के पुत्र पर विश्वास करना चाहता हूँ।

लेकिन इसके साथ-साथ अन्य नये कवियों की तरह मुक्तिबोध का भविष्य का चित्रण अस्पष्ट-सा रहता है। भविष्य की विषयवस्तुं के साथ-साथ चौराहे का 'मोटिफ' बार-बार आता है। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि मुक्तिबोध की कविताओं में चौराहा कवि के भटकाव का नहीं बल्कि जीवन की सभी राहों में से गुजरने की इच्छा के प्रतीक के रूप में आता है।

हिंदी के लोकतांत्रिक झुकाव वाले नये कवियों के लिए जीवन के प्रति सक्रिय सरोकारों की मुक्तिबोध की कविता श्रेष्ठ कविता का उदाहरण बन गई है।

रघुवीर सहाय भारतीय समाज व समाज के विभिन्न वर्गों से भली तरह परिचित हैं। तीस से अधिक वर्षों से वह पत्रकारिता से जुड़े रहे हैं। यह कहना कठिन है कि रघुवीर सहाय के लिए कविता अधिक महत्वपूर्ण है या पत्रकारिता। पत्रकारिता उन्हें भारतीय समाज की विविध समस्याओं को नजदीक से जानने का मौका देती है तो कविता इन समस्याओं के सामान्यीकरण में सहायक होती है। जनता के साथ लेखक के संपर्क की अत्यधिक जटिलता भारत के समकालीन लेखकों की सबसे बड़ी समस्या है। यहां यह तथ्य ध्यान में रखने योग्य है कि भारत के अधिकाँश जनता अशिक्षित है और जो

भी शिक्षित हैं वे भी 'नयी कविता' के बिंबों व उसकी सूक्ष्मताओं को ठीक से समझ नहीं पाते। इसके साथ ही लेखकों के सामने पुराने व नये मूल्यों की टकराहट की प्रक्रिया में हिंदी भाषा व उसकी विभिन्न बोलियों के अंर्तसंबंधों की समस्या उठती है। जनता और लेखक के बीच के अवरोध को तोड़ना रघुवीर सहाय के लिए मुख्य रचनात्मक दायित्व रहा है। यह आकस्मिक नहीं उनके पिछले दशक की कविता इसी दायित्व की पुष्टि करती है। सातवें और आठवें दशकों की उनकी कविता में गीतात्मक विशिष्टता साफ-साफ अनुभव की जा सकती है।

१९७५ में प्रकाशित उनका संकलन 'हँसो-हँसो, जल्दी हँसो' समसामयिक विषयवस्तु से इस कदर भरा है कि उनकी कविता जिसे यों भी खूबसूरत भाषा के प्रति विशेष लगाव नहीं है, अखबारों में छपे समाचारों जैसी लग सकती है, यदि नहीं लगती तो इसका कारण उनकी काव्य रुचि व संयम है।

विभिन्न व विविध जनसमुदायों के बीच मुहावरों के प्रति रघुबीर सहाय बहुत संवेदनशील रहते हैं। इन मुहावरों के मध्य, से कवि अपने काव्यनायक को आवश्यक सामाजिक पहचान प्रदान करते हैं। कवि जाने-पहचाने राजनैतिक नेताओं, लेखकों, कलाकारों के नामों का व्यंग्य रचनाओं में खुलकर प्रयोग करते हैं। इस काव्य तकनीक का प्रयोग वही कवि कर सकता है जिसे राजनीतिक षड्यंत्रों, सामाजिक अंतर्विरोधों व अन्य भेदों की गहरी जानकारी हो।

रघुवीर सहाय सत्यनिष्ठ व वस्तुनिष्ठ कवि हैं। तथ्यपरकता उनके लिए सर्वाधिक महत्वपूर्ण है। लेकिन घटनाओं व तथ्यों का वर्णन, रोजमर्रा की जिंदगी का हलजा उनकी कविता में वर्णित स्थितियों की नाटकीयता को तीव्र कर देता है। कवि पाठक को इस निष्कर्ष तक पहुंचाता है कि वृहद् त्रासदी के सामने सुखी होने की बात सोचना मात्र भ्रम है:

> हज़ार कई हज़ार हज़ारों मर गए भूख से
> ऐसा कहा
> इतनी बड़ी संख्या बतायी कि उतनी बड़ी
> आड़ हो गयी
> कि कोई देख नहीं पाया कि मैं
> उनमें नहीं था...
> बचे रहो

'हँसो, हँसो, जल्दी हँसो' कविता में कवि सच्ची, निष्कपट हँसी के कृत्रिम, छलपूर्ण हँसी में रूपांतरण की प्रक्रिया का चित्रण करता है।

नयी कविता के अतिवादी पक्ष का पश्चिम की अवांगार्द कविता की ओर झुकाव रहा है। अमरीकी बीटनिक, विशेषकर अनेक गिन्सबर्ग व पीटर ओर्लोव्स्की जैसे कवियों का प्रभाव साफ-साफ देखा जा सकता है। यहां यह उल्लेख करना रोचक हो सकता है कि 'नयी कविता' के पितामह शमशेर बहादुर सिंह ने गिन्सबर्ग को दस कविताओं की एक पूरी श्रृंखला समर्पित की है। यहां अमरीकी कविता के साथ हुए संपर्क का उतना महत्व नहीं जितना कि उन चीजों का जिन्होंने 'नयी कविता' को पश्चिम की आधुनिक कविता की नकल कहे जाने के आरोप आमंत्रित किए। निस्संदेह बीटनिक व नये कवियों द्वारा अपने परिवेश व सामाजिक ढाँचे के त्रासद अस्वीकार के चरित्र में कुछ समानताएँ अवश्य ही रही हैं।

जे. विंनर्स, ए. गिन्सबर्ग, गि. कोर्सो जैसे कवियों की रचनाओं में यह संसार खूनी त्रासदियां, डरावने सपनों व पतन के साम्राज्य के रूप में चित्रित हुआ है। इस डरावनी दुनिया के सामने मनुष्य असहाय व निरीह है। वह दुनिया से कट गया है। यह एक तरफ से अपने आप से भी अलग हो गया है। बीटनिक काव्य में मनुष्य भी सर्वत्र फैली सड़ांध के बीच सड़ रहा है। वह अपनी अस्मिता खो बैठा है।

बीटनिक कविता बुजुर्आ जगत की सब सामाजिक संस्थाओं को ध्वस्त करने का आहवान देती है ये संस्थाएँ चाहे राजनैतिक हों या नैतिक या पारिवारिक। बीटनिक कवि सुखी व सफल जीवन की अमरिकी मिथक को बेनकाब कर देते हैं। वे बैरी दुनिया में मनुष्य के त्रासद अकेलेपन के कवि हैं। लेकिन पूँजीवादी समाज द्वारा ठुकराए तत्वों के आदर्शीकरण के बीटनिक कवियों के प्रयास सामाजिक तनाव को कम करने में असफल रहे हैं।

ए. गिन्सबर्ग मानते हैं कि बीटनिक कवियों ने चिर प्रचलित काव्य मूल्यों का परित्याग कर कविता को नई अर्थवत्ता प्रदान करने की कोशिश की है। लेकिन विश्वदृष्टि की त्रासदीयता और बीटनिक कवियों द्वारा सुझाए गए विकल्प विरोध की कविता का बहुत दिनों तक पोषण नहीं करा सके। सकारात्मक आदर्श की खोज में वे यदि तरह-तरह के, विशेषकर पूर्व धर्म के धर्मों का सहारा लेने लगे हैं तो इसमें कुछ भी आश्चर्यजनक नहीं। हर तरह के सिद्धांतों का विरोध्र करने वाली बिटनिक कविता ने पारम्परिक नैतिक सिद्धांतों का दामन नहीं छोड़ा।

भारत के नये कवियों की तुलना विभिन्न सामाजिक व्यवस्थाओं के बावजूद बीटनिक कवियों से की जा सकती है, विशेषकर उग्रवादी तबके की। उदाहरण के लिए मलय राय चौधरी और बीटनिक कवियों की रचनाओं में काफी समानता देखी जा सकती है। लेकिन यह समानता सर्वेश्वरदयाल सक्सेना जैसे कवियों में भी देखी जा सकती है। विशेषकर 'इस मृत नगर में' जैसी कृति में। कवि का नगर-बोध बीटनिक कवियों के जैसा है। वह विकृतियों एवं ह्रास के प्रतीक, व्यक्तित्वहनन के त्रासन चित्रों का निर्माण करते हैं। मृत नगर से बाहर निकलने की कोई गुंजाइश नहीं। कवि यदि चलता दिखता है तो छोटे दायरे में।

शहर एकांगी मनुष्य के प्रति अभिन्न व तटस्थ रहता है, पर भीड़ उसे अच्छी लगती है। भीड़ उसे लय प्रदान करती है, जिसका वह स्वयं अतिक्रमण नहीं करती, एकांगी मनुष्य कर सकता है— भीड़ कभी नहीं। भीड़ में 'नये कवियों' का व्यवहार बीटनिक कवियों से भिन्न व विपरीत है। बीटनिक कवियों की रचनाओं में भीड़ मनुष्य को निगल जाती है, उससे नफरत करते हुए भी कवि उसके चेहरों, ध्वनियों, रंगों पर मुग्ध रहता है, वह भीड़ में ही लिखता है, भीड़ का ही हिस्सा हो जाता है। लेकिन हिंदी का 'नया कवि' भीड़ से अलग रहने की कोशिश करता है:

मेरा एकांत ही
मेरा विजय-स्थल है
जहां मैं हर दौड़ के बाद
गर्व से जाकर खड़ा हो जाता हूं
और चारो ओर की गहन निस्तब्धता के प्रति
आत्मीयता से भर जाता हूं।

(सर्वेश्वरदयाल सक्सेना)

'नये कवियों' के कृतित्व में भीड़ एक तरह का मुखौटा है जिसे शहर अपने अमानवीय रूप को छिपाने के लिए धारण करता है, शहर जिसने प्रकृति द्वारा मनुष्य को दिए गए गुणों को नष्ट कर दिया है। लेकिन भीड़ की संहारिक शक्ति का सामना करने में कवि समर्थ है व साहस कर सकता है। भीड़ और कवि के बीच समझ के पूर्ण अभाव के बावजूद कवि को उम्मीद रहती है कि:

लोग हैं और उन्हें रोज देखता हूँ
पर मेरे और उनके बीच एक मौन है
जिसमें मैं बोलता हूँ और चिल्लाता हूँ
कविताएँ।

पर पहचानता नहीं हूँ, उन्हें जो
मौन के दूसरी ओर हैं:
है और मैं चाहता हूँ
कि मैं जो बोल रहा हूँ, चिल्ला रहा हूँ
उन तक पहुंचे
स्वतंत्र, मौन को कुचलकर, मुक्त
वे मेरे पास हों
और उनके चेहरे मैं जब चाहूँ,
सपनों में देख सकूँ:

(अशोक वाजपेयी)

जनसामान्य के साथ संवाद व समाज के दुश्मनों के विरुद्ध संगठित होना—इन दो कदमों को 'नया कविता' की लोकतांत्रिक धारा ने अपना प्रमुख दायित्व माना है। नये कवियों ने इसीलिए सामाजिक व्यवस्था के संरक्षकों के रूप में नौकरशाहों राजनीतिक षड़यंत्रकारियों व झूठे सामाजिक कार्यकर्ताओं को बेनकाब किया है। 'नये कवियों' के अनुसार व्यवस्था से जुड़े लोगों का अपराध यह रहा है कि उन्होंने भारतीय जनता की रचनात्मक शक्ति का विकास नहीं होने दिया। उन्होंने अपने जैसे परजीवियों की पूरी फौज खड़ी कर डाली है। इससे भी बड़ा अपराध व अनैतिक कुकर्म यह रहा है कि व्यवस्था के लोगों ने गांधी जी की शिक्षाओं का दुरूपयोग किया।

यहाँ यह उल्लेखनीय है कि 'नयी कविता' की लोकतांत्रिक धारा के कवियों ने ठीक ही गांधीजी को उनके नाम का जाप करने वाले राजनैतिक ठगों से अलग करके देखा है। वे मलय राय चौधरी के इस कथन का समर्थन नहीं करते कि 'गांधी और आतिल—दोनों खूनी हैं।' वे अपने विचारों को गांधीजी के भारतीय समाज के विकास, भारतीय समाज के रूपांतरण में किसानों की भूमिका संबंधी विचारों के समीप पाते हैं।

सामाजिक जीवन के सकारात्मक मूल्यों की तलाश में कवि भारतीय पारम्परिक परिवार व उसके पितृसत्तात्मक आधार की ओर दृष्टिपात करते हैं। वे बीटनिक या 'नयी कविता' के उग्रवादी धारा के कवियों की तरह परिवार जैसी संस्था का निषेध नहीं करते। वे परिवार को श्रेष्ठ नैतिक मूल्यों के संरक्षक के रूप में देखते हैं। इसीलिए लोकतांत्रिक धारा के 'नये कवियों' ने नारी को जीवन की आस्था व ऊष्मा के स्रोत के रूप में चित्रित किया है।

आभा है तुम्हारे अस्पष्ट नेत्रों की शांति में
या उँगलियों के तप्त छोरों पर
जीवित शब्दों से दीप्त मेरे अधरों पर।

बाहर संसार और उसके रात-दिन हैं
घूमने दो पृथ्वी को
उसकी धूप और अंधकार के साथ
हवाओं को अविदित बहती चली जाने दो,
पर इससे पहले
कि चेहरे खिड़की से झाँकें,
दरवाज़े के पीछे से आहट लें,
या अपनी स्मृति से विघ्न डालें
वह जो तुमसे कह चुका हूँ
तुम अपने शरीर से कहने दो—

(अशोक वाजपेयी)

नयी कविता की लोकतांत्रिक धारा के कवियों की रचनाओं में प्रेम मुसीबतों और बदकिस्मती से एकमात्र रक्षा, एकमात्र मुक्ति के रूप में चित्रित हुआ है। इसीलिए प्रेमिका का खो जाना उन्हें अधिभौतिक अंधकार और प्रलय जैसा लगता है। सर्वेश्वरदयाल सक्सेना की अत्यधिक निराशा की कविता कवि-पत्नी की मृत्यु पर लिखी हुई :

कोई नहीं आएगा
जाती लहरों के साथ
मेरी आत्मा का संगीत घिसटता जाएगा।

अंधेरे को सूँघ कर मैंने देखा है
उसमें सूरज की गंध आती है,
पर मेरा ईश्वर
मेरी ही आँखों से निकल कर
पता नहीं कहाँ-कहाँ ठोकर खाएगा
प्रतीक्षा और मृत्यु —
दोनों के बीच एक खामोश होड़ है
कौन किसकी आहट पहले सुन पाएगा।

यह कविता इस तथ्य का प्रमाण है कि प्रेम की मुक्ति देने की शक्ति 'नये कवियों' के लिए हर तरह की मुसीबत से रक्षा की गारंटी नहीं। यथार्थ-जगत कवि के संसार में घुस आता है और अपने अस्तित्व की लगातार याद दिलाता है। इसी लिए नये कवियों की प्रेम विषयक कविताओं में उस शहर की छाया लगातार विद्यमान रहती है जो मनुष्य की खुशियों का हनन करता है।

प्रेम और मानवीयता की तलाश में 'नयी कविता' प्रकृति की ओर मुड़ती है, ऐसी प्रकृति जो

शहर से दूर है। प्रकृति शहर के जितनी समीप होगी उतना ही समीप उसका अंत। पितृसत्तात्मक भारतीय परिवार की तरह ही प्रकृति शहर में नष्ट हुई ताकत लौटाती है। उसकी विराटता में मनुष्य को राहत मिलती है।

लेकिन प्रेम की तरह प्रकृति भी जीवन की मुसीबतों से वास्तविक मुक्ति नहीं दिला सकती।

> लेकिन घुटनों में मुँह छिपाकर बैठ जाता हूँ
> सूरज अपनी सम्पूर्ण गरिमा के साथ डूब जाता है,
> जल पर खिंची रोशनियाँ
> असंख्य माला-सी मेरे सामने तन जाती है
> दूर अनगिनत घरों में,
> अपरिचित प्रकाश
> अंगारों-सा सुलग उठता है,
> और मैं उनके बीच भी हिमखण्ड जमा रहता हूँ।
> बार-बार अपने भीतर दोहराता हूँ...

नये कवियों की प्रकृति विषयक कविताओं की विशिष्टता इसमें निहित है कि उसमें आधुनिक भारतीयों के उस हिस्से की परस्पर विरोधी अनुभूतियाँ प्रकट हुई हैं जो भारतीय पितृसत्तात्मक परिवार व समाज के ढांचे से बाहर तो निकल आया है लेकिन अभी तक सामाजिक परिवर्तनों के परिणामस्वरूप पैदा हुए नए सामाजिक संबंधों का आदी नहीं हो पाया है। यह दुविधा 'नये कवियों' की प्रेम व प्रकृति विषयक कविताओं में नहीं बल्कि धर्म जैसे विषय में भी प्रकट होती है।

इस संबंध में यह जानना रुचिकर है कि 'नयी कविता' के लोकतांत्रिक धारा के कवियों मे ईश्वर संबंधी धारणाओं में किस तरह के परिवर्तन आए:

> बहुत लम्बी जेबों वाला कोट पहने
> ईश्वर मेरे पास आया था
> मेरी माँ, मेरे पिता,
> मेरे बच्चे और मेरी पत्नी को
> खिलौनों की तरह
> जेब में डालकर चला गया
> और कह गया
> बहुत बड़ी दुनिया है
> तुम्हारे मन बहलाने के लिए।
> मैंने सुना है
> उसने कहीं खोल रखी है
> खिलौनों की दुकान
> अभागे के पास
> कितनी जरा-सी पूँजी है
> रोजगार चलाने के लिए।

(ईश्वर, सर्वेश्वरदयाल सक्सेना)

यहां यह कहना पर्याप्त नहीं कि कवि का रवैया ईश्वर के प्रति व्यंग्यपूर्ण है। यह प्रश्न कहीं अधिक गंभीर है। सक्सेना ईश्वर से कहते हैं: 'यही प्रार्थना है तुमसे। जब हारा हूँ तब न आइए।' यहाँ निःसंदेह बात ईश्वर निषेध या संसार के प्रति नास्तिक दृष्टि की नहीं। ईश्वर का, सक्सेना के अनुसार, अस्तित्व है और वह उसके मन के परिवार का एक सदस्य है। कठिनाई यह है कि 'घर के सदस्य' की कोई उपयोगिता नहीं, वह न तो कोई शक्ति देता है न ही शब्द या कर्म से कोई सहायता। उलटे वह नुकसान ही पहुँचाता है। कवि ईश्वर को अलौकिक के साथ सांसारिक गुण प्रदान करता है। ईश्वर की सत्ता प्रकृति की सत्ता की तरह ही 'नये कवियों' के काव्यनायक से अलग करके दिखाई गई है। पर प्रकृति यदि सकारात्मक संवेगों की स्रोत है तो ईश्वर नकारात्मक संवेगों का स्रोत।

'नये कवियों' द्वारा ईश्वर को इहलौकिक रूप देना आकस्मिक नहीं। आकाश की ऊँचाइयों में विचरण करना उसकी विशेषता नहीं। उनके लिए यह इहलौकिक संसार अधिक महत्व का है। सांसारिक अनुभव ही उनके लिए प्राथमिक महत्व रखते हैं।

'नये कवियों' को इस चीज़ का पूरा अहसास है कि नई वास्तविकता नई कविता की माँग करती है। उनकी कविताओं में विचार पहले जीवन प्रदत्त सामग्री के सामान्यीकरण के रूप में आता है लेकिन यह विचार संदेह के बीच से गुज़र कर आता है। उनकी रचनाओं में शिक्षात्मकता अनुपस्थित रहती है।

हिंदी की 'नयी कविता' विविधतापूर्ण है। उसमें प्रवृतियाँ प्रमुख रही हैं जिन्होंने समकालीन भारत के जटिल सामाजिक टकरावों को उजागर किया है। ये लोकतांत्रिक धारा के 'नये कवियों' ने वास्तविकता के यथार्थपरक चित्रण के लिए उचित फार्म ढूंढ़ने की कोशिश की है और इसमें सफल भी हुए हैं। उन्हें भी उन्हीं कठिनाइयों से गुजरना पड़ता है। जिन कठिनाइयों का सामना अभिजात्यता व विवेक विरोध की सीमाओं को तोड़ते हुए विश्व कविता को करना पड़ा है। गलतफहमियों और भटकावों के बावजूद नये कवियों की कवि और समाज, कविता और यथार्थ की अवधारणा उनकी विश्व दृष्टि व काव्यशास्त्र के लोकतांत्रीकरण का श्रेष्ठ उदाहरण है। सर्वेश्वरदयाल सक्सेना, कैलाश वाजपेयी, रघुवीर सहाय जैसे कवियों की सकारात्मक मूल्यों की तलाश इस तथ्य का प्रमाण है कि 'नयी कविता' उग्रवाद और निहिलिज़्म से मुक्त रहने में सफल रही है। वह मानवीय संप्रेषण के शक्तिशाली माध्यम के रूप में काव्यात्मक शब्द की वास्तविक संभावनाओं पर विचार करने लगी है। यहीं इसका उल्लेख करना आवश्यक है क्योंकि स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद विभिन्न भारतीय कवियों ने सामाजिक यथार्थ का अलग-अलग ढंग से मूल्याँकन किया है।

'नयी कविता' की लोकतांत्रिक धारा के कवियों में सामाजिक जीवन के प्रति गहरा सरोकार रहा है। उन्हें तटस्थ सामाजिक चिंतन और छद्म क्रांतिकारिता की क्रियाशीलता में विश्वास नहीं है लेकिन इसके साथ ही घटनाओं की धीमी गति भी उन्हें असहनीय लगती है। सर्वेश्वरदयाल सक्सेना जैसे कवियों की दृष्टि में देश की कमजोरी और निष्क्रियता के कारण इसी में निहित हैं:

'धीरे-धीरे'
मुझे सख़्त नफ़रत है
इस शब्द से।
धीरे-धीरे
अब कुछ भी नहीं है स्वीकार
चाहे वह घृणा हो चाहे प्यार।

(धीरे-धीरे)

'खिड़की' शीर्षक कविता में सर्वेश्वरदयाल सक्सेना जीवन से रोमानी पलायन की उपयोगिता के प्रति न केवल संदेह व्यक्त करते हैं बल्कि पूरी तरह उसे अस्वीकार करते हैं। वह वास्तविकता से भिड़ना चाहते हैं।

'नया कवि' जीवन क्रम में हस्तक्षेप करना चाहता है। वह जनसामान्य के साथ संवाद की स्थिति स्थापित करने की कोशिश करता है और जीवन की अर्थवत्ता से उसे अवगत कराना चाहता है। कवि को यह भली तरह मालूम है कि इच्छा करना ही सब कुछ नहीं होता। लेकिन भारत की जटिल परिस्थितियों में उन्हें बहुत कुछ समझने में कठिनाई महसूस होती है। इसीलिए उनकी कृतियों में प्राय: इस तरह के निराशाजनक स्वर उभरते हैं:

घुटनों में सिर छिपाए
बैठी है एक लड़की...
बेखबर उन शब्दों से
जो मैं चुपचाप रख देता हूँ
अपने प्रेम में,
.... मेरे शब्द
जो उसकी उदास गरीबी को
सब चमक भर दे सकते हैं
कोई अर्थ नहीं।

(अशोक वाजपेयी)

सक्सेना की कविता के हर स्तर के अपने प्रतीक हैं। कमरे के भीतर के संसार में दरवाज़ा, दीवारें, खिड़की और कवि की छटपटाती चेतना है: खिड़की से बाहर चहल-पहल से भरी सड़क जिसमें पचास करोड़ लोग अर्थहीन शोर पैदा कर रहे हैं, भूखे पेट बज रहे हैं...। कवि जीवनधारा से अलग नहीं रह सकता। झूठ और मक्कारी व ईमान-धर्म के संसार के बीच दीवार है, पर यह दीवार बहरी नहीं, इसमें एक अदद खिड़की रहती है। 'खिड़की खोलने' का मतलब होता है सीमित संसार से खुले संसार में प्रवेश। पर आसानी से विश्वास करने वाले आदमी के लिए ये खुला संसार भी एक तरह का जाला होना है। इसीलिए तो काव्यनायक ये शब्द दुहराता है: 'मैं अब यह खिड़की नहीं खोलूँगा।'

यह पंक्ति पहली नज़र में विडम्बनापूर्ण व विरोधाभासपूर्ण लग सकती है विशेषकर पूर्ववर्ती प्रगतिशील कविता के संदर्भ में जिसका नायक 'लघुमानव' रहा है जो पुराने के साथ नए के संघर्ष का चित्रण करते हवा, आंधी, तूफान के बिंबों का सर्वेश्वरदयाल सक्सेना की कविता में इस तरह का रूपांतरण कैसे हुआ ? कमरे की सीमाओं से बाहर की हवा अब रोमानी अलंकरण से वंचित हो जाती है, वह अब निर्जीव निष्प्राण है। हवा के बिंब का सक्सेना ने पहले भी उपयोग किया है पर हवाएँ बहुत चंचल थीं गतिशील थीं। कभी ये हवाएँ कवि के कान में कहती थीं : तुम कहाँ थे। वे नए-नए शब्द दुहराती थीं। लेकिन इन रोमानी हवाओं ने कवि की आशाओं को धोखा दिया। कमरे के बाहर का संसार कवि को चहारदीवारी से घिरे संसार से छोटा, तंग व कृत्रिम लगता है।

कवि यह मानता है कि अधिकांश भारतीयों की सुप्त चेतना को अभी तक जगाया नहीं गया है यदि जगाया भी हो तो ऐसे रूपों में जिन्हें जीवन की वर्तमान व्यवस्था ने विकृत कर दिया है। कवि स्वयं भी इस खुले संसार में अपने को तंग महसूस करता है। कवि को अपना दायित्व इसमें दिखता है

कि वह लोगों के लिए अपने को खुला छोड़ दे। इसीलिए:

'तुम कहां रहे' कान में कह जाती हैं,
नए-नए शब्दों से मुझको दोहराती हैं कहां
लिए जाती हैं ये चंचल हवाएँ कुछ नहीं
बताती हैं ये चंचल हवाएँ।

कवि मात्र मूकदर्शक नहीं, बल्कि संघर्ष में बराबर का भागीदार है। उसका कमरा 'हाथीदांत की मीनार' नहीं बल्कि 'मंच' है जिस पर से सलामी ली जाती है। कवि को यह अहसास है कि जीवन के ढांचे को तोड़ने में उसका विद्रोह अभी असमर्थ है, और आरंभ में उसे भीड़ की ठंडी आँखों के लिए तमाशा बनना होगा। दूसरा कोई विकल्प नहीं।

सर्वेश्वरदयाल सक्सेना, कैलाश वाजपेयी, रघुवीर सहाय जैसे कवियों की रचनाएँ इसका प्रमाण हैं कि ये वास्तविक घटनाओं के एकपक्षीय मूल्याँकन की प्रवृति से मुक्त हो गए हैं और ये कवि भारतीय जीवन को समझने व रूपांतरित करने के लिए प्रयासरत हैं।

'नयी कविता' के श्रेष्ठ प्रतिनिधि, कवि व नागरिक के रूप में, सामाजिक जीवन में सक्रिय हैं। नयी कविता का भविष्य उन लोकतांत्रिक प्रवृत्तियों में निहित है जिन्हें उन कवियों के कृतित्व में देखा जा सकता है जो कविता में उग्रवाद व राजनीतिक जोखिम को स्वीकृति नहीं देते। यह आशा की जा सकती है कि लोकतांत्रिक रूपांतरण की ओर बढ़ते भारत का विकास ऐसा परिस्थितियाँ पैदा करेगा कि हिंदी की नयी कविता अपने को स्पष्ट सामाजिक-नैतिक आदर्शों व नई आशाओं की कविता के रूप में प्रतिष्ठित कर सकेगी।

□

—अनु० वरयाम सिंह

रोशनी की पगडंडियाँ

डॉ. रामदरश मिश्र

काफी दिनों बाद बरहज गया तो देखा अभी सन्नाटा व्याप्त है। छात्रावास में इक्के दुक्के छात्र ही दिखाई पड़े। अपने कमरे में गया तो कमरा खुला हुआ मिला। सामान चोरी चला गया था। जी धक्क से रह गया। अरतन-बरतन सभी ग़ायब थे, अब खाना कैसे बनायेंगे? पंडित सिंहासन तिवारी से मिला। उनसे अपनी बात बतायी तो बोले—इस बीच बहुत चोरियां हुई हैं। उन्होंने यह भी कहा कि दस-पाँच दिन में पढ़ाई शुरू कर देंगे। मैं फिर गाँव लौट आया। फिर पंद्रह सोलह दिन बाद गया, पढ़ाई शुरू हो गई।

'साहित्यरत्न' में 'सिंदूर की होली' भी लगी थी। उसे पढ़ते हुए विचित्र अनुभूति होती थी। किसी ने बताया कि इसके लेखक पंडित लक्ष्मी नारायण मिश्र सरयू उस पार किसी गाँव में रहते हैं। मन में कई बार ललक उठी कि किसी दिन उनके गाँव चल जाय और उनके दर्शन किए जाएँ। वास्तव में मेरी वह अवस्था थी जब भीतर रचनाकारों के प्रति एक गहरी उत्सुकता जगी होती है। उनसे मिलने, उनसे बात करने, उनकी जीवन-चर्या के बारे में जानने की एक तड़प होती है। उनके प्रति मन में एक पवित्र भाव होता है। अबकी बात नहीं कर रहा हूँ। इस समय का दौर कुछ और ही हो गया है। मिश्र जी से मिलने का सपना लिए मन महकता रहा लेकिन भेंट कहाँ होनी थी? किसी ने बताया कि उनका गाँव जरूर पास में है किंतु वे रहते इलाहाबाद में हैं।

मेरे साथ साहित्यरत्न के जो परीक्षार्थी थे उनमें कुछ काफी वयस्क लोग भी थे। वे वास्तव में नियमित विद्यार्थी नहीं थे, वे कहीं शिक्षक थे परीक्षा के कुछ पूर्व यहाँ तैयारी के लिए आ गये थे। उनमें से एक मोती बी. ए. भी थे। वे इतिहास से एम. ए. कर चुके थे किंतु वे कवि के रूप में मोती बी. ए. ही कहलाते थे। उनका गाँव वहाँ से कुछ मील की दूरी पर था। वे वहाँ के लोगों में कवि रूप में ख्यात थे। मैंने पहली बार उन्हें जाना। वे बनारस में रहते हैं यह मेरे लिए और भी आकर्षण का कारण बन गया। वे हम लोगों के साथ कुछ दिन रहे। कविताएँ सुनाई। बहुत मीठा कंठ है उनका। वे अपने मीठे कंठ में कई कवि सम्मेलनी कवियों की तरह अलाप नहीं भरते बल्कि उनमें धीरे-धीरे मधुरता की वृष्टि करते हैं जो अच्छा लगता है।

हम लोग दिसम्बर में परीक्षा देने बनारस गये। कमच्छा में ठहरे। मोती बी. ए. भी वहाँ आकर परीक्षांत तक ठहर गये। बहुत अच्छा लगा। शंभूनाथ सिंह मोती बी. ए. के दोस्त थे। उनका गाँव भी मोती बी. ए. के गाँव के आसपास ही है। शंभुनाथ के नाम से मैं परिचित नहीं था। मोती जी ने ही परिचय कराया— 'ये मेरे मित्र हैं, नये गीतकारों में अत्यधिक संभावना पूर्ण गीतकार।' उनकी भी कुछ कविताएँ सुनने का सुअवसर मिला। उनका भी कंठ मीठा-समस्वर से बहने वाला था। साहित्यरत्न की परीक्षा की

तैयारी के साथ-साथ काशी के साहित्यकारों से परिचय मेरे लिए बहुत सुखद उपलब्धि बनता चला गया। हम लोग कुछ पूछने-पाछने डा. जगन्नाथ शर्मा के यहाँ गये, वहाँ से करुणापति जी के यहाँ गये लाला भगवानदीन विद्यालय में पंडित विश्वनाथ प्रसाद मिश्र की कक्षा में बैठे। वे शायद अजातशत्रु नाटक पढ़ा रहे थे। उनके पांडित्य, रोचक अध्यापन और विनोदप्रियता का परिचय एक साथ मिला। वे अजातशत्रु पढ़ा रहे थे पढ़ाते-पढ़ाते देर हो गयी तो एक छात्र ने पूछा—''आज 'होट नाइट शो' चलेगा क्या?'' पंडित जी ने फट से कहा ''हाँ आप छलना की भूमिका अदा करेंगे क्या?'' पंडित जी ठठाकर हँसे और पूरी कक्षा हँस पड़ी।

बड़ा खुशनुमा मौसम था। दिसम्बर की ठंडक थी लेकिन दिन की सुनहली धूप तन-मन में एक उष्मा भर देती थी। पास में ही अमरूद का बागीचा था। पास में ही लड़कियां आती थीं, वहीं से अमरूद तोड़वाती थीं, खाती थीं। माथा खुला होता दो चोटियां लटकी होतीं, मस्ती से मटक मटक कर चलतीं और स्वच्छंद रूप से अमरूद खातीं। यह दृश्य हम लोगों के लिए नया था! एक ने कहा—''कितनी बेशर्म और चीप हैं सब।''

''इसमें बेशर्मी क्या है?'' मोती बी. ए. ने कहा। फिर उन्होंने हमारे देहाती संस्कारों को धक्का मारने वाला एक लाजवाब लेक्चर पिला दिया। जो भी हो मुझे वे लड़कियाँ अच्छी लग रही थीं। हमारे देहाती संस्कारों को हिलाती हुई भी बहुत स्पृहणीय लग रही थीं। ऐसी लड़कियाँ देहात में कहाँ दिखाई पड़ती हैं।

''इन्हें चीप मत समझिए। हर पीढ़ी पिछली पीढ़ी से कुछ नया करती है—वेशभूषा, रहन-सहन में। और हर पिछली पीढ़ी भुनभुनाती है, नयी पीढ़ी को सस्ती कहती है लेकिन ये लड़कियाँ देहात की अपढ़ लड़कियों की अपेक्षा ज्यादा संयत, चालाक और चरित्र-रक्षा में समर्थ हैं। सच तो यह है कि पारंपरिक लोगों के हृदय में इनके सौंदर्य और मुक्त आचरण को देखकर इनके प्रति स्पृहा की आग धधक उठती है। ये उन्हें उपलब्ध हो नहीं सकती हैं अतः इनकी आलोचना करके अपनी कुंठा अभिव्यक्त करते हैं।'' मोती बी. ए. कुछ तैश में आ गये थे। मुझे लग रहा था कि वे ठीक कह रहे हैं और उन्होंने हम सबके पारंपरिक देहाती संस्कार को चौराहे पर नंगा कर दिया है।

शाम को घूमने निकले तो कुछ लोग वी. टी. कालेज से निकल रहे थे। ''पं. सीताराम चतुर्वेदी आ रहे हैं, उनके पीछे बेधड़क बनारसी है।'' मोती जी ने कहा। दोनों के नाम सुने थे। बहुत प्रसन्न हुआ। बेधड़क जी उस समय बी. टी. कर रहे थे और एक शिष्य दोस्त की तरह सीताराम जी के पीछे पीछे प्रसन्न मुद्रा में चले जा रहे थे। परीक्षा के दिन बेढव जी के दर्शन हुए। गौरवर्ण के एक सुदर्शन व्यक्तित्व के साथ हास्य रस के कवि का मेल एकाएक नहीं बैठा। मोती जी ने एक अत्यंत सुंदर सुकोमल युवक की ओर इशारा करते हुए कहा—''ये कवि गुलाब हैं, ये भी साहित्यरत्न की परीक्षा दे रहे हैं। बेढव जी उन्हें पहुँचाने आये हैं।'' बनारस में आने के बाद गुलाब के बारे में भी सुना था और यह भी सुना था कि वे बेढब जी के बहुत आत्मीय हैं! दोनों सुंदर व्यक्तियों को एक साथ देखकर मेरे धूल धूसरित देहाती मन को कैसा लगा होगा, आज उसकी मात्र कल्पना कर सकता हूँ। दरअसल हम साहित्य-प्रेमियों के लिए काशी साहित्य का तीर्थ था जहाँ अनेक महारथी विराजमान रहे हैं और उस समय भी थे। इसलिए साहित्यकारों के दर्शन से मैं भीतर-भीतर कृतार्थ होता जा रहा था। एक इच्छा उठ रही थी कि काश, शुक्ल जी, प्रेमचंद जी और प्रसाद जी जीवित रहे होते।

परीक्षा हो गयी थी अब मौखिकी की बारी थी। जी धक धक कर रहा था। और जब से सुना कि हिन्दू विश्वविद्यालय के हिन्दी विभागाध्यक्ष पंडित केशव प्रसाद मिश्र मौखिकी लेंगे, धड़कन और बढ़ गयी थी। लिखित परीक्षा देने और मौखिकी होने के बीच का समय कैसे बीता कह नहीं सकता। मौखिकी या

साक्षात्कार मेरे लिए हमेशा एक त्रास रहा है। इनके नाम से मेरी घबराहट बढ़ जाती है। आज भी यही स्थिति है। न जाने कौन व्यक्ति कितना बेहूदा सवाल कर दे। अब तो बेहूदा सवालों की बाढ़ आ गयी है। बहुत कम उच्चस्तरीय परीक्षक ऐसे हैं जो परीक्षार्थी या प्रत्याशी से उनके क्षेत्र के प्रश्न करते हैं या उनकी सही योग्यता उभारना चाहते हैं बाकी तो अपनी बेहूदा हरकतों से उन्हें उलझाना चाहते हैं, अपमानित और नर्वस करना चाहते हैं।

यह मेरा पहला साक्षात्कार था वह भी केशव जी के सामने। बाप रे बाप। साथ के परीक्षार्थी भी घबराये हुए थे। खैर वह समय आया। मैं डरते डरते अंदर गया। सामने बैठ गया। केशव जी की हुलिया आतंककारी नहीं थी उसमें एक आश्वस्ति प्रदता थी। धोती कुर्ता, टोपी, चादर में वे हमारे गाँव के जाने-पहचाने पंडित जी लग रहे थे। उनकी आँखों में वात्सल्य से भरी एक दीप्ति थी। उन्होंने मेरा नाम पढ़ा। नाम के साथ उपनाम था। उपनाम पढ़ कर उन्हें लगा होगा कि मैं कविता भी लिखता हूँगा। पूछा—"कविता भी लिखते हैं।" मैंने कहा—"हाँ"।

"सुनाइए।"

मैंने एक कविता सुनाई। वे प्रसन्न होकर सुनते रहे। बोले बहुत सुंदर कविता है। मेरी प्रसन्नता की सीमा नहीं रही। इतना बड़ा विद्वान् मेरी कविता को अपनी प्रशंसा से पुरस्कृत कर रहा है। मैं गद्‌गद् हो ही रहा था कि उन्होंने उस कविता की एक पंक्ति उठा ली और पूछा कि क्या यह पंक्ति व्याकरण से सही है और सही नहीं है तो इसमें गलती क्या है? मुझे तो कुछ सूझा ही नहीं। सूझता तो गलती करता ही क्यों? ऐसे ही उन्होंने दो एक सवाल और किये—उस कविता के भाव से सम्बन्धित। मैंने अपने ढंग से उत्तर दिये और उन्होंने हँसकर कहा—"जाइए।"

मैं बाहर निकला। बहुत प्रसन्न था। लगा कि इतने बड़े पंडित ने कहीं भी मेरे ऊपर बोझ नहीं डाला। लगा— जैसे हालचाल पूछ रहे हों। यह भी लगा कि उन्होंने मुझे अच्छे अंक दिये होंगे। किंतु जब परिणाम निकला तो मौखिकी के बहुत अच्छे अंक न देखकर मुझे प्रतीत हुआ कि पंडित जी ने बहुत सहजता से मेरी असली योग्यता की पहचान कर ली थी।

साहित्यरत्न की परीक्षा देकर खाली हो गया था। पास तो हो ही जाऊँगा। चिन्ता थी इसके बाद क्या करूँगा। फिलहाल मैं अपना प्रबंध काव्य 'चक्रव्यूह' पूरा करने में जुट गया। लेकिन अब करूँगा क्या? यह और लोग भी पूछते और मैं भी अपने से पूछता। साहित्यरत्न पास होकर कुछ कर लेने का जो सपना था वह अब छँट रहा था। अब तो मैं रास्ते के उस छोर पर खड़ा था जहाँ से आगे वह जाता ही नहीं और जिस बिंदु पर वह खत्म हो रहा था वह केवल रास्ते का अंत था किसी लक्ष्य की प्राप्ति नहीं। क्या मिलेगा मुझे? कोई नौकरी? कौन सी नौकरी? साहित्यरत्न की डिग्री किसी नौकरी तक पहुँचाये, अभी ऐसी स्थिति तो बनी नहीं थी। और आगे भी कहाँ बन पायी? राष्ट्रभाषा की उच्चतम डिग्री प्राप्त कर ली है, राष्ट्रभाषा-प्रेम के नाम पर उसे चिपकाये घूमो एक गौरव अनुभव करो, उसे राष्ट्रप्रेम के साथ जोड़ो, यह कम है क्या?

लेकिन इससे जिंदगी चलेगी क्या? कपिलदेव के साथ विचार-विमर्श करके तथा भइया से परामर्श करके यह तय किया कि अंगरेजी पढ़ी जाय।

सन् १९४३। मैं साहित्यरत्न पास हो गया था। इसी वर्ष मेरा गवना भी हो गया।

जुलाई आते ही कपिलदेव और मैं पास और दूर के कुछ ऐसे स्कूलों में गये जहाँ अंगरेजी की प्राइवेट पढ़ाई होती है। कहीं मन नहीं जमा तो घूम फिर कर फिर ढरसी गये—पंडित जी के पास। पंडित जी ने बहुत प्यार और उछाह से हमारा स्वागत किया।

पंडित जी ने प्राइमरी स्कूल की बिल्डिंग दी थी और स्कूल का अपना भवन तैयार करा लिया था।

खुले में खुला भवन—।चारों ओर खेत, खेत की फसलें। बहुत अजीब लग रहा था ए. बी. सी. डी. पढ़ना और शब्दों की वर्तनी रटना। साहित्य की ऊँची ऊँची पुस्तकें पढ़ने के बाद अंगरेजी की प्राइमरी शिक्षा प्राप्त करना बहुत कष्टकर लग रहा था। मन नहीं लग रहा था। अत: मेरी शिक्षा में प्रगति नहीं हो पा रही थी। कपिलदेव अपेक्षाकृत अधिक गतिशील थे।

बहुत से नये विद्यार्थियों से भेंट हुई। उनमें सबसे विशिष्ट थे विद्याधर द्विवेदी। वे सहुआकोल गाँव के थे और विशेष योग्यता पढ़ने आये थे। मझोले कद के गेहुँआ वर्ण के सुदर्शन विद्याधर तन और मन दोनों से बहुत ओजस्वी थे। पढ़ने में तेज थे, कुश्ती लड़ने में बहुत चुस्त थे, बहुत स्फूर्ति थी उनमें खेल के मैदान में भी अपना जौहर दिखाते थे, अच्छा गाते भी थे, वाद-विवाद में भी अपनी करामात दिखाते थे। मैं इस विद्यालय का वरिष्ठ विद्यार्थी था, पंडित जी का अत्यंत स्नेह-भाजन था और कविता के क्षेत्र में उजागर हो रहा था अत: प्राय: सारे ही विद्यार्थी मुझे सम्मान देते थे और मैं भी स्वभावत: सबको अपना समझता था किंतु विद्याधर की बात ही और थी। उम्र की अच्छी खासी दूरी होने के बावजूद हम मित्र थे यह और बात थी कि वे इस मैत्री भाव के बावजूद वे मुझे सम्मान भी देते थे। इस वर्ष मेरे गाँव के मुक्तिनाथ और रामकृपाल भी पढ़ने आ गये थे। कोल्हुआ से मेरी ससुराल की पट्टीदारी के अवधनारायण त्रिपाठी भी पढ़ने आते थे जो मुझसे बहुत शरमाते थे। एक विक्रमादित्य द्विवेदी थे, एक कपिलदेव साही थे साथियों की एक अच्छी खासी संख्या थी।

विक्रमादित्य गाते बहुत अच्छा थे अत: जब हम लोग एकत्र होकर अंगरेजी का कोई पाठ तैयार करते और मन नहीं लगता तो विक्रमादित्य से गाने को कहा जाता। वे गाते और हम लोग अंगरेजी के पाठ की नीरसता से मुक्ति पाकर कविता और संगीत की दुनिया में खो जाते। पंडित जी के अंगरेजी ज्ञान की बात बता चुका हूँ। प्राइवेट मैट्रिक पास पंडित जी का अद्भुत जीवट था कि वे तैयारी कर करके हमें पढ़ाते थे। वे पढ़ाते सही थे लेकिन उनके पढ़ाने में वह प्रवाह और आनंद नहीं पैदा होता था जो एक विषय के अधिकारी के पढ़ाने में होता है। एक दिन हम उनके कमरे में बैठे थे वे पढ़ा रहे थे। वे आधा वाक्य बोलते थे आधा हमें पूरा करना पड़ता था, वे बोले—'वी'। हम लोग गोज़। और देर तक वे हमें वाक्य रटाते रहे। वे 'वी' कहते, हम 'गोज' कहते—वी—गोज़, वी—गोज़। एकाएक उन्हें ध्यान आया और हम लोगों को गाली देते हुए बोले—'अरे नालायको वी के साथ 'गोज़' कैसे लगेगा 'गो' होगा न। हम लोग झेंपे और अपने तथा पंडित जी के ज्ञान पर परस्पर मुस्कराये।

पंडित जी का इरादा था कि तीसरे साल हम मैट्रिक की परीक्षा में बैठेंगे। पहले वर्ष वे हमें बेसिक ज्ञान करायेंगे दूसरे तीसरे वर्षों में मैट्रिक की पाठ्य-पुस्तकों की तैयारी करायेंगे। मुझे और सारे विषयों की चिंता नहीं थी बस अंगरेजी हौआ थी, वर्तनी रटने और व्याकरण पढ़ने में मन लगता नहीं था। यह भाषा भी कैसी भाषा जिसके प्रत्येक शब्द का हिज्जे रटा जाय। दूसरी ओर तीन वर्षों में ही पाँच वर्षों का कोर्स पूरा करना था। मन उचट जाता था लेकिन अंगरेजी पढ़े बिना गुजारा भी तो नहीं।

कुआर था। मुझे बुखार आ गया। सोचा गया—ठीक हो जायेगा। लेकिन नहीं उतरा। बढ़ता ही गया। मलेरिया था। पंडित जी ने अपने ज्ञान से जो दवा कर सकते थे करते रहे, नहीं उतरा। घर संदेश भेजा गया। मझले भाई डोली लेकर आये। वे तिजहर को पहुँचे थे। बुख़ार की बेचैनी में डोली में डाला गया। उस समय की अपनी बेचैनी की याद करके अब भी थर्रा जाता हूँ। गजपुर पहुँचते पहुँचते रात हो गयी। वहीं एक धर्मशाले में ठहरना पड़ा। रात भर बेचैनी से तड़पता और चिल्लाता रहा। सवेरे वहाँ से डोली रवाना हुई। राप्ती नदी में नाव पर चढ़े तो इच्छा हुई नदी का सारा पानी पी जाऊँ। ताप और प्यास से मैं तड़प रहा था। पानी पीने की अनुमति माँगी तो भाई साहब ने मना कर दिया—नदी का पानी नुकसान कर देगा। नौ बजे के आसपास डोली घर पहुँची। पिता जी और माँ बेचैनी से मेरा इंतजार कर रहे थे। डोली

उतरते ही वे मेरी ओर लपके। मैं उन्हें देखते ही पुक्का मार कर रो पड़ा। माँ ने छाती से लगाते हुए कहा—"नहीं, रोओ मत, अब अपने घर आ गये हो। सब ठीक हो जायेगा।"

घर की आश्वस्ति अद्‌भुत होती है। 'घर आ गये हैं' का बोध कितनी राहत देता है। मैं पुचकारे गये बच्चे की तरह चुप हो गया। अपने घर में हूँ, चारों ओर अपने लोगों के हाथ हैं, ममता भरी आँखें हैं, और सबसे बड़ी बात कि माँ है। एकबारगी मुझे एक आश्वस्ति के अनुभव से भर देने के लिए पर्याप्त था। घर की आत्मीयता और बाहर की आत्मीयता में फर्क होता है। बाहर कितनी भी आत्मीयता मिलती हो थोड़े फासले पर एक बिंदु पर आकर रुक जाती है। वह उतनी क्रियात्मक नहीं हो पाती जितनी भावात्मक होती है। माँ या पत्नी के हाथों की तरह कोई भी हाथ बीमार व्यक्ति की गंदगी की सफाई में रत नहीं होता। बाहर के किसी व्यक्ति को आदेश देकर आप कुछ नहीं मँगा सकते। पैसे रुपये के खर्च का हिसाब घर में नहीं होता, बाहर होता है। ढरसी से आने से पूर्व शाम को मैं बुखार से बुत्त पड़ा था और मेरे साथी वालीवाल खेलते हुए खूब शोर कर रहे थे। मैं भयानक परेशानी अनुभव कर रहा था, मेरे पास कोई था भी नहीं कि मैं उसे भेजकर शोर करने वालों को चुप कराता। काफी देर बाद विद्याधर खेल कर आये तो बोले—"कवी जी, आपको शोर से परेशानी तो हुई होगी किंतु मजा आ गया, खूब छकाया लोगों को।" मैं जानता था कि विद्याधर मेरे बहुत प्रिय थे और वे मेरा बहुत आदर करते थे लेकिन फिर भी सब कुछ घटा।

पड़ोसी गाँव रानापार के वैद्य जी बुलाये गये। दवा दी। दवा चलती रही कोई लाभ नहीं हुआ। वैद्य जी के बारे में मशहूर था कि उनके पास कुछ ही दवाएँ हैं जो सारे रोगों में देते हैं। फिर फायदा क्या होना था। मुझे तिजरा मलेरिया पकड़े था। यानी जाड़ा बुखार एक दिन छोड़कर आता था। जब बुखार चढ़ता था तो लगता था कोई दौरा पड़ रहा है। पूरी देह उठने गिरने लगती थी और मुँह से हुऊ हुऊ की ऐसी आवाज़ निकलती थी जैसे तेज हवा बहने पर बांस वन से आवाज़ आती है। माँ और दो एक और व्यक्ति रजाई के ऊपर से मुझे दबाते थे और खाट के नीचे आग जलाकर उसमें अजवाइन डाली जाती थी लेकिन मलेरिया के वेग की लगाम थाम पाना संभव नहीं हो पाता था। ऐसे ही दिन बीतता गया, मैं कमज़ोर होता गया। इस बीच लोगों ने कुछ टोटके भी माँ को सुझाये। एक ने बताया कि जिस वक्त जड़इया आती है उस वक्त खाट पर मेरे स्थान पर मूसल रख दिया जाय। जड़इया मूसल को पकड़ लेगी। उस उम्र में भी मुझे इन सब बातों पर विश्वास नहीं था। मेरी बुद्धि में यह नहीं आता था कि यह कैसे संभव हो सकता है? जाड़ा बुखार कहीं बाहर से तो आता नहीं कि वह भटक जायेगा, वह तो शरीर के भीतर से फूटता है उसी में स्थिर है। फिर भी परेशान होकर घर वालों के आग्रह से यह भी करना पड़ा। लेकिन जब विश्वास ही न हो तो सही बात भी नहीं लगती यह तो एक झूठी बात थी ही।

दो महीने गुज़र गये। मेरे गाँव के निकम्मे गोबरी अपने बाप की ताड़ना से भाग कर साधू बन गये थे। बहुत दिनों बाद वे गाँव आये थे और अपने घर के दरवाजे पर धूनी रमा ली थी। पिता जी ने मुझसे कहा—"गोबरी बहुत सिद्ध साधू होकर लौटा है उससे भभूत ले लो।"

फिर मेरा मन बिदका किंतु पिता जी अपने साथ पकड़ ले गये। वहाँ जाकर देखा—बेवकूफ से लगने वाले गोबरी विशाल जटा-जूट में दिव्य लग रहे थे। सामने धूनी रमी हुई थी तथा उनके पूरे शरीर में भस्म मली हुई थी। उनके पिता कृतार्थ भाव से उनके पास बैठे हुए थे। उनकी आँखों में पुत्र के इतना बड़ा महात्मा बन जाने का गर्व भरा हुआ था।

उन्हें देखते ही मैं अभिभूत हो उठा किंतु मुझे देखते ही जब वे पहले की तरह गबगबा कर बोलने लगे तो मैं उनके पहले जीवन के संदर्भों से जुड़ गया और उनके प्रति जो विश्वास अभी बना था एकदम गायब हो गया। वे पता नहीं, क्या क्या बोलते रहे। लोग उनके गोबरी से साधू बन जाने को महत्वपूर्ण उपलब्धि के बारे में सोच रहे होंगे। मैं उनके साधू से फिर गोबरी बन जाने की स्थिति से जुड़ गया था।

गोबरी मेरा हालचाल पूछते रहे, मैं उन्हें देखता रहा। उन्होंने धूनी में से भभूत निकाल कर दी और कहा—''भगवान चाहेगा तो सब ठीक हो जायेगा।'' मुझे हमेशा लगता रहा है कि भगवान का नाम लेकर जो दवा दी जाती है उसमें दवा लेने वाले व्यक्ति के आत्मविश्वास की कमी लक्षित होती है। मैं भभूत लेकर चला आया और खा भी ली लेकिन फिर वही भीतर के विश्वास का सवाल। भभूत को नहीं लगना था, नहीं लगी।

वैसे तो पूरा घर मेरी बीमारी को लेकर परेशान था किंतु माँ की परेशानी का क्या कहना? माँ के अतिरिक्त दो-दो भाभियां थीं, बहन थी, मझले भाई थे, पिता जी तो थे ही। मझले भाई की इसी साल नयी-नयी शादी हुई थी पहली पत्नी दिवंगत हो गयी थीं। बड़ी भाभी मझली भाभी दोनों मेरी देख-भाल करती थीं मेरे प्रति दोनों का गहरा स्नेहभाव था। इन सबके अतिरिक्त इस घर में एक प्राणी और था—मेरी पत्नी। इस पारंपरिक पारिवारिक परिवेश में हम दोनों दिन में एक दूसरे से न मिल सकते थे, न बात कर सकते थे। वह घूंघट काढ़े इधर से उधर, उधर से इधर होती रहती और शायद इस तमन्ना से तड़पती रहती की वह मेरी कोई सेवा कर सके। कभी कभी मैं झटके से उसे छिपकर अपनी ओर देखते देख लेता। उसकी आँखों में एक अजीब बेबसी का भाव भरा होता। मुझसे आँखें मिलते ही वह घूँघट काढ़ लेती और आगे सरक जाती। सोचता हूँ कैसी थी विडंबना संयुक्त परिवारों की। जिसे बीमारी में सबसे नजदीक होना चाहिए था, वही सबसे दूर थी, जिसके साहचर्य की उष्मा से जीवन-यात्रा सुगम हो जाती है उससे छिपकर रात के कुछ पलों में मिलना संभव हो पाता था। यही नहीं लोग अपनी संतानों को गोद में खेला भी नहीं सकते थे। दूसरे लोग खेलाते थे। आदमी गोद में भर लेने की ललक दबाये बच्चे को देखता रहता था। मैंने पत्नी का ठीक से मुंह भी नहीं देखा था। रात के अंधेरे में उससे थोड़ी बहुत बातें हुई थीं। इस बीमारी में रात के अंधेरे में मिलने का कोई प्रश्न ही नहीं था और दिन में हम आमने-सामने भी नहीं हो सकते थे। तब तो मैं भी पत्नी के प्रश्न पर एक परंपरित बोध से लदा था किंतु अब सोचता हूँ कि देहाती औरत के मन में मेरे लिए कुछ न कर पाने का कितना गहरा दर्द भरा रहा होगा। जिस पति सेवा को वह पत्नी की सार्थकता का पर्याय मानती रही होगी उसी से वह वंचित थी या वंचित की जा रही थी, यह उसे कितना बड़ा अभिशाप लगा होगा, इसकी कल्पना मात्र कर सकता हूँ। ये भोली-भाली गाय सी मूक औरतें—।

दो महीने बीत गये बीमारी में लिथड़ते हुए। रानापार के वैद्य वृंदावन दूबे के पुत्र रामदेव अच्छे वैद्य निकले थे किंतु वे अधिकतर बाहर-बाहर रहते थे। बाबू चंद्रभान सिंह की छावनी लक्ष्मीगंज में भी प्रायः आया-जाया करते थे। भइया उन्हें लेकर एक दिन घर आ गये। उन्होंने मेरा हाल देखा और दुखी हो गये। रामदेव को मेरे उपचार में लगा दिया। उनकी दवा से लाभ हुआ और मैं धीरे-धीरे मलेरिया की गिरफ्त से मुक्त होता गया। ठीक-ठाक होने में दो महीने और लग गये। चार महीने के बाद में ढरसी जाने के लायक हुआ। जो मलेरिया आजकल चार दिन में ठीक हो जाता है उसने मुझे चार महीने अपनी गिरफ्त में रखा। उसकी सजा अब तक भोग रहा हूँ। उस मलेरिया ने मुझे ऐसा तोड़ा कि उसके बाद थोड़े से बुखार से भी मेरा शरीर भयानक ऐंठन महसूस करता रहता है।

चार महीने बाद जैसे एक नया जीवन मिल गया था। ढरसी आया। पढ़ाई शुरू की किंतु लगा कि वह साल लगभग यों ही बीत गया। साथी लोग अंगरेजी में आगे बढ़ गये थे। अंगरेजी पढ़ने के प्रति मेरा सिस्टम बिगड़ा वह बिगड़ा ही रह गया, न में अंगरेजी को रास आया और न वह मुझे। दोनों में एक टूटा-फूटा संबंध चलता रहा और चल रहा है।

इस बार की ढरसी की पढ़ाई के दौरान छोटी-मोटी घटनाएँ तो बहुत घटीं लेकिन कुछ विशेष थीं, जिनकी चर्चा मैं करना चाहूँगा। ढरसी का स्कूल चहल-पहल का केंद्र बना हुआ था। वहाँ नेता आये, साहित्य-सेवी आते, अफसर आते, हिंदी प्रचारक आते। सन् ४२ के बाद का माहौल था। अतः राजनीतिक

सरगर्मी हवा में बनी हुई थी, साथ ही दमन का चक्र भी चल रहा था। पंडित जी डरते नहीं थे। एक बार एक सी. आई. डी. का इंसपेक्टर आया और वह बातचीत में मिस्टर गांधी, मिस्टर गांधी कहने लगा। पंडित जी ने उसे डाँटा—'आप महात्मा गांधी नहीं कह सकते। देश के इतने बड़े महापुरुष के प्रति आपके मन में कोई इज्जत नहीं है अंगरेजी की नौकरी ने आपकी भारतीयता को एकदम सीख लिया है?'' वह इंसपेक्टर शरमा गया। उसमें पानी बचा था।

संभवत: सन् ४४ का समय था। पंडित जी ने नेहरू के जन्मदिन पर एक छोटी सी सभा आयोजित की। हम लोगों ने नेहरू जी तथा कांग्रेस के अलग-अलग पक्षों पर बोलने की खूब तैयारी की। जिला स्तर के नेता मृगनाथ चतुर्वेदी बुलाये गये और जमकर सभा हुई। आसपास के बड़े आदमी भी बुलाये गये थे। इस सभा की सरगर्मी चारों ओर छा गयी और लोगों के मन में एक आतंक सा फैल गया लेकिन पंडित जी निश्चिंत रहे।

उसी वर्ष कुशीनगर में एक बहुत बड़े साहित्यिक समारोह के आयोजन की घोषणा हुई। उसमें शामिल होने का उत्साह छा गया। पंडित जी अपने साहित्यकार शिष्यों के साथ उसमें सम्मिलित होने की तैयारी करने लगे। इस सम्मेलन के लिए जो विज्ञप्ति प्रसारित की गयी उसमें यह भी था कि कुशीनगर पर सबसे अच्छी कविता को पुरस्कार मिलेगा। पंडित जी ने कविता लिखी। मैंने भी लिखी। तब तक कपिलदेव भी कवि हो गये थे। उन्होंने भी लिखी। कविताएँ डाक से कुशीनगर सम्बद्ध व्यक्ति को भेज दी गयीं। मेरी कविता स्कूल में खूब सराही गयी और सबको विश्वास था कि इसे पुरस्कार मिलेगा। मैं इन प्रशंसाओं से मन ही मन खूब पुलकित था, पुरस्कार पाने का एक रंगीन सपना मन में झिलमिला रहा था।

नियत तिथि को हम कुशीनगर के लिए रवाना हो गए। गोरखपुर पहुँचे। वहाँ से कुशीनगर के बस में बैठे तो देखा अनेक साहित्यकार से लगने वाले लोग बस में बैठे थे। हाँ, साहित्यकार होना ही ज़रूरी नहीं है, लगना भी ज़रूरी है। मैं देहाती आदमी अपनी मामूली वेश-भूषा में साहित्यकार कहाँ से लगता? अब भी लगता हूँ, मुझे संदेह है। लेकिन शहर के साहित्यकारों या शहर में पढ़ रहे गाँव के साहित्यकारों की सजी सँवरी वेश-भूषा थी। उनका अपना खास नक्शा था। उनके बोलने-बतियाने, ताकने की विशेष भंगिमा थी। मैं हसद से उन्हें देख रहा था। यह नहीं जानता था कि इनमें कौन साहित्य के कितने गहरे पानी में है, लेकिन यह अवश्य लगता था कि ये लोग कुछ न कुछ हैं। पंडित जी अपने कुछ समवयस्कों को पहचानते थे। वे बता भी रहे थे कि अमुक अमुक हैं लेकिन नयी पीढ़ी का उन्हें ज्ञान नहीं था और नयी पीढ़ी का ही ठाठ ज्यादा था जिसे मैं बार-बार देख रहा था और सोच रहा था कि ये मुझसे बड़े कवि हैं।

कुशीनगर उतरे। मेला था। चारों ओर साहित्यकार उतराये हुए थे। सैकड़ों छोलदारियाँ पड़ी थीं। एक में हमने भी आसन जमाया। कुशीनगर पहली बार देख रहा था। उसका प्राकृतिक वातावरण बहुत मनोहारी था। जाड़े की धूप में नहाता हुआ यहाँ का प्रकृति वैभव बहुत पवित्र और सुंदर लग रहा था, उसमें साहित्य की चहल-पहल एक संगीत पैदा कर रही थी।

खा पी कर निश्चिंत हुए तो धूप ढल रही थी। हम घूमने निकले। बुद्ध की महानिर्वाण की प्रतिमा के पास गये। अद्भुत। प्रतिमा की विशाल भव्यता मन में नही अँट रही थी, वह केवल चकित कर रही थी। प्रतिमा नहीं, वह मन: शांति भी थी जो चारों ओर अपनी स्वर्गिक आभा बिखेर रही थी। देखा कुछ विशिष्ट वेशभूषा और केश विन्यास वाले युवा साहित्यकार वहाँ खड़े बात कर रहे थे। मैं उन्हें ललचायी आँखों से देखने लगा न जाने कितने बड़े कवि होंगे ये। किसी ने कहा—''ये बनारस से आये हुए कवि हैं।'' बनारस के नाम ने इस साहित्यकारों के प्रति मेरे आकर्षण को दुगुना कर दिया। उनमें से एक सज्जन विशेष

आकर्षित कर रहे थे। बातचीत में उनके साथियों में से एक ने उनसे कहा—''भाई नरेश जी आप तो कवि ठहरे, आप इस प्रतिमा की भव्य विराटता को शब्दों में बाँध देंगे, हम शब्द नहीं पायेंगे।''

उस समय मैं घुँघराले बालों वाले विशिष्ट वेश-भूषा वाले नरेश नाम धारी व्यक्ति के बारे में कुछ नहीं जानता था। बाद में मालूम पड़ा कि ये नरेश मेहता थे।

चांदनी रात थी, हम कुशीनगर के खंडहरों में घूमते रहे। चांदनी रात में ये खंडहर अतीत की स्वप्निलता से और भर गये थे। इन खंडहरों में गौतम बुद्ध, बौद्ध धर्म, संघ आदि के अनेक पढ़े-पढ़ाये सुने-सुनाये प्रसंग जीवित हो रहे थे। कल्पना कितने दृश्य देख रही थी, कितनी आवाज़ें सुन रही थी, कितना कुछ छू रही थी। मेरे ही समान अनेक साहित्यकार इन खंडहरों में भटक रहे थे और अनंत कल्पनाएँ अतीत की घाटियों में कुछ खोज रही थीं। पर्दे पर पर्दे उठ रहे थे। सच्चे अर्थों में मैं चकित था।

दूसरा दिन निकला—एक विशेष उल्लास लेकर। आज दोपहर बाद सभा का उद्घाटन होना था। विशेष आकर्षण था श्री पुरुषोत्तमदास टंडन का आना। वे सभा के अध्यक्ष थे। उनके दर्शन और उनके भाषण के लिए हम सबको बहुत उत्सुकता थी। सुबह से ही लोगों का मिलना-जुलना शुरू हो गया था। एक कैंप के लोग सुनते थे कि दूसरे में कुछ कवि ठहरे हैं तो वहाँ जाते थे और आग्रहपूर्वक कविताएँ सुनते थे। दरअसल वहाँ आने वाले सभी कवि ही या साहित्यकार ही नहीं थे, साहित्यप्रेमी, हिन्दी प्रेमी लोग भी थे, हिंदी के शिक्षक भी थे। वे साहित्यकारों को ज्यादा स्पृहा और सम्मान से देख रहे थे। छोलदारियाँ एक बड़े मैदान में पड़ी थीं। जाड़े की खुशनुमा धूप में हम लोग घूम रहे थे, साहित्यकारों को पास या दूर से निहार रहे थे।

घूमते-घूमते गजपुर के लोक कवि विद्युत जी मिल गये। उनसे मेरा परिचय बहुत पहले हो चुका था। विद्युत जी भोजपुरी में कविताएँ लिखते थे, स्वयं छपवाते थे और मेले हटियों में घूम घूम कर पुस्तक बेचते थे। श्रीमानों के दरबारों में भी जाते थे। वे सच्चे अर्थों में मसि-जीवी कवि थे। सास-बहू संवाद, कली-पवन संवाद, गंगावतरण आदि कई पुस्तकें जनता में प्रिय हो चुकी थीं। विद्युत जी ने भोजपुरी भाषा के ठेठ मुहावरे को पकड़ा था—

हम त बड़े बाप क बेटी
धइ के चंपबों नरेटी
तुहार सेखी जाइ भूलि एहि धरिया में
या
सुन S ननदी क भइया
हम परीं तुहरे पइयां
नाहीं सोइब तुहरे सेज
हमके नइहर द तू भेज
अइया माहुर कूचि कूचि भुसुनाइल करेली

कविता की दृष्टि से गजपुर उस समय बहुत जरखेज था। मन्नन द्विवेदी के बाद जीवन जी थे। उसी समय गुणागर मिश्र 'आगर' नाम के कवि विराजमान थे। विद्युत जी भी गजपुर के ही थे। विद्युत जी बहुत पढ़े लिखे नहीं थे किंतु उनकी काव्य-प्रतिभा कमजोर नहीं थी। भोजपुरी में लिखी गयी उनकी कविताएं मुझे प्रभावित करती थीं। आज भी अच्छी लगती हैं किंतु लोक-कवि यानी अपनी लोकभाषा में लिखने वाले अपढ़ या कम पढ़े लिखे लोग खड़ीबोली में कविता लिखने वाले पढ़े-लिखे लोगों द्वारा उसी तरह उपेक्षित होते थे, होते हैं जैसे खड़ीबोली में लिखने वाले हिंदी पढ़े-लिखे लोग अंगरेजीदां लोगों और

लेखकों से होते हैं। बेचारे विद्युत जी किसी पद पर नहीं थे, पढ़े-लिखे नहीं थे, मेले हटियों में अपनी कविताएं सुना-सुना कर पुस्तक बेचते थे और अपनी जीविका चलाते थे। क्या बुरा करते थे। इसी कारण लोग उन्हें गंभीरता से नहीं लेते थे, उन्हें मंगता कवि कहते थे। मेरे मन में इस कवि के लिए एक ख़ास इज्जत है। तब जितनी रही होगी उससे ज़्यादा इज्ज़त।

हाँ तो विद्युत जी के साथ आगे बढ़े तो दूसरे लोग कवि श्याम जी मिल गये। धूप में बैठे पूजा कर रहे थे। उनसे भी मेरा परिचय बरहज में हो चुका था। वे लार के आसपास के हैं। बरहज आया करते थे। आशु कवि हैं। उनके लिए सेठों के यहाँ प्राय: छोटे छोटे मजमे जुटा करते थे और वे सैठों की प्रशंसा में आशु कविता सुनाया करते थे। बिदाई के रूप में दो-एक रुपये पा जाते थे। श्याम मड़ैती के स्तर के मज़ाकिया आदमी थे। उनसे एक बार वहाँ परिचय हुआ, फिर दो-एक बार और भेंट हुई। जान-पहचान हो गयी। विद्युत जी के साथ उनके पास पहुँचा। साथ में कपिलदेव भी थे, दो-एक व्यक्ति और थे। जाते ही कहा— "श्याम जी इनसे मिलिए, ये हैं लोक कवि 'विद्युत' जी। एक लोक कवि दूसरे लोक-कवि को सामने पाकर प्रतिस्पर्धा की मुद्रा में आ गये। पूजा करते करते श्याम जी शरारत से मुस्कराये और विद्युत जी पर मज़ाक का एक भभका छोड़ दिया। विद्युत जी भी प्रतिस्पर्धा में आ गये लेकिन वे एकदम सीधे-सादे आदमी थे, श्याम के प्रहार से आहत होकर मजाक का कोई तीर छोड़ने के स्थान पर अपनी कविताएँ सुनाने लगे और सीधे आक्रोश में बोले—"है तुम्हारे पास इस कविता का जवाबी है तुम्हारे पास ऐसी कविता।"

श्याम फिर शरारत से मुस्कराये और पूजा पर बैठे बैठे ही विद्युत के शरीर पर आशु क़विता पढ़ने लगे, जिसके कुछ शब्द याद हैं—

गोभी की गाँठ ऐसा चेहरा तुम्हारा बना

सभी लोग हँसने लगे। विद्युत के चेहरे की ऐसी सटीक उपमा से मैं चकित हो गया। भौंड़ जैसा लगने वाला यह हास्य रस का कवि केवल मजाकिया ही नहीं है, उसमें पर्यवेक्षण की गहरी शक्ति है। वह कितनी आसानी से सटीक उपमाएँ चुन लेता है। बेचारे विद्युत रूआँसे हो गए और हम लोग कुछ देर बाद वहां से सरक गये।

उद्घाटन समारोह शुरू हुआ। श्री पुरुषोत्तमदास टंडन के दर्शन की कामना पूरी हुई। एक सज्जन देवरिया के इतिहास पर बोल रहे थे बहुत अच्छी हिन्दी में साफ सुथरे ढंग से देवरिया के सांस्कृतिक और राजनैतिक इतिहास पर बोल रहे थे। मैं उनसे बहुत प्रभावित हुआ। मालूम हुआ कि वे हिंदू विश्वविद्यालय में इतिहास विभाग के प्रोफेसर डा. राजबली पांडेय हैं। प्रोफेसर पद की गरिमा से मेरा मन यों ही अभिभूत था, डा. राजबली पांडेय जैसे प्रोफेसर को देखकर वह और भी प्रभावित हो उठा। यह भी ज्ञात हुआ कि वे देवरिया ज़िले के जभिरा गाँव के हैं। गोरखपुर कालेजों के भी दो-एक प्रोफेसर बोले। अंत में टंडन जी बोले। क्या वक्तव्य था क्या ढंग था। हिंदी और देश के प्रति स्वाभिमान की गूँज अनुगूँज से भरा उनका भाषण निर्भीकता से अंगरेजों और उनकी व्यवस्था पर प्रहार कर रहा था। लगता ही नहीं था सन् ४२ के आंदोलन के बाद के अंगरेजी अत्याचार से वे कहीं आतंकित हैं। समग्रत: उस सभा का अनुभव मेरे जीवन का एक मूल्यवान अनुभव है। उद्घाटन समारोह के बाद अद्भुत ऊर्जा और उत्साह वातावरण में व्याप्त हो गया था।

तिजहर को देखा। पड़रौना के कवि इंदु जी जीप से उतर रहे हैं कुछ लोगों के साथ। उन लोगों को देखा, पहचाना। उनमें से एक थे बेघड़क जी। संभवत: शंभुनाथ जी भी थे। बाकी को नहीं पहचानता था। धीरे धीरे उन्हें भी जान गया। इंदु जी से मेरा परिचय था। उन्होंने ही सबके नाम बताये। एक थे ईशदत्त शास्त्री श्रीश, एक थे त्रिगुणायत जी, एक थे लालधर त्रिपाठी प्रवासी और और कई लोग थे। गोरखपुर के

कवि तो थे ही।

रात को कवि सम्मेलन शुरू हुआ। बेधड़क जी ने कविता सुनाई थी—

मैं सुंदर और असुंदर दोनों साथ-साथ

श्रीश जी ने अपने अत्यंत मधुर कंठ से अपनी एक राष्ट्रीय कविता सुनाई—

सो रहा था वन में अभय होके सिंह एक
रख कर पाँव लतिका के पायताने पर

कवि सम्मेलन खूब जम रहा था। स्थानीय कवियों में जब श्याम जी का नाम पुकारा गया तो वे मंच पर आये और आशु कविता के मूड में आ गये। उन्होंने बेधड़क जी की कविता की पैरोडी सुना मारी—

मैं सुन्नर और असुन्नर दोनों साथ-साथ
बेधड़क कवी की कविता बड़ी ऊँच
जैसे नारी के अधर कूच
निरगुनिया अउरी हुन्नर दोनों साथ-साथ

लोग हंस रहे थे। बेधड़क जी को बुरा लगा। वे मंच से उठकर चले गये उनके साथ काशी के अन्य कवि भी चले गये। सम्मेलन उखड़ गया। सुबह मालूम हुआ कि काशी के कवि श्याम जी और संयोजकों पर बहुत नाराज़ थे।

दूसरे दिन भी कई विचारगोष्ठियां होनी थीं, कई प्रस्ताव पास होने थे। पहली सभा में टंडन जी आये। उनके आने के बाद एस.पी. के नेतृत्व में पुलिस का एक दस्ता आया और एस.पी. ने स्टेज पर आकर टंडन जी से कहा—''आपने कल आपत्तिजनक भाषण दिया था आपके विरुद्ध वारंट है। आपको अरेस्ट किया जाता है।''

घबराहट मच गयी किंतु टंडन जी प्रकृतिस्थ रहे, मुस्कराते रहे। उठे और कहा—''पाँच मिनट का समय देंगे ताकि मैं कुछ कपड़े ले सकूँ।'' एस.पी. बहुत अदब के साथ पेश आ रहा था। उसने कहा—''श्योर श्योर आप जितना चाहे समय ले लीजिए।''

टंडन जी उठे। सभा उजड़ गयी। वे अपने ठहरने के स्थान पर गये पुलिस बाहर खड़ी रही। टंडन जी अपने कुछ कपड़े लेकर बाहर निकले। बोले—''चलिए''। जीप में बैठे। चले गए। सभा वहां बच गयी एक उदासी, चर्चाओं की भनभनाहट। बाद में सारे कार्य-क्रम पूरे हुए लेकिन खाना-पूर्ति के लिए। वह उत्साह, वह जीवंतता नहीं रही। तीसरे दिन हम लोग लौट आये। □

बांगला कहानी

घोंघा

आशीष सान्याल

अनिमेष जब लाँच से घाट उतरा, तब करीव-करीब साँझ हो चली थी। विदाई ले रहे सूरज की शेष किरणें नदी के पानी से लिपटकर चिक-चिक करती हँस रही थी। सजनाखाली के जंगल से पक्षियों की किचिर मिचिर की आवाज हवा में तैरती हुई आ रही थी। लेकिन अनिमेष का उस ओर बिल्कुल ध्यान न था उसने चारों ओर देखा, तुषार कहीं नहीं था। जबकि उसने लिखा था कि वह लांच-घाट पर स्वयं उपस्थित रहेगा।

लाँच से जितने यात्री उतरे थे, वे सभी एक-एक कर अपने-अपने रास्ते चले गये। लाँच भी बहुत देर पहले घाट छोड़कर चला गया। अब अकारण प्रतीक्षा करना बेकार है, सोचा उसने और कंधे पर बेडिंग और हाथ में एक छोटा सूटकेस उठाकर सामने एक चाय की दुकान की ओर बढ़ गया।

यह जगह अनिमेष के लिये बिल्कुल अपरिचित नहीं थी। इसके पहले भी वह दो बार पार्टी के काम से यहाँ आ चुका है। करीब २० साल पहले वह पहली बार जब आया था तब यह दुकान वगैरा कहने को कुछ भी नहीं था। सप्ताह में मात्र एक दिन हाट लगती थी। तब दूर दाराज से खरीद बिक्री के लिये लोग यहाँ आते थे। अब तो अच्छी खासी दुकानें हो गयी है। सप्ताह में प्रत्येक दिन वे खुलती है, तब भी इस जगह की कोई खास उन्नति नहीं हुई। यहाँ तक कि एक साइकिल-रिक्शा भी नहीं दिखायी देता, और तो और लाँच घाट पर कुली भी नहीं है। जब हैमिल्टन साहब थे तब यहाँ एक सुन्दर गेस्ट हाउस था। अब यहाँ यह सब कुछ नहीं। हाँ, एक छोटा गेस्ट-हाउस है अवश्य पर वहाँ सरकारी अमले को छोड़ किसी दूसरे को जगह ही नहीं मिलती।

अनिमेष मन ही मन सोच रहा था, यदि तुषार नहीं आयेगा तब वह पार्टी के किसी सदस्य के घर जाकर रहेगा, दो एक के नाम भी उसके दिमाग में उभरे। यही सब सोचते हुए वह चाय की दुकान के सामने पहुँच गया। उसे देखते ही दुकान की बेंच पर बैठे दो-एक लोग प्रायः दौड़ते हुए उसके पास आये।

—'अरे, आप'! हमारे पथप्रदर्शक आप तो कल आने वाले थे। हम लोगों ने लाँच घाट पर आपके स्वागत का इंतजाम किया था।'

—'एक दिन पहले ही आ गया। दरअसल मेरा एक पुराना मित्र यहाँ रहता है। उसी के निमंत्रण पर एक दिन पहले आया हूँ।'

—'क्या नाम है आपके मित्र का?'

—'तुषार राय।'

'मास्टर बाबू! वे तो यहाँ से तीन चार मील दूर रहते है।'

'तीन चार मील.........? अनिमेष की आँखें फैल गयीं।

'हाँ......... उतना तो होगा ही?'........ एक ने दूसरे की ओर देखते हुए पूछा—'ठीक कह रहा हूँ ना? रांगाबेलिया यहाँ से तीन चार मील तो होगा ही क्यों?'

—हाँ, दो कोस तो होगा ही।' दूसरे ने सम्मति दी। रास्ते की लंबाई के बारे में जानकर अनिमेष घबड़ा गया। कंधे पर सामान लादकर यदि इतनी दूर जाना पड़ा तब तो कल पार्टी की मीटिंग में भाषण देना असंभव हो जायेगा। पीठ में दर्द लेकर ही समय बिताना पड़ेगा।

ग्लास में चाय लेकर अनिमेष ने होठों से लगाया ही था कि देखा तुषार एक साइकिल पर इधर ही चला आ रहा है। राहत की साँस ली अनिमेष ने। तुषार ने साइकिल से उतरकर करीब-करीब चिल्लाते हुए कहा—'तुम यहाँ? मैं सारे लाँच घाट का चप्पा-चप्पा छान आया।'

—'मतलब? मैं तो 'लाँच' से उतरकर कितनी देर तुम्हारे लिये खड़ा रहा और तुम कह रहे हो....।

'नहीं! दरअसल मुझे आने में कुछ देर हो गयी। लाँच रोज तीन चार घंटे देर से आती है। आज ही ठीक समय पर आ जायेगी कैसे समझ पाता। तुम्हारे जैसे वी.आई.पी. के डर से ही समय पर आ गई लगती है'....... हँस पड़ा तुषार राय।

उसके बाद तुषार राय ने साइकिल के पीछे अनिमेष का सामान बाँध लिया। इस बीच चारों ओर पूरी तरह अंधकार फैल गया। चाय पीकर अनिमेष उठ खड़ा हुआ। तुषार के साथ-साथ सामने का रास्ता पकड़कर चल पड़ा।

कुछ दूर चलकर वे मैदान में उतर आये। तुषार ने बताया यहाँ से एक शार्टकट है। टार्च के प्रकाश में अनिमेष ने देखा कि चारों तरफ धान की खूटियाँ बिखरी पड़ी है। तब भी चलने में बुरा नहीं लग रहा था। माटी की सोधी गंध हवा में गुथीं हुई आ रही थी। आकाश में दप-दप तारे टिमटिमा रहे थे। ऐसा साफ आकाश कितने दिनों से अनिमेष ने नहीं देखा था। उसका मन पता नहीं क्यों उदास हो गया। उसने गुनगुनाना शुरू किया। तुषार ने कहा—'देख रहा हूँ, तुम्हें अभी भी गाने का अभ्यास है।'

—'कभी कभार! वह सब तो पार्टी करते हुई खत्म हो गया। अब तो दिमाग में दिनरात सिर्फ पार्टी का ही काम है।'

—'सच ! तुम्हारा कितना नाम हो गया है। पत्रिकायें खोलते ही तुम्हारा नाम रहता है। तनिमा तो विश्वास ही नहीं करती कि तुम मेरे मित्र हो। क्या कह रही थी जानते हो?'

—'क्या कह रही थी?'

—'कह रही थी कि इतना बड़ा आदमी कभी भी तुम्हारे जैसे स्कूल मास्टर का दोस्त हो ही नहीं सकता। मैंने भी कहा देखना इस बार वास्तव में वह मेरा मित्र है या नहीं। हम एक ही मुहल्ले में रहते थे एक संग पढ़ते थे। उसके आने पर सब जान जाओगी।'

बातें करते वे घर पहुँच गये, तनिमा उनकी प्रतीक्षा कर रही थी। दूर से टार्च की रोशनी देखकर ही चूल्हे पर उसने चाय चढ़ा दी। पास पहुँचते ही बिना किसी हिचकिचाहट के अनिमेष का स्वागत करते हुए कहा—'आइये-आइये आप सचमुच ही आयेगें यह तो सोचा ही नहीं था। आपकी चिट्ठी देखकार लगा था कि वह तो कहने की बात है।'

—'अब तो पता चल गया कि वह कहने की बात नहीं थी।'

—'हाँ..............। आप तो सचमुच ही महान् है नहीं तो हमारे जैसे साधारण लोगों के घर कभी पैर नहीं रखते।'

—'ये क्या कह रही है? तुषार तो मेरे बचपन का मित्र है, उसके घर नहीं आऊँगा?

—'कितने ही बचपन के दोस्तों की बात सुनी है, पर इस वीराने में किसी को आते नहीं देखा। पाँच साल से हूँ यहाँ। इन पाँच सालों में कोई भी नहीं आया। आप ही पहली बार आये है।

—'अच्छा......... अब समझा।'

—'अभी यह सब बातें छोड़िये फिर करेंगें। पहले हाथ मुँह धोकर एक कप चाय पीकर फ्रेश हो जाइये। सारे दिन की यात्रा में थक गये होंगे।

—'हम लोगों की यह सब आदत हो गई है। चाय दीजिये। पहले पीकर फिर हाथ-मुंह धोने जाऊँगा।

—'नहीं नहीं फिर हाथ पैर में धूल मिट्टी लगी हुई है। पहले धो लीजिये नहीं तो शरीर अस्वस्थ हो जायेगा।' कहते हुये तनिमा ने अनिमेष के हाथ में एक गमछा दिया। अब अनिमेष इनकार नहीं कर सका। इस तरह तो उसे किसी ने आदेश नहीं दिया था। अद्भुत माया ममता से भरा यह आदेश। अनिमेष उसकी उपेक्षा नहीं कर सका। गमछा लेकर सीधे नहानघर में चला गया। वहाँ एक हौज में पानी भरा हुआ था। हाथ पैर धोकर जब वह बाहर आया तो तनिमा ने आयरन किया हुआ धोती-कुरता उसकी तरफ बढ़ा दिया। पहले की ही तरह कहा—'कपड़े बदल लीजिये, मैं चाय लेकर आती हूँ।'

—'मेरे अपने कपड़े तो हैं। बेकार ही एक धोया हुआ कुरता खराब होगा।'

—'होने दीजिये खराब होगा तो। आप जैसे एक प्रसिद्ध आदमी की सेवा में काम आया है। यह सोचकर स्वयं को कृतार्थ महसूस करुँगी।

—यह कहकर तनिमा चली गयी। अनिमेष के कपड़े बदलकर आराम कुर्सी पर बैठते ही वह फिर कमरे में आयी। उसके एक हाथ में चाय का कप था ओर दूसरे में एक प्लेट में गरम-गरम पूरी तथा तले बैगन। एक छोटी टेबिल पर यह सब रख कर उसे अनिमेष की तरफ बढ़ाया।

—'खाइये, सारा दिन तो कुछ खाया नहीं होगा।'

—'एकदम कुछ नहीं खाया यह तो नहीं कहूंगा लंच पर थोड़ा खाया जरूर था।

—'लंच पर खाया? आश्चर्य हुआ तनिमा को। 'क्या खाया था?'

—'पकौडियाँ और पूड़ी।'

—'सर्वनाश, यह सब कभी मत खाइयेगा। शरीर खराब हो जायेगा।'

—'हम लोगों को तो यह सब सहन हो जाता है।' 'फिर भी आप जैसे आदमी पर देश को कितनी आशा, कितना विश्वास है।'

रात का खाना पीना खत्म कर वे तीनों बाहर बरामदे में चटाई बिछाकर बैठ गये। तनिमा अपनी तीस साल की लड़की को कमरे में सुला आयी थी। काम करने वाली लड़की बहुत पहले ही चली गयी थी। चारों और गहरी शांति थी कहीं कोई आवाज नहीं थी। नारियल के पत्ते हवा से आपस में टकराकर रिमझिम की आवाज कर रहे थे। स्वच्छ आकाश में फैले असंख्य तारों की झिलमिल अनिमेष को बहुत प्यारी लग रही थी। बहुत दिनों बाद इस तरह के दुर्लभ क्षण में उसके कन पर से आवरण हट गया हो। वह एक दूसरी दुनिया में पहुँच गया। बीते दिनों की बहुत सारी बातों को लेकर दोनों दोस्त बातों में खो गये और तनिमा अवाक् होकर विस्मय से उन्हें सुन रही थी। तुषार ने कहा—

—''तुम इतने बड़े नेता बन जाओगे ऐसा तो तुम्हें देखकर लगता ही नहीं था।'

—'सारी बातें क्या आदमी पहले से जान पाता है?'

—'यह तो ठीक है। फिर भी कुछ बातें तो सोची जा सकती हैं पर तुम्हें देखकर तो कभी सोचा भी नहीं जा सकता था। कॉलेज में पढ़ते समय भी तुम राजनीति से दूर ही थे। पढ़ाई-लिखाई और गाने बजाने में ही तुम्हारा समय बीत जाता था। जब कि कह सकते हो मैं एकाध बार राजनीति के हो हल्ले में जरूर पड़ा था।' किस तरह।

—'हां तो जरूर है। मेरा जीवन हठात् किस तरह बदल गया।'

बातें करते-करते बहुत रात बीत गयी। अचानक सभी उठ खड़े हुये। तनिमा ने कहा—'आपका बिस्तर लगा दिया है, सो जाइये। दिन-भर के झमेले के बाद निश्चय ही थमकन हो रही होगी बेकार ही इतनी देर बातें करते रहें।'

—'नहीं मुझे तो अच्छा ही लग रहा था।'

—'यह तो कहेगें ही। खराब लगने पर भी कहेगें थोड़े ही।'

—'सच कह रहा हूँ। मुझे इन सब बातों में कोई शर्म नहीं।

—'हाँ पेट में कुछ मुँह में कुछ— मैं यह पसन्द नहीं करती' बात कहकर तनिका हाँ-हाँ कर हँस पड़ी।'

—'अनिमेष का हृदय न जाने कैसे धड़कने लगा। तब भी अपने आपको पूरी तरह आवेग में डूबने से बचाये रखा। कमरे में आकर दरवाजा बंदकर बिस्तर पर सो गया। इस तरह के स्वच्छ बिस्तर पर वह कितने दिनों से नहीं सोया था। माँ के मरने के बाद तो एक दिन भी नहीं। नयी मसहरी सुंदर ढंग से चारों ओर लगी थी। अनिमेष ने एक कोमल हृदय का स्पर्श अनुभव किया लेटते ही वह आँखें बंद कर सो गया।

दूसरे दिन अनिमेष को पता ही नहीं चला कि कब सुबह हो गयी। उसने सुना ही नहीं कि कब पक्षी किचिर मिचिर कर सुबह जाग उठे। उसकी नींद तो उस मधुर आवाज को सुनकर टूटी। उठकर देखा तनिमा हाथ में चाय लिये खड़ी है। उसे आंखें मलते देख तनिमा ने कहा—'आप अब उठिये, बहुत देर हो गई। आपकी मीटिंग है ना?

—'कितने बजे है?'

—'नौ ।'

—'नौ। क्या कह रही हैं आप? दस बजे मेरी मीटिंग है।'

—'थोड़ी देरी से पहुँचने से कुछ नहीं होगा मैंने तो जानबूझ कर आपको नहीं जगाया। कल कितना थक गये थे।'

—'एक बार जगा ही देती। समय से न पहुँचना उचित नहीं होगा।'

—'वही ठीक है। आपके कहने से ही इतनी गहरी नींद से जगा देती क्या?'

अनिमेष ने बात को और नहीं बढ़ाया, जल्दी-जल्दी तैयार हो गया। तनिमा नाश्ता ले आई। अनिमेष ने जी भर कर खाया। फिर बेडिगं ठीक करने लगा तो तनिमा ने कहा—'सब ठीक है। आपको रखना नहीं होगा।'

—'सोच रहा हूँ, संग ले जाऊँ। कल सुबह ही गो सेवा से लांच में चढ़ जाऊँगा।'

'यह कैसे हो सकता है। पहली बार यहाँ आये है। अब फिर कब आयेगें क्या पता? दो एक दिन नहीं रुकेगें तो हम लोगों को अच्छा नहीं लगेगा और फिर आपके मित्र जरूरी काम से सात जेले गये हैं, कल आयेंगे। उनके आने से पहले आपको कैसे जाने दूँ।'

अंत में खाली हाथ ही अनिमेष को गो सेवा जाना पड़ा। इस बीच चार पाँच पार्टी के कार्यकर्ता भी अनिमेष को लेने आ गये। अनिमेष का सारा दिन मीटिंग वगैरह करते बीत गया। कार्यकर्ताओं की सभा

जनसभा आदि कई कामों में पूरा दिन कब बीत गया अनिमेष को पता ही नहीं चला। पर साँझ होते ही उसका मन न जाने क्यों चंचल हो उठा। सब काम छोड़कर विदा लेकर वह लौट पड़ा रांगाबेलिया की ओर। पार्टी के दो कार्यकर्ता उसे घर तक छोड़ गये। तनिमा उसकी ही प्रतीक्षा कर रही थी।

अनिमेष लौटकर ईजीचेयर पर आराम से बैठ गया। तनिमा टेबिल पर चाय नाश्ता रख गई। उसके बाद हमेशा की तरह अनिमेष की ओर देखकर हँसकर बोली—'आप थोड़ी देर आंरम कर लीजिये, फिर हाथ मुँह धोकर कपड़े बदल लीजियेगा। इस बीच मैं स्नान कर आती हूँ।'

—'इस समय स्नान करेंगीं।'

—'हां आज ब्रहस्पतिवार है। लक्ष्मीपूजा है। थोड़ी देरी हो गयी है। असल में जो लड़की काम करती है उसे दूध लेने भेजा था आपको थोड़ी सी खीर खिलाउगी।'

—'लड़की कहाँ है?'

—'यहीं तो अभी दूध लेकर, देकर घर चली गई है। बहुत दूर रहती है ना। इसलिये शाम होते ही छोड़ देती हूँ।

—'इसका मतलब आज आप घर में अकेली हैं।

—'हां अकेली ही कह सकते है। हाँ। तीन साल का मुन्ना साथ है।

—'आपको डर नहीं लगता?'

—'और दिन तो वे रहते हैं। आज आप यहाँ है देखकर बहुत दिन से जाने की बात है काम खत्म कर आऊँ।'

—'यही कहिये। नहीं तो उस सूनसान जगह में डर नहीं लगेगा?

तनिमा कमरे से चली गयी। इसके बाद एक लालटेन लेकर नहाने के कमरे में घुस गयी। अधखुले घर से स्नान घर स्पष्ट दिख रहा था टूटे बाँस के बाडे में तनिमा अस्पष्ट दिख रही थी। अनिमेष ने देखा तनिमा कपड़े उतारकर बाडे पर रख रही है। साड़ी पेटीकोट और एक छोटा कपड़ा। तनिमा के निर्वस्त्र शरीर के लावण्य को देखकर अनिमेष की आंखें चुधिया गयी। शरीर अभी भी गठा था। पुष्ट गोरे सुडौल अंग। स्नान करने के बाद एक लाल पाट की साड़ी तनिमा ने पहनी। घर में आकर माँग से सिंदूर ओर माथे पर बिंदी लगायी। उसके नही जानने में अनिमेष सब कुछ देख लिया। उसके रक्त में एक विचित्र उत्तेजना होने लगी।

थोड़ी देर बाद आकर तनिमा ने अनिमेष से कहा—बस आप जाइये, धोती कुरता रखे है। हाथ-मुँह धोकर कपड़े वगैरहा बदलकर बैठिये मैं इस बीच पूजा कर लूँ। फिर आपके साथ बाते होंगी।

अनिमेष की तार्किक दृष्टि में धर्म का स्थान नहीं था फिर भी तनिमा उसे अद्‌भुत अच्छी लग रही थी। लोकाचार का जातीय संस्कृति के अंगीभूत है। यही सब सोचते-सोचते अनिमेष स्नान घर में घुस गया। हाथ मुह धोकर कपड़े बदलकर वह आराम कुर्सी पर आ बैठा। उसका मन आज आवरण हटा बहुत दूर आ गया है। न जाने कौन सी आस्वादित दुर्लभ वस्तु उसे आकर्षित कर ले चली है एक अजाने रहस्य लोक की ओर।

खाना पीना खत्म कर आज भी कल की तरह वे लोग बाहर के बारामदे में चटाई पर आ बैठे। तनिमा की छोटी बेटी आज बहुत पहले ही सो गयी है। आज सिर्फ वे दो ही हैं। इस बहुत दूर विस्तृत अँधेरे निर्जन के बीच एक पुरुष और एक स्त्री आमने-सामने थे। लालटेन की हल्की रोशनी में एक आश्चर्य मिश्रित परिवेश में लग रहा था वे दोनों किसी और जगत के प्राणी हों। जंगली फूलों की खुशबू हवा में गुथी चली आ रही थी। बहुत दूर से एक अनजाने पक्षी की हवा में तैरकर आयी आवाज से अनिमेष का शरीर अकारण ही चंचल हो उठा। वह अपलक दृष्टि से तनिमा को देखने लगा। तनिमा ने इसे इतना महत्व नहीं

दिया और पूछा—'क्या देख रहे हैं?'

—'तुम्हें।'

—'छि, आप जैसे आदमी के मुँह से यह सुनकर अजीब लगता है।'

अनिमेष वापस अपने खोल में घुस गया। अपने को संयत कर स्वाभाविक ढंग से बोला—'मित्र की पत्नी है ना। इसलिये मजाक किया था।

—'आपने शादी क्यों नहीं की?' अचानक एक अद्भुत प्रश्न कर बैठी तनिमा। अनिमेष के मन में हठात एक जोर का तूफान उठ खड़ा हुआ। क्या जवाब दे वह इस प्रश्न का। उसे लगा कि वह एक अनजानी नदी में छोटी सी नाव पर हवा के वेग से उत्तर से दक्षिण की ओर जा रहा है। पाल पकड़कर बैठने तक की शक्ति वह खो चुका है। उसकी आँखों के सामने एक अस्पष्ट सा चेहरा तैर गया।

बहुत दिन पहले की बात है। तब वह कला विभाग में तृतीय वर्ष में था। पढ़ाई लिखाई में उसका खूब नाम था। कॉलेज के सभी छात्र-छात्राओं में वह एक व्यक्तित्व था। गाने बजाने पर उसका पूरा अधिकार था। उसे कॉलेज में प्राय: सभी जानते थे। इसी वजह से कॉलेज के वार्षिक उत्सव में 'बाल्मिकी प्रतिभा' नाटक में बाल्मिकी की भूमिका अदा करने के लिये उसे बुलाया गया। पहले तो उसने बहुत इनकार किया परंतु बाद में सभी के अनुरोध पर उसने अभिनय किया। इसी संदर्भ में उसकी मुलाकात माला से हुई।

प्रथम परिचय का दिन आज भी उसे पूरी तरह याद है। उस दिन कॉलेज की छुट्टी थी। इसी वजह से उस दिन रिहर्सल की विशेष व्यवस्था हुई थी। अनिमेष जब पहुँचा तो पाया रिहर्सल रुम पूरा खाली पड़ा है सिर्फ कोने में बैठकर एक लड़की गाना गा रही है उसे देखते ही आंख नचाते हुई उस लड़की ने कहा—'वाह। कम से कम एक आदमी तो दिखायी दिया।

—'मतलब?' अनिमेष ने प्रश्न किया।

—'मतलब और क्या? कब से अकेली बैठी हूँ। इस तरह कितनी देर अकेला बैठा जा सकता है।

—'तब इतने पहले आई ही क्यों?'

—'मुझे क्या पता आप लोग इतने पंचुअल हैं?'

—'लड़की इस तरह हँस रही थी जैसे अनिमेष से उसकी बहुत दिनों की पहचान हो।

यह परिचय धीरे-धीरे और गहराता गया। लड़की का नाम था माला। अब अनिमेष के जेहन में हमेशा माला ही रहने लगी। वार्षिक उत्सव समाप्त हो गया। रिहर्सल बंद हो गयी पर उन लोगों का मिलना जुलना बंद नहीं हुआ। अब दोनों को प्राय: साथ-साथ देखा जाने लगा। कॉलेज की छुट्टी के बाद या कॉलेज से बंक मारकर घूमते हुए लेक में विक्टोरिया मेमोरियल के सामने या किसी सिनेमा घर में। अनिमेष को एक दिन की बात याद आई।

उन दिन सुबह से ही रिमझिम बरसात हो रही थी। किंतु इस बरसात की उपेक्षा करके भी वे चिड़िया-खाना गये। बहुत देर तक इधर-उधर घूमते रहे उसके बाद बहुत जोर से बरसात शुरू हो गई। एक बरगद के पेड़ के नीचे वे दोनों खड़े हो गये। फिर भी बरसात से बच नहीं पाये। पहले अनिमेष ने पूछा था 'कल आओगी ना?'

—'कहां?'

—'बोटानिकल में।'

—'कब?'

—'ठीक दस बजे। मैं मैट्रो के सामने तुम्हारा इंतजार करूँगा।

दूसरे दिन अनिमेष दस बजे के बहुत पहले ही मेट्रो पहुंच गया, पर माला नहीं आई। तो क्या कल बारिश में भींगकर माला बीमार पड़ गई है? बाहर बजे तक प्रतीक्षा करने के बाद धैर्य छोड़ वह माला के घर गया। जाकर सुना सुधा के साथ वह दस के लगभग बाहर निकल गयी है।

इसके बाद की कहानी सिर्फ वेदना और व्यर्थता से भरी थी। अनिमेष माला को पूरी तरह भूलना चाहता था किंतु भूलने की कोशिश में वह उससे और ज्यादा जुड़ता गया। हमेशा दिल में एक उन्माद अस्थिरता रहने लगी। इससे वह मुक्ति पाना चाहता था और इसी मुक्ति को खोजते-खोजते उसने अपने आपको काम की ओर मोड़ लिया। बी.ए. पास करने के बाद वह राजनीति में आ गया। सिर्फ काम ही काम। काम के बोझ में वह माला की बात भूल गया। मन को खोल में घुसा दिया उसने और सिर्फ बुद्धि और काम के बीच अपने को ले आया। देखते-देखते राजनीति में उसने अपना स्थान बना लिया।

आज बहुत दिनों बाद तनिमा ने उसके हृदय के उसी स्थान पर आघात किया था। अनिमेष को महसूस हो रहा था। मानों वहाँ से तेजी के साथ रक्त बह रहा है। बहुत चेष्टा करने के बाद भी वह मन को खोल में नहीं रख पाया। आवेग भरे कंठ से अनिमेष बोल पड़ा—'तनिमा एक गाना सुनाओगी?'

—'गाना? मैं गाना सुनाऊँगी आपको? सुना है आप बहुत अच्छा गाना गाते है।

—'गा सकता हूँ पर अभी भूल गया हूँ।'

—'तब आप ही एक गाना सुनाइये।'

—'ठीक है, पहले तुम सुनाओ।'

तनिमा ने गाना शुरू किया। ताल-लय ठीक न होने पर भी अनिमेष को बहुत अच्छा लग रहा था। गाने के सुर पर वह ताल दे रहा था। ताल देते हुए बार-बार तनिमा के हाथ से उसका हाथ टकरा जाता। इस बीच तनिमा पता नहीं क्यों उदास हो गई। अनिमेष के स्पर्श को जैसे वह ग्रहण नहीं कर रही हो। गाना खत्म होने पर वह अनिमेष की तरफ देखकर बोली—'बहुत बुरा लगा ना?'

—'नहीं-नहीं बहुत अच्छा लगा।

—'यह सब आप मुझे सांत्वना देने को कह रहे हैं आपके जैसे महत्वपूर्ण व्यक्ति तो ऐसा ही कहेंगे।'

—'विश्वास करो तनिमा, मैं सच बोल रहा हूँ।'

—'तब अब आपकी बारी है। क्या भाग्य है मेरा कि आप जैसे आदमी का गाना सुनने का संयोग मिला है।

थोड़ी देर सोचने के बाद अनिमेष ने गाना शुरू किया—'बीती विभावरी जाग री.......

यह गाना तो नहीं, लगा हृदय का दुःख नीरवता के हृदय पर रख दिया गया हो। अनिमेष का मन खोल छोड़कर बाहर निकल आया। गाना खत्म होते ही अनिमेष तनिमा से सटकर बैठ गया। तनिमा थोड़ा खिसक कर बैठ गई। प्रायः गुस्से में ही बोली—'छिः। यह आपको शोभा नहीं देता।'

—'क्यों तनिमा?

—'आप क्या कहना चाहते हैं?' उठकर खड़ी हो गई तनिमा। अनिमेष ने उसी तरह आवेग डूबे कण्ठ से कहा—'सिर्फ तुम्हारा थोड़ा सा साथ।

—'छिः, छिः। यही आपके आदर्शों का नमूना है। मैं आपके मित्र की पत्नी हूँ याद रखिए। धिक्कार है, आपकी इस महानता पर। अनिमेष की आंखों जैसे आज खुल गई।

तनिमा ने कमरे में जाकर दरवाजा बंद कर लिया। किंतु तेज हवा के भंवर की तरह उसकी चिंता भावना उथल-पुथल मचा रही थी। लगा अतल समुद्र के तल में वह चला जा रहा है। वह पश्चाताप की

उत्तेजना में सहसा वह तेजी से घर की ओर चल पड़ा। वेडिंग और सूटकेस लेकर रास्ते में निकल आया। रास्ते में वह आगे बढ़ने लगा। धान के खूटों के बीच चलते-चलते उसके पैरों से खून रिसने लगा। उस ओर उसका ध्यान नहीं था। उन्मादी शराबी की तरह वह कभी इधर तो कभी उधर दौड़ने लगा। उसे लग रहा था यह आकाश ये नक्षत्र, यह नीरवता उसके अस्तित्व को घेरकर अट्टास कर रहे हैं।

देखते-देखते पूरा आकाश फीका हो आया। अनिमेष गोसवा के लंच घाट की ओर तेजी से चल पड़ा। टिकट कटाकर लाँच पर चढ़ा कि आवाज के साथ लाँच तेजी से चल पड़ा। इस बीच सुबह की नरम धूम चारों ओर फैल गई। नदी के पानी में भी वह धूप झिलमिला रही थी। अनिमेष का मन धीरे-धीरे शांत हो रहा था। मन की घृणित कमजोरी में वह क्या कर बैठा ! उसकी आत्मा उसे धिक्कार रही थी। एक विवेकशील बुद्धिमान नेता की भूमिका में वह फिर से अधिष्ठित हो गया। उसे पहचानकर लाँच के एक यात्री ने कहा—

—'अरे आप? आपकी तो कल जाने की बात थी?'

—'बात थी। पर एक विशेष काम से आज ही जाना पड़ रहा है।

बहुत दूर एक बत्तकों का समूह अपने पर फैलाये तेजी से उड़ता हुआ जा रहा है। अनिमेष एकटक उस ओर देखता रहा। □

रूपांतर : मधुलता

कहानी

रात का प्रायश्चित

श्रीकांत शर्मा

रघुआ की नींद सुबह बर्तनों की खटपट से ही खुलती है, नहीं तो अपने अध खुले मुख पर बैठी मक्खियों के जमघट को उड़ाने के लिए होश-हवास उसके पास भी नहीं फटक रहे होते। आज भी उसकी नींद खुली तो दिन चढ़ चुका था। हड़बड़ाहट में बड़बड़ाता हुआ वह उठ बैठा था– सुसरी रोज़ देर हो जावे है....

—हो गवा उठते ही शुरू.... रात में तो दो-ढाई बजे ताई उस ससुरी मेरी सौत को गले से नीचे उतारे रहेगा और फिर....

इससे पहले की रामप्यारी दो-चार और कहे, रघुआ ने डिब्बा उठाया और धोती सँभालता दिसा-मैदान को बाहर निकल गया। वह जानता था कि और कुछ देर की तो आज भी ठीये पे टेम से नहीं पहुँच पायेगा।

जब तक रघुआ दिसा मैदान से लौटा तब तक मुनिया ने उसके नहाने की बाल्टी भर पानी रख दिया था। पास में लोटा रखा था। रघुआ ने पटरा बिछा मुंह में डाली दातुन फेंक दी और बाल्टी से लोटा भर पानी ले कुल्ला करने की गरज से मुंह भर लिया। दोनों गालों के ईर्द-गिर्द घुमा मुंह के पानी को धार बना दूर फेंका– पि....ई.......च।

दो बार रघुआ ने जब ऐसा ही किया तो रामप्यारी अपने हाथों को कुल्हे पर रखकर चिल्लायी— ईब थम खेल ही करते रहोगे के नाहोगे बी। थम ने तो अरदम खेल ई सूझै अै....

रघुआ ने एक बार उसकी ओर देखा फिर बाल्टी पर नज़र डाली। उसके मन में आया कि क्यों न अब की बार पानी मुंह में भर कर इस मुंहजली के चौखटे पर फेंक दे-ससुरी बोत चबर चबर करे अै....

यह सोचकर रघुआ लोटे में पानी भरा और मुंह में डाल इधर-उधर घुमाया और प....ई.....च च.... पानी की धार बड़ी दूर तक गयी। पर रामप्यारी तक नहीं पहुँच पायी। हालाँकि वह बिल्कुल उसके पास ही खड़ी थी। मुंह का पानी वह रामप्यारी की तरफ नहीं फेक सका था।

रघुआ स्वभाव से गुस्सैल नहीं। उसने आँखें तरेर कर रामप्यारी की तरफ देखा। फिर बाल्टी में पानी की ओर। पानी में उसे अपना चेहरा दिखायी दिया। वह चुपचाप लोटे में पानी भर बदन पर डालने लगा। ओम शिव..... शिवम्......

रामप्यारी ने अंदर जाकर रघुआ का खोंचा तैयार कर दिया था। एक ओर करीने से चटपटे बेसन के लड्डू सजे थे। उनके एक सिरे पर कतरी हुई मूली का सलाद और दूसरी ओर काली गाजर की काजी की मैली-सी बोट रखी थी। इन दोनों के बीच बेसन के लड्डुओं के ऐन सामने रघुआ का खजाना सहेजने वाला डिब्बा रखा था जिसकी लकड़ी चिकनाहट मिली काली मैल से आबनूस की लग रही थी। इसी तिजौरी पर रखे थे स्कूली बच्चों की कापी-किताबों के फटे हुए कागज जिन्हें पत्तल बनाकर वह अपने ग्राहकों को लड्डू सजाकर देता है। ये कापी-किताबें पढ़ाई से जी चुराने वाले बच्चों ने रघुआ को दो-दो, चार-चार लड्डू लेकर दिए हैं।

वैसे तो रघुआ का इन्हीं कापी किताबों से अच्छा खासा काम सध जाता है क्योंकि रोज ही कोई न कोई बच्चा अपनी कापी या किताब रघुआ से लड्डू खाकर दे जाता है। नहीं तो मार्किट के नुक्कड़ वाले कबाड़ी से वह एकाध किलो रद्दी ले लेता है किंतु यह रद्दी उसे बहुत महँगी पड़ती है इसलिए वह प्रयत्न यही करता है कि बच्चों से ही कापी-किताबों का सौदा होता रहे। कागजों के खत्म होने पर वह कभी किसी बच्चे को लड्डू का लालच देकर उसकी कापी-किताब माँग लेता है। उसने इस काम के लिए दो चार बच्चे लालच देकर बाँध भी रखे हैं।

थाल झोपड़ी नुमा कमरे के एक कोने में रखा था। रामप्यारी थाल को एक नज़र देख चूल्हे में लकड़ी डालने बढ़ गयी। मुनिया बड़ी देर से इसी अवसर की ताक में थी। उसने बगैर कोई चूक किये अपनी माँ से आँख बचा चील की तेज़ी से खोचे के थाल में से बेसन का एक लड्डू अपनी फ्राक में छुपा लिया और बाहर भाग गयी।

एक ओर खड़ा लल्लू मुनिया की इस हरकत को बड़े ध्यान से देखा और अपने मन को कृतार्थ करने का इतना अच्छा अवसर पाकर वह भी थाल की ओर झपटा। किंतु भाग्य ने लल्लू का साथ नहीं दिया। उसने जैसे ही लड्डू उठाया, रामप्यारी की उस पर नज़र पड़ गयी। वह वहीं से ही चिल्लाई—खसमजाने मन बी तो नहीं जाते.... जीभ बड़ी लपरके मार रई है.... इस लाट साब के लिए बनाएं अें चा?....

कहते-कहते चूल्हे की जो जलती हुई लकड़ी उसके हाथ में थी, वह उसी से लल्लू पर पिल गयी।

—ले खा.....और खा......खायेगा......

—ऊई मां....आं......मर गिया......

हाथ का लड्डू और जोर से मुट्ठी में भींच कर वह चिल्लाता रहा—मर जाऊँगा...आं....मर जाऊँगा....आं....म....अ.... र.... मर जाऊँगा.....आं....

—नई मैं खिलाती ऊं लड्डू तुझे रामप्यारी ने दो-चार और जड़ दिये उसके गालों पर।

रघुआ कमर में धोती लपेटते हुए यह सब देखता रहा। वह सोचने लगा—क्यों न इस लकड़ी से रामप्यारी की खाल उधेड दूँ?

...चा आल कर दिया है राच्छनी ने फूल से बच्चे को मार मार कर.... वो भी एक लड्डू की खातिर.... सारे जहान के बच्चे दिन भर खायेंगे इन लड्डुओं को... पर इस बिचारे.... और का कसूर था इसका.....?

यह सब सोचकर रघुआ इतना उत्तेजित हो गया कि वह सामने पड़ी लकड़ी की तरफ बढ़ गया। पर लकड़ी उठाने से पहले ही उसे अपना कुर्ता दिखायी दे गया। उसने लकड़ी न उठाकर अपना कुर्ता उठा लिया। सोचना बंद कर रघुआ ने कुर्ता पहना और पैरों में जूती डाल खोचे के थाल के पास आ गया।

रघुआ ने चीजों का एक बार फिर मुआयना किया, ईडुआ सिर पर रखकर थाल रखने वाला लंबा-सा लकड़ी का बना छाज बगल में दबा लिया। एक नजर रोते हुए लल्लू पर और एक नजर रामप्यारी पर डालकर वह बाहर निकल गया।

लल्लू हां....आ....आं.... कर जोर जोर से रो रहा था। उसने बाप को बाहर जाते देखा तो और जोर से चिल्लाकर रोने लगा–हां.....आ....आं....ओ....बापू....

लेकिन रघुआ पीछे मुड़कर नहीं देखा। लल्लू ने देखा कि उसका बाप उसकी ओर ध्यान दिये बिना ही जा रहा है तो वह उठकर जोर से रघुआ के पीछे बाहर की ओर भागा।

मुनिया दरवाज़े के एक ओर खड़ी सहमी-सी किवाड़ की चूल वाली दरार से यह सब देख रही थी। कई बार उसका मन हुआ कि पास पड़ा बड़ा-सा पत्थर उठाकर माँ के सिर पर इतनी जोर से मारे कि उसका माथा ही फूट जाये। पर उसने अपना हाथ अनायास ही कमर पर ले जाकर ऐसे सहला दिया जैसे अभी माँ ने उसी पर लकड़ी चलाई हो।

खोंचा सिर पर ले जाते रघुआ को देख मुनिया ने घृणा से जोर से थूका–आ.......। रघुआ के पीछे ही लल्लू भी भागता हुआ बाहर निकला था जिसे मुनिया ने जफ्फी भर कर रोक लिया–कहाँ जाता है?

–आं....आं....अ.... सहानुभूति पा लल्लू मचल कर और जोर से रोने लगा।

–ले खायेगा? मुनिया ने चुराया हुआ अपना एकमात्र लड्डू उसकी ओर बढ़ाते हुए भोलेपन से कहा। उसे महसूस हो रहा था कि भाई की पिटाई उसी ने करवाई है। न वह लड्डू चुराती और न ही लल्लू उसको देखकर ऐसी हरकत करता। सोचते-सोचते मुनिया के मन में एक अपराध भावना घर कर गई।

–पर यह तो तेरा है? लल्लू बिसरना भूल उसकी तरफ देखकर बोला।

–मैंने तो खा लिया। मुनिया एकदम झूठ बोल गयी। उसे लगा झूठ बोलकर जैसे उसने लल्लू से माफ़ी माँग ली है।

लल्लू की पूरी पीठ नीली हो गयी थी। जहाँ-जहाँ जलती लकड़ी ने उसकी खाल का स्पर्श किया था वहीं से खाल उभरती चली। कुछ फफोले भी उग आए थे।

लड्डू खाकर लल्लू को फिर से रोना याद आ गया। वह माँ.... आं..... हां.... करके फिर रोने लगा।

तभी रामप्यारी चिल्लाई–पता नहीं किआं मर गई। भद्दी-सी गाली देकर मुनिया अंदर की ओर भागी और भीगी बिल्ली बनी माँ के सामने जा खड़ी हुई।

–मरजानी....भाई रोई....किआँ मर गयी थी.... बोल किंआं किआं थी अब तक.... सारे बर्तन भाड़े पड़े अं.... तेरे नखरे ई नई लिए पड़ते।

रामप्यारी ने एक एक करके सारे बर्तन नाली के पास पटके और फिर चिल्लायी–ऐ साफ कर... अब्बी बैटी ई अे (अभी बैठी ही है).... बाग वाली सेठानी के काम करने नई जाना किया।

फिर बड़बड़ाने लगी–खाने को चाईए डाई मण और काम काज कुच करणा नई.....

□

दिन आधा बीत गया था। धूप अलसाई-सी लग रही थी जिसने पेड़ों की झुरमुट से घर के भीतर दस्तक दी थी किंतु मुनिया के पेट में सुबह से कुछ नहीं गया था। एक लड्डू चुराया था किंतु वह भी भाई की ममता की भेंट चढ़ गया था। उसे बाग वाली सेठानी दोनों वक्त खाने को देती आयी है। उसी में से वह थोड़ा-सा खा

लेती है और थोड़ा-सा लल्लू को दे देती है। कल रात तो लल्लू सारा खा गया था। अब सुबह से सगरा टेम रोने-पीटने में ही निकल गया था।

—इसने भी तो कुछ नहीं खाया है सुबे से।

मुनिया ने लल्लू के बारे में सोचा। जब भी वह लल्लू के बारे में सोचती है, इसी उम्र में बूढ़ी लगने लगती है।

□

रघुआ बाजार के नुक्कड़ वाले अपने ठीये पर पहुँचा तो आठ का टेम हो चुका था। पास वाले जैन अनाथालय के स्कूल की घंटी ट् न् न् न् न् न् बज रही थी। उसे गुस्सा आया। पर उसे खुद पता नहीं कि गुस्सा किस पर? खुद पर, रामप्यारी पर, लल्लू पर, या घड़ी जिसने आठ बजा दिये या फिर सामने वाले इस स्कूल की घंटी पर जो रोज ही बजती है और बच्चे लड्डू का ध्यान छोड़ स्कूल भागना शुरू कर देते हैं।

पटरी पर जल्दी से खोंचा ढंग से रख उसने आस-पास देखा, शायद कोई इक्का-दुक्का बच्चा उसकी ओर जाता दिखायी दे जाये।

—राम-राम।

पास बैठे चूरण-आमपापड़ वाले रामआसरे ने रघुआ को देख मुस्करा कर कहा।

रामआसरे रघुआ की बगल वाली कोठरी में रहता है और यहाँ भी उसकी बगल में बैठता है।

-जै-जै राम जी की। मगर रघुआ को रामआसरे की मुस्कराहट अंदर तक बेध गयी। फिर भी उसने ''राम-राम'' का जवाब बिगड़ैल बच्चे की तरह दे दिया। वह मन ही मन सोचने लगा – इस उल्लू के पट्ठे रामआसरे को कभी देर नहीं होती। रोज ही जल्दी आ जाता है.... पता नहीं कैसे? जिस दिन मुझे ज्यादा देर हो जाती है... मेरे बच्चे फुसला लेता है... आज भी कम से कम और नहीं तो दस-बीस बच्चे तो जरूर फुसला लिए होंगे। रघुआ ने एक बार फिर मन ही मन रामआसरे को उल्लू का पट्ठा कहा।

तभी एक बच्चा भागता हुआ उसकी ओर आया। रघुआ को तसल्ली हुई–चलो कुछ तो सुकारथ रहा।

—दो लड्डू।

बच्चे ने आते ही जैसे हुकम दिया। पर रघुआ को उस छोटे-से बच्चे का हुकम भी बड़ा प्यारा लगा। उसने लड्डू बनाने के लिए कागज निकाला। दो लड्डू उस पर रख उन पर मसाला छिड़का और मूली की बोट का ढक्कन उठाकर उसमें से थोड़ी-सी मूली निकालकर बुरादे की माफिक उस पर छिड़क दी। फिर कांजी वाली बोट में से थोड़ी कांजी उस पर डालकर बच्चे की ओर बढ़ा दी।

—घंटी लग गई है, मुन्ने?

रामआसरे ने बच्चे को स्कूल की घंटी की ओर इशारा किया। लड्डुओं को लेने के लिए बच्चे का बढ़ा हुआ हाथ एकाएक रुक गया। बच्चे को झिझकते देख रघुआ ने ढाढ़स बँधाया– कोई बात नहीं.... वह तो रोज ही बजती है। फिर रामआसरे की ओर देख दांत पीसते हुए वकालत भरे धूर्त स्वर में कहा – जल्दी खा लेगा.... ले......ले.... मुन्ने, ले ले...

—अरे नहीं, और देर हो जायेगी।

रामआसरे ने बच्चे को सचेत किया। उधर बच्चा ''देर'' की बात सुनकर हाथ के लड्डू वाले कागज

को वापस रघुआ के हाथ पर रखकर स्कूल के दरवाजे की ओर सर्र-देनी से भाग खड़ा हुआ।

रघुआ बने-बनाये लड्डुओं को हाथ में पकड़े दो मिनट तो हतप्रभ खड़ा रहा किंतु होश में आने पर रामआसरे पर उसे बेहद गुस्सा आया। नकद दस पैसों का नुकसान करा दिया। बच्चा दो मिनट देर-से पहुँच जाता तो भी क्या हो जाता?.... क्या आसमान टूट पड़ता या धरती फट जाती.... रामआसरे घंटी लगने के बाद बच्चों को खुद तो कुछ बेचता नहीं, उसकी बिक्री में टाँग अड़ाता है.... उसने पूरा जोर लगाकर लगभग चीखते हुए रामआसरे से पूछा तुझे क्या तकलीफ थी?.... तेरा तो लड़का नहीं था वो...

–नहीं, मेरा तो नहीं था वो.... पर कल को मेरा भी इतना बड़ा होगा.... वो भी इस्कूल जाएगा.... अगर वो इस्कूल में ऐसी ही देरी करेगा तो इस्कूल में मास्टरजी मारेंगे... पढ़ेगा कैसा?.... कहते-कहते रामआसरे की आँखों में चपल चमक आ गयी। उसने अचानक ही अपना तामझाम उठाया और रघुआ की ओर देखे बगैर अपने दोपहर वाले ठीये की ओर चल पड़ा।

उसे फिर गुस्सा आने लगा। एक तो उसकी बोहनी होते– होते रह गयी, दूसरे रामआसरे की बात उसके दिल पर बर्छी की तरह लगी थी। वह गुस्से में ही बड़बड़ाने लगा– मैं बी पैल्ले ऐसा ई सोचा करता था, पर ईब्ब.... कोई बात नई, तुज्जे बी पता चल जायेगा बच्चे किस तरियाँ पढ़ाये जावें हैं.... जजमान, जजमान, मेरे कित्ते बाल.... कि अब्बी आये आजावेंगे।

बड़बड़ाते हुए उसने अपना थाल सिर पर रख लिया और छाज बगल में दबाकर अपने पाँव बाजार की ओर बढ़ा दिये। बड़बड़ाते हुए मुँह में इकट्ठे हो आये थूक को उसने स्कूल की दीवार पर थूक दिया– आथू और मुँह खोलकर जोर से हाँक लगायी – लड्डू ले लो.... बेसन के लड्डू.... जायकेदार.... मसाले-दार... बेसन के लड्डू।

बाजार पहुँचकर रघुआ के चबूतरे के पास खोंचा जमा दिया। पैदल चलने से जमे हुए लड्डू कुछ इधर-उधर हो गये थे। रघुआ ने उनको ठीक से जमाकर आसपास के वातावरण पर एक नज़र डाली।

लोग बड़ी तेज़ी से अपनी ही धुन में मस्त भागे जा रहे थे। ठहरा हुआ था तो सिर्फ रघुआ। किसी को दफ्तर पहुँचने की जल्दी थी तो कोई अपनी कालेज की ओर जा रहा था, किसी को किसी का इंतजार नहीं था। जल्दी नहीं थी तो रघुआ को, इंतजार किसी के आकर रुकने का था तो रघुआ को। वह महसूस कर रहा था कि इन्हीं चलते-फिरतों में कोई आकर उसके पास रुकेगा और उससे कहेगा – "दो लड्डू देना भई"....

–क्यों बे, तू आज फिर आ गया....

आने वाला तो आ गया था, पर वो नहीं जिसका रघुआ को इंतजार था। रघुआ ने उसकी ओर हिकारत से देखा। मन ही मन दो चार गालियाँ दीं– पर वह खिसियाकर खुशामदी स्वर में बोला – सलाम अवलदार साब।...

–सलाम के बच्चे, तुझे कल तो मना किया था तू आज फिर....

रघुआ ने सिपाही की बात की ओर ध्यान नहीं दिया और फटाफट दो लड्डू बनाकर उसकी ओर बढ़ा दिये – अवलदार साब ! खास आपके लिए है.... हैं.... उसने अपने दांत निपोर दिए।

– तू जरूरी नौकरी लेगा....

सिपाही ने डंडा बगल में दबाते हुए कहा और लड्डुओं की ओर हाथ बढ़ा दिये।

–साब... आपकी वजा से बीवी बच्चों को रोटी मिल जाती है.... नई तो.... बच्चे आपको दुआएँ देते अं....

–ठीक है कल से यहाँ मत आना.... मेरी नौकरी का सवाल है.... ला थोड़ी-सी कांजी और डाल इस लड्डू पर। उसने लड्डू वाला अपना हाथ रघुआ की ओर बढ़ा दिया।

रघुआ ने गाजर की दो फाकें कांजी वाली बोट में से निकालकर उसके हाथ पर रख दिए। सिपाही ने फट-देनी-से गाजर सहित लड्डू उठाकर गप्प से मुँह में ठूँस लिया और ऊँट की तरह गर्दन इधर-उधर घुमाकर रघुआ की ओर से अनजान बन आगे बढ़ गया।

रघुआ ने हाँक लगायी– लड्डू ले लो, बेसन के लड्डू.... जायकेदार.... मसालेदार.... बेसन के लड्डू।

रघुआ की आँखों की पुतलियाँ हर आने जाने वाले पर क्षण-दो क्षण के लिए टिक जातीं। उसे लगता कि सब राहगीर उसके लड्डुओं के ग्राहक हैं। लेकिन पता नहीं क्योंकर हर आने जाने वाला दूर से तो उसके पास आता है परंतु निकट आकर उसके खोंचे से छिटक उसकी बगल से निकल जाता है। वह खड़ा खड़ा महसूसता है – इन आने जाने वालों का मन उसके लड्डुओं को खाने को अवश्य करता है पर शायद इनका हाजमा ही खराब है... लेकिन यदि ये लोग उसके लड्डू खा लें तो उनका असर शिवशंकर घोड़े वाले की हाजमा-गोली या नुक्कड़ी छोटी लाल अत्तार के चूरण से अधिक ही होगा, कम हरगिज़ नहीं..... फिर इन सबका हाज़मा ऐसा ठीक होगा.... और पेट दर्द ऐसा गायब होगा जैसे गधे के सिर से सींग.... पर...पर... इन्हें समझाए कौन? मूरख हैं, सबके सब।

और अगर कभी कोई अप्रत्याशित रूप से रघुआ के पास आकर खड़ा हो जाता तो रघुआ की आँखों में चमक आ जाती। और वह आगंतुक के बोलने से पूर्व ही कागज उठाकर उस पर लड्डू रखने लगता।

वह इतना करने पर ही आने वाले की ओर देखता। उसका प्रश्न होता – मसाला, तीखा कि गरम?

पर आने वाले को इससे कोई गरज़ नहीं होती कि रघुआ क्या कर रहा है। उसे तो अपने ही काम से मतलब होता। वह उससे पूछता – महात्मा गांधी मार्ग किधर है? या लालकिला कौन-सी बस जाती है?

रघुआ की आँखों में आयी वह अनोखी चमक इस साधारण-सी पूछताछ से लुप्त हो जाती और वह लड्डुओं और कागज़ को झटके से थाल में लगभग पटकते हुए कहता – आगे।

किंतु अगर आने वाला रघुआ से लड्डू माँग बैठता तो उसकी आँखों की चमक दुगनी हो जाती और वह कागज़ पर पहले से ही रखे लड्डुओं पर मूली की कतरनें बुरक कर ग्राहक की इच्छानुसार उन पर मसाला बुरक देता और फिर बोट में रखी कांजी निकालने वाले पउए से दो-चार बार ऊपर-नीचे कर अच्छी प्रकार चला देता। फिर ग्राहक के चेहरे की ओर सीधे देखते हुए उसमें कांजी डालकर बढ़ा देता। साथ ही आँखों ही आँखों में कहता जाता – लीजिए। खाइए। और फिर आइए.... ये रघुआ के लड्डू हैं.... इन्हें एक बार खाकर दूसरी बार आपको मीलों दूर से आना पड़ेगा....

ग्राहक खड़ा जब तक लड्डू खाता रहता, रघुआ कभी लड्डुओं को छेड़ता, कभी बोट में पड़ी कांजी को पउए से हिलाता रहता और बीच-बीच में खाने वालों की तृप्त मुद्राएँ देखता रहता। ग्राहक के ''पैसे'' पूछते ही एक-दो लमहे की चुप्पी के बाद बोलता – अं - हं- पचास पैसे।... और ग्राहक पैसे लेकर वह मैले-से डिब्बे वाली अपनी तिजोरी में डाल लेता। यदि और ग्राहक खड़े हो तो वह उन्हें लड्डू बनाकर दे देता नहीं तो अगले ग्राहक का इंतजार करता।

रात होते होते रघुआ का सारा ताम-झाम निबट गया। उसने मुँह पोंछकर खाली थाल उसमें रखी दोनों

नोटों व पैसे वाले डिब्बे सहित उठाकर सिर पर रख लिया। अब उसके कदम झोंपड़ी की ओर बढ़ रहे थे।

रामप्यारी अमूमन इस वक्त घर पर नहीं होती। वह पास वाली कोठी में चौका बासन करने गयी होती है और मुनिया लल्लू को साथ ले किसी दूसरे घर गयी होती है। लल्लू सब जगह मुनिया के साथ ही जाता है। इसमें फायदा रहता है। सेठानी मुनिया को खाना देते वक्त लल्लू को भी दे देती है.... और फिर खाली घर में अकेले बच्चे की फिकर भी नहीं रहती।

रघुआ ने झोंपड़ी में पहुँचकर रोज़ वाले स्थान पर थाल सहेजकर गल्ले में से कुछ पैसे निकाल कुर्ते की जेब में डाल लिए। बाकी पैसे रघुआ ने सँभाल कर नाल वाली हंडिया में रख दिये और पैरों में जूती डाल वह बाहर निकल आया। अब उसके कदम ठेके की ओर बढ़ रहे थे।

चलते-चलते रघुआ सोचने लगा – ठेका अच्छी जगह नहीं है। उसे वहाँ नहीं जाना चाहिए। उसे पीना भी नहीं चाहिए। शराब अच्छी चीज़ थोड़े ही है। पता नहीं पीने के बाद उसे क्या हो जाता है, किंतु वह ऐसा सोचेगा तो भी ठेके पर जायेगा जरूर, और अगर नहीं सोचेगा तो भी जायेगा।

ठेका शवाब पर था। एक कोने में कुछ संभ्रांत से लगने वालों की मित्र मंडली किसी विषय पर बहस कर रही थी। यह मंडली प्रतिदिन इसी मेज पर बैठकर दुनिया भर की समस्याएँ सुलझाती है। लोग लाखों-करोड़ों रूपये की बातों से हथेली पर सरसों उगाहते रहते हैं। अमरीका-रूस-चीन-सभी के मसले वे इसी मेज पर बैठकर सुलझा देते हैं। कभी कभार शेरो-शायरी की महफिल भी जम जाती है।

रघुआ भी इस माहौल में रम गया। कालू ने उसे अपने पास आते देखकर खीसे निपोरी थीं- हीं....हीं.... आओ रघुआ... आओ क्या मंगाऊँ तेरे लिए....?.... संतरा....मौसमी.... मिक्स।... फ्रूट....

रघुआ अच्छी तरह जानता है कि कालू उसका नाम लेकर मँगवायेगा और खुद पी जाएगा.... वह खुद तो कम ही पीता है.... जियादा तो कालू के हिस्से में ही जाती है.... फिर सबके पैसे उसे ही देने पड़ते हैं.... आज भी देने पड़ेंगे.... पता नहीं ये ठेके वाला भी कैसा है.... कालू पैले से बैठा पी रहा होता है.... उसके पैसे भी उसी से लेता है.... वह मना भी नहीं कर पाता। वैसे वह मना किसी को भी नहीं कर सकता। दिन में लड्डू खाते वक्त कोई ग्राहक मूली मांग बैठता है तो वह सोचता है कह दे – पूरी मूली डाल तो दी थी.... दो लड्डुओं पर इतने ही मूली आती है... और नहीं। पर वह नहीं कह पाता। चुपचाप थोड़ी-सी मूली निकालकर ग्राहक के बाकी बचे हुए लड्डुओं पर डाल देता है। और यहाँ भी... सब कुछ जानते हुए भी वह रोज कालू के पास ही आकर बैठता है।

दो घंटे गले में उतरते ही रघुआ ने दारू की कड़वाहट के जायके के कारण बुरा-सा मुँह बनाया और कालू की तरफ देखकर बोला – क्यों रे कालू, कैसा काम-धाम चल रिया अतेरा?....

कालू अपने मन की कभी रघुआ से नहीं कहता, सिर्फ खामोशी से सुनता रहता है। वैसे घुन्ना लगता तो नहीं, पर है जरूर। उसने एक और घूँट भर कर कहा – ठीक है मेरा तो... तू अपणी बता....

–अरे मैं किया बोलूँ, बोलती तो वो अ ससुरी रामप्यारी.... जब देखो कियां.... कियां... करती रैबे अ.... कहते कहते रघुआ ने पूरा गिलास खाली कर दिया था।

यह सब आज की बात थोड़े ही है। रोज ही होता है ऐसे तो। एक-दो गिलास गले से उतरी नहीं की रघुआ सुबह वाला रघुआ नहीं रह जाता। उसकी बुझी-बुझी आँखों में से एक अलग ही किस्म की चमक आ जाती। उसके दिल का अज्ञात भय दारू में घुल कर पेट में उतर जाता है। इस बखत तो वह मोटा

यह सब आज की बात थोड़े ही है। रोज ही होता है ऐसे तो। एक-दो गिलास गले से उतरी नहीं की रघुआ सुबह वाला रघुआ नहीं रह जाता। उसकी बुझी-बुझी आँखों में से एक अलग ही किस्म की चमक आ जाती। उसके दिल का अज्ञात भय दारू में घुल कर पेट में उतर जाता है। इस बखत तो वह मोटा सिपाही भी आ जाता तो रघुआ उसी का डंडा छीनकर ठेन देनी से उसी की खोपड़ी पर बजाकर चलता कर देता। रघुआ अपने लल्लू को कभी प्यार से एक भी लड्डू नहीं दे पाया पर उस मुस्टंडे को दो-दो और कभी उसका मन ललच जाये तो चार भी देने पड़ जाते हैं। रघुआ दे भी क्यों नहीं उसे.... वही तो उसे वहाँ लड्डू बेचने देता है.... लल्लू कोई पुलिस वाला थोड़े ही है जो लड्डू न देने पर उसे लड्डू न बेचने दे.... लल्लू आखिर लल्लू है.... सिर्फ लल्लू। और पुलिस वाला पुलिस वाला है.... सरकार.... सत्ता? राज्य।

जो उसे सड़क पर खड़े होने देता है जिससे वह लड्डू बेच सके...

अब तक तीसरी बोतल भी खाली हो चुकी थी। ठेकेदार आया और उसके पैसे माँगने पर रघुआ ने जेब से मुट्ठा भर कर पैसे निकाले और ठेकेदार के हाथ में रख दिये। जेब के एक कोने में पाँच पैसे बच रहे थे, उसे भी रघुआ ने टटोल-टटाल कर ठेकेदार को दे दिए।

ठेकेदार ने पैसे गिने पर जैसे ही कुछ कहने को उसने मुँह खोला, कालू बोल पड़ा.... हाँ, ठीक है.... मैं अभी आकर हिसाब करता हूँ.... रघुआ सेठ तो रोज ही आता है यहाँ....

कालू अपना चक्कर चला चुका था। रघुआ भी सुन रहा था और सुनता भी क्यों नहीं.... भगवान ने कान सुनने के लिए ही तो दिये हैं..... सब कुछ सुनकर वह बोला– आं...आं.... अबे कल्लू तू दे दीजो..... मैं तुज्जे कल दे दूंगा.... तू.... तू.... तो अपणा ई बाई अ न.... शारी दुनिया उल्लू.... उल्लू की पट्टी..... उल्लू उ...उ... की पट्टी अ.... उसे किया पत्ता अ....

बाकी के शब्द रघुआ के गले में ही घुल गये थे और वह कालू के गले से लगकर रोने लगा था, रोये ही जा रहा था और बीच-बीच में कहता जा रहा था – तू.... तू..... तो मेरा बाई अ न.... अ न? बोल ना.....

वह और भी कुछ कहना चाह रहा था। पर क्या करे.... बाकी के शब्द तो गले में ही अटक गये थे.... उन्हें निकालने के लिए रघुआ ने जोर से खंखारा.... पर शब्द नहीं निकल सके थे उनके स्थान पर निकला था थूक, कुछ-कुछ नमकीन सा। रघुआ ने उसी को निकाल फेंका – आक्न्थ।

कालू ने उसका एक हाथ अपने कंधे पर रखकर कहा – चल तुझे मैं छोड़ आता हूँ।

दरअसल ठेकेदार उस समय रघुआ को कहना चाहता था कि उसने कुछ रूपये फालतू दिये हैं, पर तब तक कालू रघुआ को कंधे का सहारा देकर ठेके से बाहर निकाल लाया। कालू ने रघुआ के पैसों का अंदाज लगाकर सोच लिया था – चलो कल की दिहाड़ी तो पूरी हुई।

झोंपड़ी के सामने जाकर कालू ने रघुआ से कहा – अच्छा रघुआ सेठ, तुम्हारा तो महल आ गया है.... अब मैं चलूँ अपने गरीबखाने पर।

कालू के दिमाग में रघुआ के फालतू पैसे नाच रहे थे जो वह ठेकेदार को देकर आया था। वह जल्दी से वापस जाकर ठेकेदार से उनका बंटवारा करना चाहता था।

रघुआ ने झोंपड़ी के दरवाजे पर जोर से लात जमाई और फिर दहाड़कर चिल्लाया – कियां अ ससुरी.... खसम बाअर खड़ा अ और सू ससुरी अंदर सूती पड़ी अ.....तू....

रामप्यारी ने चुपचाप खड़े होकर दरवाजा खोला और खाना लाने को मुड़ गयी। मुंह से उसने एक शब्द भी नहीं निकाला। वह जानती थी कि कुछ भी मुंह से उसने निकाला नहीं कि....

अंदर जाते जाते रघुआ का पैर लल्लू को लग गया, लल्लू कहीं जाग न जाये, रघुआ ने उसे सुलाने की गरज से थपकी दी थी – सो जा सो जा....

रघुआ शराब पीये है तो क्या हुआ, लल्लू है तो उसी का बेटा न। दिन में वह उसे प्यार नहीं कर पाता तो क्या हुआ अब तो वह उसे थपकी ही दे सकता है।

पर रघुआ का हाथ उसको शरीर पर लगते ही लल्लू की सिसकारी निकल गयी। उसका हाथ शायद लल्लू के शरीर पर पड़े किसी फफोले को छू गया था। उसे सुबह वाली घटना याद हो आयी थी। उसका मन कड़वाहट से भर गया था। दिल में कोई जलजला भी आने लगा था।

तब तक रामप्यारी थाली में खाना लगाकर रघुआ के पास पहुँच चुकी थी। रघुआ के दिल की आग भभक उठी थी। उसके दिमाग में लल्लू को पीटती सुबह वाली रामप्यारी घूम गयी। उसने पास पड़ी लकड़ी उठाकर रामप्यारी की ओर देखा। रामप्यारी आज कुछ भी सहने को तैयार नहीं थी। पता नहीं आज की रात उसके मन में किस अदृश्य शक्ति ने उसे भीतर से उद्वेलित किया था। लंबे अरसे तक रघुआ के अत्याचार सहती चली आ रही रामप्यारी अब कुछ भी सहन करने का प्रस्तुत नहीं थी। हालाँकि वह जानती थी कि उसके, बच्चों के और रघुआ के बीच जो रोज घटता है और अकसर रात में ही मारा-मारी की घटनाएँ होती हैं उन सबका जिम्मेदार सिर्फ रघुआ ही नहीं है। बच्चे और पति से निरपेक्ष होकर उसने जब भी अपने भीतर कारणों की तलाश की है तो उसे इसके तहत सिर्फ भूख और असुरक्षा ही मिली है।

रात गहरी होती जा रही थी। रघुआ उसके न सिर्फ पाँव डगमगा रहे थे बल्कि आवाज भी लटपटा रही थी। रघुआ ने अपना हाथ आक्रमण की मुद्रा में आकाश की ओर उठाया, इस बीच रामप्यारी बोल पड़ी – "अब बस करो। बहुत हो चुका। कभी बच्चों की भी सोची है तुमने? कि गयी रात शराब के नशे में धुत्त घर पहुँचकर मेरे साथ ओछी हरकतें करते हो तो इन पर क्या असर होता है। कल से काम पर मैं जाऊँगी"।

रामप्यारी अपने कमरे की ओर मुड़ गयी। उसने देखा, लल्लू और मुनिया खामोश चुपचाप बड़ी-बड़ी आँखों में आँसू लिए सब कुछ खिड़कियों से झांक कर देख रहे हैं। उसने दोनों बच्चों को गले लगाया और उन्हें देर तक पुचकारती रही।

इधर रघुआ अपनी चारपाई पर पड़ा-पड़ा तारा खचित नीला आकाश देख रहा था। उसके मन में आया कि वह एक बार रामप्यारी से, लल्लू से और मुनिया से जी-भर बात करे जैसा कि आज तक नहीं किया था। आज की रात को वह प्रायश्चित की रात मान शांत सहज भाव से जिंदगी जी सके किंतु इसी बीच जाने कब उसकी पलकें मुँद आयी और वह बेसुध रात्रि के सन्नाटे में समा गया। बाहर घुप्प अंधकार था।

□

लंबी कविता

नदी के आयाम

बलदेव वंशी

पानी
लहर लहर जम कर
पत्थर हो जाये
या
पत्थर
पिघल कर
लहर लहर पानी
दोनों के बीच
समय का दरिया
बहता है
दु:ख से कोई
पत्थरा जाये
या पानी पानी हो जाये
जीवन सत्य कहता है
यों, समय का दरिया
बहता है.........

★ ★ ★

रास्ते में पड़ा
अपनी मिट्टी में
मज़बूती से गड़ा
पत्थर
बहते हुए पानी को रोकता है
रुको, मेरी सुनो।
पर बहते हुए पानी को
फुर्सत कहाँ
रुकने की ! थमने की ! सुनने की !
वह पत्थर को उखाड़

अपने साथ लिये चलता है
बस इतनी-सी कहानी है
जिसमें जितना पानी है
उतनी ही रवानी है।
हर बार
धरती के भीतर से ही उठती है पुकार
पिघलने लगते हैं पर्वत हिमानी
और रूप बदल
दौड़ पड़ता है पानी। गतिमान।
उसके भीतर बसी है
धरती की प्यासी रुह की परेशानी
नदी अपनी नहीं
धरती की पीड़ा को गाती है
इसलिए पुकार सुन
दौड़ी चली आती है
रुको !
धरती को सांस लेने दो, थोड़ा
नदी को गाने दो
ये जो बुलबुले बन-बन कर फूट रहे
ये जो लहरें उभर-उभर
विलीन हो रहीं
ये नहीं हैं
उसकी देह पर उठे फफोले
या कि पानी के भीतर के हिचकोले
प्यासी रुहों के
रूपाकार हैं सँवरते मिटते
आत्म रूप बीज हैं
नमी पकड़ते।
रुको !
धरती को सांस लेने दो, थोड़ा
नदी को गाने दो।

★ ★ ★

नदी आज
धरती में समा कर
धरती हो गई है
अपने इच्छा बीज छिटक कर
गा कर
सो गई है

वह धरती होना चाहती है
जितनी
उतनी धरती की नींद
सो गई है
आगामी किस ऋृदु में
जागने के लिए...........

★ ★ ★

सोयी हुई नदी
रोयी हुई कविता
जब जागेगी
धरती की जड़ता को त्याग
देश-काल की सीमाओं को लांघ
गतिशील हो भागेगी
महासमुद्र को मिलने
गंगा सागर बनने
जहमु की जांघ नहीं
अपने ही वश को चीर
अवरोधों को फाड़ती
उतरेगी धरा पर
धरती की बेटी
हिमराज तो-
उसके यौवन का सपना है
सपना किसका, कितना, कब अपना है?
धरती जब जागेगी
सपना टूटेगा
हर सपने की तरह
ऊबड़ खाबड़ खुर्दरे पत्थरों पर
पाँव पर
उतरेगी
अपने होश ओ हवास सँभालती
सोयी नदी
जब जागेगी

★ ★ ★

जंगलों की खरी खामोशियों को बहलाती
अपने पैरों स्वयं चलकर
नीचे उतरती
इस नदी ने
बड़े-बड़े पत्थरों को पीस कर

ज़र्रा बना दिया है।
तभी प्रवाहमान हुई है नदी
इस ने
अपने भीतर के सभी अवरोधों को
स्वयं ही तोड़ कर
बहा दिया है
तभी प्रवाहमान हुई है नदी.......

★ ★ ★

नदी जब धीरे बहती है
तब वृक्षों की परछाइयाँ
पक्षियों की उड़ानें
नक्षत्रों की दिप्-दिप् चमकें
उसके भीतर झलमलाती हैं
जब तेज़ वेगवान हो
मचलती किनारे उड़ाती
तब सब परछाइयाँ विलीन होती
सब आकार डूब जाते
तब नदी सिर्फ अपना सत्य कहती है
नदी जब तेज़ बहती है.........

★ ★ ★

नदी नहीं मोहताज़
किसी की
नहीं होती बंधक
वह लावे-सी फूटती
बहती
छा लेती है आस-पास । सब।
ढँक देती
जँगल बस्ती
हिला देती
धरा भूधर आकाश
कँपा देती
दिशा दिशा और रंध्र-रंध्र
कँपा देती
काल की प्रति गुहा-गुहा
गह्वर-गह्वर
नदी नहीं होती मोहताज़।.......

तीन कविताएँ

(एक)

लो, हम बीत गये

सच्चिदानंद सिन्हा

लो, हम बीत गये—
पहर आया, पहर में,
ज्वार आया, ज्वार में
देखो हम बीत गये।
बीत रहा पहर पहर
शब्द नहीं :ठहर, ठहर,
बीता वह कैसा प्रहर
तब भी हम बीत गये।
नहीं अब पूछते हम
कौन मुखर, कौन सत्वर
अनुगामी, अग्रगामी कौन?
मौन रहकर भी देखो हम बीत गये।
लगता है
आता नहीं कोई, रहता है।
कभी आगे, कभी पीछे सब कहता है
देखा जब आगे तो पीछे से बीत गये।
गीत को गीत दिया,
अपना क्षण प्रस्थान किया,
बिना महाभिनिष्क्रमण के देखा तुमने
अबकी बार : कैसे हम बीत गये।

(दो)

स्वीकार, अस्वीकार

स्वीकार नहीं है
संध्या, जिसे संध्या तोड़ दे;
आकाश, प्रतीक्षा में लगे जो
दूसरे आकाश के, तीसरे आकाश के।
स्वीकार है
संध्या, जिसे मैं तोड़ दूँ,
रात की बाँह से जिसे
जब चाहूँ जोड़ दूँ।
एक स्मृति की पांख से
जब जाऊं छोड़ दूं।
स्वीकार है
आकाश
मेरे ढाई अक्षरों में
जो सिमट जाय,
मेरे दोनों कंधों पर
आये, गाये।

(तीन)

माँगना

आकाश से है माँगना
आकाश अपना
तभी वह आकाश है।
सूर्य से है माँगना
सूर्य अपना
तभी वह प्रकाश है।
माँगता हूँ
माँगना जब जानना है
माँगने की सृजन-क्रिया में
माँगना-विसर्जना है।
देख लो, आकाश हूँ
देखना, आकाश है
देख लो, सूर्य हूँ
देखना, प्रकाश है।

पहुँच

विश्वंभरनाथ उपाध्याय

पहले ये कभी रोम रहे होंगे
.........ये रोंगटे
अब तो ये तार के खम्भे हैं
रात दिन खड़े, सन्नाते
तुम्हारे संदेशों से
ये गूढ़ पुरुष इतने गहरे हैं
मुग्ध बच्चों से हकलाते
रिक्त स्थान छोड़-छोड़ कर बोलते हैं
कोई निष्कर्ष ही निकल नहीं पाता
और यह त्वचा
कैसे कँपकँपी की फुरहरी लेती है
न जाने कब से रिन्दे खाती हुई खाल
मोटी नहीं हुई
रेशे-रेशे राग छेड़ते हैं निरंतर
वजूद वादयवृंद सा बजने लगता है
अनायास, आतुर
मैंने फड़कती हुई आंख को बार-बार कहा है
शकुन अब विश्वसनीय नहीं रहे
न अब मुंडेर पर कागा उड़ाने से
कोई अतिथि आता है
एक अनाम व्याकुलता वेधती रहती है मुझे
यह किसी के ध्यान का परिणाम नहीं
खामख्याली हो सकती है भटकते मन की
भ्रमपाल कर भी देख लिया,
सब कुछ भंग कर भी
अपने को सबमें से और सबको

अपने में से घटा देने पर
सिर्फ शून्य बचता है
अब मैं हूँ और मेरा शून्य
तीसरा कोई टिपता ही नहीं, कहीं
चिपकाव की जगह झटके हैं
जो वस्तु और व्यक्ति बिंब बनकर
हिलते थे जलाशय में
जलावतन हो गए बिना बात
मेरा मैं कोई और मैं है अब
तुम क्या अभी भी वही हो जो थे?
इस चित्रहीन मगर सनसनी अंगेज हालत में
मैं विस्मरण का व्यायाम कर रहा हूँ
पर बेतार की तारबर्की बंद नहीं होती
न टेलीप्रिंटर पर खट-खट रुकती है
लोग लुंठित नहीं होते
ललित-पर्व की आहट पर उद्ग्रीव
वे स्वागत में डटे हैं सिर हिलाते हुए
शायद मैं कम्प्यूटर नहीं हूँ
न मैंने किसी को अनुमति दी
कि वह अपना डेटा मुझमें भरकर
मनमाने नतीजे निकाल ले
मैं तो संचारमाध्याम हूँ किसी हृदयसंवादी का
वह मनचीता साथी
संप्रेषित कर रहा है, अनवरत अपने को
पर उसका अर्थ नहीं खुलता
न अभिप्राय
बस पोर-पोर में सनसनाहट है
अंतर्ध्वनन भी
रौंगटो ! अब रहने दो
शून्यो ! तुम भी अब सो जाओ।

□

दो कविताएँ

(एक)

काम

स्नेहमयी चौधरी

घर में चिकना सन्नाटा,
छत पर धूप
पसरी पड़ी हैं
चिड़ियाँ चूं चूं चूं चूं
कर रही हैं
छज्जे पर
कबूतरों की जोड़ी बैठी है
हल्के नीले और रोशनी से घूमिल
आकाश मार्ग पर
कौए पंख पसार कर
उड़ रहे हैं
मैं कैक्टस में उगे
लाल छोटे फूल को
देख रही हूँ
बड़ी देर से
यह भी कोई काम हुआ?

(दो)

संध्या : एक दृश्य

तांबई रंग पिघल कर
आकाश पर फैल गया है
सामने खड़ा एक पेड़
सूखी नंगी डालों पर
ही लगे हैं
कुछ तांबई पत्ते
जड़ों के पास ढेर हैं
शेष झरे पत्तों का
कोनों में अंधकार
मर रहा है
जो अभी फैल जाएगा
सारे दृश्य पर।

□

दो कविताएँ

कुँवर बेचैन

(एक)

मत सूखने देना मुझे

मैं डाक-टिकट की पीठ पर
लगे हुए गोंद-सा
इस भ्रम में रहा
कि तुमने आत्मसात् कर लिया है मुझे
मैं नहीं जानता था
कि मैं तुम्हारा अभिप्राय नहीं
उपयोग हूँ
जो किन्ही और लिफाफों पर चिपकाने के काम आयेगा।
गोंद नहीं कहता
कि मेरा उपयोग 'यहा' नहीं, 'वहाँ' करो
क्योंकि वह जानता है
कि वह गुलाम है उन उँगलियों का
जो उसका प्रयोग करती हैं।
लिफाफे को पत्र का रूप देने वाला मैं
कितना अदृश्य रह जाता हूँ
जब कि पहिये मुझमें ही लगे होते हैं
जिन्हें धकेल कर
पत्र अपने गंतव्य तक पहुँचता है।
मगर सोचो तो
अगर टिकट को लिफाफे पर

चिपकाने से पहले ही
हर बार
सूख गया मैं
मैं जो गोंद हूँ
तो कैसे दे पायेंगीं तुम्हारी उंगलियाँ
किसी लिफाफे को पत्र का प्रारूप।
सुनो,
मुझे सूखने मत देना।
तुम्हारी आँखों का पानी
तुम्हारे महके हुए पसीने की बूँद
तुम्हारे होठों की तरलता
ये सब सार्थक बनाते हैं मुझे।
सुनो,
मुझे सूखने मत देना।
मत सूखने देना मुझे।।

(दो)
सुनो

सुनो,
यह तुम्हें क्या हो जाता है
कि जब मेरी भीगी-भीगी आँखों को
जरूरत होती है तुम्हारी रुमाल-सी स्निग्ध हथेलियों की
तब तुम
उन्हीं के सामने
खोलकर रख देते हो कोई कविता की पुस्तक
या किसी महान ग्रंथ में छपी हुई दर्शन की पंक्तियाँ
तुम यह क्यों नहीं समझते
कि जिस समय
पकती फसल को धूप की जरूरत होती है
उस समय
बारिश की एक बूँद का भी बहना
अच्छा नहीं लगता

खेत की मिट्टी को।
नदी की मंजिल जैसे समुद्र होती है न
ठीक वैसे ही
आँसू की कामना होती है
कोई उठती हुई और
उसके पास आती हुई
उल्लास भरी हथेली।
हथेली जो आँचल बने
हथेली जो रुमाल बने
हथेली जो गोद बन सके आँसू की.
आँसू और शिशु मे
कोई भेद नहीं होता
किसी गोद की तलाश के मामले में।
यह तुम्हें क्या हो जाता है
कि जब मेरे इन होठों की बंद मंजूषा में कैद
शब्दों के मोती
स्वरों के फूल
और आवाज़ के स्रोत
पूरी निष्ठा के साथ
उछाल मारते हैं बाहर आने को
तब तुम्हारे मधुर स्पर्श की उंगलियाँ
मेरे होठों तक आने के बजाय
कहीं और क्यों मुड़ जाती हैं।
मेरे होठों की मंजूषा
काँपती रह जाती है
शब्द उछाल मारते हैं
लेकिन बाहर नहीं निकल पाते
और तब तुम
अपने होठों से मिठास के बजाय
उछाल देते हो
कुछ पथराये शब्द
जो मेरे कानों से नहीं
होठों से टकराते हैं
और तब
चोट खा जाते हैं उनके भीतर बैठे हुए पखेरू शब्द
जो कभी आकाश में उड़ने के लिये बेचैन थे
व्याकुल थे तुम्हें छूने को
पागल थे तुमसे लिपटने को

साँस या बाहों की तरह
चुपचाप
अनदेखे।
सुनो,
यह तुम्हें क्या हो जाता है
कि जब.......................
कि जब.......................

□

प्रेम, सौंदर्य और मानवीय समृद्धि की कविताएँ

डॉ. रेवती रमण

पिछले दो-तीन दशकों की हिंदी कविता पर विचार करें तो पता चलेगा कि उसमें अस्सी प्रतिशत जीवन के ब्राह्य यथार्थ की कुरूपता, सामाजिक-आर्थिक वैषम्य और बुद्धिजीवी वर्ग के नैतिक पतन का विवरण मात्र है। हमारे युवा कवि विभिन्न राजनीतिक दलों के साये में देश-विदेश की घटनाओं का लेखा प्रस्तुत करने में ही अपने दायित्व की इतिश्री मान लेते हैं। वे इस कार्य में एक-दूसरे को पीछे छोड़ जाने के लिए कृतसंकल्प नजर आते है। सत्ता कुचक्र के प्रति उनका क्रोध निश्चयात्मक रूप से बहुत सात्विक और प्रासंगिक है किंतु कविता में उसे व्यक्त करते समय वे अपने इस रचनात्मक विवेक का अतिक्रमण कर जाते है कि वे यह कार्य कविता की अस्मिता को अक्षुण्ण रखकर ही प्रभावशाली ढंग से कर सकते हैं। जैसे किसी क्रांतिकारी के लिए यह आवश्यक है कि वह क्रांतिकारी होने के समानांतर मानवीय समृद्धि का प्रतिदर्श हो, आदयंत मनुष्य हो, उसी प्रकार कविता के क्रांतिकारी होने के लिए यह अपरिहार्य है कि वह निसर्ग कवित्व हो, शब्दार्थ की रमणीयता का पल्ला न छोड़े।

कविता अपनी प्रकृति से कविता ही हो, उसके बाद वह चीजों की वास्तविकता समझाये, दुनिया को रास्ता दिखाये या न दिखाये, मनुष्य के भीतर स्थित मनुष्य को प्रेरित-प्रोत्साहित करे, निश्चय ही यह कोई छोटी बात नहीं तथापि हमारे लिए संपूर्ण निराशा की स्थिति नहीं है। हमारे बीच ऐसे कवि (अल्प संख्यक ही सही) मौजूद हैं जो शब्द की महिमा को जानते हैं और रमणीयार्थ का प्रतिपादन करके भी युगीन यथार्थ से टकरा और रच रहे हैं। उनके पास रचनात्मक विवेक है, जीवन के प्रति गहन आस्था है और ज्वलंत आशय को संप्रेषित करने की शिल्प-सामर्थ्य है। ऐसे कवियों में गिरिजाकुमार माथुर हैं, जिनके काव्य में 'जो बंध न सका', 'धूप के धान', 'भीतरी नदी की यात्रा' इसके सर्वोत्कृष्ट प्रमाण हैं। श्री माथुर की कविताएँ 'शाम की धूप', प्रौढ़ रोमांस, 'छाया मत छूना' मन, भादों का ठहरा प्यार आदि रचनाएँ सौंदर्य, ऐद्रिंय अनुभूति, पारिवारिक प्रेम-जीवनास्था की प्रसिद्ध रचनाएँ है जिन्होंने नई कविता में सौंदर्य के इस नये आयाम का समारंभ किया था। शमशेर, अशोक वाजपेयी, ज्ञानेंद्रपति और राजेश जोशी की ओर अनायास ही ध्यान चला जाता है। ये ऐसे कवि हैं जो कविता के आवयविक सिद्धांत में भरोसा रखते हैं तथा प्रगीतात्मक शिल्प का निर्वाह करते हुए ये अपनी कविताओं में हिंदी जाति और उसकी प्राणधारा को समकालीन विश्वमानव की नियति से संबंद्ध करके ही अभिव्यक्ति दे रहे है। इनकी चिंता के केंद्र में आज का मनुष्य है। इतिहास सम्मत या पुराण प्रथित प्रशस्त पथ को अनदेखा करके इन कवियों ने अपनी राह खुद तलाश करने के साहस का परिचय दिया है। अंतिम दो ज्ञानेंद्रपति और राजेश जोशी ने तो बाह्य संसार की कुरूपता को अपने विह्वल संवेदना से आंदोलनकारी क्षितिजं भी उपलब्ध कराया है। इनसे भिन्न स्तर पर एक सीमा तक कलावादी परिवेश रचते हुए शमशेर और अशोक वाजपेयी ने समकालीन मनुष्य

की रागात्मक संवेदना को मूर्त करने में अपनी कवित्तव शक्ति उपयोग किया है। इस क्षेत्र में शमशेर की तुलना में भी अशोक वाजपेयी के 'पूर्वग्रह' जगजाहिर हैं। उनके अनुसार 'सच्ची कविता अपने समय में हमेशा तीसरा संसार रचती और पोसती है।' —(कुछ पूर्वग्रह, पृ.-२०)

अशोक वाजपेयी मानते हैं कि जीवन व्यापार और संघर्ष नागरिक के लिए कविता पलायन नहीं है और न जीवन के सीधे-तीखे हमलों से बचने की पनाहगाह ही। बल्कि वह एक ऐसी जगह है जहाँ यह संसार अपनी पूरी रंगारंग विविधता और सुख-दु:ख की रचनात्मक समृद्धि में उसकी संवेदना की ऐंद्रिय पकड़ में आता है और उसे निरे दार्शनिक प्रत्ययों या राजनैतिक नीतियों से अलग एक ऐसा विवेक और समझ मिलते हैं जिनसे उसे अपनी स्थिति पंहचानने, अपने संघर्ष को समझने में मदद मिलती है, जो उसकी जिजीविषा को उत्तेजित करते हैं और इस तरह उसकी बुनियादी संघर्षशीलता को बढ़ाते और एकाग्र करते हैं।—कुछ पूर्वग्रह, पृ. २०)

उनके ये विचार समकालीन कविता की वास्तविक दिशा और कार्य को समझने में सहायक हैं, इसके अतिरिक्त खुद उनके ही जो तीन संकलन ('शहर अब भी संभावना है'—६६) 'एक पंतग अनंत में' —८४ और अगर इतने से' —८६) प्रकाशित हुए हैं, उनके अध्ययन से यह सहज ही लक्षित किया जा सकता है कि कविता का मतलव उनके लिए आत्मसंघर्ष का कारगर साक्ष्य ही है। वस्तुत: वे एक नागरिक के शब्द-कर्म हैं जिनसे कवि ने अपनी स्थिति पहचानने और संघर्ष को समझने में सहायता ली है। इन कविताओं में वर्णित संसार अपनी पूरी रंगारंग विविधता और सुख-दु:ख की रचनात्मक समृद्धि में संवेद्य है। संप्रेषण के मामले में अशोक वाजपेयी दुर्निवार नहीं लगते, यद्यपि उनकी कविताएँ कवि के निजत्व को ही मनमाने ढंग से प्रक्षेपित करती हैं। स्वानुभूति की परिधि में जो चीजें सहज भाव से आ जाती हैं, कवि ने उन्हें सहेजा है और एक सीमा तक चमत्कार को भी मान्यता दी है। भले ही उन्होंने प्रकट रूप से व्यवस्था की अभद्रता और यथास्थिति को चुनौती न दी हो, किंतु मूल्यों की प्रतिष्ठा और अभिशप्त मानव नियति का साक्षात्कार उन्होंने अपनी क्षमता भर किया है। उनके यहाँ कथ्य की क्रांतिकारिता और स्थापत्य का अभिनिवेश दोनों पर्याप्त रमणीय है।

यह मानी हुई बात है कि दुनिया भर के महान कवि परंपरा का सम्यक ज्ञान प्राप्त करने और उससे पूरी शक्ति और सामर्थ्य से टकराने के बाद ही कुछ नया और युगांतरकारी रच पाये है। उन्होंने कथ्य और स्थापत्य को न केवल विध्वस्त किया है, वरन अपने लिए उपयुक्त साँचे का भी निर्माण किया है। इस संदर्भ में, समृद्ध साहित्यिक विरासतवाली विश्व की अन्य भाषाओं को छोड़ भी दें तो ठेठ हिंदी में ही निराला, मुक्तिबोध या अज्ञेय सरीखे कवि केवल ज्वलंत आशय के लिए ही स्मरणीय नहीं हैं, उनके पास उसे आकर्षक रूपाकार में प्रस्तुत करने वाला स्थापत्य भी रहा है। अशोक वाजपेयी इस दृष्टिकोण से हमारे लिए पर्याप्त उल्लेखनीय लगते हैं। उनका सृजन पर्याप्त व्यक्तित्व संपन्न है और उसे दूर से ही पहचाना जा सकता है।

सिर्फ मेरे हाथ है जो भाषा सँभाले हैं
सिर्फ मेरे होठ हैं जो गान थामे हैं
धुएँ से, आग से मुझे बचाने को
वह सुलगी हुई भाषा और पिघलता संगीत
मुझे छूने को वह पिघलता आलोक वेग
वह पत्तियों की हरी-हरी रचनाएँ/वह खिलखिलाता हरा दृश्य
मुझे भेंटने दो वह वसंत,
वह मेरा रक्त सुमन (शहर अब भी संभावना है, पृ.-०९)

वसंत की पक्षधरता और जीवनोल्लास का संगीत समारोह अशोक वाजपेयी की कविता में केंद्रीय महत्त्व प्राप्त करते हैं। बिल्कुल आदिम गंध को तीव्रतर अत्याधुनिक संवेदना और भाषा से परिणामित करते हुए वे अकेला किंतु पूर्ण होने का आभास देते हैं। एक सुखी संतुष्ट जीवन उनकी कविताओं में आकार ग्रहण करता है, बिना किसी कुंठा के, प्रेम करने की नैसर्गिक क्षमता से पुष्ट और प्रमाणित। दैनदिंन कठिनाइयों से जूझता हुआ मनुष्य आमतौर पर इस तरह कुंठामुक्त नहीं हो पाता। अपरिमित आकांक्षाओं और संभावनाओं को प्रतीकित करता स्वीकृति का यह उन्मुक्त हृदय-द्वार अन्यत्र नहीं मिलता—

क्योंकि तुम हो
शब्द छू पाते हैं अर्थ/धूप बिछती है सीढ़ियों पर
चिड़िया उड़ जाती है नीलिमा में/गान लेकर
क्योंकि तुम हो
हरी पत्ती होती है लज्जारुण/ठण्ड में सिहरती है देह
कामना में आत्मा
क्योंकि तुम हो
आकाश भर जाता है/बच्चों की किलक से
और पृथ्वी/फूलों और फलों से
क्योंकि तुम हो—(अगर इतने से, पृ.-६४)

कविता काल की अनंतता और नश्वता को रौंदती कवि की जिजीविंषा का उज्जवल दृष्टांत होती है, शब्द जिसके वाहन होते हैं। कविता अंततः शब्दों की ही कला है, भाषा की संस्कृति का, अब तक का एकमात्र प्रामाणित और सर्वोच्च निदेशन-मानव की मातृभाषा। प्रेम करने की अपरिमित शक्ति वाला मनुष्य ही इस अर्थ में अच्छा कवि हो सकता है। खास तौर से उस दौर में जब हमारे समय की राजनीति समाज को, आदमी को, चीजों को तोड़ने में सक्रिय है। कविता पहले की तरह अब भी जोड़नो का सही माध्यम बन सकती है। मगर यह तभी संभव है जब कवि उसकी प्रकृत भूमि को प्रतिष्ठा दे। कवि जब एक बार कविता का अनादर कर चुकता है, तब उसका बेगानापन ही दर्शनीय होता है। अशोक वाजपेयी ने शुरू से ही कविता के पक्ष में संघर्ष किया है. उनकी सर्जनात्मक निष्ठा और प्रेमत्व परिवेश रचने का तात्पर्य इस विषम परिस्थिति में खुद ही स्पष्ट है। ज्ञानात्मक संवेदना और संवेदनात्मक ज्ञान का सायुज्य सिरजते हुए अशोक वाजपेयी अपनी तीन दशकों की प्रदीर्घ कविता-यात्रा में अनुभूति क्षेत्र की व्यापकता नहीं, राग सत्य की सांद्र सुगबुगाहट का ही आभास देते है। उनकी रचना-प्रक्रिया बहुत कुछ छायावाद के महाकवि प्रसाद जैसी एकरैखिक है। 'शहर अब भी संभावना है' में कविता क्रम के आरंभ में ही टी.एस. एलियट की एक पंक्ति उद्धृत है—'मेरे आरंभ में ही मेरा अंत है।' इस कथन को अभिधार्थ में नहीं किंतु प्रतीयमान रूप में अशोक वाजपेयी ने घटित किया है। उनके लिए कविता का मतलब शुरू से ही मानवीय समृद्धि है, प्रेम की प्रगाढ़ अनुभूति कहीं मासल तो कहीं सूक्ष्म और कहीं सौंदर्य की मायिक सम्मोहन उनकी रचना-वस्तु है। एक जगह लिखा है कवि ने—

मैंने दुनिया का कभी कुछ नहीं जाना
सिवा अपनी माँ की अक्लांत करूणा
अपनी प्रेमिका के निविड़ प्यार के
मैंने कभी नहीं जाना कि
कुछ और भी है जो जाना जा सकता है (शहर अब भी संभावना है, पृ. १)

अशोक वाजपेयी का कवि गहरे रूप में मानवीय है और इतना कि वह अहं से संपुष्ट होकर हठी

हो गया है। इसलिए उनमें एकांगिता और एकांत है, यहाँ तक कि पत्थर बना देने वाली प्रश्नभरी जिद भी है, यानी गुण की अति दोष बन गई है। पर उनमें करुणा की अजस्त्र कोमल धार भी है जो उस पत्थर को काटती है एक हाहाकार की तरह जिसमें नारी का पत्थर दबा मौन अपनी वेदना सहित गलकर बह गया है।' (श्री राम वर्मा : विवेचना संकलन पृ० १२४, ३०)

उनके यहाँ वसंत की अवरिल प्रतीक्षा है और संपूर्णता की तलाश में शब्द का विकसनशील स्वरूप ही स्वीकृति प्राप्त करता है। एक सुखी-संतुष्ट जीवन अक्सर विचारधारा के रूप में परिगाभित होता हुआ, कभी मृत्यु या आध्यात्मिक निराशा या सुख के पूरक अवसाद को चित्रित करता है तो कभी दो शरीरों के मेल से ही, गुंफन और तदाकार में ही प्रेम को प्रतिफलित महसूस करता है। देह की गरमाहट आत्मा के तार जोड़ पाने में सक्षम है। 'प्यार करते हुए सूर्य स्मरण' में कवि ने लिखा है —

जब तुम मेरी बाँहों में साँझ रंग-सी डूब जाती हो
और मैं जल बिंबों सा उभर आता हूँ
तब सिर्फ आँखें हैं/जो प्रतीक्षा करती हैं मेरे लौटने की
उन दिनों, जब मैं नहीं जानता था कि
दो देहों के बीच एक आकाश होता है—सूर्य आकाश

(शहर अब भी संभावना है पृ. १६)

शहर के बीच रहकर, उसकी संभावना को अनाहत रखकर भी अशोक वाजपेयी प्रकृति लय पर आधारित कविताएँ लिखते रहे हैं। उदात्त के प्रति नैसर्गिक झुकाव यदा-कदा उनके काव्य में ऋृतु प्रार्थनाओं की समकक्षता प्राप्त करता है। वैसे, प्यार करते हुए दुनिया को छोटे-छोटे अंशों में प्रमाणित करने और सुंदर बनाने की बात स्वयं अशोक वाजपेयी ही करते रहे हैं। उनके यहाँ प्रेम पात्र की अतीत-उपस्थिति पूरी प्रगल्भता से अंकित होती है। अंतरिक्ष को एक संक्षिप्त अनंत में ढालते हुए प्रेमिका का नृत्यरत शरीर मुक्त अकेलापन देता है। उस आलोकित आकाश को कवि की कोई कामना कोई चीख अब नहीं छू पाती। यह स्वच्छंता का अविरोधी होते हुए भी बिल्कुल नवीन अभिव्यक्ति है—जिसके अंतर्गत —

'अतीत एक किरण है और भविष्य एक अचानक फूल :
शाखाएँ कुसुमित होती हैं मुद्राओं में
मुद्राएँ एक नीरव प्रार्थना हैं
और संगीत एक अकेलापन (पृ. ८८)

कोमल स्मृतियों के ऐश्वर्य संदीप्त अशोक वाजपेयी अपने आरंभ में बड़ी प्रगल्भता से युवा जंगल आँकते हैं —

एक युवा जंगल है मुझे/अपनी हरी उंगलियों से बुलाता है।
मेरी शिराओं में हरा रक्त बहने लगा है
आँखों में हरी परछाइयाँ फिसलने लगी हैं
मेरे कंधों पर एक हरा आकाश ठहरा है
होठ मेरे एक हो गान में काँपते हैं
मैं नहीं हूँ और कुछ/बस एक हरा पेड़ हूँ
हरी पत्तियों की एक प्रदीपत रचना पृ. (११)

'शहर अब भी संभावना है' में सूर्योदय और सूर्यास्त दोनों का वर्णन है, वसंत का वैभव सचमुच दर्शनीय बन पड़ा है। सूर्यास्त के चेहरे पर संगीत का मौन आँकते समय कवि यदा-कदा विषाद का सरोवर

भी चित्रित करता है, किंतु तब भी यह ध्यान देने योग्य तथ्य है कि हिंदी में महाप्राण निराला के बाद कतिपय विशिष्ट भावशक्तियों और मुद्राओं का चित्रण अकेले अशोक वाजपेयी ने ही किया है। निराला की तरह ही वसंत में अपना जीवन बिंब तलाशते वक्त कवि संयोग सुख की मादकता से अभिभूत कर देता है। 'वसंत के लिए कामना', 'वसंत गीत', 'एक वसंत की तरह', वसंत दिन' जैसी कविताओं में मानवीय समृद्धि का दुलर्भ दृष्टांत है। 'सुबह', 'सूर्यास्त', 'साँझ-शिशु जन्म', 'साँझ शामें गुजर जाती हैं', 'ठण्ड की शाम', 'एक पागल औरत', 'सूर्योदय से पहले कवि जागरण' ये ऐसी कविताएँ है, जो कवि के सुनियोजित समारंभ का पता देती हैं। एक साथ ही नयेपन और प्रयोगधर्मिता, प्रेम और सौंदर्य के दैहिक स्वरूप का अत्यंत मांसल चित्रण और प्रत्येक वस्तु को मनमाने ढंग से प्रभाव के रूप में ही ग्रहण करके दी गई प्रतिक्रियाएँ 'शहर अब भी संभावना है' के कवि के प्रति पाठक की आकांक्षा को वृहत्तर बना देती है।

निस्संदेह इन अपेक्षाओं की पूर्ति की दिशा में कवि शब्दार्थ की रमणीयता कायम रखकर ही अग्रसर हुआ है। संक्षेप में, उनकी झलक 'शहर अब भी संभावना है' में देख सकते हैं। इस संकलन में एक कविता 'लौटकर जब आऊँगा' शीर्षक से छपी है। इसका स्वर विशुद्ध यथार्थवादी है—

माँ, लौटकर जब आऊँगा, क्या लाऊँगा?
यात्रा के बाद की थकान,
सूटकेश में घर-भर के लिए कपड़े, मिठाइयाँ, खिलौने,
बड़ी होती बहनों के लिए/अंदाज से नयी फैशन की
चप्पलें?

★ ★ ★

क्या मैं बताऊँगा कि मैं आया हूँ
अंधेरी गुफाओं में से/जहाँ भूखी कतारें
रह-रहकर चिल्लाती हैं/गिद्दों और चीलों की चीत्कारों के बीच
माँ, तुम्हारा प्रिय शोकगीत/रघुपति राघव राजा राम?'

सामाजिक यथार्थ को अभिव्यक्ति देने का भी अशोक वाजपेयी का अपना अलग ढंग हैं। उनके तीनों संकलनों में ऐसी दो-चार कविताएँ समिल्लित हैं, जिन्हें कवि की युगबिद्ध मानसिकता का प्रतिफलन माना जा सकता है। किंतु घूम-फिर कर अशोक वाजपेयी अपनी प्रकृत भूमि पर ही स्थित होते हैं। काव्यभाषा की तत्समता से वे जिस प्रकार मुक्त नहीं हो पाते, उसी प्रकार स्मृतियों का समृद्ध संसार भी उनका पीछा नहीं छोड़ता है। कवि का आत्मीय और परिचित संसार वाग्विभव को हर जगह अनुशासित करता है। इस नागरिक कवि की परम अनिचार आत्म संभवा अभिव्यक्ति घर-परिवार के सीमित दायरे में भी व्यापक अर्द्धदीप्ति से सराबोर है। तात्पर्य यह कि अशोक वाजपेयी का काव्य वैशिष्ट्य किसी दूर की कौड़ी के आवाहन पर निर्भर नहीं है। संप्रेषण के मामले में इसीलिए उनके यहाँ कोई घपलेबाजी नहीं दिखती —

पुरानी लकड़ी के मेरे मजबूत दरवाजे पर
एक कमजोर और उभरी नसों वाले हाथों की ताबड़ तोड़ दस्तक है
और मैं जो जागा हुआ/अपने लैम्प के दूधिया प्रकाश में
दूसरों की कविताओं के पास बैठा हूँ
जानता हूँ कि बाहर कोहरे में एक सुबह
ऐंठी हुई-सी सुगबगा रही है/सड़क पर भैंसों और भेड़ों के

गुजरते हुए कई झुण्डों और शहर आयी घास की पहली
गाड़ियों की खड़खड़ाहट के साथ
जिसमें बच्चे और अधेड़ लपककर दूध लेने जा रहे हैं
मैं दूसरों की कविताओं के पास चुप-चाप बैठा
उस दस्तक में फिर से जाग रहा हूँ।
और एक तेज संगीत-सा उसे सुन रहा हूँ।

कवि की स्मृतियों में कण्डे बेचने वाली उसकी प्रेमिका बन जाती है, बिस्किट बेचने वाला उसका भाई हो जाता है। पानी भरते हुए वहाँ पिता भी पहुँच जाते हैं—पुराने किस्म के मकान की खिड़की से कूद भागने वाला अशोक वाजपेयी का बचपन एक बार जब मकान के अहाते में सचमुच पकड़ लिया गया तो कभी वह छूट भी नहीं पाया। कविताएँ इसका साक्ष्य हैं। लोहे के तारों, करुचंदन के पेड़, पुराने दरवाजे और परदे ढँकी खिड़कियों से, पड़ोसी बुढ़िया और दकियानूस मुहल्ले से कभी उन्हें दिन भर के लिए बाँधा गया होगा, जो उनकी कविता में स्मृति-धरोहर की तरह चकाचौंध से पूर्ण सृजन के प्रेरित परिचालित करता रहा है।

सघन और आत्मीय स्मृतियों का सदुपयोग करने की कला हमें निराला, प्रसाद और अज्ञेय में भरपूर मिलती है, अशोक वाजपेयी का नाम इनके साथ जोड़ा जा सकता है। इस कवि में स्मृतियों का संभार तो है ही श्रुतियों का वैभव भी विपुल है। 'शहर अब भी संभावना है' यह शीर्षक ही कवि की आस्था संपन्नता और नागरिक दायित्व की सूचना देता है, यह परंपरागत अर्थ में आशावादी कवि की संरचना प्रत्यक्ष करता है। अशोक वाजपेयी में वैसे भी प्रभाव आँकने की प्रवृत्ति मिलती है। उनके इस प्रथम संकलन में कई ऐसी कविताएँ हैं जिनका आधार कोई पुस्तक, चित्र अथवा संगीतकार का सरोदवादन है। वे 'खजुराहो' जाने के पहले और हरियाली देखकर भी अच्छी कविताएँ लिख लेते हैं। अब यह दूसरी बात है कि इन सबके बावजूद कवि-दृष्टि का प्रसार शगात्मक ऐश्वर्य के क्षितिज को ही उदात्त बनाता है। एक मातृसुलभ करुणा से दीप्त अशोक वाजपेयी के बाद में लिखी कविताएँ अक्सर लोरियों जैसा प्रभाव संप्रेषित करती हैं। दुनिया में बढ़ती मूल्यहीनता, चारित्रिक विसंगति और अर्थ-क्षीणता का भरापूरा एहसास होने के अतिरिक्त ये कविताएँ अपने मानवीय होने के समग्र आचरण और प्रकट तथा अप्रकट के बीच के तनाव को बहुत आत्मीय स्तर पर रेखांकित करती हैं, दुनिया के समूल विनाश के विरुद्ध निजी स्तर पर मानवीय संबंधों के अर्थ और संभावना की लगातार खोज भी करती हैं।

अशोक वाजपेयी के दूसरे संकलन 'एक पतंग अनंत में' की कविताओं पर टिप्पणी करते हुए डॉ. विश्वनाथ प्रसाद तिवारी ने लिखा है कि 'इसमें वर्णित कवि की दुनिया सीमित है। यह आत्मीय संबंधों की दुनिया है, घर गृहस्थी की दुनिया है। इस दुनिया में माँ है, पिता हैं, दिदिया है, काका, बाबा, जुनू, हुल्लो, दूबी और चिंकू है। इस संकलन की कविताओं में प्रेम की लालसा, प्रतीक्षा और प्यास और कामना की शांत स्निग्ध-अभिव्यक्ति हुई है, इन सबके बहुत सजीव चित्र दिये हैं कवि ने, प्रेम के कोमल, ताजा बिंब। प्रेम उद्दाम प्रेम नहीं है। यद्यपि अदृश्य भी नहीं है, एक गहरे बहते सोते की तरह जहाँ जल अपनी गहराई के कारण खामोश दिखता है।' (दस्तावेज, अप्रैल ८५ पृ. २७)

डॉ. तिवारी के इस कथन से यह आभास मिल जाता है कि अशोक वाजपेयी ने कभी उद्दाम प्रेम का वर्णन भी किया था। रीतिवादी उपकरणों और मांसलता के बावजूद शहर अब भी संभावना है' की कई प्रेम कविताओं में अनुभूति की गहराई और तीव्र संवेदना उपलब्ध होती है। दो तीन अनुभव खण्ड यहाँ दिये जा रहे है।

(क) कहाँ होती है दुनिया उस समय
जब मैं तुझे अपने सारे अंगों से थाम लेता हूँ
और एक तृप्ति में स्थिर कर देता हूँ तेरा सौंदर्य?

★ ★ ★

कहाँ होती है दुनिया उस समय
जो बाद में मोड़ पर मिलती है—परेशान
पर हमें अपमानित करने को तैयार,
अपनी-अपनी पत्नियों से अतृप्त
अनुभवी बुजुर्गों की बदहवास और हितैषी दुनिया
कहाँ होती है उस समय?
जब हम सुन्दर होते/एक उत्तेजक दोपहर में
अपने शरीर के विह्वल गुंफन में। पृ. २७

(ख) उस क्षण तक जीने देना मुझको/जब मैं और वह प्रियंवदा
एक डूबते पोत के डेक पर मिलें/दो पल तक न पहचान सके
एक-दूसरे को, फिर मैं पूछूँ :
'कहिये आपका जीवन कैसे बीता?'
'मेरा........... आपका कैसा रहा?'
'मेरा...........'
और पोत डूब जाये (अंत तक) पृ. ३२
तू अपना यौवन अपनी हँसी/मेरे पास छोड़ गयी
और तुझे ले गई/कोयले और पानी से चलती एक रेलगाड़ी

(स्टेशन पर विदा), पृ. २२

प्रेम के उपर्युक्त वर्णन में क्षिप्तता, मांसलता, संकेतात्मकता आदि गुण बहुत सहज भाव से गुंफित हैं। वस्तुतः यही वह स्थायी भाव है जो 'एक पतंग अनंत में' की कविताओं का अंगीरस बन जाता है। दूसरे शब्दों में शहर अब भी संभावना है' में जिस समारंभ का उत्सव है वही एक पंतग अनंत में उदात्त और महोत्सव बन गया है। वस्तुतः दोनों के प्रकाशन के बीच जो सत्तरह वर्षों का कालखण्ड है, उसने अनुभूतियों की सप्राणता को थोड़ा और परिपक्व, थोड़ा और उदास कर दिया है। सूंक्तिपरकता यहाँ बढ़ गयी है और आत्म प्रसार की इच्छा के विरल क्षणों को पर्याप्त शब्दकार मिलने लगे हैं :—

यथा
लोग जब सक्रिय और व्यस्त हों
तब प्रेम/मौसम के खिलाफ अविचलित लोहा है पृ. ७०
प्रतीक्षा एक शब्द नहीं है। वह अंधेरा है
जिसमें खड़े तुम/उसके रोशन होने की बाट जोह रहे हो।
प्रतीक्षा से जुड़ती है कामना/अंधेरे से अंधेरा,
जैसे एक तारे से दूसरा चमकता हुआ तारा..............
प्रतीक्षा एक शब्द नहीं है प्रेम का प्रफुलन वैभव है। (प्रतीक्षा, पृ. ४०)

यहाँ यह महसूस किया जा सकता है कि अशोक वाजपेयी प्रयोग के मामले में कई बार निराला,

त्रिलोचन आदि कालमरण दिलाते हैं, किंतु उनकी रचना-प्रक्रिया प्रसाद और अज्ञेय के जैसी है। उनमें जटिलता विषय को लेकर है, अनुभूति क्षेत्र के विस्तार के कारण नहीं। वैसे, प्रेम और सौंदर्य का क्षेत्र ही तो अखिल विश्व है, इससे अलग यदि लीला भाव से विचारें तो कुछ भी कहाँ है?

अशोक वाजपेयी के दूसरे संकलन की कविताओं में कहीं-कहीं प्रेम और सौंदर्य आत्मीय जनों की क्षति से विवाद के सरोवर में डूब गये हैं। उनमें एक त्रासद ठहराव है, मानवीय करूणा को बेचैन कर देने वाला ठण्डा हाहाकर है। कहना चाहिए, सुबह का कोई निस्तरंग, शांत और चुपचाप सरोवर, 'वैसे ही एक पतंग अनन्त में' की कविताएँ यहाँ :

बच्चे गा रहे हैं/चट्टानों के पार से/नील के परे/आराम करते
पुरखों को पुकारते जगाते हुए/बच्चे फेंक रहे हैं एक गेंद
मृत्यु के पार/इस उम्मीद में कि पिता वापस भेजेंगे/बच्चे
उड़ा रहे हैं एक पतंग अनन्त में/जानते हुए कि माँ
उसमें खिलौने लटकाकर लौटाएगी/बच्चे खेल रहे हैं
अपने निरंतर होने/अमर होने का एक अंतहीन खेल। (पृ. २५)

अशोक वाजपेयी की कविताओं में बच्चे, माँ, फूल, चिड़िया, पेड़ और प्रेमिका की उपस्थिति एक तरह से दुनिया के सृजनात्मक पक्ष से कविता की आंतरिक संलग्नता का परिचायक है। मृत्यु का दुःख उसे बहुत बार आहत असंतुलित करता है, किंतु स्थायी भाव का संबंध कवि की अत्यंत प्रासंगिक जीवन शक्ति से है।

एक पंतग अनंत, की कविताएँ चार खण्डों में विभाजित हैं। पहले खंड (अमर मेरी काया) की सबसे अंतिम कविता ऊपर उद्धृत है। इसी खंड में 'पिता के जूते' और 'दिवंगत बहन' जैसी मृत्यु का आंतक झेलती भीतर से आदमी को सहारा देनो वाली कविताएँ संकलित हैं। ये कविताएँ विषादाकुल परिवेश रचती हैं। यदि हम 'शहर अब भी संभावना है' के समर्पण (जो कवि की दिदिया और काका के लिए) की याद करें तो यह स्पष्ट हो जाता है कि 'एक पतंग अनंत में' कवि के निजी प्रसंग और परिवार छूटे नहीं है। कवि ने इस किताब में अपने आत्मीयों का जिस ढंग से स्मरण किया है, उससे उसकी आत्मा की सगुण साकारता अनुभवगम्य हो गई है। भाव-संकोच अशोक वाजपेयी में कभी नहीं रहा। एक निश्छल और उदार खुलापन, एक अनौपचारिक आत्मानुशासन और आयात सिद्ध अनायासता का एहसास बनती ये कविताएँ अंदर और बाहर के नकली भेद को अस्वीकार करते हुए जीवन के गायक और प्रेमासक्त कवि की पहचान कायम करती हैं। इस संकलन के दूसरे खंड (शरीर का अनंत स्वप्न) में आत्मा के तार विशेष झंकृत हैं और तोड़ने की कला में प्रवीण परिवेश को अनदेखा करते हुए भी कवि यहाँ जोड़ने का अन्तःसंघर्ष व्यंजित करता है। वैसे भी चीख-पुकार या हाहाकार का पर्याय कविता कम से कम अशोक वाजपेयी के लिए कभी नहीं हो सकती है। प्रारंभ पाश में जकड़ी मनीष ही इस तरह आह्वान कर सकती है :

आओ, जैसे अंधेरा आता है अंधेरे के पास : जैसे जल मिलता
है जल से/जैसे रोशनी घुलती है रोशनी में/आओ, मुझे
पहनो जैसे वृक्ष पहनता है छाल को/जैसे पगडण्डी चहकती
है हरी घास को/मुझे लो/जैसे अंधेरा लेता है जहाँ को/
जैसे पानी लेता है चंद्रमा को/जैसे अनंत लेता है समय को

(एक पतंग अनंत में, पृ. ३७)

प्रायः प्रत्येक युग में कवित्व की महत्ता कवि द्वारा प्रयुक्त शब्दार्थ की रमणीयता पर ही निर्भर है।

शब्दों की कला व्याकरण और शास्त्र से संस्कृत होकर भी तब तक प्रभावान्वित से लबालब नहीं हो पाती जब तक उसका सर्जक प्रेम करने की अपार क्षमता से परिपूर्ण न हो। यदि नागरिक हो या समाज सुधारक अथवा संत-भक्त-गँवार, उसके शब्द की महिमा में यह बात शिद्दत से महसूस करने लायक होती है कि वह खुद किस हद तक प्रेम करने की क्षमता रखता है और दूसरों को इस कार्य के लिए प्रेरित-प्रोत्साहित कर सकता है। मौजूदा तंत्र जिस सीमा तक अमानवीय हो चला है, सत्ता की राजनीति और उपभोक्ता संस्कृति का जैसा भयावह गँठजोड़ अभी दिखाई दे रहा है, बाजारु सभ्यता के जो आयातित आवरण या उपकरण हैं, उनसे बचाने में निश्छल मनुष्य की राग सत्य पर आधारित बच्चों जैसी मासूम और हंसमुख कविताएँ ही कुछ कर पायें तो कर पायें अन्यथा शब्द के चुक गये होने की बात कभी दबे स्वर में तो कभी मुक्त कंठ से भावक करते ही आये हैं।

बहरहाल अशोक वाजपेयी हमारे समय में, सभ्यताक्रांत मानवीय जटिलता के, हिंदी के जीवित कवियों में शमशेर बहादुर सिंह के बाद दूसरे बड़े कवि है। यह विशेषता केदारनाथ सिंह और सर्वेश्वर दयाल सक्सेना में भी प्रचुर है किंतु उनके संदर्भ में मानवीय जटिलता द्वंद्वात्मक भौतिकवाद के कठघरे में दिखाई देती है, जबकि अशोक वाजपेयी शुरू से ही धर्मनिरपेक्ष हिंदुत्व और लोकतांत्रिक विचार संपन्नता से समकालीन कविता को अंतर्मुखीन करने में लगे रहे हैं। प्रकृति और मनुष्य के परस्पर संघर्ष, प्रेम, तनाव, और क्षतिपूरक रूप को जिस तन्मयता से केदारनाथ सिंह और नरेश मेहता रेखांकित करते हैं उससे कहीं बढ़कर अनन्वयता दिखती है। 'एक पतंग अनंत में की कविताओं में। इसमें एक जगह कवि जिज्ञासा करता है :—

सुमुखि, क्या इतना ही बचा है/समय का/एक पुराना खिलौना
दोपहर की खिड़की और कानों का उत्सुक अंधकार/क्या
इतना ही बचा है/हथेलियों में सीमाबद्ध आकाश की
मंजूषा और आँखों से फूटता/दुर्दम प्रपात/क्या इतना ही बचा
है सुमुखि ।' (एक पतंग अनंत में, पृ. ३८)

समकालीन रचना—संदर्भ में यह शिल्प अपनी पुष्कल भावुकता और विवेक के बावजूद अलग से विश्लेषण की अपेक्षा रखता है। इसके पीछे परंपरागत सोच से कवि की समझ की संबद्धता है। मसलन दिनकर और प्रसाद तक में यह दुर्लभ भावुकता, विनाश के कगार पर खड़ी मनुष्यता को न बचा पाने की विवशता से उत्पन्न कातर-कंम्पित कर देने वाली अनु गूँजे सुनी जा सकती हैं किंतु उसे सामान्य लौकिक अर्थ में निजी स्तर पर जानने के लिए जोखिम के तौर पर सुलभ कराते हैं केवल अशोक वाजपेयी ही। एक छोटी प्रगीत-कविता देखिए, बात ज्यादा स्पष्ट होगी :—

'वह लौट आयी है/हवा ने देखा और एक हरी पत्ती के
कान में गुनगुना दिया/पत्ती से खबर लगी वृक्ष को
और अंधेरे में फूल टटोलती जड़ों को/सारी पृथ्वी
प्रफुल्ल हुई और उसे ओस बूँद की तरह ढाँप लिया
आकाश ने/आत्मा की अनंत चट्टान पर/एक अदृश्य
पक्षी की तरह/अविचल बैठी है वह लौटकर/और हवा
अब उससे बेखबर है।'

(पृ. ३९)

यह कविता इतनी स्पष्ट है कि इसके बारे में कुछ भी कहना बहुत कठिन हो गया है। वैसे, मोटे तौर पर यह प्रतीति होती है कि 'शहर अब भी संभावना है' की कविताओं का राग सत्य लौकिक स्तर पर

भी प्रेम के सरोवर में सिर से पाँव तक धँसे शब्दकार की विकल भावुकता, परिरम्भ पाश में जकड़ी मनीषा की प्रस्तुति थीं, जबकि 'एक पतंग अनंत में' अधिकतर उन विरल क्षणों का लेखा-भर है। दूर-दूर तक प्रसरित रेत, सूखा प्यासा तट और कभी खत्म न होने वाली प्रतीक्षा ही यहाँ दृष्टिगोचर होती है। यहाँ स्मृति निर्भर कल्पना प्रायः स्मृत्याभास नहीं हो पायी है, वैसे जहाँ बनी है, वे दुर्लभ अंश है :—

> अंधेरी रात में खड़ा वृक्ष जिसकी डालियों और पत्तियों पर
> असंख्य जुगनू झिलमिला और जगमगा रहे है/क्या ऐसे
> थे हम? किसी पर्वत की चोटी पर एक चट्टान जैसे
> उलझी-सी हो/एक गम्दिन वृक्ष की अंधेरी जड़ों से?
> क्या उस शाम किसी देवता ने ऊपर आकाश में हमें देखा
> और असीसा था? क्या एक उभरी बाँह पर तितली
> एक हरी पत्ती और एक लाल फूल चिपक गये थे? (पृ. ४१)

यहाँ कवि प्रेमिका की अनुपस्थिति में उसकी दुर्लभ स्मृति आँक रहा है, शरीर की सगुण साकारता में। देह की गरमाहट को इस निसर्ग उपस्थिति से अलग नहीं किया जा सकता। कवि का बेहद आत्मीय संकोच, बाल सुलभ औत्सुक्य और कोलाहल भरे उजाले के बीच कहीं आत्मीय अंधेरे की खोज यहाँ बहुत कुछ जीवित और सप्राण है।

मानवीय प्रेम और सौदंर्य के अतिरिक्त अशोक वाजपेयी की कविताओं में प्रकृति का चेतन रूप देखने योग्य है। एक नागरिक कवि में प्रकृति-प्रेम, फूल पत्तियों, वृक्ष चंद्रमा, हवा, धूप, ऋतु और उजाले के प्रति निवेदन का भाव किसी अपराधी मानसिकता के प्रतिष्छाया न होकर लगातार खुद को समृद्ध और ताजा बनाये रखने के लिए किया गया सार्थक उपक्रम ही है :—

> वृक्ष जब कुछ कह रहा है/अपनी हरी पियरी भाषा में
> उनके पल्लव शब्द काँपते हैं/मिट्टी के गहन अंधेरे में
> उनकी जड़े टटोलती हैं अपना लुप्त व्याकरण :
> वृक्ष किसी को सम्बोधित नहीं है
> वह सिर्फ अंतरिक्ष को विन्यस्त करता है (पृ. ७१)

अशोक वाजपेयी के तीसरे संकलन 'अगर इतने से' को कविताओं की प्रकृति के हिसाब से अलग नहीं छपना चाहिए था। वैसे, यदि तथ्य को महत्त्व दें तो उनके संकलनों का स्वरूप खासा दिलचस्प रस है, बहुत कुछ निराला के से संकलनों की तरह। प्रायः प्रत्येक संकलन में अशोक वाजपेयी ने अपने कैशोर्य की मधुगंधी कविताएँ प्रकाशित की हैं। ऐसा लगता है कि कवि इनके माध्यम से उसका, अपनी रचना-यात्रा के सुदृढ़ समारंभ का पता देना चाहता है। 'एक पतंग अनंत में' की 'अब वक्त आ गया है' कविता ऐसी ही है :—

> अब वक्त आ गया है
> कि मैं भी कोई पैगम्बराना हरकत करूं
> वक्त आ गया है कि मैं भी ढेर में से
> हाथ बढ़ाकर उठाऊँ एक मुट्ठी राख
> जली हुई हरिजन हड्डियाँ
> कोकाकोला की टूटी हुई अधबोतलें
> और अपने साल भर के बेटे के पास ले जाकर
> चालू मुहावरे में कहूँ यह है मेरा देश

संविधान में सना हुआ, (एक पतंग अनंत में पृ. ९४)

प्रेम और सौन्दय की अभिभूत कर देने वाली कविताओं के परिपूर्ण संकलनों में अपनी प्रभा से चकित चल कर देने वाली ऐसी दो-चार कविताओं का महत्त्व इस रूप में समझना चाहिए कि इनके माध्यम से कवि अपनी बहिर्मुखता के प्रति भी आश्वस्त करता है। इनमें यह रहस्य भी गुंफित है कि अशोक वाजपेयी बहुत सोच-विचार कर अपनी राह तय करते हैं। वे चाहते तो आलोक धन्य, वेणु गोपाल और कुमार विकल-जैसी मसी हाई तेवर वाली कविताएँ भी लिख सकते थे उन्होंने कई ऐसी लिखी भी है। ऐसे में, प्रेम, सौन्दर्य और मानवीय समृद्धि के सरोकार वाली अशोक वाजपेयी की कविताओं को निःसंदेह कवि की अंतरात्मा वाग्विमय ही समझना चाहिए। रागात्मक ऐश्वर्य को उन्होंने अभिव्यक्ति के खतरे उठाकर ही, हाशिये पर रह जाने की पीड़ा भरी संभावना का अनुमान करके भी जो लिखा है उसके पीछे उनके तक है, यह हम पहले ही संकेत कर चुके हैं। उन्होंने सामाजिक विद्रूप, आर्थिक वैषम्य पर अधिक नहीं लिखा तो वह कोई अपराध नहीं है, बल्कि जो लिखा है वह बहुत सूक्ष्म स्तर पर समाजवादी यथार्थवाद के घेरे में ही आता है। दुनिया को जीने योग्य, जीवन को सौभाग्य ओर परेण्य मानना, यह मार्क्सवादियों के लिए भी शुभ ही है, चिंत्य नहीं। रमणीयार्थ प्रतिवादक होने से शमशेर की तरह अशोक वाजपेयी भी काव्यानुभूति की बनावट भी बहुत जटिल है। वैसे एक बात बिल्कुल स्पष्ट है कि वे 'छोटे से सच को भी खराब नहीं जाने देना चाहते। 'एक पतंग अनंत में' की यह कविता इस संदर्भ में ध्यात्वय है :

'किसी भी दुर्घटना में अपरिचित/मेरी भाषा के चेहरे पर
उतर आता है भोलापन—मैं देखता हूँ खिड़की के पार
खिलौनों की सी आभा से चमकता आकाश/एक वीरान
शहर/उदास मकान/हल्के भूरे नीले में लिपटे हुए
और नीचे हरी घाटी में/छुपी पलाश की चिनगारियाँ
अंत के बहुत पास/पहले वसंत का उत्तरराग।' पृ. ७८

इस संकलन में कुछ ऐसी भी कविताएँ हैं, जिनका स्वर अफसर तंत्र के विरोध में मुखर है। संविधान के नाम पर आदमी को मारने के हजार तरीके ईजाद किये गये हैं और कागजों के खेल में पूरा का पूरा आदमी बिला जाता है, इसका तलव एहसास कवि को है। 'ऑफीसर्स क्लब' में नया साल आरंभ होने के ठीक पहले की शाम की हकीकत लिखते हुए अशोक वाजपेयी ऐसा लगता है कि जैसे रागारूण उषा के गर्भ से निकलकर अचानक ही उस विदप को उजागर कर गये है जिससे आक्रांत होकर धूमिल ने आजादी के बीस साल बाद अपने शरीर की सुनसान गलियों से गुजरते हुए एक सवाल पूछा था :—

'क्या आजादी तीन थके हुए रंगों का नाम है, जिसे एक पहिया
ढोता है या कि इसका कोई खास मतलब होता है?'

शब्द के प्रति, अधर और भाषा के प्रति अशोक वाजपेयी की आस्था निरंतर बढ़ती गई है। उनकी प्रतीति है कि शब्द का परिष्कार, अपने समय में मनुष्य के नैतिक विवेक को बचाये रहने की कोशिश, अन्याय, शोषण और सरलीकरण का प्रतिकार...... ये सब साहित्य के वैध काम हैं, जिन्हें वह चुपचाप प्रबल से प्रबल दबावों और व्यवसाय की कड़ी से कड़ी पाबदियों के बावजूद करता रह सकता है : सिर्फ साहित्य के लिए ही नहीं, मनुष्य मात्र के लिए भाषा सबसे निजी और विश्वसनीय माध्यम है, यही उसकी बुनियादी मानवीयता को परिभाषित और सुरक्षित रखती है।' (कुछ पूर्वग्रह, पृ. ८३) इस संदर्भ के कतिपय काव्योद्धरण द्रष्टव्य हैं—

(क) थिगड़े लगे आकाश को पहने
नक्षत्रों के सूने गलियारे में
पृथ्वी को भजते हुए वह एक बूढ़ा कवि है
अभी इस आशा में
कि नश्वरता से बचा सकते हैं शब्द। (ईश्वर)
(अरारा इतने से, पृ. १४)

(ख) कुछ भी तय नहीं है
★ ★ ★
तय सिर्फ इतना है कि
शब्द है उनकी जगह है और धड़कता हुआ जीवन है,
हम हैं और पल-पल बदलते
और करते हुए भी अक्षर हैं। (अक्षर)
(अगर इतने से, पृ. ४०)

(ग) फूल झरता है/फूल शब्द नहीं/बच्चा गेंद उछालता है
सदियों के पार/लोकती है उसे एक बच्ची/बूढ़ा
गाता है एक पदय/दुहराता है दूसरा बूढ़ा/भूगोल
और इतिहास से परे किसी दालान में बैठा हुआ
न बच्चा रहेगा, न बूढ़ा, न गेंद, न फूल, न दालान
रहेंगे फिर भी शब्द/ (भाषा एक मात्र अनंत है)

(अगर इतने से, पृ. ४२)

कवि का पुराना राग सत्य अपनी जगह जस का तस है। श्रुतियों की तुलना में स्मृतियों का वैभव वैसे ही प्रियता है, किंतु शब्द मानों कवि के लिए चुपचाप अनंत की खिडकी खोलने लगे हैं शब्द की अपरिमित अर्थवत्ता के मामले में अशोक वाजपेयी ठीक ही किसी बूढ़े कवि से कम नहीं लगते। अंधेरे की जड़ों की तरह शब्द कैसे सुबह-सुबह दरवाजे पर दस्तक का संदेह उत्पन्न करते हैं, यह महसूस करने के लिए 'अगर इतने से' की कविताएँ पढ़नी चाहिए। कवि यहाँ प्रस्तावित करता है —

हरियाली पर पहली ओस
ऊंचे उड़ता और नीलिमा में एकाकार होता अंतिम पक्षी
पुनर पि ज्वलंत सर्ग की नीलिमा पृ. ४७)

कवि ने खुद ही स्वीकार किया है भूमिका में कि 'काव्यभाषा की कुछ पुरानी और लगभग भुला दी गई अंतर्ध्वनियाँ यहाँ फिर सक्रिय हुई हैं। तद्भव के समकालीन आतंक के बरक्स तत्सम की विनम्र उपस्थिति।' (अगर इतने से, पृ. ७)

छोटे बड़े सभी कवियों के लिए काव्य भाषा बिंबात्मक हो या विवरणात्मक, तत्समनिष्ठ हो या तद्भवम्रित, मामला आत्मसंघर्ष का ही होता है। पाठक को चाहिए ऐद्रिंयता, कवि जो कुछ कह रहा है, वह मानवीय हो, इस लोक का हो और समझ में आने योग्य हो, इसका प्रयत्न भी तो कवि को ही करना होता है। अशोक वाजपेयी निजत्व को बनाये रखकर भी, भीड़ में अलग रहकर भी सम्प्रेषण के मुद्दे पर कोई पूर्वग्रह नहीं दिखाया है। 'अगर इतने से' के चार खण्डों (तोतो से बची पृथ्वी, खिलौने की तरह उठायेगी मृत्यु, प्रेम के लिए जगह और फिर आ गई पत्ती) में संकलित की मूल्यगत एकता और एकरूपता को देखते हुए जो प्रतीति होती है, उसका संकेत भी खुद कवि ने ही कर दिया है :—

'कविताओं में कुछ बिम्बों और जीवन छवियों का प्रयोग बार-बार हुआ है। यह अर्थ और आशय की कई तहों और उनके रिश्तों को खोजने-बखानने की जान-बुझकर की जा रही कोशिश के कारण है, किसी असावधानी या असमर्थतावश नहीं। (पृ. ७)

पृथ्वी को लेकर, आकाश और अनंत, वसंत और चंद्रलिखित वर्ष, हरियाली-सी दीप्ति आँकते हुए सब जगह प्रेम का ही रूपक आयोक्ति से भिन्न स्तर पर संवेदना अन्य ताजगी के साथ इन कविताओं में वर्णित है। 'शब्द से भी जागती है देह जैसे एक पत्ती के आघात से भी होता है सवेरा। इन कविताओं में कुल मिलाकर संघनित होती जिजीविषा, जीवन के प्रति आस्था देह के स्तर पर ही प्रेम की परिणति बल्कि देह को प्रकट करती है। :—

'जैसे वृक्ष के पास प्रत्तियाँ, छाल, तना, जड़ें हैं
वैसे ही उसके पास है उसकी अपनी धूप, अपनी आभा-
सूर्य उसे प्रकट भर कर देता है।' (पृ. ५५)

रीतिवादी उपकरणों को आधुनिक प्राण संवेदना कैसा सम्मोहक व्यक्तित्व दे देती है, आध्यात्मिक सरलता को आत्मसात करके इस शताब्दी की प्रखर बौद्धिकता कैसे पूरी तन्मयता से लौकिक स्तर पर मूर्त कर देती है यह समझने के लिए अशोक वाजपेयी की कविताएँ अच्छा माध्यम है। इस संकलन की 'दिगम्बर', 'आकाश की शैया पर', 'भर गई है सुगंध', 'तोतो से बची पृथ्वी', अधपके अमरुद की तरह पृथ्वी' जैसी कविताओं के स्थापत्य में बिंब और विचार का आश्चर्यजनक संगुफन मिलता है, बिल्कुल वैदिक ऋचाओं की सी पवित्रता और स्निग्धता :

मैं बिछाता हूँ धरती का हरा बिछौना
मैं खींचता हूँ आकाश की नीली चादर
मैं सूर्य और चंद्रमा के दो तकिये सँभालता हूँ
मैं घास के कपड़े हटाता हूँ
मैं तुमसे कलि करता हूँ (केलि) पृ. ६७)

★ ★ ★

मैं प्रतीक्षा करता हूँ प्रेम में
प्रेम तुम्हारी प्रतीक्षा करता है मुझमें
सुखद सूर्य/ओस और आँसू से भींगी हरी दूब
भोर से ही सक्रिय पक्षी/तुम्हारी प्रतीक्षा करते है
पृथ्वी/आकाश में
प्रतीक्षा के ही नाम हैं/प्रेम में
प्रतीक्षा करती है प्रेम/प्रेम करता है प्रतीक्षा
मैं प्रेम करता हूँ और प्रतीक्षा (पृ. ७२)

कवि के तीनों संकलनों की कुल एक सौ इकासी कविताओं को पढ़कर यह निष्कर्ष निकालना कठिन नहीं है कि इनमें शब्दों की कला चरमोत्कर्ष पर है। बहुत कम बोलने वाली ये कविताएँ इसके रचनाकार के कुशल प्रशासक होने का आभास देती हैं। ये बोलती कम हैं, घटित ज्यादा होती हैं। अपनी प्रभावान्विति से दीप्त ये कविताएँ रचनाकार के अभिजात कुल-शील, नफासत और अभिव्यंजना की सफाई के उत्तमनमूने हैं। बिल्कुल बिहारी लाल के स्थापत्य सा :

'भरे भवन में करत हों नैनन ही सों बात।'

इन्हें पढ़कर यह कहना अनुचित नहीं जँचता कि कविता की वास्तविक दुनिया हँसते फूलों और

खिलखिलाते झरने की दुनिया है। यहाँ चिड़ियाँ ब्राह्ममुहूर्त का मन्त्रोच्चार करती है, नदियाँ वेग से चलकर समुद्र के अंक में विलीन हो जाती हैं। भूधर ध्यानमग्न और आकाश पृथ्वी से कलि कर रहे होते हैं किंतु इन दोनों के महामिलन का साक्षी कोई अशोक वाजपेयी जैसा शब्दर्षि ही होता है। 'जीवन के अनेकहे सत्य का साक्षी यह शब्द-कर्म बहुत बार हमारी यांत्रिक जड़ सूत्रता को स्वास्थ्यलाभ कराने में सक्षम होता है निस्संदेह ऐसे कवित्व से ही प्रेम, सद्भाव और मनुष्य मात्र में उदार क्षितिज के प्रति आकर्षण पैदा होता है। अशोक वाजपेयी ने शब्द ब्रह्म की इयत्ता पहचान ली है। यद्यपि इस विचार को मैं प्रचारित नहीं करना चाहता, पर यह सच है कि कई बार शब्द ही रचते हैं कवि को :

'लोग है लागि कवित्त बनावत मोहि तो मेरे कवित्त बनावते'

तथापि अशोक वाजपेयी के यहाँ असंदिग्ध है कि शब्द उनके यहाँ प्रपात के सदृश झर रहे हैं, वे पुष्पित होते हैं, पुष्प की तरह अपनी आभा अपनी गंध से। उनके काव्य में शब्द जड़ और चेतन से भिन्न एक तीसरी सत्ता है :

'अपने नीलाकाश में अकेली वह
शब्दों में नहाती/पहनती है इच्छा को
वस्ता-सा/सोचती है/यौवल जल है अंजलिका
वह ज्यों मांगे/त्यों देना है।'
(नीलाकाश में अकेली)
अशोक वाजपेयी की कविताएँ भी ऐसी ही हैं। □

सूरीनाम में हिंदी साहित्य पनप रहा है डॉ. अधीन

प्रस्तुति : अमरेंद्र मिश्र

डॉ. ज्ञान अधीन सूरीनाम में वहाँ की सरकार, राजनीति और भाषा तथा साहित्य के क्षेत्र में एक सुपरिचित विद्वान है। इस बार (५ अक्टूबर १९८६) जब वे अपनी भारत यात्रा पर आए और उनसे मिलने मैं उनके होटल पहुँचा तो बातचीत के क्रम में यह जानकार प्रसन्नता हुई कि वस्तुत डॉ. अधीन बहुमुखी प्रतिभा के धनी हैं। २४ जनवरी १९२७ को ओरनामित्रो (सूरीनाम) में जन्मे डॉ. अधीन के पिता श्री राम अधीन भारतीय थे और इलाहाबाद के रहने वाले थे। श्री अधीन की शिक्षा का क्षेत्र दर्शन शास्त्र, उपनिषद् एवं बौद्ध-साहित्य का रहा है और बनारस हिंदु विश्वविद्यालय से १९५३ ई. में उन्होंने इन क्षेत्रों में विशिष्ट योग्यताएँ हासिल की। १९६१ में हालैंड से उन्होंने पी.एच.डी. प्राप्त की। रचनात्मक साहित्य और कोश-निर्माण के साथ-साथ श्री अधीन संपादक, राजनीतिज्ञ, चिंतक, कानूनविद् और साहित्य तथा संगीत में भी पर्याप्त रूचि रखते हैं। राजनीति के क्षेत्र में शिक्षामंत्री के सलाहकार, न्याय और पुलिस मंत्री, शिक्षामंत्री आदि पदों पर कार्य कर चुके हैं। सूरीनाम हिंदी परिषद् से जुड़े श्री अधीन 'सरनामी भाषा' के प्रवर्त्तक के रूप में जाने जाते हैं।

☐ डॉ. अधीन मैं सबसे पहले आपका ध्यान इस बार की भारत यात्रा की ओर दिलाना चाहता हूँ। मेरे जानते आप तीसरी बार भारत आए हैं। यहाँ आकर आपने अब तक क्या-क्या देखा?

— सन् १९७९ में पहली बार भारत की यात्रा की थी। उसके बाद १९८१ में भारत आया। मेरे साथ मेरी पत्नी भी थी, और उस वर्ष मैंने उत्तर भारत की संपूर्ण यात्राएँ की थी। अब १९८६ में भारत आकर मैंने पूरे द. भारत की यात्रा की। भुवनेश्वर, कोणार्क, मदुरै, काँचीपुरम, महाबलीपुरम, हैदराबाद, कन्याकुमारी, एलोरा, अजंता और कई जगहों पर रुकते हुए दिल्ली आया हूँ। मैं कह सकता हूँ कि यह मेरी तीसरी भारत यात्रा है और इन वर्षों में दिल्ली में विशेष परिवर्तन हुआ है। यहाँ का नया एयरपोर्ट बहुत अच्छा लगा।

☐ आप सूरीनाम सरकार में वहाँ के मंत्री-पद को सुशोभित कर चुके हैं। विद्वान, चिंतक, लेखक, राजनीतिज्ञ, कानूनविद्, संपादक होने के साथ-साथ आपकी रूचि संगीत में भी है। लेकिन इन सब में से विशेष रूचि आपकी किस ओर है? और मूल रूप में आप अपने कौनसे 'रूप' को पसंद करते हैं?

— आपका कहना ठीक है कि मेरी रूचि उन क्षेत्रों में है लेकिन विशेष रूप से दर्शनशास्त्र, उपनिषद्, बौद्धदर्शन और डॉ. राधाकृष्णन् के विचारों से तथा भाषा और साहित्य से मेरा विशेष लगाव है। १९५३ में मेंने हिंदी-डच कोश तैयार किया जो बनारस में छपा था। अब हमारा प्रोजेक्ट **सरनामा-डच कोश** के निर्माण का है। विचार है कि यह रोमन और नागरी में भी तैयार करें, साथ-साथ उर्दू में भी।

☐ वहाँ सूरीनाम में आपकी गतिविधियाँ कला-संस्कृति के क्षेत्र में अधिक क्रियाशील हैं। गोष्ठी आदि में आप बराबर भाग लेते हैं तो कैसा लगता है?

— सूरीनाम में हिंदी साहित्य पनप रहा है। गोष्ठियाँ आयोजित होती हैं, मैं भाग लेता हूँ। यह साहित्य पहले मौखिक था अब लिखित रूप में है। साहित्य जब तक लिखित न हो तब तक उसका विकास नहीं होगा। मुझे सूरीनाम में कुछ महत्वपूर्ण लेखकों की रचनाएँ याद आती हैं। सन १९४९ में सबलसिंह की नागरी लिपि में भजनशैली में कविताएँ छपी थी। वे कविताएँ सचमुच अच्छी थीं। उनमें तत्कालीन स्थिति का चित्रांकन आपको मिलेगा। १९५३-५४ में मुंशी रहमान खान् के दो प्रकाशन 'दोहा शिक्षावली' और 'ज्ञानप्रकाश' दिल्ली में छपे, सरनामी भाषा में।

☐ भारत से कितनी पत्रिकाएँ सूरीनाम पहुँचती हैं और उन्हें वहाँ के पाठक कितनी रूचि से पढ़ते हैं? आपको विशेष रूप से यहाँ से जाने वाली पत्रिकाओं में कौनसी अधिक प्रिय लगती है?

— सूरीनाम में कई पत्र-पत्रिकाएँ यहाँ से जाती हैं। मसलन-'धर्मयुग', 'साप्ताहिक हिंदुस्तान', 'सरिता', 'गगनांचल' आदि। बच्चों की पत्रिका 'नंदन' भी पहुँचता है। मेरी दृष्टि में **धर्मयुग** एक श्रेष्ठ पत्रिका है। 'आजकल' पत्रिका अब वहाँ देखने को नहीं मिल रही। **गगनांचल** पत्रिका आप भेजते हैं। इसमें सामग्री काफी अच्छी मिलती है और वहाँ सराही जाती है।

☐ सूरीनाम से प्रकाशित पत्र-पत्रिकाओं की सूचना दें। क्या वहाँ कोई ऐसी पत्रिका है जिसे आप संपूर्ण पत्रिका कह सकें? एक प्रश्न और, क्या कारण है कि वहाँ से पत्रिकाएँ तो निकलती हैं किंतु असमय ही बंद हो जाती हैं? क्या अनुभव की कमी है या साधन की? 'भारत समाचार' तो बहुत अच्छा सूचना पत्र है। छपाई-सफाई भी अच्छी होती है उसकी। आपके क्या विचार हैं?

— अधिकांश पत्रिकाएँ वहाँ नागरी में निरक्षरता के कारण नहीं चल पातीं। **'धर्मप्रकाश'** १९७५-८१ तक चला। **'सूरीनाम दर्पण'** भी अभी बंद है किंतु इसे फिर से निकालने जा रहे हैं। **'भारत समाचार'** दूतावास का पत्र है और बहुत अच्छा काम कर रहा है।

☐ सूरीनाम में चल रहे सांस्कृतिक आयोजनों को हमने **गगनांचल** में कई मौकों पर प्रकाशित किया है। आपने भी देखा होगा। इस बीच 'सरनामी हिंदी' की चर्चा हम यहाँ सुनते-पढ़ते हैं तो एक जिज्ञासा उठती है कि 'सरनामी हिंदी' आखिर है क्या?

— आप जानते हैं कि सूरीनाम में भारत से लोग गए और इनमें बिहार तथा उत्तर-प्रदेश के लोग अधिक थे। सरनामी हिंदी में भोजपुरी, पूर्वी अवधी, पश्चिमी बिहारी भोजपुरी ब्रज, बंगाली का पुट है, किंतु वैज्ञानिक अनुशीलन होगा तो पता चलेगा कि वहाँ कितना प्रभाव आया है? (लेकिन इतना तो अवश्य है कि यह वैज्ञानिक नहां है इसलिए कुछ कह नहीं सकते) हाँ इस भाषा का स्वतंत्र विकास सूरीनाम में हुआ। उसके अपने नियम हैं। विभिन्न भाषाओं के मिलने से एक नया रूप बना, व्युत्पत्ति सूरीनाम में हुई। सन् १९६१ में मैंने उसका नाम 'सरनामी' रखा, कि यह भाषा यहाँ उत्पन्न हुई है और स्वतंत्र विकास सूरीनाम और हालैण्ड में साथ-साथ चल रहा है। १९६३-६४ में इसे 'रोमनाइज़' किया गया— डिज़ाइन ऑफ रोमनाइज़ स्पेलिंग ऑफ सरनामी हिंदुस्तानी। हम जातीय अस्मिता से अलग होकर भाषिक अस्मिता पर गये। हालैण्ड में मोतीलाल माड़े, जीतनारायण बलदेव सिंह, डॉ. दामस्तैख्त इत्रैख का सहयोग मिला। हमारे यहाँ एम. ए. स्तर पर भी 'सरनामी' को विषय के रूप में लिया जा सकता है। कहना होगा कि सरनामी मानक हिंदी तो नहीं है। इसे हिंदी वर्ग की 'उपभाषा' के रूप में माना जाना चाहिए यह मेरा प्रस्ताव है। अब देखिए कि यह भाषा कैसी है। एक उदाहरण— 'हम लोग भारत अइली। तीर्थ यात्रा करके

हम लोग जाइला होलांत। आ होलांत से सूरीनाम'। डच को सरनामी में 'होलांस' कहते हैं। डच में भाषा के 'लिमोनाद' से ही सरनामी मे नेयनार बना है। 'ओप्तोख्ल' का 'आपतोप'। कौन 'ओपतोप मचैले हो।' इत्यादि।

☐ सूरीनाम में हिंदी की क्या स्थिति है?

— सूरीनाम में दो लाख से कम और हालैण्ड में करीब एक लाख से कुछ कम भारतवंशी रहते-बसते हैं। हिंदी की सांस्कृतिक गतिविधियाँ निरंतर चलती हैं। सन् १९६२ से राष्ट्रभाषा प्रचार समिति द्वारा परीक्षाएँ होती रही हैं। ये परीक्षाएँ आज भी होती हैं। भारतवंशी न होते हुए भी लोग हिंदी सीखते हैं। १९७७ में 'हिंदी परिषद् सूरीनाम' की स्थापना हुई। सदानंद सिंह ने विस्तृत कार्यक्रम बनाया। राष्ट्रभाषा प्रचार सभा वर्धा से अब भी संबंध है। लेकिन, परिषद् द्वारा प्रमाण-पत्र, उपाधि मिलती हैं। परीक्षाएँ 'प्रवेश' से 'रत्न' की होती हैं, यानी 'प्रवेश', 'परिचय', 'कोविद', 'रत्न'। १९८४ से यह मान्यता प्राप्त है। परिषद् स्वायत्त है। राजभाषा डच है। परिषद् के सभापति श्री जानकी प्रसाद सिंह, सचिव श्री सूर्यप्रसाद बीरे और सहतू सब अथक परिश्रम कर रहे हैं। सन् १९८३ में 'भासा' नाम से एक पत्रिका शुरू हुई है।

मानक हिंदी का प्रयोग धार्मिक अनुष्ठान के अवसर पर होता है। तुलसी की चौपाइयाँ हमारे यहाँ श्रद्धापूर्वक पढ़ी जाती हैं। औपचारिक गोष्ठियों में मानक हिंदी का प्रयोग चलता है। किंतु दैनिक कार्य-कलाप में 'सरनामी' ही प्रयुक्त होती है। मानक हिंदी को लोग समझ तो लेते हैं किंतु बोल नहीं पाते। हिंदी परिषद् द्वारा 'सरनामी' हिंदी पर बल दिया जाता है। परिषद् द्वारा अनुवाद का काम भी होता है। 'सरनामी' की शिक्षा भी दी जाती है। सरनामी में वैज्ञानिक और साहित्यिक उत्पत्ति, रूपविज्ञान, प्रशिक्षण कार्य चलता है। वैज्ञानिक स्टडी स्वयं मेरे द्वारा होती है। हालैण्ड में श्री माड़े साहित्यिक अध्ययन-अध्यापन का कार्य करते हैं। कृष्ण बैजनाथ 'सरनामी' साहित्य का इतिहास लिख रहे हैं। नाटककार रामदेव, रघुवीर रामनारायण, अमरसिंह हालैण्ड में गुरूदत्त कल्ला सिंह (नाटककार) हैं। कवि सूरजसुनाम, आशा राजकुमार (चाँदनी) इंदिरा दर्शन हालैण्ड में, जीतनारायण बलदेव सिंह, चित्रा, उपन्यासकार हैं। बलदेव सिंह, जीतनारायण विशिष्ट कवि हैं। सरनामी में एक लघु उपन्यास 'इस्तीफा' लिखा गया है।

ये सभी साहित्यकार— कलाकार न सिर्फ सूरीनाम बल्कि संपूर्ण मानव जगत के लिए अपने-अपने क्षेत्र में कार्यरत हैं और उन सब से हम सब बड़ी आशाएँ रख सकते हैं। ☐

सूरीनाम से भारत यात्रा पर आए डॉ. ज्ञान अधीन से अंतरंग बातचीत

पुस्तकें

अंधे सफर का सूरज

'मुझे आगे बढ़ना है। शत्रु की छाती पर चढ़ना है'—शहीद भगत सिंह के बालमन के इन उद्‌गारों की अभिव्यक्ति केदारनाथ कोमल की लंबी कविता 'रक्तस्नात' मिट्टी' में हुई है। इसे केवल कवि की कल्पना कहकर खारिज़ नहीं किया जा सकता क्योंकि भगत सिंह जिस रूप में एक संल्पवान क्रांतिकारी बने और उन्होंने भारत की आज़ादी के लिए जो रास्ता सुझाया वह वास्तव में एक ऐसा रास्ता था जिससे 'भारत की मुकम्मिल आज़ादी का सपना पूरा होना था। वास्तव में यह एक 'कवि-स्मृति' है। ऐसी कवि स्मृति जो ज्यादातर क्रांतिकारियों के यहाँ जीवित रहती है। हमारे साहित्यिक संस्कार में कवि स्मृति के रूप में 'शास्त्र' और 'शास्त्रीय' प्रमाणों को देखने की परंपरा है। इसलिए ज्यादातर या तो विश्रुत काव्य-कथाओं की वाहवाही की जाती है या परंपरा से चले आ रहे छंद के दुहराव को ही कविता मानने के दुराग्रह का प्रचार किया जाता है। 'मिथक' के सार्थक उपयोग को नये शास्त्रकारों ने बहस का विषय ही नहीं बनाया। कुछेक विज्ञ समीक्षक छोड़ दिए जाएँ तो शेष आज भी १९१० में लिखी कविताओं को ही नयी मान रहे हैं। तमाम विश्वविद्यालयों में समीक्षा की, शास्त्र के पुनः अनुसंधान की ऐसी ही संकीर्ण परंपराएँ व्याप्त हैं। 'मिथक' वस्तुतः कवि-स्मृति है, पर उसे काव्य-कथाओं की स्वीकृति मिली है इसलिए वह अपनी व्यापकता के कारण बेहद परिचित प्रसंग भी है जबकि भगत सिंह के बालमन की स्थिति विश्रुत कथाओं जैसी नहीं है। एक तरह से वे हमारे ही समय की निजंधरी कथाओं के नायक हैं। ऐसे नायक का जो निर्माण कालांतर में होता है उसका मुख्य बिंदु यहीं बालपन में ही कहीं 'बीज' के रूप में विद्यमान है। कवि केदारनाथ कोमल ने उसी का स्पर्श किया है। इस लंबी कविता की पक्षधरता हमारे समय की चिंताओं से जुड़ी हुई है। कहा जा सकता है कि कवि केदारनाथ कोमल केवल भाववादी संवेदना के कवि नहीं है बल्कि वे एक सजग कवि हैं जो अपने आसपास के सत्य को पहचानते और परखते हैं।

कोमल की कविताओं का मुख्य स्वर 'आत्म-परीक्षा' है। उसमें अवसाद, पश्चाताप और आत्ममंथन है। एक खोज है जो 'शब्द' के भीतर अर्थ के रहस्य को 'शब्दों के प्रयोगात्मक दुहराव' से अनावृत करना चाहती है। इस मायने में केदरानाथ कोमल दूसरे कवियों से एकदम अलग हैं। उन्होंने अपने ही ढंग के एक शिल्प का गठन किया है। इस शिल्प में एक लयात्मकता है। 'लय' का जो छंद केदारनाथ कोमल में है कभी-कभी उसकी सीमाओं में कविता एक लयात्मक वक्तव्य का अनुमान भी देने

लगती है। लयात्मक वक्तव्य में जिस किस्म का बड़बोलापन चाहिए, जिस तरह की हड़बड़ाहट अपेक्षित है उसकी भी उपस्थिति कोमल की कविताओं में मिलती है।

सुबह से
शाम साढ़ पाँच तक
घुँटे-घुँढे माहौल में रहना
दुनिया भर की बातें करके भी
मन की मन में रखना
दिन के खोखले आसमान में
सितारों की तरह जलना।

इस अर्थ में आज की कविताओं से अलग होते हुए भी कि उनका वस्तु रूपात्मक स्वरूप अलग है वे समसामयिक चिंताओं को उसी तरह मुखरित करती हैं जिस तरह दूसरी समकालीन कविताएँ करती हैं। गरीबी, शोषण, बेरोजगारी, मूल्यहीनता, संकीर्णता और आर्थिक वैषम्य के कारणों के प्रति कवि पूरी तरह सजग है। वह उन विसंगत स्थितियों पर भी प्रहार करता है जिसने हमारा आज का जीवन विषाक्त किया हुआ है परंतु इतना होने पर भी कोमल को एकदम राजनैतिक कवि कहना कठिन है क्योंकि कोमल की कवितओं की मुख्य दुनिया उन छोटे-छोटे अनुभवों की दुनिया है जो हमारे परिचित हैं तथा उनसे हमें शक्ति, विरक्ति या आसक्ति मिलती है।

मैंने जो चाहा
नहीं हुआ
पत्थर की मूर्ति टूट गयी
सुनते सुनते मेरी दुआ।
मैं हूँ और एक नीला सूनापन है
जिसमें युग-युग का
गुनाह दफन है।
.............'

युग-युग के इस गुनाह का भंडाफोड़ करने के विवरण जुटाना चाहे कोमल की कविताओं का लक्ष्य नहीं है परंतु वे अपने सांकेतिक, सूत्रबद्धता में उस सारे माहौल को चित्रित करने में सक्षम हैं जहाँ से कविता को अनवरतता मिलती है। इसलिए कविता किसी भी अर्थ में जड़, दृष्टांतवाची और गतिहीन नहीं होती। उनकी 'अकेला', 'सबक', 'शब्द' जैसी कुछ कविताएँ हैं जिनमें कोमल का आशावाद आकृति पाता है।

केदारनाथ कोमल मूलतः आशावादी कवि हैं। उनका आशावाद आदर्शों की भूमिका पर रूप नहीं पाता अपितु वह स्व-संकल्प से निर्मित है, ऐसा संकल्प जिसे दुनियावी प्रलोभन कभी अपने स्थान से हटा नहीं सकते। 'अंधे सूरज का सफर' बहुत से दूसरे संग्रहों की श्रेष्ठ कविताओं का संकलन है। और वह एक नयी परपंरा की शुरुआत भी करता है। कि बहुत से पूर्व प्रकाशित संग्रहों की अच्छी कविताएँ काव्य-रसिकों के लिए एक जिल्द में तैयार किया जाए। कला और भाषा की कसौटी पर ही कविता की 'इति श्री' नहीं स्वीकार की जा सकती है। उसके बाहरी परिवेश और धरती के भीतरी दवाब, दोनों की एक संतुलित सृष्टि कविता के वास्तविक अनुमान को पुष्ट करती है। कोमल की कविताओं में 'वास्तव' के इतने अधिक विवरण होते हैं कि उनमें जीवन जैसा वैविध्य सर्वत्र झलकता है। यह संभवतः उस सदाबहार के भाव की उपस्थिति है जिसे हर कवि पकड़ने की कोशिश करता है।

हिमाचल समाचार व अन्य कविताएँ

वरयाम सिंह हिंदी जगत में अब तक एक अनुवादक के रूप में विख्यात थे। बहुत कम लोगों को पता होगा कि वे मूलत: हिमाचली पहाड़ी भाषा के कवि हैं, ओर आधुनिक पहाड़ी कवि के रूप में उन्हें ख्याति और स्वीकृति पहले ही मिल चुकी है। पहाड़ी कविता पर उन्हें कुछ वर्ष हुए हिमाचल सरकार का पुरस्कार भी प्राप्त हुआ है। उनके सद्य प्रकाशित कविता संग्रह को पढ़ते हुए ऐसा नहीं लगता कि हम एकदम किसी नौसिखिये कवि की कविताएँ पढ़ रहे हों बल्कि इन कविताओं में एक खास किस्म की प्रौढ़ता है-जिम्मेदारी से भरपूर प्रौढ़ता।

वरयाम सिंह की कविताओं में, समकालीन हिंदी कविताओं में व्यक्त 'परिवर्तनकामी' स्वरूप मुख्य विषय के रूप में चित्रित हुआ है। यह परिवर्तन की कामना उस चिंता में झलकती है जो लगभग उनकी सभी कविताओं में विद्यमान है। यह चिंता देश, समाज की वर्तमान दशा और आदमी की स्थिति पर व्यंग्य प्रहार के रूप में भी व्यक्त हुई है। इसी चिंता की मुखर प्रवृति के कारण वरयाम सिंह की कविताओं को उन राजनीतिक कविताओं की पांत में रखा जा सकता है जिनकी चर्चा आए दिन होती रहती है। किसी हद तक बहुत सी दूसरी कविताओं की तुलना में वरयाम सिंह की कविताएँ ज्यादा प्रखर, ज्यादा सजग और अधिक स्पष्ट हैं। बहुधा कवि गण अपनी रचनाओं के मुख्य आधारों को छिपाते हैं। वरयाम सिंह ने अपने अलग ही अंदाज में उन आधारों को बिना किसी हिचक के सामने रखा है। पहाड़ी जीवन में स्त्री की दशा कैसी है इसके विवरण हिंदी फिल्में दूसरी तरह से जुटाती है तो रोमांटिक लेखक प्रकृति के बीच एक भड़कीली तस्वीर कायम करते हैं। वस्तु स्थिति फ़िल्मी अंकन और रोमांटिक कवियों से बिल्कुल भिन्न है।

सात आठ किलोमीटर दूर से
अपनी पीठ पर लकड़ियों का भारी बोझ लादे
पाँच से पचपन साल की औरतें.................

पहाड़ी जीवन की आर्थिक दिक्कतों की कल्पनातीत गाथा है। वरयाम सिंह ने उसे यह कहकर उसे वाणी दी है कि, 'नकली फूलों की तरह लगते हैं उनके हाथों में नोट'। 'तून गाँव की औरतें' केवल हिमाचली औरत की स्थिति का बयान नहीं बल्कि संपूर्ण हिमाचल क्षेत्र की औरतों की यही स्थिति है। वे न सिर्फ पहाड़ी जीवन का आर्थिक आधार हैं बल्कि एक तरह से पहाड़ दुरव्स्थापूर्ण जीवनचर्चा को थामे हुए हैं। परंतु इनका अपना निजी जीवन एक बंधुआ मजदूर जैसा है। 'चौबारे पर पाँच बूढ़े' कविता ग्राम समाज के एक दूसरे वर्ग की स्थिति का बयान करती है।

भूख, कुपोषण, तपेदिक, वदन के हर हिस्से में
कुकरमुत्तों की तरह उभर आते फोड़ों और जोड़ों का दर्द झेलते
चालीस-बयालीस साल की उम्र के पाँच बूढ़े
चौबारे पर बैठे शताब्दियों से..........

पर्वतीय जीवन के आडम्बर, धार्मिक विश्वास और गरीबी के अंधकूप के अनेक अविस्मरणीय बिंब वरयाम सिंह ने उकेरे हैं। कवित्व की दृष्टि से इन बिंबों का मूल्यांकन किया जाना चाहिए क्योंकि वरयाम सिंह ने अब से पूर्व प्रचलित काव्य परंपरा के बिंबों को अपनी कविताओं में दुहराया नहीं है। एक जिम्मे-दार कवि की तरह वरयाम सिंह ने अपने समय के लगभग सभी जलते हुए सवालों पर अपनी प्रतिक्रिया व्यक्त की है परंतु यह प्रतिक्रिया तात्कालिकता की नहीं बल्कि एक सजग नागरिक की भी है जो वर्तमान से व्यथित है।

हत्या जब धर्म हो जाती है
और हत्यारे सम्मानीय
तब ईश्वर किसका पक्ष लेता है?
अनाथ बच्चों और विधवाओं के आँसू और आर्तनाद
क्या इस जमीन को इसी तरह रहने देंगे
जिस तरह वह रहती आयी है हत्यारों के दौर से पहले?

आतंकवाद के इस दौर मे मनुष्य अपना विवेक, मानवीय उष्मा से भरा अपना मानवीय पक्ष जैसे एकदम भूल गया है। जैसे कोइ प्रतिरोधी शक्ति उसे अपनी ओर लिए जा रही है

'क्या यह जरुरी है कि हत्या तभी हत्या लगे
जब तक मैं या मेरा बेटा स्वयं हत्या के शिकार न हो जाये?
क्या वह हत्यारे से अधिक हत्यारा नहीं है
जो हत्या को धर्म बना रहा है
और जीवित हत्यारे को संमानीय
और मृत हत्यारे को आराध्य........

वरयाम सिंह ने बहुत साहस से कुछ ऐसे प्रश्नों से सामना किया है जिन्हें लेकर लेखक समाज उदासीन है। इतने घनघोर जनवाद के दिनों में किसी भी कवि ने साहस से भारतीय वर्तमान पर रिसते संकीर्णतावाद के नासूर को नासूर नहीं कहा। केवल दो एक उदाहरणों को छोड़ हत्यारी उदासीनता, हत्यारी चुप्पी लेखकों के जिम्मे जैसे बसी हुई है। मीडिया या संसार साधन किस तरह स्तुतिवाचन में या झूठ के प्रसारण में निमग्न हैं उसकी ओर भी किसी ने ध्यान नहीं दिया। व्यावसायिक घरानों ने सौंदर्य को विज्ञापन के रूप में विज्ञापित किया है। अपनी कविता 'जैसे कि' में वरयाम सिंह ने इस रहस्य को उद्घाटित किया है कि कैसे व्यावसायिक दृष्टि आर्थिक-मुक्ति की कोशिशों के पीछे धकेल एक संकीर्णतावादी-मानसिकता को विकसित करवाती है।

वरयाम सिंह की एक कविता 'तानाशाह कैसे परेशान होता है, विशेष रूप से उल्लेखनीय कविता है।

'दूसरों को आदमी न समझने का
तानाशाह इतना आदी हो जाता है कि एक दिन
वह स्वयं भूल जाता है कि वह आदमी है'

इस कविता में वरयाम सिंह तानाशाह की नींद हराम हो इसके लिए जो विकल्प रखते हैं वास्तव में क्रांतिकामी जनमानस के धैर्य का प्रतीक है। इस संग्रह की कविताओं में बाहर से निअतापूर्ण वक्तव्यों की झलक सी महसूस होती है किंतु वास्त्व में वह सार्वजनिक किस्म के अनुभवों का उपांतरण है। कभी-कभी हम एक छोटे से शीर्षक या वाक्य में पूरे कवि व्यक्तित्व को पहचानने की अपेक्षा रखते हैं ऐसी स्थिति में वरयाम सिंह की कविताओं के बारे में कहना पड़ेगा कि वे एक छोटे से बिंदु से लंबी यात्रा की प्रतीति हैं। इन कविताओं का कलागत मूल्यांकन केवल इस दृष्टि से किया जा सकता है कि इनमें जीवन के महत्तम सवालों को कविता में उठाने की पहल की गई है। और वरयाम सिंह की चिंता यह भी है जो सारे समाज को संबोधित है कि 'सवाल जो जाग रहे हैं

हम न जाने उन्हें क्यों सुलाने में लगे हैं....

तिनका-तिनका घोसला

अच्छी कविताएँ विरल होती हैं। परंतु विरलता अपने आप में कोई अतिरिक्त गुण धर्म नहीं है। विरलता धैर्य और अनुसंधान की उपलब्धि है। ये विरल कविताएँ ही परंपरा का निर्माण करती हैं। ओर इनके बाद अनुकर्ताओं का एक लंबा क्रम चल निकलता है। हिंदी कविता में ऐसे अनुकरण की भरमार हर दौर में देखी जा सकती है। हमारे समय में निराला, मुक्तिबोध और रघुबीर सहाय के अनुकरण पर ढेरों कविताएँ लिखी गई हैं। प्रगतिशील कविता की तर्ज पर आज भी वस्तु और विन्यास की बहस के बीचोबीच असंख्य कविताएँ लिखी जाती हैं। उन ढेर सारी अनुकृत सामग्री पर टिप्पणी करना इन पंक्तियों के लेखक की मंशा नहीं है। 'विरल' कविताओं के उस मूलाधार की ओर संकेत करना भी है जिसमें हम भीड़ से किसी एक व्यक्तित्व संपन्न कविता को पहचानते हैं। यह मूलाधार वास्तव में शब्द और अर्थ के रिश्ते में छिपा नहीं है बल्कि शब्द और अर्थ के उस लक्ष्यार्थ में बिंबित होता है जो रचना की जरूरत को भी रेखांकित करता है तथा एक मानवीय जिम्मेदारी के भाव को भी परिपुष्ट करता है। ऐसी कविताएँ लिखने वाले कवियों के नाम बहुत ज्यादा नहीं हैं। मैं जब भी कोई नया संकलन देखता हूँ तो कवि के उस आविष्कार की खोज करने लगता हूँ जो उसे दूसरों से विलगाता है। मस्लन हमारी पूरी काव्य परंपरा में श्रीकांत वर्मा की 'मगध' कविताएँ अपना एक अलग ही व्यक्तित्व प्रस्तुत करती हैं। क्या ऐसी कोई कोशिश रमेश मेहता के काव्य में है? यह एक ऐसा प्रश्न है जिसका कभी-कभी सीधा सा कोई उत्तर मिलना कठिन हो सकता है किंतु जिन कविताओं के बारे में हम यह सबाल करने के लिए उद्यत होते हैं उनकी पात्रता स्वयंसिद्ध इसलिए है कि अनेकानेक दूसरी कविताओं के बारे में यह प्रश्न सामने ही नहीं आता।

प्रथमत: रमेश मेहता की कविताओं में एक सहजता है। सहजता अर्थात् जो आज की कविताओं में विलुप्त सा गुण है। दूसारे इन कविताओं में अपने कवि होने की उद्घोषणाओं का दंभ नहीं है। एक नागरिक के नाते अपने आसपास के प्रति जो चौकन्नापन है वह चौकन्नापन भी एकदम सहज और अकृत्रिम है।

वह/ देश शब्द के
हिज्जे नहीं जानता
किंतु अपने देश को है
खूब पहचानता
वह
चाय-काफी ढोता हुआ
सारा दिन

बचपन के दिन तो सचमुच बड़े ही सुख भरे बीते थे, इसलिए उन दिनों की यादें आज भी मेरे मन को एक तरह से ताजगी दे जाती हैं।' अतीत की तमाम पर्तें एक खास किस्म के मोह को उभारती हैं। और उस मोह के भीतर आदमी की वह आबद्धता भी छिपी होती है जो अतीत के अनेकानेक ब्यौरों में चित्रित होती है। इसलिए हम यह भी देखेंगे कि अमृतलाल नागर अतीत के बहुत अधिक विवरण, उनकी प्रासंगिकता स्पष्ट करते हुए देते हैं। उनके यहाँ हमें भीड़, चौराहे, किस्म किस्म के लोग, पार्क, फिटनें, बघ्घियाँ, टिमटिमाती हुई लालटेनें और न जाने कितनी चीज़ें हैं जिनका उल्लेख नागर जी के आत्म-कथात्मक वृतांतों में मिलते हैं। इन विवरणों में न सिर्फ एक व्यक्ति का जीवन स्पंदित है बल्कि इनसे हम एक युग, एक पीढ़ी, एक मोहल्ले या एक जाति अथवा एक संपूर्ण मानवीय इकाई का सामाजिक जीवन थिरकता हुआ देखते हैं। इस अर्थ में नागर जी के आत्म-वृतांतों का यह विवरण उनका अपना ही नहीं बल्कि यह उनके आसपास के समाज की भी गाथा है। एक ऐसे समाज की गाथा है जो ठिठका हुआ नहीं है बल्कि अपने अंतर्विरोधों में संघर्षरत है। वह समाज और उसके तमाम संस्थागत अवयव, व्यक्ति इकाईयां एक ओर स्वाधीनता के संग्राम में जूझ रही हैं दूसरी ओर गरीबी, अंधविश्वास, रोग, अशिक्षा, कुलीनता का दंभ और महत्वाकांक्षी लोगों के भिन्न-भिन्न रूपाकारों में सजीव है।

नागर जी के जीवन पर जिन-जिन चीज़ों ने असर डाला है उनका बड़ा ही बेबाक चित्रण इन आत्मगाथात्मक निबंधों में हुआ है। कहने की कला का जो विकसित स्वरूप नागर जी के यहाँ उपलब्ध है वह अन्यत्र नहीं है। इसी कौशल में वे कभी-कभी ऐसी-ऐसी बातें भी कह जाते हैं जिन्हें कहने का साहस अच्छे-अच्छे दुस्साहसी भी नहीं कर पाते।

नागर जी ने यह निबंध समय-समय पर लिखे हैं। समय की तात्कालिकता का वह जोश खरोश यहाँ नहीं है जो अक्सर जलूसों, आंदोलनों या घटनाओं में होता है। बल्कि इन निबंधों में समय की एक धारावाही ताजगी है। न बीते दिन का व्यर्थ, फिजूल बासीपन देने वाले विवरण जैसे नागर जी कथन की छलनी से पहले ही छान लेते हैं। शेष रह जाती है एक क्लासिकी किस्म की रचनात्मकता। और यही एक तत्व है जो उनके तमाम निबंधों में एकसूत्र की तरह निरंतर विद्यमान है। रचनात्मकता का यह अंत:प्रवाह सकारात्मक है। दूसरे लोग इस तत्व को बड़े-बड़े मूल्यों, आदर्शों की संज्ञाओं के द्वारा व्यक्त करते हैं जबकि नागर जी बहुत सहजता से स्वानुभव के विशाल फलक से चुन लाते हैं 'कोई यह कहे कि जनता आर्ट नहीं समझती तो मैं उसे भी न मानूँगा। कला में यदि दम हैं तो वह पढ़े-बेपढ़े को एक साथ एक समान ही प्रभावित करेगी, अंतर केवल इतना ही होगा कि समुन्नत चेतन व्यक्ति के पास कला का मर्म बखानने के लिए उचित शब्द होंगे। बेपढ़ा-लिखा कुछ का कुछ कर बखानेगा मगर बखानेगा अवश्य।

'आई मौज फकीर की दिया झोपड़ा फूँक' शीर्षक नागर जी का निबंध उनकी नौकरियों से इस्तीफे के बारे में बताते बताते सहसा 'लेखक, और 'लेखन' के बारे में कुछ बुनियादी सवाल उठाता है। इससे यह स्पष्ट होता है कि लेखक यदि अपने लेखन के प्रति सच्चा है तो वह किसी भी तरह के अपमानजनक समझौते किए बगैर भी अपना जीवन चला सकता है। नौकरियों, समझौतों, आकांक्षाओं की दुनिया में भटकते खराब लेखन से समाज और राष्ट्र का जो अहित होता है उसकी ओर भी संकेत मिलता है। 'अच्छा हो यदि हम स्वीकार कर लें कि महान पुरखों का यह देश इस समय बौनों का राष्ट्र है, हम सभी बौने और दुर्बल हैं। हम सबमें कमजोरियाँ हैं, भले ही हममें से कोई लेखक हो, अफसर हो, नेता या जन साधारण का व्यक्ति हो।'

इस संकलन में कुछ ऐसे निबंध भी हैं जिन्हें आत्मकथा के साथ-साथ दृष्टि-कथा कहना अधिक संगत होगा। 'गढकोला में पहली निराला जयंती' एक ऐसा ही निबंध है जिसमें नागर जी ने निराला के

गाँव का कर उन्होंने बहुत मार्के की बात यह कही कि 'हमारा मिडिल क्लास बाबू निराला को राष्ट्रपति भवन में प्रतिष्ठा दिलाने के लिए मचल रहा है। वह चाहता है कि निराला का सम्मान हो, राष्ट्रीय महापुरुषों में उन्हें समुचित स्थान मिले। राष्ट्रपति, प्रधानमंत्री, मंत्री, अमुक जी, तमुक जी आदि उनके यश गाएँ। मैं सोचने लगा ये कैसी उल्टी अभिलाषा है लोगों की.....।' अपने जीवन के विविधवर्णी पृष्ठों का चित्रांकन करते हुए नागर जी ने अपने समकाल की राजनैतिक-सामाजिक समस्याओं पर बहुत गंभीर टिप्पणियाँ की हैं। यह समीक्षा एकदम अधूरी है अगर यह न कहे पाये कि ये निबंध पढ़ने के लिए हैं— मूल्यांकन के लिए नहीं। इनकी पठनीयता ही इनका मूल्य है।

—गंगाप्रसाद विमल

(अंधे सूरज का सफर केदारनाथ कोमल, प्रकाशक : पराग प्रकाशन, दिल्ली-११००३२. मूल्य : पैंतीस रुपये, पृष्ठ १०६, 'हिमाचल समाचार व अन्य कविताएँ' वरयाम सिंह, प्रकाशक : प्रकाशक संस्थान, नई दिल्ली, मूल्य २५ रुपये, पृ. सं. ८०

तिनका तिनका घोंसला (कविता संग्रह) रमेश मेहता/प्रकाशक जय श्री प्रकाशन, दिल्ली-३२/मूल्य तीन रुपये/पृष्ठ ७२. टुकड़े-टुकड़े दास्तान (आत्मकथा) अमृतलाल नागर, प्रकाशक-राजपाल एंड संस, दिल्ली-७, मूल्य साठ रुपये/पृष्ठ २१९.

यहाँ से देखो

साहित्य की प्रत्येक विधा में सार्थक रचना देने के लिए रचनाकार के 'आत्म' का विश्लेषणात्मक संदर्भ अति आवश्यक तत्व होता है। इस आत्मविश्लेषण की साख ही आगे चलकर रचनाकार की निजी पहचान और विशिष्टता बनती है। अपेक्षाकृत अधिक भीड़ भरी विधा कविता में यह विशिष्टता समकालीन मुहावरे के मानस को तोड़कर, नये व साहसिक हस्तक्षेप द्वारा ही उत्पन्न हो सकती है। संदर्भत: **केदारनाथ सिंह** की कविताओं का नवयथार्थ जो उनके कविता-संग्रह **'यहाँ से देखो'** की कविताओं में उद्घाटित हुआ है, के माध्यम से उनकी नयी संवेदनशालता और साथ ही इस पहचान को भोथरा करते आत्म-पूर्वाग्रहों पर भी दो टूक बातें कर लेना लाजिमी हो जाता है। बिम्ब, मुहावरे, भाषा या खुद्दल विचारधारा का स्थायी या अस्थायी लगाव इनको मापकर भी देखा जा सकता है कि कहीं ये कविताएं शिल्प के स्तर पर 'रंगी' हुई हैं या कि समय के साथ समझौतों के दबाव या सरलीकरण के आरोप में गिरफ्तार लंगड़ी चुनौतियाँ मात्र बनकर ही तो नहीं रह गयी हैं? इनकी क्षमताएं कविता में जादू बनाने से जुड़ती हैं या जादू को तोड़ने से।

इस तरह के बहुत से प्रश्नों और प्रतिप्रश्नों के अंधड़ तले बैठकर बार-बार केदारबाबू की कविताएँ पढ़ना प्रतीकार्थक प्रसंगों में कविता की पुनसंभावना का सुख देती हैं। अपने कवि की क्रमशः एक परिपाटी बनाते और उस परिपाटी को तोड़ते हुए भी ये कविताएँ संवेदनाओं और काल्पनिक रुझानों को काव्यात्मक विकास देती लगती है। कस्बे, गाँव, महानगर, धूल और आत्मालोचना के विवेक से ऊर्जावान ये कविताएँ कभी काव्यात्मक तुकबंदी की ओर ले जाती हैं तो कभी गजल की तरफ, और कभी ठेठ मध्यवर्गीय परिवार की कथात्मक नियति की तरफ भी कथा में एक साबुत वर्णन का बाकायदा इस्तेमाल करते हुए : 'मैं बाजार गया, मैंने बाजार में खरीदा एक नक्शा/ नक्शे में बहुत-कुछ था/ जिसे मैं नहीं जानता था/........' (नक्शा)।

लेकिन यह ऊपर से दिखायी देने वाली 'सपाटता' धीरे-धीरे कविता में जुड़ी प्रगतिशीलता की संरक्षिका बन जाती और कविता में नक्शे की स्थिति और उपस्थिति को डंके की चोट पर, जन सामान्य के खिलाफ जा रही नक्शा-संस्कृति को महत्वहीन और संदिग्ध करार देती हुई सार्थक रूप में समाप्त हो जाती है : 'अपनी दीवार पर टँगे हुए/ दुनिया के उस महान नक्शे में/ मुझे नहीं मिला/ नहीं मिला अपना घर/ नक्शे में कोई राजा नहीं था/ पर कानून था/ नक्शे में।'

यहाँ कवि ने अपने को लगातार ढूँढते हुए ही कविता और अपने लिये भी वर्गीय गली ढूँढ ली है जहाँ से वह 'सुई और तागे के बीच में' के माध्यम से रिश्तों की अजनबीयत और अमानवीयता के सेंसर से छुड़ाकर स्वतंत्र सत्ता में देखने के लिए मीठे-मीठे, मगर तकलीफदेह शब्द परोसता है : 'पिछले स

बरसों से/एक सुई और तागे के बीच/दबी हुई है माँ/हालाँकि वह खुद एक करघा है/जिस पर साठ बरस बुने गये हैं/धीरे-धीरे तह पर तह/खूब मोटे और गझिन और खुरदरे/साठ बरस।'

इन कविताओं की यह बहुत बड़ी विशेषता है कि ये भाषा और शब्द-संरचना का कहीं विश्वयुद्ध नहीं लड़तीं बल्कि एक गुरिल्ला-टैक्टिस से समकालीन अंतर्विरोधों को,. पेपरवेट बनकर, दबा लेती हैं। कविता की यह सभ्यता समसामयिक मुहावरे के लिए बड़े काम की चीज है और प्रगतिशीलता के बूर्जुआ हो जाने के खतरों का निदान करने वाला एक अचूक रामबाण भी।

'यहाँ से देखो' की कविताओं को पढ़ना दरअसल कवि के संपूर्ण सन्नाटे, चौंक, साहस, संतुलन, विचारधारा और पक्षधरता को समग्र में जान लेना है। नृशंस शब्दवली से अलग, ये कविताएँ एक आत्मीय संबोधन की तरह पाठक के अंतस्तल में उतरती हैं, धीरे-धीरे और एक पीड़ाप्रद स्वीकृति के साथ....... और फिर वहीं चहेती बनकर अंकित भी हो जाती हैं। बनारस की लँगड़ी संस्कृति या आध्यात्मिकता पर कवि की कविता हो या चौकीदार की वर्गीय नियति, जो कवि के 'व्यक्ति' की नींद में रचनात्मक विघ्न डाल रही हो— कविता में प्रयुक्त शब्द कहीं नहीं खीझते, या असंतुलित होते हैं। कविता को जो नहीं चाहिए, जो कविता की अपेक्षा ही नहीं होती— ऊँचा बोल वह यहाँ उपलब्ध नहीं है। इसीलिए उत्तेजना के रहस्य में पहुँचकर ये कविताएँ अपने आपको गर्क नहीं करतीं। तनाव से भाई चारे में यह शमशेर जैसी कला है, मुक्तिबोध गामी नहीं। 'बनारस' कविता की ये पंक्तियाँ कैसे विस्मित करती हैं, यह दृष्टव्य है : 'कभी सई-सांझ/बिना किसी सूचना के/घुस जाओ इस शहर में/कभी आरती के आलोक में/इसे अचानक देखो/अद्‌भुत है इसकी बनावट/यह आधा जल में है/ आधा मंत्र में/आधा फूल में है/आधा शव में/आधा नींद में है/आधा शंख में/अगर ध्यान से देखो/तो यह आधा है/और आधा नही है।'

कवि की दिलचस्पी नये-नये चेतस अंकुरों के प्रस्फुटन और बची हुई आग की पूँजी के प्रोत्साहन से लयबद्ध है। 'पानी में फिरे हुए लोग' हों और यहाँ बाढ़ प्रतीक है— या 'टूटा हुआ ट्रक' हो— नैतिक अनुभूतियाँ हमेशा चेतसतम दृष्टि से छनकर ही इन कविताओं में उगती हैं और प्रतीकों की तानाशाही यकायक जनतंत्रीय अर्थावली में बदल जाती हैं। संप्रेषण के स्तर पर कविता में प्रयुक्त यह संपूर्ण आयामों से लैस जनतंत्र अधिक कृतिकार है जो पढ़े-लिखे आलोचक से लेकर, कतई सामान्य पाठक तक— सब ही को मत देने का अद्‌भुत व समान अवसर प्रदान करता है। संग्रह की एक छोटी-सी कविता 'मध्यवर्गीय साखी' को इस बात की धड़कन महसूस करनो के लिए पूरा ही उद्‌धृत किया जा सकता है : 'सुबह हुई/और उसने सोचा/दुनिया बदलने से पहले/मुझे बदल डालनी चाहिए अपनी चादर/जो कि मैली हो गयी है।'

संग्रह की दूसरी तरह की कविताएँ ऐसी हैं जो प्रायश्चित, मध्यवर्गीय कुंठाएँ और जंग खा रहे अस्तित्व की तिलमिलाहट के कारणों से उत्पन्न हुई हैं। इन कविताओं में कवि का व्यवहार प्रायः व्यंग्य तक जाकर एक-आयामी हो गया है और इस तरह अपनी निरीह सीमाओं में कैद भी हो गया है। 'दो मिनट का मौन' कविता इस बात का सबसे अच्छा उदाहरण हो सकती है : 'भाइयो और बहनो/इस महान विशेषण पर/दो मिनट का मौन।'

या :

'मैं घोषित करता हूँ/ कि जो सच है/वह सच नहीं है/जो जानता है/उस तक खबर अभी पहुँची ही नहीं/जो हुक्म देता है/वह डरा हुआ है/जो फैसला कर देता है/उसे पता नहीं/वह गिरफ्तार हैं (घोषणा)। इस तरह की अन्य कविताएँ भी, जो शब्दिक अनुभवों या कविताई अनुशासन से सायास रूप से तराशी हुई हैं, वे परिपक्व नहीं बल्कि 'सतमासी' कविताएँ अधिक लगती हैं। यह भी सच ही है कि भारत-पाक

बँटवारे के यथार्थ पर या दंतकथा, बंगाली बाबू या 'भीमबेटका के गुफाचित्रों को देखते हुए' पर बुदबुदाती कविताएँ अपनी तटस्थता में अपेक्षाकृत आकर्षक उजास थामे हो सकती हैं लेकिन जहाँ-जहाँ कवि के विश्वास का और 'पृथ्वी रहेगी', 'बंसत', 'कविता क्या है', 'एक ठेठ देहाती कार्यकर्ता के प्रति', 'बाजार' या 'कलाकार से'............ आदि नैतिक संवेदनाओं को नकारते हुए छलक पड़ा है, वहाँ कवि की विशिष्टता भी बाँझ हो उठती है। कविता में जब-जब आरोपित आग्रहों और शब्दों का मिला-जुला सर्कस शुरू हो जाता है, वह तब मात्र किसी शो-विशेष की चीज़ बनकर रह जाती है। संदर्भत: उदाहरण के लिए 'बुनने का समय' का यह उद्‌घोष देख लिया जा सकता है जिसमें संवेदन विनम्र होते हुए भी, बिल्कुल रेगिस्तानी हो उठा है : 'उठो कि कहीं कुछ गलत हो गया है/उठो कि इस दुनिया का सारा कपड़ा/फिर से बुनना होगा/उठो मेरे टूटे हुए धागो/और मेरे उलझे हुए धागो उठो।'

या, 'पानी एक रोशनी है' की ये प्रारंभिक पंक्तियाँ भी : 'इंतजार मत करो—जो कहना हो कह डालो/क्योंकि हो सकता है फिर कहने का/कोई अर्थ न रह जाय।'

साथ ही यह भी कम बड़ी बात नहीं है कि संग्रह की सभी कविताएँ पढ़ते हुए उनके स्तर-स्तर में फर्क भले ही रेखांकित होता चलता हो, लेकिन कहीं भी खीझ या खिसियाहट पैदा नहीं होती है। शब्दों की किफायत हालाँकि इसका एक बड़ा कारण हो सकती है, लेकिन शिल्प की मौलिकता और भाषा की फैशन विहीन प्रकृति कविता और पठनीयता के बीच एक ममतालु तुक बनाये रखती हैं। भारी-भरकम शब्दों से दूर रह कर, सरलतर शब्दावली पाठक के मानस से बाकायदा ब्याज वसूलती लगती है ओर कविता के 'मूल की यह संचित विधि ही इन कविताओं की सफलता है।

□

यहाँ से देखो/केदार नाथ सिंह/प्रकाशक :राधा कृष्ण प्रकाशन/२ अंसारी रोड, नयी दिल्ली ११०००२/मूल्य २५ रुपए मात्र

राजकुमार गौतम

रपट

दसवाँ अखिल भारतीय नागरी लिपि सम्मेलन

नागरी लिपि परिषद् द्वारा आयोजित दसवाँ अखिल भारतीय नागरी लिपि सम्मेलन दिनांक २१-२२ मार्च १९८७ को नयी दिल्ली के विट्ठलभाई पटेल भवन में संपन्न हुआ। इन दो दिनों के दौरान विभिन्न विद्वान वक्ता प्रतिष्ठित लेखक, शिक्षक, भाषाविद्, राजनेता, पत्रकार तथा देश के अन्य प्रान्तों से आमंत्रित अनेक बुद्धिजीवियों ने इस सम्मेलन में भाग लिया।

उद्घाटन समारोह में स्वागत-भाषण करते हुए परिषद् के अध्यक्ष प्रो. मलिक मोहम्मद ने कहा कि गत वर्षों में हमारे अखिल भारतीय सम्मेलनों का महत्व बहुत अधिक बढ़ गया है। आज जब देश में पुन: अलगाववादी तत्व ज़ोर पकड़ रहे हैं, हमें संपूर्ण राष्ट्र को एक सूत्र में जोड़ने के लिए एक सशक्त माध्यम एवं साधन की आवश्यकता है। नागरी लिपि परिषद् इस दिशा में पूरी तरह सक्रिय और प्रयासरत है। इतिहास साक्षी है। कई शताब्दियों से नागरी लिपि बेहद लोकप्रिय रही है। देवनागरी मुगल शासन में निरंतर व्यवहार की लिपि थी। स्वामी दयानंद सरस्वती ने भी केवल नागरी को सामान्य लिपि के रूप में स्वीकार किया। अन्य किसी लिपि में नागरी जैसी वैज्ञानिकता और विशेषतायें नहीं हैं। गांधी जी की यह मान्यता थी कि योग्यता एवं विशेषता के लिए नागरी लिपि अत्यधिक लोकप्रिय है। विनोबा जी ने नागरी को ''जोड़-लिपि'' की संज्ञा दी। यह परिषद् उन्हीं द्वारा दर्शाए गए मार्ग पर आज बढ़ रही है। परिषद् नागरी में लिखी जाने वाली सभी भाषाओं का समर्थन करती है। क्योंकि लिपि की कठिनाई के कारण लोग इसकी भाषाओं को समझने और पढ़ने में असमर्थ एवं प्राय: निरुत्साहित रहते हैं। हमारी कामना है कि सभी भारतीय भाषाओं के साहित्य को लोग नागरी में पढ़ें, जिससे राष्ट्रीय एकता तथा भावनात्मक एकता को बढ़ावा मिले। प्रो. मलिक ने नागरी को संवैधानिक प्रमाण दिलाने में श्री एच. आर. भारद्वाज द्वारा किए गये प्रयासों की सराहना की और सम्मेलन में पधारे विशिष्ट अतिथियों का अभिनंदन किया।

स्वागत-भाषण के पश्चात् गाँधी हिंदुस्तानी सभा की छात्राओं द्वारा वंदना प्रस्तुत की गयी। श्री एच. आर. भारद्वाज, केंद्रीय विधि राज्य मंत्री ने समारोह का उद्घाटन करते हुए कहा कि आज हमारे सामने एक अहम प्रश्न आ खड़ा हुआ है देश को कैसे जोड़ा जाए? भारतवर्ष को टूटने से कैसे बचाया जाए, इसकी चिंता बहुत कम लोगों को है। आज जरूरत है राष्ट्र को एक सूत्र में बाँधने की। परंतु प्रांतवाद और भाषावाद जैसे मसले दीवार बन कर खड़े हैं। इस दिशा में नागरी लिपि परिषद् द्वारा किया जा रहा कार्य निश्चय ही प्रशंसनीय है। उनका कहना था कि नागरी लिपि देश की एकता कायम रखने में एक मजबूत

कड़ी साबित होगी। इस अवसर पर श्री भारद्वाज जी ने स्मारिका एवं पुस्तक का विमोचन किया तथा पुरस्कार वितरित किए।

विशिष्ट वक्तत्व के लिए आमंत्रित श्री भक्त दर्शन और सुश्री निर्मला देशपांडे ने भी अपने विचार व्यक्त किए। श्री भक्त दर्शन ने कहा कि हिंदी और नागरी लिपि का कार्य मेरे हृदय के समीप रहा है। इनका मानना है कि नागरी की वैज्ञानिकता को लेकर विवाद की कतई गुंजाइश नहीं है। क्योंकि इस दृष्टि से नागरी संसार भर की भाषाओं में एक सर्वांग लिपि है।

सुश्री निर्मला देशपांडे का मत था कि नागरी लिपि में संसा की अन्य सभी भाषाओं को ग्रहण करने की पूरी सामर्थ्य है। यद्यपि कुछ एक देशों ने इसमें रुचि ली है, परंतु जब तक हम स्व्यं इसे नहीं अपनाते, दूसरे राष्ट्रों को इसे प्रयोग में लाने के लिए नहीं कह सकते। आज अंग्रेजी सभी भारतीय भाषाओं के लिए समस्या पैदा कर रही है। इसलिए हमें नागरी लिपि को 'मिशन' मान कर उठाना होगा। निर्मला जी ने अंग्रेजी को राक्षसी पूतना की संज्ञा दी जो हमारी सभी भाषाओं का भक्षण कर जाना चाहती है और इस राक्षसी को समाप्त करने के लिए केवल नागरी लिपि ही श्रीकृष्ण की भूमिका निभा सकती है।

अपने अध्यक्षीय भाषण में श्री कुलानंद भारतीय, कार्यकारी पार्षद (शिक्षा) ने जोरदार शब्दों में नागरी लिपि का समर्थन करते हुए कहा कि हिंदी किसी एक प्रांत या धर्म की भाषा नहीं है। यह सबकी भाषा है पूरे देश में व्यवहार की भाषा है। परंतु दिनों-दिन बढ़ती अंग्रेजी की तेज़ आंधी के सामने इसके टिके रहने का प्रश्न है। भाषा के प्रचार और प्रसार से कहीं अधिक महत्व इसके बचाव का है। भारतीय जी के अनुसार शिक्षा नीति में परिवर्तन तथा पाठ्यक्रमों में एकता लाना जरूरी है। हमारे विभिन्न पब्लिक स्कूलों का मुख्य आकर्षण केवल अंग्रेजी की मार्फत है। यदि प्रारंभ के दर्जे में इसकी पढ़ाई समाप्त कर दी जाए तो संभवत: कुछ हल निकल सकता है। व्यावहारिक दृष्टिकोण से नागरी लिपि का अत्यधिक महत्व है। केवल यही देश को जोड़ सकती है।

इस अवसर पर मैक्सिको की राजदूत श्रीमती गार्सियाद ला लामा भी उपस्थित थीं। जब उनसे कुछ बोलने का अनुरोध किया गया तो वह सकुचाती हुई बड़े प्रयत्न के बाद एक पंक्ति कह पाई, 'मुझे देवनागरी बहुत पसंद है।' अंत में डॉ. गंगाप्रसाद विमल ने परिषद् की तरफ से सभी उपस्थित लोगों का धन्यवाद किया।

सम्मेलन में चार विचार गोष्ठियाँ आयोजित की गईं। प्रो. शेरसिंह की अध्यक्षता में हुई प्रथम विचार गोष्ठी का विषय था 'संपर्क लिपि नागरी ही क्यों?' अध्यक्ष मंडल के सदस्य थे सर्व श्री नरेशचंद्र चर्तुर्वेदी, संसद सदस्य, क्षेमचंद्र सुमन, डॉ. श्यामसिंह 'शशि', ओर यशपाल जैन।

श्री क्षेमचंद्र सुमन ने अपने वक्तव्य में कहा कि मैं नागरी लिपि परिषद् को एक सांस्कृतिक तीर्थ मानता हूँ, क्योंकि यह विनोबा भावे की संस्था है। सम्मेलन की प्रशंसा करते हुए उन्होंने कहा कि जहाँ साहित्यिक जगत के अनेकों मूर्धन्य व्यक्तित्व मौजूद हों वह समागत असाधरण होता है। आज देश में विखंडन की प्रवृत्ति जोर पकड़ रही है। ऐसे में भाषा और लिपि ही सशक्त माध्यम हैं। जो देश को एकसूत्र में बाँध सकती हैं। यह एक ऐतिहासिक तत्व है कि नागरी किसी एक अंचल अथवा जनपद की लिपि नहीं है, संपूर्ण संस्कृति की संपदा इसमें विद्यमान है। प्राय: सभी भारतीय भाषायें नागरी से संबद्ध हैं। वर्णमाला लगभग समान है और अधिकांश शब्दावली संस्कृत से ग्रहण की गई है। संस्कृत का थोड़ा सा ज्ञान भी किसी दूसरी भारतीय भाषा को समझने में सहायक होता है। वास्तव में सांस्कृतिक रूप से सारा राष्ट्र एक है, लिपि का भेद है। भाषा और धर्म के विवाद का मुख्य कारण राजनीतिक स्वार्थ है। इसमें दो राय नहीं हो सकता अगर साहित्यकार संकल्प ले तो वह देश को सही मार्ग दिखा सकता है।

श्री यशपाल जैन के शब्दों में हिंदी हृदय की भाषा है, संतों की भाषा है और मानवता की भाषा है।

इस सच्चाई से इनकार नहीं किया जा सकता कि विभिन्नता और विविधता के बीच प्राचीनकाल से ही एकता तथा अखंडता की प्रबल भावना निहित रही है। परंतु आज संभवत: स्थिति इसके विपरीत हो चली है। इसीलिए हमारे सामने नागरी का प्रश्न आता है। भावनात्मक एकता के विचार से एक जोड़ लिपि के रूप में नागरी लिपि की अनिवार्यता की ओर से मुँह नहीं फेरा जा सकता। यह परिषद् कई वर्षों से नागरी के प्रचार तथा प्रसार के महत्वपूर्ण कार्य में संलग्न है।

डॉ. श्यामसिंह 'शशि' का विचार था कि हमारे देश की यह विडंबना है कि अपने विचार और संस्कार यदि आज पराये प्रतीत होने लगे हैं। इसलिए खोए हुए एकता के स्वर को पुन: पाने के लिए नागरी लिपि को सर्वत्र अपनाये जाने का प्रयत्न होना चाहिए।

इनके अतिरिक्त कुछ अन्य वक्ताओं को बोलने के लिए आमंत्रित किया गया। वही लोकशचंद्र जी ने परिषद के कार्य क्षेत्र एवं सद्भावना से प्रभावित होकर कहा कि मेरी दृष्टि में प्रो. मलिक मोहम्मद का स्थान शंकराचार्य के बराबर है, जिन्होंने दक्षिण! से दिल्ली आकर एक महान लक्ष्य निर्धारित किया और उसकी प्राप्ति के लिए पूरी एकाग्रता और समर्पण से प्रयत्नशील हैं।

श्री पटनायक का सुझाव था कि विभिन्न भाषाओं के साहित्य को नागरी में प्रकाशित किया जाए तथा हिंदी साहित्य को भी अन्य भारतीय भाषाओं में प्रकाशित किया जाना चाहिए। कोचीन के प्रो. रामचंद्र देव ने कहा कि देश के सभी राज्य वासियों के बीच वैचारिक एकता के बिना किसी एक लिपि विशेष के विस्तार की योजना सफल नहीं हो सकती। अत: नागरी लिपि परिषद् को पूरे देश में वैचारिक तथा भावनात्मक एकता लाने के लिए भी प्रयास करना चाहिए। इस गोष्ठी के अध्यक्ष प्रो. शेरसिंह ने कहा कि हमारे देश की सब भाषायें और लिपियाँ समृद्ध हैं। परंतु नागरी को संपर्क लिपि के रूप में अपनाना राष्ट्रीय एकता के परिप्रेक्ष्य में महत्वपूर्ण है। अपने भाषण में पूर्व वक्ताओं के विचारों की समीक्षा करते हुए प्रो. शेर सिंह ने कहा कि इस पुनीत काम से जुड़े सभी लोग धन्यवाद के पात्र हैं।

शेष तीन विचार गोष्ठियाँ दिनांक २२-३-८७ को रखी गईं। द्वितीय विचार गोष्ठी का विषय था 'नागरी लिपी का अन्य भारतीय लिपियों के साथ संबंध'। अध्यक्षता के लिए आमंत्रित डॉ. पी.डी. यादव, संसद सदस्य, की अनुपस्थिति में डॉ. रामकरण शर्मा को अध्यक्ष बनने के लिए अनुरोध किया गया। डॉ. रामकरण शर्मा के विचार में ब्राह्मी लिपि हमारे देश की प्राचीनतम लिपि है। दक्षिण एशियाई देशों में भी इनका रूपांतर देखने को मिलता है। हमारे यहाँ कई लिपियाँ हैं जिनका आपस में सौहार्दपूर्ण संबंध है। परंतु एक को स्वीकारने का अर्थ दूसरे का परित्याग नहीं समझा जाना चाहिए। अनेकता में हमारे देश की मूलभावना सर्वमान्य है। अनेकता हमारे राष्ट्र की धरोहर है, यह देश को आगे बढ़ाने का साधन है। अनेकता हमारी शान्ति बन सकती है, परंतु राजनीतिक भावना इसे हमारा शत्रु बनाती है। इसके बावजूद अपनी परंपरा से ली गई प्रेरणा ओर सौहार्दपूर्ण विचार अनेकता को हमारी शांति बनायेंगे ऐसा मेरा विश्वास है। इसकी रक्षा लिपियों के माध्यम से की जा सकती है।

प्रमुख वक्ताओं में से प्रो. अशोक कालरा ने कहा कि नागरी लिपि की प्रशंसा विदेशों में हो रही है। भारत में अध्ययन के लिए आप विदेशी छात्र देवनागरी की वैज्ञानिकता को स्वीकार करते हैं। नागरी की ध्वनि व्यवस्था लगभग समान है तथा आंतरिकता समानता के कारण अन्य लिपियों के साथ नागरी लिपि का गहन संबंध है। डॉ. कैलाशचंद्र भाटिया का कहना था कि रोमन लिपि हमारी भाषाओं के विस्तार में एक भारी अड़चन बनी हुई है। इसको हटाना बहुत जरूरी है। जहाँ बाहर वाले नागरी की प्रशंसा करते हैं, यह बिडबंना है कि कुछ भारतीय रोमन की वकालत करते हैं। परंतु हमें अब नागरी लिपि को अपनाने में देर नहीं करनी चाहिए।

संसद सदस्य श्री नरेशचंद्र चतुर्वेदी ने कहा कि हमें दुनिया की चिंता न करते हुए अपनी हीन ग्रंथि

को खोलना चाहिए तथा नागरी लिपि को प्रयोग में लाने के लिए पूरी सामर्थ्य से जुट जाना चाहिए। प्रो. राजेश्वररैया ने नागरी को पूरक लिपि के रूप में प्रयोग में लाने के लिए जोर दिया। इसके अतिरिक्त तृतीय तथा चतुर्थ विचार गोष्ठी के अंतर्गत भी अनेक वक्ताओं ने अपने विचार रखे। श्री जगदीश प्रसाद चतुर्वेदी ने नागरी के यांत्रिक प्रयोग के संदर्भ में कहा कि आज कम्प्यूटर तथा टेलिप्रिंटर आदि केवल अंग्रेजी पर ही आधारित नहीं है, बल्कि नागरी में भी उपलब्ध हैं। श्री ओम विकास ने बताया कि यंत्रों का विकास हमारी भाषाओं के अनुरूप होने जा रहा है।

सम्मेलन के अंत में डॉ. गंगाप्रसाद विमल ने प्रतिवेदन में कुछ स्वीकृत प्रस्तावों के बारे में जानकारी दी तथा सम्मेलन की सफलता के लिए सबका धन्यवाद किया।

परिषद् के मंत्री श्री सी.ए. मेनन ने धन्यवाद ज्ञापन में कहा कि यह सम्मेलन दिल को दिल से जोड़ने के पुण्य कार्य का एक रूप है। इसकी सफलता के लिए सभी उपस्थित सज्जन धन्यवाद के पात्र हैं।

प्रस्तुति : यशपाल कालड़ा

इस अंक के लेखक

रवींद्र भ्रमर

जन्म : जून १९३४ ई.।
शिक्षा : एम.ए., पी.एच.डी (काशी हिंदू विश्वविद्यालय)।
''सहज कविता'' के पक्षधर।
चार काव्य संग्रह, आठ आलोचनात्मक ग्रंथ। प्रमुख कृतियाँ : रवींद्र भ्रमर के गीत, सोन-मछरी मन बसी (काव्य), समकालीन हिंदी कविता, छायावाद : एक पुनर्मूल्यांकन (आलोचना)। हिंदी भक्ति-साहित्य में लोकतत्व (शोध प्रबंध)
संप्रति : अलीगढ़ युनिवर्सिटी में हिंदी के प्रोफेसर।

गुणाकर मुले

वैज्ञानिक विषयों के प्रसिद्ध लेखक। भारत के प्राचीन ज्ञान-विज्ञान, जैसे गणित, ज्योतिर्विज्ञान भौगोलिक, रसायन इत्यादि उपलब्धियों से लेकर आधुनिक प्रौद्योगिकी जैसे महत्वपूर्ण विषयों पर अनेक माध्यमों द्वारा कृतियाँ प्रकाशित।
संपर्क : अमरावती, सी-१२०, पांडव नगर, दिल्ली-११००९२

जगदीश गुप्त

जन्म : शाहाबाद हरदोई, उत्तर प्रदेश, १९२६ ई.। नई कविता के सफल कवि और आलोचक, मनीषी साहित्यकार और चित्रकला की विभिन्न शैलियों तथा विधियों से चित्र-रचना में रूचि। प्रयाग विश्वविद्यालय कला विभाग के अध्यक्ष के स्नेह-संपर्क के साथ प्रयोगशीलता की अपनी सहजवृति ने उन्हें लाभात्मक शैली दी है।
संप्रति : प्रोफेसर, हिंदी विभाग, प्रयाग वि. वि.।

अलेक्सांद्र सेंकेविच

प्रसिद्ध युवा भारतविद्। मास्को स्थित प्राच्य विद्या संस्थान से संबद्ध। अनेक बार भारत का भ्रमण कर चुके हैं। भारतीय साहित्य के आधुनिक व्याख्याता के रूप में इन्हें पर्याप्त ख्याति मिली। कविवर 'बच्चन' पर एक स्वतंत्र पुस्तक जिसका भारत में प्रकाशन हुआ। नये हिंदी साहित्य का विशेष रूप से रूसी में अनुवाद।

डॉ. रामदरश मिश्र

जन्म : १५ अगस्त, १९२४, गोरखपुर के डुमरी गाँव में।
शिक्षा : एम.ए., पी.एच.डी.।
छह कविता संग्रह, दस उपन्यास, छह कहानी संग्रह। ''कितने बजे हैं''; ललित निबंध संग्रह। और ''जहाँ मैं खड़ा हूँ'' (सफरनामा) प्रकाशित।
संपर्क : आर-३८, वाणी विहार, उत्तम नगर, नई दिल्ली-११००५९।

श्रीकांत शर्मा
कथाकार व पत्रकार। अपने लेखन की शुरूआत कहानियों से किया। कुछ वर्ष टाइम्स ऑफ इंडिया की कथा-पत्रिका 'सारिका' के संपादकीय से संबद्ध रहे।
संप्रति : नवभारत टाइम्स से संबद्ध नयी दिल्ली।
संपर्क : ५९०, गुरुरामदास नगर, लक्ष्मीनगर, दिल्ली-११००९२।

आशीष सान्याल
बंगला के सुप्रसिद्ध कवि, आलोचक, कथाकार।
इनकी कविताओं का विदेशी भाषाओं में अनुवाद हुआ है।
हिंदी कविता और साहित्य के बहुविध ज्ञाता। बंगला और अंग्रेजी में हिंदी कविताओं आदि का पर्याप्त अनुवाद किया है।
संप्रति : प्रोफेसर, बंगला साहित्य, बी.ई.एस. कालेज, कलकत्ता।

बलदेव वंशी
आठवें दशक की समकालीन कविता के सशक्त हस्ताक्षर एवं आलोचक।
हिंदी में पी.एच.डी. तथा अध्यापन।
अब तक अनेक काव्य तथा कविता संकलन प्रकाशित हो चुके हैं जिनमें ''उपनगर में वापसी'' इनकी प्रसिद्ध कृति है। कविता के अतिरिक्त ग्रंथों का संपादन।
संपर्क : ए-३/२८३ पश्चिम विहार, नई दिल्ली-६३।

सच्चिदानंद सिन्हा
जन्म : दरभंगा, बिहार।
अंग्रेजी में एम.ए. करने के बाद भारतीय प्रशासनिक सेवा में १९६३ में नियुक्ति। हिंदी की नयी कविता के मार्मिक कवि। उनकी कविताओं की संक्षिप्ति और दार्शनिक एवं आंतरिक गुणवत्ता दृष्टव्य है। कविताओं के अतिरिक्त कहानी तथा यात्रा-विवरण के लेखक। अंग्रेजी में भी कविताएँ।
संप्रति : दूरसंचार बोर्ड के सचिव।

विश्वंभरनाथ उपाध्याय
जन्म : ७ जनवरी, १९२५ ई.।
शिक्षा : एम.ए., पी.एच.डी.।
आलोचना पर लगभग बीस पुस्तकें। चार पत्रिकाओं का संपादन।
जयपुर विश्वविद्यालय में पूर्व हिंदी आचार्य एवं अध्यक्ष।
संप्रति : समकालीन मार्क्सवाद तथा हिंदी आलोचना पर कार्यरत।
संपर्क : ७ ड २५ जवाहर नगर, जयपुर।

स्नेहमयी चौधरी
हिंदी की सुपरिचित कवयित्री। दो कविता संग्रह ''एकाकी दोनों'' तथा ''पूरा गलत पाठ'' प्रकाशित। ''आधुनिक हिंदी कविता में परंपरा और प्रयोग'' विषय पर पी.एच.डी.।
संप्रति : दिल्ली विश्वविद्यालय के जानकी देवी महाविद्यालय में हिंदी प्राध्यापिका।

कुँवर बेचैन
जन्म : १ जुलाई १९४२ ई., ऊमरी मुरादाबाद।
शिक्षा : एम.काम., एम.ए., पी.एच.डी.।

प्रकाशित पुस्तकें ''पिन बहुत सारे'' (नवगीत संग्रह) १९७२, ''भीतर साँकल : बाहर साँकल'' (नवगीत संग्रह) १९७८ ई.।
संप्रति : अध्यक्ष, हिंदी विभाग, एम.एम.एच. कालेज, गाजियाबाद (उ.प्र.)।

डॉ. रेवती रमण

आलोचक, समीक्षक। पत्र-पत्रिकाओं में समय-समय पर रचनाएँ।
संप्रति : बिहार विश्वविद्यालय मुजफ्फरपुर (बिहार) के हिंदी-विभाग में अध्यापन।

फार्म-४

१.	प्रकाशन स्थान	भारतीय सांस्कृतिक संबंध परिषद् आज़ाद भवन, इन्द्रप्रस्थ इस्टेट, नई दिल्ली-११०००२
२.	प्रकाशन अवधि	त्रैमासिक
३.	मुद्रक का नाम	ललित मानसिंह
	क्या भारत का नागरिक है (यदि विदेशी है तो मूल देश)	हाँ
	पता	महानिदेशक, भारतीय सांस्कृतिक संबंध परिषद्, आज़ाद भवन, इन्द्रप्रस्थ इस्टेट, नई दिल्ली
४.	प्रकाशक का नाम	ललित मानसिंह
	क्या भारत का नागरिक है (यदि विदेशी है तो मूल देश)	हाँ
	पता	भारतीय सांस्कृतिक संबंध परिषद् आज़ाद भवन, इन्द्रप्रस्थ इस्टेट, नई दिल्ली
५.	संपादक का नाम	गिरिजा कुमार माथुर
	क्या भारत का नागरिक हैं (यदि विदेशी है तो मूल देश)	हाँ
	पता	भारतीय सांस्कृतिक संबंध परिषद् आज़ाद भवन, इन्द्रप्रस्थ इस्टेट, नई दिल्ली
६.	उन व्यक्तियों के नाम व पते जो समाचार-पत्र के स्वामी हों तथा जो समस्त पूंजी के एक प्रतिशत से अधिक के साझेदार हों।	ललित मानसिंह, भारतीय सांस्कृतिक संबंध परिषद्, आज़ाद भवन, इन्द्रप्रस्थ इस्टेट, नई दिल्ली

मैं, **ललित मानसिंह** एतद्द्वारा घोषित करता हूँ कि मेरी अधिकतम जानकारी एवं विश्वास के अनुसार ऊपर दिए गए विवरण सत्य हैं।

दिनांक : २८.२.८७ **प्रकाशक के हस्ताक्षर**

गगनाञ्चल

वर्ष १० अंक २ १९८७

संपादकीय

अरे यायावर, रहेगा याद!

संपादकीय

अज्ञेय-स्मृति

एक आत्मीय भावांजलि

नई कविता के सबसे प्रखर एवं वरिष्ठ हस्ताक्षर अज्ञेय का ४ अप्रैल, १९८७ को ७६ वर्ष की आयु में अकस्मात् निधन हो गया। उनके साथ ही नई कविता की एक विशिष्ट धारा का युग भी समाप्त हो गया। सच्चिदानंद हीरानंद वात्स्यायन 'अज्ञेय' का जैसा असाधारण नाम था वैसी ही उनकी विलक्षण प्रतिभा अनेक दिशाओं में प्रवाहित हुई थी। पंजाब में जालंधर के निकट करतारपुर के मूल निवासी होते हुए भी वे जीवन भर यायावर रहे और अपने बचपन से ही सारे देश की यात्राएं करते रहे। उनके पिता पं. हीरानंद शास्त्री प्रख्यात पुरातत्व-वेत्ता और संस्कृत के प्रकांड पंडित थे। भारत सरकार के पुरातत्व विभाग में वे उच्च पदाधिकारी थे और प्राचीन भारतीय संस्कृति के विद्वान थे। उत्तर प्रदेश के वर्तमान कसिया गाँव में जिसका प्राचीन नाम कुशीनगर था, उनका जन्म ७ मार्च, १९११ को एक शिविर में हुआ जहाँ उनके पिता बौद्धकाल के इतिहास-प्रसिद्ध कुशीनगर के भग्नावशेषों का उत्खनन कार्य करा रहे थे। अपने कार्य के संबंध में हीरानंद अनेक ऐतिहासिक स्थलों पर जाते थे और भारत के सुदूर, सुनसान स्थानों और बनप्रांतों में फैले ऐतिहासिक अवशेषों के बीच शिविर में रहते थे। इस प्रकार प्रारंभ से ही बालक सच्चिदानंद को नये-नये क्षेत्रों, प्रकृति के रम्य और बीहड़ स्थलों, अनेक जनपदों की संस्कृति, भाषा, परंपराओं के समृद्ध अनुभव प्राप्त होते चले गये। उनका बचपन लखनऊ, कश्मीर, बिहार और मद्रास में बीता। शिक्षा मद्रास तथा लाहौर में हुई। अपने परिवार के परिष्कृत संस्कारों के अनुरूप उन्हें संस्कृत का व्यापक अध्ययन कराया गया और उनकी प्रतिभा क्रमशः विकसित होती चली गई। उन्होंने वेद, उपनिषद्, भारतीय दर्शन, पुराण, काव्यशास्त्र, इतिहास के साथ विज्ञान का भी अध्ययन किया। मद्रास क्रिश्चियन कॉलेज से साइंस में इंटरमीडिएट परीक्षा पास करने के बाद लाहौर में १९२९ में उच्च श्रेणी में उन्होंने विज्ञान में स्नातक परीक्षा उत्तीर्ण की। तत्पश्चात् वे लाहौर ही में अंग्रेजी में एम.ए. करने लगे। उन्हीं दिनों उनका संपर्क क्रांतिकारियों से हो गया और ब्रिटिश साम्राज्यवादी दासता से देश को मुक्त कराने के लिए सशस्त्र क्रांति के कार्यों में शामिल हो गए। नवम्बर, १९३० में वे अमृतसर में गिरफ्तार हुए और लगभग छः वर्ष बंदी जीवन की कठिन यातनाएँ उठाईं। लेकिन जेल की काल कोठरियों की यंत्रणा और अँधेरा उनकी तेजस्वी प्रतिभा को बंदी नहीं बना पाया। जेल में लिखीं उनकी कहानियों का प्रकाशन जैनेंद्र जी के माध्यम से होने लगा जिसमें उनकी मौलिक प्रतिभा ने सबको आकर्षित किया। उन्हें गुमनाम रखने के लिए ही जैनेंद्र जी ने उन्हें 'अज्ञेय' उपनाम दे दिया था। इस प्रकार 'अज्ञेय' नाम ही उनके साहित्यिक यश के साथ जुड़ गया। कारावास के कठोर वातावरण के बीच ही उन्होंने एकदम नयी शैली की कहानियाँ लिखीं और वहीं 'भग्नदूत',

'चिंता' जैसी काव्य और विचार-प्रधान कृतियाँ तथा 'शेखर : एक जीवनी' जैसे प्रसिद्ध उपन्यास की रचना की। इस प्रकार जेल के एकाकीपन के बीच ही उनकी रचनात्मक प्रतिभा का प्रकाश एक आलोकित दीपशिखा की तरह प्रज्ज्वलित होता चला गया। १९३६ में जेल से छूटने के बाद वे सैनिक (आगरा) नामक समाचार पत्र में कुछ दिन रहे और फिर डेढ़ वर्ष तक कलकत्ता में 'विशाल भारत' जैसी प्रतिष्ठित साहित्यिक पत्रिका का संपादन किया। अध्ययन, चिंतन, विचार और अनुभव की प्रौढ़ता अन्य लोगों को जो वर्षों में प्राप्त होती है वह महानता अज्ञेय को युवावस्था में ही मिल गयी थी। प्रकृति के अनन्य प्रेमी, अपरिचित क्षेत्रों के यायावर, भाषाविद्, सांस्कृतिक परंपरा में पारंगत, क्रांतिकारी, कथाकार, कवि, अंग्रेजी के विद्वान, पत्रकार-संपादक के रूप में ३० वर्ष की आयु में ही वे प्रतिष्ठित हो गए थे। १९४१-४२ में ऑल इंडिया रेडियो में काम करने के बाद वे द्वितीय महायुद्ध में कैप्टन नियुक्त होकर आसाम चले गये। वहाँ से १९४६ में लौटकर उन्होंने 'प्रतीक' जैसी शुद्ध साहित्यिक पत्रिका का संपादन इलाहाबाद से आरंभ किया। उसी वर्ष उनकी कविताओं का नया संकलन 'इत्यलम' नाम से प्रकाशित हुआ। यहीं से वे मूलतः कथा के क्षेत्र से हटकर क्रमशः कविता के क्षेत्र में आए। तब तक हिंदी कविता में नयी प्रयोगधर्मी सामाजिक चेतना का उदय हो चुका था। १९३८-४३ के बीच छायावादी परंपरा से अलग हटकर प्रगतिवाद और प्रयोगवाद की नयी और परस्पर पूरक धाराएं आरंभ हो चुकी थीं। नूतन प्रवृत्ति की इसी नई धारा ने हिंदी कविता को एक अत्यंत नया मोड़ दिया था। उस समय के सात प्रतिनिधि कवियों (मुक्तिबोध, नेमीचंद जैन, भारतभूषण अग्रवाल, प्रभाकर माचवे, गिरिजाकुमार माथुर, रामविलास शर्मा और अज्ञेय) की कविताओं को एकत्र कर 'तार सप्तक' जैसे ऐतिहासिक काव्यग्रंथ का संपादन अज्ञेय ने किया और इस प्रकार नये कृतत्व को समवेत मंच देने का पौरोहित्य अज्ञेय के द्वारा संपन्न हुआ। १९४३ में 'तार सप्तक' में संकलित कवि के रूप में मेरा उनसे जो निकट परिचय हुआ वह जीवनभर बना रहा। 'तार सप्तक' में उनके संपादकीय से ही एक महन विचारक का रूप सामने आया और यहीं से अज्ञेय नए साहित्यिक एवं मानवीय मूल्यों के चिंतक एवं व्याख्याता के रूप में प्रसिद्ध हुए। 'तार सप्तक' और 'प्रतीक' के बाद उन्होंने अपना साहित्यिक रचनात्मक कोण बदला। 'हरी घास पर क्षणभर' नामक कविता संकलन से वे एक चिंतन-प्रधान श्रेष्ठ कवि के रूप में प्रतिष्ठित हुए। कविता को उन्होंने संवेग, बिम्बधर्मिता तथा प्रगीतात्मकता से अलग करके उसे कथ्य की वैचारिकता, बौद्धिकता और अनुभूति की प्रामाणिकता से जोड़ दिया। लय प्रधान मुक्त छंद के स्थान पर छंद-मुक्त (फ्री-वर्स) विधा विकसित की जिसमें शब्द की क्रमान्विति को उन्होंने प्रमुखता दी। बाह्य सामाजिक जीवन के यथार्थ, संघर्ष और संताप की अभिव्यक्ति से कविता की दिशा उन्होंने मोड़ी। यहीं से आंतरिक अनुभूति, आत्म-साक्षात्कार एवं व्यक्ति-केंद्रित मानवीय मूल्यों की आत्मनिष्ठ आधुनिकतावादी शैली का सूत्रपात हुआ जो १९५१-५२ के बाद 'नयी कविता' के नाम से जानी जाती है। अपने विचारों के कारण वे लगातार साहित्यिक विवादों एवं चर्चाओं का केंद्र बने रहे। किंतु कटु आलोचनाओं के बीच भी उन्होंने अपनी गंभीरता, शालीनता और शील-संस्कार की गरिमा को सदा बनाए रखा। वैचारिक मतभेदों के बावजूद वे कविता के अनन्य पारखी थे यह मेरा अनुभव रहा है। उन्होंने अंग्रेजी कविताएँ भी लिखीं जो 'प्रिज़िन डेज़ एंड अदर पोयम्स' नाम से प्रकाशित हुई थीं। अपनी कविताओं के अंग्रेजी अनुवाद भी 'पुस्तकाकार' प्रकाशित किए। उनके साहित्यिक अवदान के लिए साहित्य अकादमी पुरस्कार, ज्ञानपीठ पुरस्कार एवं उत्तरप्रदेश के शीर्षस्थ 'भारत भारती' पुरस्कार से उन्हें समादृत किया गया। अज्ञेय का साहित्य वस्तुतः व्यक्ति स्वातंत्र्य, मानवीय गरिमा, व्यक्तित्व की अद्वितीयता, जीवन के नैरंतर्य में गहरी आस्था और मनुष्य के नैसर्गिक अधिकारों की पावनता को प्रतिष्ठित करने की ओर

निरंतर अग्रसर रहा है। प्रकृति के वैराट्य के साथ न केवल उन्होंने जीवन की लय को जोड़ा बल्कि उसी समष्टि में उनकी व्यक्ति-निष्ठा का विसर्जन तथा एकांतिक भावनाओं एवं बुद्धिवाद का उदात्ती-करण भी हुआ है। उन्होंने साहित्य को गुरुतर बौद्धिक मूल्यों से मंडित किया और भाषा की वाचिक परंपरा को काव्य में स्थापित कर कविता को एक नया आयाम दिया। अज्ञेय ने आधुनिक हिंदी साहित्य और कविता पर अपनी मौलिक और अमूल्य छाप छोड़ी है। उनके आकस्मिक निधन से न केवल भारतीय साहित्य को अपार हानि हुई है बल्कि एक अत्यंत प्रतिभावान और मर्मज्ञ काव्य सहयात्री के रूप में मुझे आत्मीय क्षति का निरंतर अहसास होता रहा है।

ऐसे बहुआयामी और श्रेष्ठ कृती को हम अपनी भावभीनी श्रद्धांजलि अर्पित करते हैं।

—गिरिजा कुमार माथुर

एक बूंद सहसा उछली

पुण्य-स्मृति

अज्ञेय से अवसानोत्तर संवाद

डॉ. जगदीश गुप्त

आज जब तुम नहीं हो
तो औपचारिक भाषा का अतिक्रमण करके
मैं तुम्हें सीधे ही संबोधित कर रहा हूँ
विश्वास की वाणी को
तुमसे अधिक कौन समझेगा।

क्या हुआ
यदि मैं अंतिम क्षणों में
तुम्हारी छटपटाती देह
तुम्हारी शब्दातीत पीड़ा
नहीं देख सका।
अस्पताल की दीवारों के भीतर
ठंडी ज़मीन पर तुम्हारे पास
लाचार-निरीह
नहीं बैठ सका
अर्थों की गहराई में उतरने वाले तुम
क्या यह मानोगे कि मैं
तुम्हारी अर्थी के साथ नहीं था?
तुम्हें फूलों का तोड़ना असह्य था
क्योंकि देवता के लिए तुम
उन्हें डाल पर ही समर्पित मानते थे,
पर क्या तुम्हारे आसपास के लोगों ने
तुम्हारी इस छोटी सी इच्छा का भी
सम्मान किया?

साम्राज्ञी का नैवेद्य दान
उन्हें कैसे भूल गया?
शव-यात्रा में, द्वार के पार जाते ही
पैरों के नीचे कुचलते हुए फूल
तुम्हें रौदे हुए इंद्र धनुओं की याद
दिलाते रहे होंगे।
दिलाते रहे होंगे।
तुम कितने असंग हो गये होगे
उस क्षण
जब देह का संग भी छूट गया होगा।
क्या तुमने स्वयं देख पाया?
अपनी वत्सला स्रोतस्विनी को छोड़कर
नदी का वह द्वीप
समय की प्रखर धार में
अकस्मात् विलीन हो गया?

अब वह कब,
कहाँ, कैसे, स्थिर होगा
तुम्हारी स्रोतस्विनी ही जाने।

(दो)

प्रवाहित क्षणों
और बिखरते कणों पर
विराम लगाकर
धरती ने यही लिख दिया था
कि कविता
तुम्हारे लिए कभी साधन नहीं बनी,
साध्य वह कहाँ तक हो सकी
आगे आने वाले युग ही उत्तर देंगे।

तुम ऐसी प्रतिभा के स्रोत थे
जो अपने प्रभा-मण्डल में
स्वयं खो गया था—
आकाश में आलोक-पथ बनाते हुए।
नंगे अंधेरों को
और भी उघाड़ते हुए
यह तुम्हीं ने तो कहा था—

"एक नंगा, तीखा, निर्मल प्रकाश
ऐसा भी होता है
जिसमें कोई प्रभा-मण्डल नहीं बनते।"

(तीन)

नये लॉन में घास रोपते हुए
तुमने शिकायतन कहा था
लोग मुझे कवि नहीं मानते।

मैंने देखा
उस दिन तुम्हारे भीतर
उपालंभ के साथ खेद था
पर उस खेद के भीतर
एक चुनौती भी थी
तुमने जिसे स्वीकार किया
और युग ने भी। एक साथ।

तुमने अपनी कविता का
एक असाधारण शीर्षक दिया था
—"सम्पराय"

जिसका अर्थ कोश ही जानते थे
पर तुम्हें सहज ज्ञात था
आमलकवत्।

बिना उसके तुम कैसे लिख पाते
कि तुम अपनी चिता
स्वयं रच रहे हो—
है राह
कुहासे तक ही नहीं,
पार देहरी के । है ।
मैं हूँ तो वह भी है
तीर्थाटन को निकला हूँ
काँधे बाँधे हूँ
लकड़ियाँ चिता की
....
पर तीर्थ यही तो होते हैं
अनजाने यद्यपि वांछित — सम्पराय
हम होते ही रहते हैं वहाँ पार।

(चार)

अमृत खोजता
नश्वरता के भीतर तक,
जानता हुताशन
नहीं मार सकता कोई
कुछ से, कुछ भी से।
देख लिखा था
अग्नि-शिराओं में धक्-धक्
अंगार प्यार का।

रक्त-रूप जो रहा लेखनी में स्वर भरता,
निर्झर था वह, सन्नाटे का छंद बन गया
जाने कैसे ?

तुमने कहा था
जो विकृत नहीं होता
वही तो विवेक है,
और कालिदास ने कहा था
जो विकृत होता है
वही तो जीवन है
विवेक और जीवन के बीच
तालमेल बिठाने में ही
कदाचित तुम्हें कविगुरु से पूछना पड़ा—
''किमिदं यक्ष''?
कौन सी चमत्कारी सत्ता है यह —मनस्वी।
तुम्हारा रचना-धर्मी मन
लिख-लिखकर फिर
लिखने में विश्वास करता था
जब तक तुम्हें संतोष न हो जाय।

□
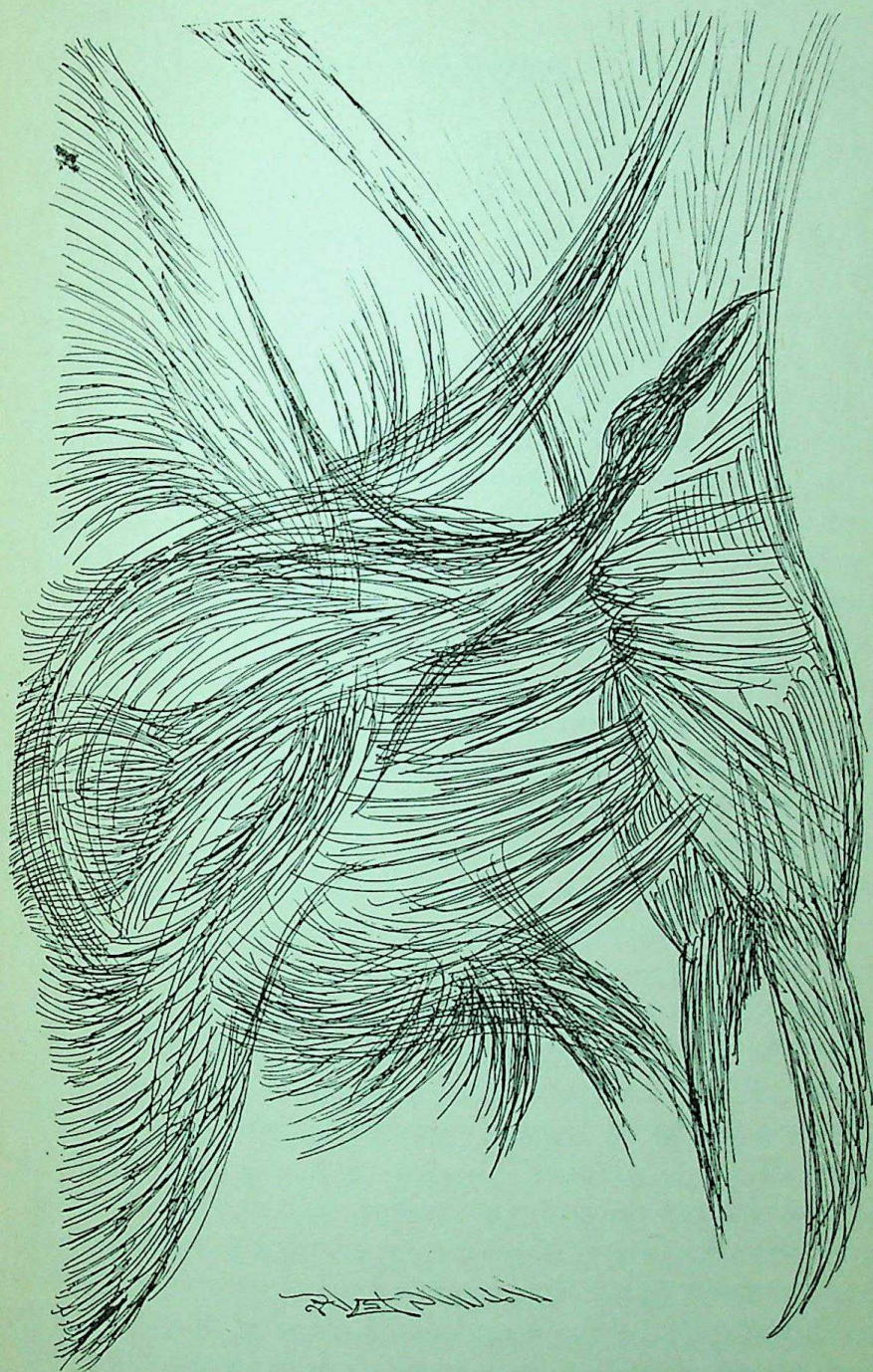
प्रिय हारिल

नयी हिंदी कविता के 'सहोद्योगी' अज्ञेय

डॉ. प्रभाकर माचवे

'अज्ञेय' ४ अप्रैल १९८७ को नहीं रहे। उनका नाम १९४३ में प्रकाशित 'तार-सप्तक' नामक एक सात कवियों के 'सहोद्योगी' प्रकाशन से (यह शब्द उस पुस्तक की भूमिका में संपादक 'अज्ञेय' ने लिखा है) जुड़ा है। बल्कि एक के बाद एक चार सप्तक उन्होंने संपादित किये। और इन अट्ठाइस कवियों में ऐसे कई प्रसिद्ध कवि बाद में आगे आये, जिनमें से कुछ अब दिवंगत हैं—जैसे गजानन माधव मुक्तिबोध, भारत भूषण अग्रवाल, भवानी प्रसाद मिश्र, सर्वेश्वरदयाल सक्सेना, विजयदेव नारायण साही। इस संकलन-संपादन कार्य में गये चार दशकों में नयी हिंदी कविता ने कई मोड़ लिये। कई तथाकथित कवियों की पोल भी खुल गई, कई तथाकथित 'प्रगतिवादी' एकदम अपने पुराने विश्वासों से विपरीत नव्य-रहस्यवादी हो गये, कइयों ने कविता लिखना प्राय: बंद कर दिया, कई इतिहास की अजस्र धारा में 'एक बूंद सहसा उछली' बनकर विराट विस्मृति में समा गये। इस लेख में, 'अज्ञेय' जी को श्रद्धांजलि देने के साथ उस समय और परिस्थिति का चित्रण भी होगा जिनसे यह तथाकथित 'प्रयोगवादी' आंदोलन ज़ोर पकड़ता गया, और उस सामूहिक प्रक्रिया में 'अज्ञेय' कैसे एक प्रेरक कवि रहे इस बात की चर्चा होगी।

गत विश्व-महायुद्ध (१९३९-४५) के समय भारत के बौद्धिक, कवि, लेखक तीन खेमों में बँट गये थे :

(१) गांधीवादी : युद्ध मात्र के विरोध में १९४० में वैयक्तिक सत्याग्रह के समर्थक थे।

(२) समाजवादी : अगस्त सन' ४२ के आंदोलन में अंग्रेजों के 'भारत छोड़ो' अभियान में युद्ध-प्रयत्न विरोधी।

(३) साम्यवादी एवं 'एम.एन. रायवादी' (महायुद्ध फासिस्त विरोधी होने से युद्ध-प्रयत्न समर्थक)।

'अज्ञेय' जी तब रैडिकल ह्यूमैनिस्ट नेता मानवेंद्रनाथ राय के प्रबल समर्थक थे और १९४२-४३ में कप्तान बनकर आसाम-मोर्चे पर 'दिलखुश सभा' नामक सिपाहियों के मनोरंजन के दस्ते से संबद्ध थे। जब वे कलकत्ता में इस कार्य के लिए गये थे, भारत भूषण अग्रवाल, भँवरमल सिंघी आदि की मारवाड़ी-रिलीफ सोसाइटी की पत्रिका 'समाज-कल्याण' के संपादक थे। जमनालाल बजाज की मृत्यु पर भारत जी ने कविता भी लिखी थी। नेमिचंद्र जैन तब शुजालपुर के एक स्कूल में अध्यापक थे और वहीं गजानन माधव मुक्बिोध थे। मालवा (मध्य प्रदेश) में ही जन्मे श्री गिरिजाकुमार माथुर तब

आकाशवाणी लखनऊ में पदाधिकारी थे। और डॉ. रामविलास शर्मा लखनऊ विश्वविद्यालय के अंग्रेजी विभाग में अध्यक्ष थे। 'प्री-रैफेलाइट्स' पर उन्होंने अंग्रेजी में पी.एच.डी. की थी। 'संघर्ष' के १९४१ के रवींद्रनाथ ठाकुर की मृत्यु के बाद विशेषांक का संपादन उन्होंने आचार्य नरेंद्रदेव जी के लिए किया था। मैं तब माधव कॉलेज उज्जैन में तर्कशास्त्र पढ़ाता था। गाँधी जी के आश्रम से मेरा संबंध सन् १९४० से हुआ था। मेरा सन् १९४२ के आंदोलन के अनेक भूमिगत कार्यकर्ताओं से संबंध था। जेल में गये लोगों के परिवारों की हम सहायता करते थे। धन से, किताबों से, अन्य आवश्यक वस्तुओं से। यह गुप्त कार्य करते समय मैं साम्यवादियों के साथ हूँ, यह बताना जरूरी था, जिससे पुलिस की निगाह हम पर उतनी न रहे। एम.एन. राय के ग्रंथ तक मैंने पढ़े, और उनके क्रांतिकारी मानवतावाद' से मैं बहुत आकृष्ट हुआ। मराठी साहित्य से मेरा घनिष्ठ संबंध था—उनमें मेरे कई प्रिय लेखक 'रायवादी' थे और हैं। यह सब बताने का हेतु यह है कि 'तार-सप्तक कैसे बना, यह पार्श्वभूमि समझ में आये।

पहले विचार यह हुआ कि मध्य प्रदेश के वे कवि, जिनका कोई कविता-संग्रह तब तक नहीं छपा था, उनकी कविताओं का चयन-संकलन कर मराठी 'रविकिरणमंडल' के सात कवियों ('सप्तर्षि, जिनमें एक अरुंधती मनोरमाबाई रानडे थीं) जैसे संग्रह अलग-अलग छापे जायें। नेमिचंद्र बंगाली अच्छी जानते थे। वे 'चार पोइशाय एकटी' संग्रह छोटी-छोटी पुस्तिकाओं की तरह लाये, बुद्धदेव बसु, सुभाष मुखोपाध्याय आदि के। और तब नए हिंदी कवियों की अलग-अलग पुस्तिकाएँ छापने का तय हुआ। नेमिचंद्र, मुक्तिबोध, मैं तो थे ही, 'आगामी कल' पाक्षिक के संपादक प्रयागचंद्र शर्मा, वीरेंद्रकुमार जैन, गिरिजाकुमार माथुर मिलाकर सात हो जाते। कवयित्री शकुन्त माथुर को हम ले सकते थे। पर इसी बीच (स्व.) भारत भूषण अग्रवाल ने, जो नेमिचंद्र के 'साढू' थे (दोनों की पत्नियाँ सगी बहनें हैं) और कलकत्ता में 'अज्ञेय' जी के संपर्क में थे यह प्रस्ताव रखा कि सब लोग अपना-अपना छपाई का खर्चा दें तो एक सहकारी प्रकाशन हो जाये। मुद्रण आदि का भार वात्स्यायन जी ने अपने ऊपर लिया। नाम मैंने 'सप्तक' सुझाया था, बाद में 'तार' वात्स्यायन जी ने जोड़ा और प्रयाग वीरेंद्र जैन को पता नहीं क्यों उनमें नहीं लिया। पहले जो विचार मालवा-मध्य प्रदेश तक सीमित रखने का था, उसमें भारत भूषण जी आ गये और डॉ. रामविलास शर्मा के 'व्यंग्यों' से तब अज्ञेय बहुत प्रभावित थे उनको भी लेने का तय हो गया। इसीलिए वीरेंद्र कुमार और प्रयाग छूट गए। पाँच सौ ही प्रतियाँ छपी थीं। मैंने तो पैसे भी नहीं भेजे थे। शायद वात्स्यायन जी ने ही मेरी ओर से दिये थे। बाद में यह पुस्तक ऐतिहासिक महत्व की हो गयी। यह संग्रह छायावाद और प्रगतिवाद दोनों प्रचलित शैलियों से भिन्न था, यद्यपि प्रगतिशील सामाजिक प्रवृत्ति की कविताएँ उसमें थीं। मैंने ही वात्स्यायन जी डॉ. देवराज, नलिन विलोचन शर्मा के साथ सन् १९४८ में आल इंडिया रेडियो, इलाहाबाद में आधुनिक हिंदी कविता पर रेकार्ड की गई 'परिचर्चा' में, नलिन जी को 'प्रपद्यवादी', वात्स्यायन को 'प्रयोगवादी' और डॉ. देवराज को 'दार्शनिक व्यक्तिवादी कवि' के नाते परिचय दिया। 'प्रयोगवाद' शब्द का पहला प्रयोग यों मैंने किया, और यह नाम इस तथाकथित 'आंदोलन' से चिपक गया। छंद, भाषा, स्वरालोडन जैसे गिरिजाकुमार माथुर ने 'तार सप्तक' के पहले वक्तव्य में विस्तार से लिखा है), विषय ('मैं और खाली चाय की प्याली), 'मध्यवित्त' जैसे मेरी कविताएँ, पैरोडी (जैसे रामविलास शर्मा की 'हाथी घोड़ा पालकी' में 'सत्यम् शिवम् सुंदरम्' का मज़ाक उड़ाया गया था), सानेट, अंतर्गत एकालाप (मुक्तिबोध की ब्राउनिंग जैसी 'इंटर्नल सालिलौकी) आदि प्रयोग तो इसमें थे ही। पर 'प्रयोग का 'वाद' कभी बन न सका—वह 'अज्ञेय' और उस कविता के अलीबाबा के चालीस अनुयायियों तक ही सीमित रहा।

इस संग्रह में और नई कविता के इस मोड़ पर 'अज्ञेय' और उनके 'सहोद्योगियों' के कार्य पर विचार करने से पहले चार बातें स्पष्ट हो जानी चाहिए

ये सब कवि मुक्तिबोध को छोड़कर अंग्रेजी साहित्य के एम.ए. थे। वात्स्यायन ने आधा एम.ए. लाहौर में करके छोड़ दिया था क्राांतिकारी आंदोलन में जाने के लिए। रामविलास अंग्रेजी साहित्य के 'डॉक्टर' थे, पर न वे कभी अंग्रेजी में कभी लिखते थे, न हैं, अंग्रेजी-विरोधी हैं, और न उनका 'थीसिस' कभी छपा। मैं, गिरिजाकुमार, नेमिचंद्र, भारतभूषण सभी अंग्रेजी के एम.ए. थे। उस समय के कई गद्य हिंदी लेखक भी अंग्रेजी के ही एम.ए. थे : प्रकाशचंद्र गुप्त, अमृतराय, विजयदेव नारायण साही, डॉ, बच्चन इत्यादि। यह तथ्य इसलिए जरुरी है कि अंग्रेजी रोमैंटिक कविता का, बाद के ह्रसोन्मुख (डिकेडंट) रोमानवाद में क्या हश्र स्विनवर्न (Swinburn) तक हुआ, और टी.एस. इलियट, एज़रा पाउंड़ डब्लू. एच. आडेन की कविता का प्रभाव इन सब कवियों पर पड़ा।

इन सब कवियों ने उन्नीसवीं-बीसवीं सदी के अंग्रेजी के अलावा यूरोपीय (माइकोवस्की, लुई आरागाँ, पाब्लो नेरुदा, लोर्का, बादलेयर आदि की कविताएँ) अधिकतर अनुवाद में, कवियों की रचनाएँ पढ़ी थीं। इनमें से कई कवि अन्य भारतीय भाषाओं से परिचित थे। वात्स्यायन जी उर्दू, बंगला, गुजराती, मराठी पढ़ लेते और बंगला, तमिल बोल भी लेते थे— पंजाबी तो उनकी मातृभाषा ही थी, मैं भी सात आठ भाषाएँ जानता था, नेमिचंद्र, भारतभूषण बंगला ज्ञाता थे। और इन भाषाओं के नयी कविता आंदोलन से ये सब लोग सुपरिचित थे। गिरिजाकुमार रेडियो से संबद्ध होने से अखिल भारतीय कार्यक्रमों में रुचि लेते थे अनुवाद भी करते थे। आल इंडिया रेडियो में वात्स्यायन, भारतभूषण अग्रवाल, नरेश मेहता, हरिनारायण व्यास और बाद में रघुवीर सहाय, प्रयाग नारायण त्रिपाठी आदि जुड़े थे—और 'वाचिक परंपरा' (स्पोकन वर्ड) से उनका रोज़ का संबंध था। ऑडेन आदि बोलचाल की भाषा को कविता की भाषा बना रहे थे। अमेरिका में 'लेंग्वेज' 'स्लैंग्वेज' बन चुकी थी।

सब कवियों को यह लग रहा था कि प्रकृति के जीवंत स्पर्श से हम जैसे टूट गये हैं। नगरीकरण ने हमारा भोलापन, निर्व्याज ग्राम-बोध नष्ट कर दिया है। अवधी-वैसगाड़ी के प्रेमी रामविलास तो कविता में 'भदेसपन' के समर्थक थे। मुक्तिबोध, गिरिजाकुमार, नरेश मेहता, हरिनारायण व्यास, भवानी प्रसाद मिश्र में मालवा-मध्य प्रदेश के कई शब्द और संदर्भ अनायास चले आ रहे थे। अपनी जड़ों से जुड़ने के प्रयत्न में खड़ी बोली को संस्कृतमय कृत्रिम भाषा बनाने वाले कवियों से यह भिन्न धारा थी। अब 'रुपोधान प्रफुल्लप्राय कलिका राकेन्दु बिम्बाननों जैसी 'हरिऔधी' शार्दूलविक्रीडित रचना कोई नहीं करता था। न 'ज्योत्सना' के पंत की 'पक्ष्मिल पलकें' और 'प्रसाद' की 'अलंबुषां' जैसे आर्यप्रयोग कोई करता था। स्व. 'फिराक' तो कहते थे कि सुमित्रानंदन पंत आपटे की संस्कृत डिक्शनरी सामने रखकर कविता लिखते थे।

चौथी सबसे महत्वपूर्ण 'प्रयोग' वाली बात थी बिंबों का नया संश्लिष्ट संसार। पुरानी रीतिकालीन या छायावादी कविता तक केवल 'चाक्षुष' या 'श्रव्य' बिंब (अनुप्रासादि) अधिक थे। पहली बात 'तारसप्तक' ने हिंदी कविता में गंध, स्पर्श, स्वाद के नये बिंबों को कविता का उपजीव्य बनाया। १९४३ से पहले क्या किसी कवि ने लिखा था—'मूत्रसिंचित मृत्तिका के वृतत में तीन टाँगों पर खड़ा नत-ग्रीव/धैर्यधन गद्हा' या 'गोयठों के गंधमय अम्बार।' (दोनों 'अज्ञेय' की पंक्तियाँ 'शिशिर की राका-निशा' तारसप्तक से),'बिकसी फुटें, पकती कचेलियाँ बेलो में/ढो ले आती ठंडी बयार, सोंधी सुगंध (डॉ. रामविलास शर्मा, 'दिवा-स्वप्न, वही)। गिरिजा कुमार माथुर ने तो कमाल ही कर दिया था—'आज है केसर रँग रँगे बनो. 'रुककर जाती हुई रात', 'चूड़ी का टुकड़ा', 'रेडियम की छाया'

'क्वाँर की दोपहरी', 'भीगा दिन' आदि में कितने सारे समिश्र 'एसोसियेशन' हैं। कविता अब पचेन्द्रियों का परमोत्सव बन गई। केवल विचारों या मत प्रचार का घोषणापत्र नहीं। (जैसे 'अंचल', 'सुमन', नरेंद्र शर्मा तब लिख रहे थे), और केवल काल्पनिक रंगीनियों की रीतिकालीन जुगाली नहीं (पंत, रामकुमार वर्मा, उदयशंकर भट्ट तब उसी में 'मग्न' थे)। ये नये बिंब विश्वसनीय थे, 'अथेंटिक' थे।

अब इसी बात को हम 'तारसप्तक' के दूसरे संस्करण (१९६६) में हम सात कवियों के पुनर्वक्तव्यों के विश्लेषण से पाते हैं कि जो आलोचक गोलमोल ढंग से 'अज्ञेय' और उनके छह सहयोगियों को एक ही डंडे से हाँकते रहे, वे कितने गलत थे और हैं। नेमिचंद्र जैन ने तो स्पष्ट ही लिखा है कि 'तारसप्तक' कोई आंदोलन नहीं था, और बाद के सप्तकों में 'अज्ञेय' जी ने इसका श्रेय केवल अपने ऊपर ले लिया। रामविलास शर्मा तो प्रथम संस्करण के वक्तव्य में ही कह चुके थे कि 'आशा है, यह प्रकाशन अब अंतिम होगा'। दूसरे संस्करण में वे लिखते हैं 'मेर पास कोई अप्रकाशित कविता नहीं'। यानी ये दोनों सज्जन मार्क्सवादी आंदोलन से किस मात्रा में पास या दूर रहे, या राष्ट्रीय स्वाधीनता के आंदोलन से किस मात्रा में पास या दूर रहे, या राष्ट्रीय स्वाधीनता के आंदोलन में और बाद में इनकी क्या आस्था, त्याग और सेवा की भूमिका रही, यह विषय छोड़ भी दें, फिर भी कविता के सृजन-कर्म से वे दूर हटते चले गये और केवल जीवनी-इतिहास-आलोचना लेखन, और नाट्यालोचन में ही उनकी परिणति हुई। जो अब जीवित नहीं हैं, जैसे भारत भूषण और मुक्तिबोध उनके वक्तव्य पुन: पढ़ने पर लगता है कि दोनों ही काफी मोहभंग की अवस्था में थे, अपने पुराने साम्यवादी रूप से भिन्न :

भारत भूषण (पुनश्च:) 'पर नहीं, कविता अस्त्र नहीं है न मूल्यवान, न अमूल्य। कविता को अस्त्र मानकर चला ही था (जागते रहो) कि मैं स्वयं अस्त्र बन गया।' ने 'विभक्ति युग के 'जीवनयापन के लिए तरह-तरह की कलाबाजियाँ करने वाले' तुक्तक-कवि बनकर रह गये।

मुक्तिबोध (पुनश्च) :
'उचटता ही रहता है दिल,
नहीं ठहरता कहीं,
ज़रा भी।
यही मेरी बुनियादी खराबी।

सारांश, 'तारसप्तक' का यदि कोई अवदान था तो उसे निभाने वाले 'अज्ञेय' अब नहीं रहे। वे भी दूसरे संस्करण तक आते-आते काफी बदल गये थे। **अपनी ज़मीन पर सिर्फ टिके रहे गिरिजाकुमार माथुर।** उनकी १९४३ और १९७९ की कविताओं में कोई विसंगति नहीं है। अपने बारे में केवल इतना ही कि अंग्रेजी साहित्य, दर्शन, मार्क्सवाद और गांधीवादी विचारधाराओं की अध्ययन के पीठिका पर मैंने १९३८-३९ से ही नये विषय और शैली और मुड़ चला था। मैंने कवि-कर्म छोड़ नहीं दिया है। न उससे छुट्टी ही कर ली है जैसै बाकी चार सप्तकों के अनेक जीवित कवियों ने किया उनके लिए कविकर्म कोई मार्क्सवाद का प्रचार नहीं था, न समाज बदलने का अस्त्र आदि। वह शुद्ध दिमागी शगल था, बौद्धिक विलास मात्र।

'अज्ञेय' यही चाहते थे कि 'साम्यवादी' अपने आपको मानने वाले हम तथाकथित क्रांतिकारी (?) कवियों के भीतर का आत्मवाद उनकी कविता के बहाने, स्पष्ट कर दें। वे मानों कहते थे—बहुत हो चुका 'सहोद्योगो, कविता तो नितांत निजी, और 'एकांत', 'रस-

तरंग' है। यह आकस्मिक नहीं कि तारसप्तक के सबसे अधिक 'प्रतिबद्ध' माने जाने वाले दो कवियों ने भी चंद्र जैन (एकांत) और रामनिवास शर्मा (रस-तरंग) के एकमात्र प्रकाशित काव्य-संग्रहों के ये दो शीर्षक हैं। मुक्तिबोध का मरणोपरांत संग्रह छपा 'चाँद का मुंह टेढ़ा हैं'। मेरा तो १९६३ के बाद संग्रह ही नहीं छपा किसी प्रकाशक ने माँगा नहीं, मैंने दिया नहीं। हम सातों में आज जो कवि अभी भी बराबर लिख रहा है और भारतीय कविता १९८४ में जिसकी लंबी रचना छपी है, वह है **गिरिजाकुमार माथुर**। और वह 'अज्ञेय' से बहुत भिन्न है, दूसरे ही रंग का कवि है। 'भग्नदूत' (१९३३) से 'ऐसा घर कहीं देखा है' (१९८५) तक 'अज्ञेय' की काव्ययात्रा है। 'मंजीर' (१९४१) से 'साक्षी रहे वर्तमान' (१९७९) तक गिरिजाकुमार माथुर की काव्य-विकास प्रक्रिया द्रष्टव्य है।

'अज्ञेय' ने 'हेमंत के गीत' में लिखा—

अनदेखे लाद ले गया है अपनी झोली में
काल का गली छानता हुआ कबाड़ी
न जाने कितने दिन, कितने क्षण
कितनी अंतहीन अनकही और अधूरी कही बातें......

पर **गिरिजाकुमार माथुर** की काल के विषय में धारणा और है, जैसे 'इतिहास के जर्राहों से' में वह मानव-निर्मित है —

'पर इतिहास के पहिए
हाँके जाते नहीं हैं
किसी बाहरी गणित से..........
बेबाक इस हिसाब में
ऐसा अक्सर हो जाता है
अदा किये हुए पार्ट आपस में बदल जाते हैं
कत्ल किये हुए नाम फिर जिंदा हो जाते हैं
जो कल तक थे जज वही मुर्जारम हो जाते हैं।

(भारतीय कविता, १९८४, कें. हि. निदेशालय,) पृ. ५०९

डॉ. राम विलास शर्मा ने तो 'तारसप्तक' के अपने वक्तव्य में आत्म-स्वीकृति दे दी थी—'मैं उन्हें (अपरिचित पाठक-मित्रों को) एक बात का आश्वासन देना चाहता हूँ : जैसे वे मेरी कविताओं के बारे में 'सीरियस' नहीं हैं, वैसे मैं भी नहीं हूँ। मैंने कई बार सोचा, प्रेम-संबंधी कविताएँ भी लिखनी चाहिए, लेकिन शायद एक-आध बार से अधिक इस बार रुझान नहीं हुआ। और जिसके हृदय में प्रेम की नदी न बहे, वह कवि ही क्या?' (तारसप्तक)

अब 'अज्ञेय' की प्रेम-संबंधी स्वीकृति देखिये — ('पुनश्च: तारसप्तक') पृ. ३१०

'प्रेम और यौन वर्जनाओं के विषय में जो कुछ कहा था उसमें, उस समय, कदाचित कुछ सफाई देने का भी भाव मन में था। अब वह नहीं है। इसलिए नहीं कि अब साधारण व्यक्ति के बारे में मेरी धारणा बदल गयी है। मैं अब भी कह सकता हूँ, क्योंकि देखता हूँ कि 'आधुनिक युग का साधारण व्यक्ति यौन वर्जनाओं का पुंज है' 'अज्ञेय' बार-बार प्रेम के मामले में, काल के बारे में भारत की नित्य-अनित्य वाली दोहरी दृष्टि की बात करते हैं।

'अज्ञेय' ने 'सर्जना' के क्षण' नामक अपना एक संकलन १९८४ में 'भारतीय साहित्य सदन', मेरठ से प्रकाशित किया। उसकी भूमिका में वे छायावाद की भूमिका और उसकी सीमाएँ यों स्पष्ट की —

'छायावाद ने जो भाषा गढ़ी थी, वह व्यक्ति के अनुभूत, अभ्यंतर यथार्थ को सामने लाने के लिए गढ़ी थी, वाचिक परंपरा की वृत्तात्मक रीति में वही सबसे कठिन काम और कवि की सबसे बड़ी जरुरत था। परवर्ती कवि के लिए 'अपनी' बात कहना कठिन नहीं रहा था उसका रास्ता छायावादी खोल चुका था और उपयुक्त भाषा का ढाँचा भी वह खड़ा कर चुका था। पर सामाजिक अनुभूतियों के, बाह्य यथार्थ के प्रस्तुतीकरण के लिए न छायावादी के शब्द पर्याप्त थे, न उसकी भाषा।'

इसी तर्क को आगे बढ़कर 'अज्ञेय' काव्य में सपाटबयानी और इकहरी भाषा का फिर से विरोध करते हैं। और इस बात को दुहराते हैं कि 'कविता कविता में से निकलती है।' वे यह कबूल करते हैं कि 'छायावाद के प्रायः सभी प्रमुख कवि संगीत में भी गति रखते थे। हमारे समाज में ऐसा नहीं है कि काव्य-वाचन कभी सुना न हो पर वह प्रमुखतः श्रोता नहीं, पाठक है, जैसे कि कवि प्रमुखतः वाचक नहीं, पाठक है।'

'अज्ञेय' की कविता में यह रागात्मक तत्व, यह संगीत, यह लय नकारा गया है। **बहुत कम 'गीत' अज्ञेय ने लिखे। गिरिजाकुमार माथुर में गीत-तत्व बराबर मौजूद है।** भवानी प्र. मिश्र में वह है। वह रुमानी गीतात्मक तत्व 'कनुप्रिया' के लेखक धर्मवीर भारती में है। हरिनारायण व्यास और केदारनाथ सिंह में है। 'अज्ञेय' की मृत्यु के तीन महीने बाद हम उनके काव्यावदान पर विचार करते हुए उनकी सीमा और सामर्थ्य को स्पष्ट करना चाहते हैं। मैं उनका प्रशंसक भी रहा हूँ, और आलोचक भी। 'अज्ञेय' की कविता के निम्न गुण मुझे विशेष आकर्षित करते हैं :

प्रकृति चित्रण की उनकी विलक्षण क्षमता। 'सर्जना के क्षण' में उन्होंने अपनी ५१ कविताएँ चुनी हैं और उनमें इतने सारे कविता-शीर्षक प्रकृति-परक हैं : 'ये मेघ साहसिक सैलानी 'पहला दौंगरा' 'मरु और खेत', 'बंधु हैं नदियाँ', 'कलगी बाजरे की', 'कतकी पूनो', 'क्वाँर की बयार', 'प्रथम किरण', 'हवाएँ चैत की', 'दूर्वांचल', 'कितनी शांति! कितनी शांति! 'महानगर : कुहरा', 'मैंने देखा, एक बूँद', 'चिड़िया ने ही कहा' आदि। प्रकृति को वह एकदम टटके, नये, अदृश्य अंदाज़ से देखते हैं। यह अजब नहीं कि हिंदी कविता संग्रह का नाम उन्होंने 'पुष्करिणी' और सुमित्रानंदन पंत की पृष्ठिपूर्ति पर ग्रंथ का नाम 'रूपाम्बरा' रखा।

समाज के प्रति उनकी चिंता जनतांत्रिक है, वर्गाश्रित नहीं। आभिजात्य उनमें अवश्य है। पर वे बार-बार कहते हैं 'अच्छा अपना ठाठ फकीरी, मँगनी के सुख-साज से'। उनके इसी संग्रह में वे 'हरा-भरा है देश', 'बाँगर और खादर', 'जनवरी छब्बीस', 'मैं वहाँ हूँ', 'हवाई यात्रा' चुनते हैं। वैसे उनके अन्य संग्रहों में कई कविताएँ जिसमें उनकी सहानुभूति दलित और शोषित वर्ग के प्रति स्पष्ट है।

वे धर्म के प्रति उदासीन नहीं हैं। वे अध्यात्मवादी नहीं हैं। परंतु धीरे-धीरे वे 'अरी ओ करुणा प्रभामय', 'साम्राज्ञी का नैवेद्य', 'असाध्य वीणा', 'उत्तर प्रियदर्शी' और अंतिम संग्रहों में कई 'जैन' बौद्ध विषयों के प्रति आकृष्ट होते जाते हैं। कई कविताएँ वे पहेलियाँ बुझाने की तरह लिखते हैं। यह मानवतावाद से 'नव्य-रहस्यवाद' की ओर उनकी अंतर्यात्रा है। परंतु वे 'अस्तित्ववादी' नहीं हैं। योरोपीय अस्तित्ववाद शून्यवाद, सर्वसंशयवाद में परिणत होता है। परंतु 'अज्ञेय' आस्था के कवि हैं, श्रद्धा के नहीं। वे प्रज्ञा में विश्वास रखते हैं, ब्रह्मराक्षस या मिथकों में नहीं।

ऊपर जो आधुनिक हिंदी कविता को 'अज्ञेय' जी के दिये हुए नये मोड़ की बात अधोरेखित की

गई, वही उनकी सीमा भी बन जाती है। प्रकृति धीरे-धीरे 'निर्जन', प्राय: मानवी-संस्पर्श-विहीन होती जाती है। वे 'अरूप' की ओर बढ़ते जाते हैं। उदाहरण के लिए उनकी कविता 'उधार' देखें। धूप, चिड़िया घास की पत्ती, शंखपुष्पी, हवा, लहर, आकाश से कवि गरमाई, मिठास, हरियाली, उजाला, खुलापन, लोच, उल्लास', माँगता है। अंत में सपने में 'एक अनदेखें अरूप ने कवि से' प्यार उधार माँगा। और वह अनदेखा अरूप कहता है—'हाँ, क्योंकि ये ही सब चीज़ें तो प्यार हैं —

'यह अकेलापन, यह अकुलाहट,
यह असमंजस, अचकचाहट,
आर्त अनुभव,
यह खोज, यह द्वैत, यह असहाय
विरह, व्यथा,
यह अंधकार में जागकर सहसा पहचानना
कि जो मेरा है वही ममेतर है।'

यही 'अज्ञेय' की कविता की सबसे बड़ी कठिनाई है, गाँठ है, या कहें कि अनिवार्य कमजोरी है कि वे 'ममेतर' के प्रति 'मम' के संपूर्ण समर्पण में विश्वास तो करते हैं, पर उनका 'मैं' 'हम' नहीं हो पाता। 'तारसप्तक' की पहली कविता 'जनाह्वान' में उन्होंने कहा था—'मैं के झूठे अहंकार ने हराया मुझे' और 'सर्जना के क्षण' की अंतिम कविता में वे पुन: लिखते हैं—'एक क्षण भर और : लंबे सर्जना के क्षण कभी भी हो नहीं सकते। ....बरस बरस पर बीतें एक मुक्ता-रूप को पकते। 'अज्ञेय' क्षणवाद और क्लासिक क्षणातीत के बीच में 'नाव' की तरह झूलते रहते हैं। बड़ा अच्छा और सधा हुआ उनका यह रस्सी पर नाच है, पर लगता है क्षणिक शब्दों की बाजीगरी मात्र है।

उनके निबंधों में व्यक्ति के स्वातंत्र्य और युग या समाज के द्वंद को बार-बार उन्होंने उठाया है, और वे सदा व्यक्ति की ओर ही झुकते रहे हैं। कभी वे समाजवादी थे, पर धीरे-धीरे वे 'पालिटिक्स विदाआउट पावर' और 'पार्टीलेस डेमाक्रेसी' की ओर झुकते गये। उन्हें हर समूह आश्रित संस्था में तानाशाही और व्यक्ति स्वातंत्र्य के हनन का संदेह होने लगा। परिणाम यह हुआ कि अंत में वे 'जानकी जीवन खोज की पदयात्रा' और 'कहाँ है द्वारका' जैसे अभियानों में समानधर्माओं की खोज करते रहे। सारस्वत ब्राह्मण पुत्र अंत में उसी अद्वैत के शोध में समाहित हो गये। कविता द्वैत की उपज है। 'यह दीप अकेला स्नेह भरा' पंक्ति का नहीं हो सका। 'संस्पर्श वृहत का उतरा सुरसरिसा : हम बह न सके।' (योगफल) एक और कविता 'मानव अकेला' इसका पूरा साक्ष्य है :

भीड़ों में
जब-जब जिस-जिस से आँखें मिलती हैं
वह सहसा दिख जाता है
मानव
अंगारे-सा -भगवान-सा
अकेला।
और हमारे सारे लोकाचार
राख की युगों की परतें हैं।

अभी समय नहीं आया है कि 'अज्ञेय' की हिंदी कविता को देन का पूरा समीक्षात्मक जायज़ा लिया जाये। परंतु इतना सच है कि 'अज्ञेय' नहीं होते तो हिंदी कविता लिजलिजे, भावुक, गलदश्रु,

छद्म गीतात्मकता में ही भटकती रहती, या फिर ओढ़ी हुए क्रांतिकारिता के झूठे तेवर में नारेबाज़ी में ही खो जाती। उन्होंने इन दोनों छायावादी और प्रगतिवादी 'अतियों' से हिंदी कविता को उबारा और तीसरी दिशा दिखाई। यह एक उस समय की ऐतिहासिक अनिवार्यता थी। 'अज्ञेय' ने अकेले यह नहीं किया। उनके साथ कई अन्य युवा कवि थे। यह नया प्रयोग एक 'सहोद्योग' था। यह 'अज्ञेय' के अंध अनुयायी, नये छुटभैये और नकलची भूल गये। 'अज्ञेय' को उन्होंने 'गुरु' और 'नाना' बनाना चाहा। वह उनकी छवि गलत है। ये रहस्यवाही या अध्यात्मवादी नहीं थे। कविता में वे मैथिलीशरण गुप्त को गुरु मानते थे। 'बच्चन' और 'दिनकर' को एक अन्य लेख में वे बड़ा कवि नहीं मानते। अपने अलावा 'नवधा' में ये आठ कवि उन्होंने चुने हैं : शमशेर बहादुर सिंह, भवानी प्रसाद मिश्र, गजानन मुक्तिबोध, गिरिजाकुमार माथुर, नरेश मेहता, जगदीश गुप्त, सर्वेश्वरदयाल सक्सेना और रघुवीर सहाय। यह संग्रह जगदीश गुप्त के सह-संपादकत्व में पाठ्य-पुस्तक की तरह बनाया गया है। १९८३ में, भारतीय साहित्य प्रकाशन मेरठ ने इसे छापा है। 'अज्ञेय' ने भूमिका में स्व. धूमिल का नाम लिया है। 'अज्ञेय' का कवि और आलोचक इस तरह से दो भिन्न दिशाओं में बढ़ता हुआ नज़र आता है।

सब युग-गत और व्यक्तिगत मर्यादाएँ होने पर भी 'अज्ञेय' ने आधुनिक हिंदी कविता के चिंतक और दृष्टिकार के रूप में इतिहास में गये चार दशकों में एक बड़ी छाप छोड़ी है। मैं, व्यक्तिगत रूप से उनके निकट रहा हूँ, उनका आभारी हूँ : १९३९ से 'विशाल भारत' में उन्होंने मेरी 'देहाती मेले में और 'अर्थशास्त्र' (दो इंप्रेशनिस्ट कविताएँ), 'अश्वत्थ', 'देशोद्धारकों से', और 'प्रतीक' में 'कछुआ' और 'टेलीफोन' कविताएँ छापीं—अनेक लेख और समीक्षाएँ प्रकाशित कीं, कहानियाँ भी। मैंने उनके लेखन से बहुत अवगाह न किया पर मैंने 'मैं' शैली अपनाई। हर कोई एक 'निराला' (अकेला) होता है। पर क्या वह सदा 'अज्ञेय' ही रहता है? इस प्रश्न का उत्तर अब आगे आने वाली पीढ़ी देगी।

□

महामौन की ओर

'अज्ञेय' के माध्यम से वात्स्यायन की खोज

डॉ. रणवीर रांग्रा

अज्ञेय बहुमुखी प्रतिभा के धनी थे। उनके पंद्रह कविता-संग्रह, सात कहानी-संकलन, तीन उपन्यास, बीस निबंध-संग्रह, दो यात्रावृत्त और दो डायरी-संकलन प्रकाशित हो चुके हैं। उनका व्यक्तित्व भी बहु-आयामी था। क्रांतिकारी और घुमक्कड़ तो वे थे ही। हरफनमौला भी वे ग़ज़ब के थे। लेखन और चित्रांकन से लेकर माली, बढ़ई, रसोइए का काम भी वे बढ़िया ढंग से और ख़ुशी-ख़ुशी कर सकते थे। शानोशौकत से रहना उन्हें पसंद था, पर ऐसी सुविधा न रहने पर वे मस्तमौला-फक्कड़ की तरह भी मज़े में रह सकते थे। उनकी पसंद और नापसंद दोनों प्रबल थीं। अपने चकरीले-पथरीले जीवन में उन्होंने अपने आस-पास मित्र-मंडली भी खूब जमाई और शत्रु भी अनगिनत पैदा किए। उनके प्रशंसक और निंदक बेशुमार हैं।

अपने को वे मूलतः कवि मानते थे। नयी कविता के प्रवर्तकों में उनकी गिनती होती है। पर अनेक उत्कृष्ट रचनाओं के बावजूद उनकी कविता कई प्रवादों का शिकार बनी, जबकि उनके कथा-साहित्य ने उनकी छवि को चमकाया है। मुझे तो यह भी लगता है कि उनकी धवल कीर्ति को अक्षुण्ण रखने के लिए उनका कथा-साहित्य ही पर्याप्त है। 'रोज', 'जयदोल', 'हीलीबोन की बत्तखें', 'पठार का धीरज', 'शरणदाता', 'बदला' आदि उनकी बेजोड़ कहानियाँ तथा 'शेखर : एक जीवनी' और 'नदी के द्वीप' नामक अनुपम उपन्यासों की गणना विश्वसाहित्य की श्रेष्ठ कथा-कृतियों में की जा सकती है। उनके कथाकार ने बस एक जगह मात खाई है। वायदा करके भी, अज्ञेय और उनके पाठकों के लाख चाहने पर भी, वह 'शेखर : एक जीवनी' का तीसरा भाग प्रकाश में नहीं ला सके।

अज्ञेय के ये दोनों उपन्यास, विशेषकर 'शेखर : एक जीवनी', आत्मकथा-परक रचनाएँ हैं। उनमें आत्मकथा-तत्त्व कितना है और उसके सहारे लेखक के अपने विकास-सूत्रों को कहाँ तक पहचाना और परखा जा सकता है, इसके लिए उन उपन्यासों की रचना तक अज्ञेय के जीवनवृत्त की संक्षिप्त जानकारी आवश्यक होगी। वे पंजाब में जालंधर के निकट कतरिपुर के भणोत सारस्वत ब्राह्मणकुल के थे। उनके पिता डॉ. हीरानंद शास्त्री भारत सरकार के पुरातत्व विभाग के उच्च अधिकारी थे। वे संस्कृत के प्रकांड विद्वान थे और स्वाभिमानी एवं अनुशासनप्रिय भी। वे प्रायः दौरे पर रहते थे। कसिया (देवरिया) के एक पुरातत्व खुदाई शिविर में ७ मार्च, १९११ को अज्ञेय का जन्म हुआ। उनका बचपन सन् १९११ से १९१५ तक लखनऊ में तथा १९१५ से १९१९ तक जम्मू और कश्मीर में बीता। १९१८ में वे पिता के साथ नालंदा आए जहाँ पिता ने उन्हें हिंदी लिखाना शुरू किया। उनकी शिक्षा घर पर ही संस्कृत की मौखिक परंपरा से प्रारंभ हुई थी। घर पर ही उन्होंने

पंडित से रघुवंश, रामायण, हितोपदेश आदि पढ़े तथा मौलवी से शेख सादी और पादरी से अंग्रेज़ी की शिक्षा शुरू की। उनके मानसिक विकास में माता की अपेक्षा पिता का योगदान अधिक रहा। बचपन में वे छोटी बुआ और बड़ी बहन के अधिक स्नेहभाजन रहे। उनका उपनयन संस्कार १९२१ में उड़ीसा के माधवाचार्य द्वारा हुआ और उसी समय 'भणोत' से 'वात्स्यायन' बने। जलियांवाला बाग कांड के आस-पास ही उन्होंने अपनी माँ के साथ पंजाब की यात्रा की जिससे उनके भीतर अंग्रेज़ी साम्राज्यवाद के विरुद्ध विद्रोह का बीजारोपण हुआ। १९२५ में उन्होंने पंजाब विश्वविद्यालय से प्राइवेट मैट्रिक पास किया। फिर विज्ञान में इंटर पास किया क्रिश्चियन कॉलिज, मद्रास से १९२७ में। १९२९ में उन्होंने फोरमन क्रिश्चियन कॉलिज, लाहौर से बी.एस.सी. किया और इसी दौरान चंद्रशेखर आजाद, सुखदेव, भगवतीचरण वोहरा जैसे प्रसिद्ध क्रांतिकारियों के संपर्क में आए। सन् १९२९ में उन्हेंने एम.ए. (अंग्रेजी) प्रथम वर्ष में दाखिला लिया, पर बढ़ती हुई क्रांतिकारी गतिविधियों के कारण पढ़ाई बीच में ही छूट गई। दिल्ली में क्रांतिकारी मित्रों के साथ बम फैक्टरी शुरू की। ऐसी ही एक फैक्टरी अमृतसर में भी खोलने के प्रयास में वहाँ १५ नवंबर, १९३० को पुलिस द्वारा पकड़ लिए गए। एक महीना लाहौर के किले में बंद रहे और फिर अमृतसर हवालात में। १९३१ से १९३३ तक दिल्ली में मुकदमा चला। दिल्ली-जेल की काल-कोठरी में 'शेखर : एक जीवनी' नामक उपन्यास ने जन्म लिया। १९३४ में जेल से छूटे तो अपने ही घर में नज़रबंद कर दिए गए।

उन्होंने १९३६ में आगरा में 'सैनिक' का संपादन किया। १९३७ में वे. पं. बनारसीदास चतुर्वेदी के आग्रह पर 'विशाल भारत' में गए और लगभग डेढ़ वर्ष तक उसका संपादन किया। फिर पहली बार रेडियो में नौकरी की। १९४२ में सेना में कमिशन लिया और असम-बर्मा फ्रंट पर तैनात हुए। १९४६ में वे सैनिक सेवा से निवृत्त हुए। १९४७ से १९५० तक 'प्रतीक' का संपादन किया तथा १९५० से १९५५ तक आकाशवाणी, नई दिल्ली में नौकरी की। १९६१ से १९६४ तक वे कैलिफोर्निया विश्वविद्यालय, बर्कले में विजिटिंग प्रोफेसर रहे। वे १९६४ से १९६९ तक 'दिनमान' के और १९७७ से १९७९ तक 'नवभारत टाइम्स' के संपादक भी रहे।

उन्होंने १९२४ में पहली कहानी लिखी और १९२७ में पहली कविता। उनकी प्रमुख कृतियों का प्रकाशनक्रम यों रहा—'विपथगा' (कहानी-संग्रह : १९३७), 'शेखर : एक जीवनी', भाग-१, (उपन्यास : १९४१), 'तारसप्तक' (कविता संकलन : १९४३), 'शेखर : एक जीवनी', भाग-२, (उपन्यास : १९४४), 'इत्यलम्' (कविता-संग्रह : १९४६), 'प्रिज़न डेज़ एंड अदर पोयम्स' (कविता-संग्रह : १९४६), 'हरी घास पर क्षणभर' (कविता-संग्रह : १९४९), 'बावरा अहेरी' (कविता संग्रह : १९५४), 'नदी के द्वीप' (उपन्यास : १९५२), 'अरे यायावर, रहेगा याद?' (यात्रावृत्त : १९५३), 'जयदोल' (कहानी-संग्रह : १९५१), 'इन्द्रधनुष रोंदे हुए ये' (कविता-संग्रह : १९५७), 'अरी ओ, करुणा प्रभामय' (कविता-संग्रह : १९५९), 'आत्मनेपद' (निबंध : १९६६), 'अपने-अपने अजनबी' (उपन्यास : १९६१), 'एक बूंद सहसा उछली' (यात्रावृत्त : १९६०), 'आंगन के पार द्वार' (कविता-संग्रह : १९६१ साहित्य अकादमी द्वारा पुरस्कृत), 'सुनहले शैवाल' (कविता-संग्रह : १९६५), 'कितनी नावों में कितनी बार' (कविता-संग्रह : १९६७ - भारतीय ज्ञानपीठ द्वारा पुरस्कृत) 'क्योंकि मैं उसे जानता हूँ' (कविता-संग्रह : १९६९), 'सागरमुद्रा' (कविता-संग्रह : १९७०) 'भवंति' (डायरी : १९७२), 'पहले मैं सन्नाटा बुनता हूँ' (कविता-संग्रह : १९७३), 'महावृक्ष के नीचे' (कविता-संग्रह : १९७७), 'नदी की बांक पर छाया' (कविता-संग्रह : १९८२)।

अज्ञेय का पूरा नाम था सच्चिदानंद हीरानंद वात्स्यायन। वे इसे अपने उपनाम 'अज्ञेय' से अलग ही रखते थे। यदि कोई उनका पूरा नाम लिखने के प्रयास में सच्चिदानंद हीरानंद वात्स्यायन

'अज्ञेय' लिख देता हो वह उन्हें अखरता। यह शायद विद्वान पिता के सान्निध्य में दक्षिण-प्रवास का प्रभाव था कि वे अपने नाम के बाद पिता का नाम भी जोड़ते थे। उनका कुलनाम तो था 'भणोत', पर उपनयन संस्कार में उड़ीसा के माध्वाचार्य ने उनके गोत्र 'वत्स' के आधार पर उन्हें जो 'वात्स्यायन' नाम दिया उसे ही उन्होंने सरनाम के रूप में अपना लिया। 'अज्ञेय' उपनाम उन्हें जैनेंद्रकुमार से मिला। यह कैसे हुआ, इसका विवरण जैनेंद्रजी के शब्दों में यों है :

'उन्हीं दिनों क्रांतिकारी हलचलों के दौरान सच्चिदानंद वात्स्यायन का दिल्ली में केस चल रहा था। वे जेल में थे। जेल में उनकी चिट्ठियाँ आने लगीं। रचनाएँ आने लगीं। भाव कुछ इस तरह का था कि ये रचनाएँ छप सकती हैं? मैंने तब प्रेमचंद को उनकी एक कहानी भेज दी। वे साप्ताहिक 'जागरण' निकालते थे। मैंने सोचा वात्स्यायन ने जेल से रचनाएँ भेजी हैं इसलिए हो सकता है उनका नाम ठीक न हो। इसीलिए 'अज्ञेय' लिख दिया। उन्हीं दिनों 'विशाल भारत' का एक कहानी-विशेषांक निकलने वाला था। वहां से मैंने बनारसीदास चतुर्वेदी को वात्स्यायन की एक कहानी भेज दी अज्ञेय के नाम से। इस तरह वात्स्यायन से मेरा परोक्ष परिचय हुआ था।

'तब जेल से वात्स्यायन के मुझे कई पत्र मिले थे। एक पत्र में उन्होंने लिखा कि आपसे मिलने की बड़ी इच्छा है। क्या किया जाए कोई उपाय नहीं है। एक ही रास्ता हो सकता है। सेशन कोर्ट में फलां तारीख को हमारा केस है। तय है कि कोर्ट में अपराध सिद्ध होने के तत्काल बाद हमें जेल से कहीं और भेज दिया जाएगा। बड़ा अच्छा हो कि आप कोर्ट में मिलने आ जाएँ।

'तब मैं सदर पहाड़ी धीरज में रहता था। सेशन कोर्ट वहाँ से दूर नहीं था। अदालत में मैंने देखा वात्स्यायन के हथकड़ियाँ लगी हैं और पुलिस पास खड़ी है। जब हथकड़ियाँ खुल गई तो हम लोग वहीं बैठ गए। बातचीत हुई। वह दृश्य आज भी मेरी आँखों के सामने है।

'जब वात्स्यायन को पता चला कि मैंने उनका नाम 'अज्ञेय' रख दिया है, तो उन्होंने शुरू में नाखुशी ज़ाहिर की। लिखा—'मेरा तो पहले से ही एक उपनाम है—'श्रीवत्स'। आपने मुझे देखा नहीं है। श्रीवत्स का एक अर्थ हाथी भी होता है। आप देखेंगे तो लगेगा कि यह नाम भी सार्थक ही था।

'कुछ दिनों तक वात्स्यायन असमंजस में रहे। लेकिन बाद में उन्होंने 'अज्ञेय' उपनाम अपना लिया।' (नव भारत टाइम्स'—९ मार्च, १९८६)।

उन्होंने स.ही. वात्स्यायन और 'अज्ञेय' दोनों नामों से लिखा है और प्रारंभिक काल में 'कुट्टिचातन' और अन्य लेखन 'स.ही. वात्स्यायन' नाम से। इस विभाजन से कभी-कभी विवादास्पद स्थिति भी उत्पन्न हो जाती थी। विशेषत: जब से स.ही. वात्स्यायन नाम से 'अज्ञेय' की रचनाओं पर टीका-टिप्पणी करते। साहित्य अकादमी द्वारा १९५७ में प्रकाशित पुस्तक 'कंटेपरेरी इंडियन लिट्रेचर' में संकलित उनका लेख 'हिंदी लिट्रेचर' इसका ज्वलन्त उदाहरण है, जो 'सही. वात्स्यायन' नाम से छपा था। उसमें 'उत्तम पुरुष' में 'अज्ञेय की कृतियों चर्चा की थी। उस लेख पर हिंदी-जगत में खूब बावेला मचा था।

'अज्ञेय' के उपन्यास वर्गसंघर्ष के उपन्यास नहीं, न वे व्यक्ति और व्यक्ति के संघर्ष के ही उपन्यास हैं। आज के अनिश्चय, अव्यवस्था और जटिलता के युग में 'एक व्यक्ति के भीतर जो अनेक बहुमुखी व्यक्तित्व उभर आए हैं और उनके कारण उसमें जो संघर्ष चल रहा है, मानवता के संचित अनुभव के प्रकाश में ईमानदारी के साथ उसे पहचानने की कोशिश करना' ही उनके उपन्यासों का लक्ष्य है। इस प्रकार उनके उपन्यास व्यक्ति-चरित्र के उपन्यास बन गए हैं। अज्ञेय की रुचि सदा व्यक्ति में ही रही है। सामाजिक दृष्टि को वे गलत नहीं कहते, पर उसे निर्णायक भी नहीं मानते।

उनकी धारणा है कि व्यक्ति को दबा कर किसी मामले का जो भी निर्णय होगा, वह गलत होगा, घृण्य होगा, असह्य होगा। 'नया समाज' के मई, १९५२ अंक में प्रकाशित अपने लेख 'नदी के द्वीप' एक परिचय' में उन्होंने यह विश्वास व्यक्त किया था कि 'व्यक्ति अपने सामाजिक संस्कारों का पुँज भी है, प्रतिबिंब भी, पुतला भी। उसी तरह वह अपनी जैविक परंपराओं का भी प्रतिबिंब और पुतला है जिन परिस्थितियों से वह बनता है, उन्हीं को बनाता और बदलता भी चलता है। वह निरा पुतला, निरा जीव नहीं है, वह व्यक्ति है, बुद्धि विवेक-संपन्न व्यक्ति।'

अपनी एक प्रसिद्ध कविता 'नदी के द्वीप' में अज्ञेय ने व्यक्ति और समाज के संबंधों को लेकर एक रूपक भी बांधा है : 'हम नदी के द्वीप हैं/हम नहीं कहते कि हमको छोड़कर स्रोतस्विनी बह जाए। /वह हमें आकर देती है।/हमारे कोण, गलियाँ, अंतरीप, उभार, सैकत-कूल/सब गोलाइयाँ उसकी गढ़ी हैं।/मां है वह, इसी से हम बने हैं।/किंतु हम हैं द्वीप/हम धारा नहीं हैं/स्थिर समर्पण है हमारा/हम सदा से द्वीप हैं स्रोतस्विनी के किंतु हम बहते नहीं हैं/क्योंकि बहना रेत होना है।/हम बहेंगे तो रहेंगे ही नहीं।'

'शेखर : एक जीवनी' घनीभूत वेदना की केवल एक रात में फांसी की कोठरी में पड़े एक क्रांतिकारी का अपने गत जीवन का प्रत्यवलोकन है। वह जानना चाहता है कि वह जैसा है, वैसा हुआ क्यों। इस खोज में वह भावुकता से काम न लेकर जीवन की विज्ञान-संगत कार्यकारण प्रणाली यानी आत्म-विश्लेषण की अनासक्त निर्ममता से अपनाता है। इस तरह व्यक्तित्व का क्रमिक विकास इस उपन्यास का मुख्य विषय बन जाता है। इसके दो भाग हैं। पहले नायक शेखर के बाल्यकाल का अध्ययन प्रस्तुत किया गया है—बाल्यकाल की परिस्थितियों के घात-प्रतिघात से उसके चरित्र का विकास और फिर उसके निमित्त उन परिस्थितियों की आलोचना। शेखर यदि अंततोगत्वा एक सशक्त क्रांतिकारी बन सका तो वह निश्चय ही एक असाधारण बालक रहा होगा। वह जन्म से ही विद्रोही था और उसकी परिस्थितियाँ भी ऐसी बनती गईं कि उसके भीतर का विद्रोहबीज उत्तरोत्तर पनपता गया। स्वभाव से ही वह विनीत न बनकर स्वेच्छाचारी और विद्रोही बना, उसके माता-पिता का स्वभाव, भाई-बहनों में उसका स्थान, घर के विधि निषेधात्मक नियम तथा उसकी पढ़ाई-लिखाई, खेलकूद, सखा-साथी आदि की परिस्थितियाँ भी उसी प्रकार की बनती गईं कि उसका सामाजीकरण गति न पकड़ सका और उसका विद्रोही स्वभाव उग्र से उग्रतार होता गया। शेखर में सहज बुद्धि की कमी नहीं थी, पर उस बुद्धि की प्रवाहगति का निर्देश करने वाली शक्ति संसार में नहीं थी। वह बुद्धि उसकी थी, उसके प्रयोग के लिए थी, वह उसका मनचाहा उपयोग करता था और वह जानता था कि जहाँ अपनी सहज बुद्धि की प्रेरणा को माना वहाँ उसने उचित किया और जहाँ उसकी बुद्धि को दूसरों ने प्रेरित किया वहीं वह लड़खड़ा गया।'

शेखर के इस अहंभाव की पुष्टि जहाँ एक ओर उसके घर के वातावरण और उसके माता-पिता तथा भाई-बहनों के उसके प्रति व्यवहार से हुई, वहाँ उसे दृढ़ से दृढ़तर बनाते रहने के लिए मद्रास की एंटीगोनम क्लब के राघवन, सदाशिव आदि सदस्यों, रात्रि पाठशाला के विद्यार्थियों, कांग्रेस अधिवेशन-शिविर के स्वयं सेवकों तथा मोहसिन, रामजी विद्याभूषण आदि जेल के अन्य व्यक्तियों का योगदान भी रहा। विद्याभूषण से उसे नई दृष्टि मिली कि 'अभिमान या अहंकार एक सामाजिक कर्तव्य भी हो सकता है।' उसकी प्रचंड विद्रोह-भावना के उन्नयन में बाबा मदन सिंह की भी प्रबल प्रेरणा रही। बाबा से उसने जाना कि 'अहिंसात्मक रक्तपात' भी हो सकता है। शेखर के व्यक्तित्व के क्रमिक निर्माण में इन सबका महत्वपूर्ण योग रहा। फिर, उसकी मौसेरी बहन शशि भी उसकी प्रमुख प्रेरणा बनी। उपन्यास में शशि का अपना व्यक्तित्व भी बहुत प्रभावशाली बन आया है, पर शेखर के

निकट उसका स्थान 'उस सान से अधिक नहीं रहा, जिस पर बराबर चढ़ाया जाकर शेखर का जीवन तेज़ होता गया।' शेखर की दृष्टि में वह उसके विकास की निमित्त से अधिक और कुछ नहीं रहा।

'शेखर : एक जीवनी' की तरह 'नदी के द्वीप' भी व्यक्ति चरित्र का उपन्यास है, पर इसका विषय व्यक्ति-चरित्र का क्रमिक विकास दिखाना नहीं, विकसित चरित्र को धीरे-धीरे उघाड़ना है। गौरा को छोड़ 'नदी के द्वीप' के सभी पात्र परिपक्वावस्था में ही उपन्यास में आते हैं। गौरा का चरित्र अवश्य उपन्यास में ही परिपक्वता को प्राप्त होता है, उसके विकास की विभिन्न अवस्थाओं के उद्घाटन की ओर ही उपन्यासकार का ध्यान रहा है।

'नदी के द्वीप' का नायक है भुवन। भुवन वैसे तो फिज़िक्स में डाक्टर है। पर उपन्यास का विषय वैज्ञानिक भुवन नहीं, व्यक्ति भुवन की भीतरी घुमड़न का प्रकाशन है जो उसके विचारों और कार्यों को निर्दिष्ट करती है। रेखा और गौरा अलग-अलग उसकी दो परस्पर-विरोधी प्रवृत्तियों को उकसाती हैं : रेखा उसकी यौन प्रवृत्ति को उद्दीप्त करती है तो गौरा उसकी विवेक बुद्धि को, जो सामाजिक नैतिकता की आवाज़ है, जागृत करती है। सच तो यह है कि रेखा के माध्यम से वैज्ञानिक भुवन के भीतर का असली कामुक भुवन व्यक्त हो उठा है। वासना की नदी के प्रवाह में एक बार तो उसकी रिसर्च-वर्च सब कुछ बह गई थी। उसे डूबने से यदि कोई बचा सका तो वह गौरा का अस्तित्व था। भुवन की इन दो प्रवृत्तियों में ज़ोर का संघर्ष चलता है। जब रेखा उसकी जीवन-धारा को निर्दिष्ट कर रही होती है तो बीच-बीच में गौरा की याद आकर अंकुश का काम करती है। फिर रेखा के 'फुलफिलमेंट' के बाद जब वह गौरा की ओर प्रवृत्त होता है, तब बीच-बीच में रेखा का ध्यान उसे विचलित करके पूर्णतया समर्पित नहीं होने देता। भुवन के जीवन में निरंतर उसकी सेक्स भावना यानी रेखा की ही प्रबलता रही, पर अंततोगत्वा उसने गौरा को जो पूर्णतः स्वीकार कर लिया उसके पीछे सेक्स प्रवृत्ति नहीं थी।

शेखर और शशि की तरह भुवन और रेखा के भीतर भी गहरे में सेक्स और कान्शेयंस में भीषण संग्राम छिड़ा रहता है। अंतर केवल इतना है कि 'शेखर : एक जीवनी' के प्रधान पात्रों के अचेतन में पहले 'कान्श्यंस' की सेक्स पर विजय होती रहती है और बाद में सेक्स की जीत ध्वनित होती है। पर 'नदी के द्वीप' में पहले सेक्स जीतता रहता है और बाद में 'कान्श्यंस' नोकुछिया ताल के एकांत प्रदेश में भुवन के भीतर यह संघर्ष अपनी चरम सीमा पर पहुंच जाता है। रेखा के समर्पण को वह स्वीकार नहीं कर पाता है। यहाँ उसके 'कान्शेन्स' की विजय होती है और समर्पण होता-होता बीच में रुक जात है। पर कश्मीर की ऊँचाइयों पर उसकी यौन प्रवृत्ति ज़ोर मार कर विजय पा गई। रेखा का हेमेंद्र-रूपी शाप टूट गया। उसने भुवन को पुरुष के रूप में पहचान लिया और 'फुलफिल्ड' हो गई। पर इसके फलस्वरूप जिस 'सर्जन वायलिनिस्ट' का सूत्रपात हुआ था वह इन दोनों की वासना के वायुयान को जीवन की यथार्थ भूमि पर ला पटकता है। 'सर्जन वायलिनिस्ट' के हित-चिंतन में भुवन का रेखा को आश्वासन देना कि 'रेखा जो हुआ है मुझे उसका दुःख नहीं है—यह जो आएगा—आएगा या आएगी वह तो मुहावरा है—वह मेरा है, मेरा वांछित—उससे मैं लजाऊँगा नहीं, वह तुम मुझे दोगी, भूलना मत, तुम्हें और तुम्हारी देन को मैं वरदान करके लेता हूँ' उसके भीतर घर कर रही अपराध-भावना को ही ध्वनित करता है। रेखा भुवन के अचेतन में बैठे इस चोर को ताड़ लेती है और उस पर तरस खाकर 'सर्जन वायलिनिस्ट' को समाप्त करा देती है।

'नदी के द्वीप' को पढ़ते हुए डी.एच. लॉरेंस की याद आ जाती है। लारेंस का विश्वास है कि स्त्री-पुरुष की उभयलैंगिकता (बाई सैक्स्युएलिटी) वैज्ञानिकों की कल्पना है, वे दोनों अलग-अलग

सेक्स हैं—स्त्री शत-प्रतिशत स्त्री और पुरुष शत-प्रतिशत पुरुष। उसकी धारणा है कि इसीलिए, स्त्री और पुरुष का यदि मेल हो सकता है तो मिथुन द्वारा ही। मिथुन द्वारा ही वे एक-दूसरे में प्रवेश करके एक-दूसरे को समझ सकते हैं और एक-दूसरे के स्वतंत्र तथा अन्योन्याश्रयी रूप को पहचान सकते हैं। इस प्रकार मिथुन लॉरेंस के उपन्यासों का अनिवार्य अंग बन जाता है। मिथुन को लॉरेंस पाप नहीं मानता, यदि दोनों में मिलन की तड़प और उसके साहस हों—फिर वह इच्छा चाहे क्षणिक ही क्यों न हो। लॉरेंस का कहना है कि जीवन के वासनापूर्ण गुप्त स्थलों पर ही हमारी संवेदनाएँ उद्‌बुद्ध होकर हमारे मन को निर्मल और तरोताज़ा करती हुई उमड़ पड़ती हैं। इस दृष्टि से रेखा के 'फुल्फिलमेंट' तक 'नदी के द्वीप' और लॉरेंस के 'लेडी चेटर्लीज लवर' में आश्चर्यजनक समानता दीखती है। बाद में भुवन की अपराध-भावना 'नदी के द्वीप' को नया मोड़ दे देती है। अज्ञेय स्वयं भी अपने को लॉरेंस के निकट मानते हैं।

अज्ञेय के तीसरे और अंतिम उपन्यास **'अपने-अपने अजनबी'** की विषय-वस्तु वही है जो 'शेखर : एक जीवनी' की, यानी मृत्यु से साक्षात्कार। अंतर केवल इतना है कि शेखर के सामने प्रश्न यह था कि उसके जीवन की सिद्धि क्या है अर्थात् यदि वह मर जाता है तो कुल मिलाकर उसके जीवन का अर्थ क्या हुआ। जब कि 'अपने अपने अजनबी' जीवन-मात्र के नक्शे में मृत्यु-मात्र के स्थान की व्याख्या में प्रवृत्त है। किस प्रकार कुछ के लिए मृत्यु स्वयं अपनी होती है और कुछ के लिए अजनबी। किस प्रकार मृत्यु से साक्षात्कार अपनों को अजनबी बना देता है और अजनबियों को अपना, इस प्रश्न को लेकर मृत्यु के प्रति पूर्व के स्वीकार भाव और पश्चिम के विरोधाभास की तुलना भी इस रचना में मिलती है। पर अंत तक पहुँचते-पहुँचते यह रचना लड़खड़ा जाती है।

बर्फ से दब जाने पर सेल्मा और योके दोनों का मृत्यु से साक्षात्कार होता है। सेल्मा की दृष्टि पूर्व की है और पश्चिम की दृष्टि को योके अपनाए हुए है। पर अंत तक पहुँचते-पहुँचते दोनों जीवन के प्रति निस्पृह हो उठती है। इन दोनों के दृष्टिकोण में जो मौलिक अंतर है उसे स्पष्ट करते हुए अज्ञेय कहते हैं, 'दोनों के मार्ग अलग-अलग हैं, या कह सकते हैं कि दोनों की यात्राएँ समानांतर हैं, सेल्मा में मृत्यु का सधन स्वीकार है। पर योके अंत तक अपने दोनों आग्रह बनाए रखती है। एक तो मृत्यु को न मानने का और दूसरे वरण की स्वतन्त्राता का। लेकिन अंत में वह वरती है मृत्यु को ही। और दूसरे, जब वह अच्छे आदमी को साक्षी बना कर मरना चाहती है तो एक तरह से मृत्यु को स्वीकार भी कर लेती है, क्योंकि सचाई में आस्था और साक्षी के माध्यम से प्रकारांतर से अमरत्व, इन दोनों के सहारे वह मृत्यु से ऊपर उठ जाती है।'

अज्ञेय स्वभाव से ही मितभाषी थे। वे बोलते कम थे और सन्नाटा अधिक सुनते थे। उनकी एक कविता भी है—'पहले मैं सन्नाटा बुनता हूँ।' एक बार वे सन्नाटा बुन लें, मौन साध लें, तो उसके पार पाना लगभग असंभव ही था। जब बोलते भी थे तो बहुत ही धीमे स्वर में और कम से कम एक नपे-तुले शब्दों में। खुलते तो वे बहुत ही कम थे। पर जब खुलते तो अपने भीतर के क्षुब्ध पारावार में गहरे गोता लगा कर अमूल्य रत्न निकाल लाते। मुझे कई बार उनके सान्निध्य का सुअवसर प्राप्त हुआ और उनसे साहित्य चर्चाएँ भी हुईं।

उनके उपन्यास 'शेखर : एक जीवनी' के दो भाग प्रकाशित हुए हैं, पर वे दोनों मिलाकर भी नायक शेखर की पूरी जीवनी को नहीं समेट पाते। हिंदी-जगत वर्षों इस उपन्यास के तीसरे के भाग की प्रतीक्षा में रहा। पर उसे न आना था और न आया ही। एक बार मैंने अज्ञेय से पूछ ही लिया, 'शेखर : एक जीवनी' के तीसरे भाग के लिए अपने पाठकों को कब तक तरसाते रहेंगे?' इस प्रश्न से वे आर्द्र हो उठे और बोले, 'उनको क्या तरसाऊँगा। उनसे अधिक तो मैं तरसता हूँ। लेकिन तरसने से कुछ आता-

जाता नहीं है। तीसरा भाग एक बार लिखा गया था। तभी छप गया होता तो छप गया होता। अब वह संशोधन माँगता जान पड़ता है और मैं भरसक कोई चीज़ अवस्था में छपने नहीं भेजता हूँ जबकि वह मुझे अधूरी जान पड़ रही हो। छप जाने के बाद उसके बारे में मेरी धारणा बदले या संशोधन आवश्यक जान पड़े तो दूसरी बात है, वह दूसरे संस्करण में हो सकता है या ऐसा हो सकता है कि दूसरा संस्करण होने ही न दिया जाए।'

एक बार मैंने उनसे पूछा : 'साहित्यिक कृति के माध्यम से आप जीवन और जगत के प्रति बन चुके अपने किसी दृष्टिकोण की प्रायः पुष्टि करते हैं या उसकी जाँच की ओर भी अग्रसर होते हैं?' मेरा प्रश्न सुनकर अज्ञेय चुप रहे। काफी देर तक इसी मौन-मुद्रा में बैठे रहे? मानो मुझे मूल, अपने भीतर की गहराइयों में गोता लगा रहे हों। फिर उनके होंठ फड़के और वे धीरे-धीरे कहने लगे, 'जीना ही जीवन के प्रति दृष्टिकोण की जाँच करना है? जब तक कि व्यक्ति जीवन के अनुभव के प्रति अपने को बिल्कुल ही बंद न कर ले। उतना बंद अपने-आप को नहीं किया है उतना बंद होना संभव भी नहीं है, अगर कोई बंद होना चाहे भी तो।

' जीवन के प्रति दृष्टिकोण जब एक ओर जीवनानुभव की पद्धतियों को प्रभावित भी करता है और दूसरी ओर स्वयं उस अनुभव का परिणाम भी है, तब स्वाभाविक है कि अनुभव प्राप्त करते हुए या उसकी ओर खुले रहते हुए दृष्टिकोण के निरंतर परिशोधन का प्रयत्न किया जाता रहे। पुष्टि और पड़ताल दोनों ही इस परिशोधन के अंग हैं। पूर्वधारणा का जो उज्जवल अंग अनुभव पर खरा उतरे उसे छोड़ देना, और जहाँ परिवर्तन की आवश्यकता हो वहाँ परिवर्तन करना यही शुद्ध दृष्टि है।

'साहित्यिक कृति सर्वदा तो नहीं किंतु बहुधा आत्मान्वेषण अथवा आत्माविष्कार का साधन भी होती है। रचना-प्रक्रिया में ही रचयिता स्वयं अपने को नए अथवा सही रूप में पहचानता है। इस प्रकार, कृति जितनी कृतिकार द्वारा रची जाती है उतनी स्वयं कृतिकार को रचती भी है। कोई भी रचयिता रचना करने से पूर्व और पश्चात् वही का वही नहीं रहता। मेरा विश्वास है, सभी कृतिकार इस बात की पुष्टि करेंगे।'

अज्ञेय के उपन्यासों को, विशेषतः 'शेखर : एक जीवनी' और 'नदी के द्वीप' को पढ़ते समय एक प्रश्न बार-बार कौंध जाता है कि उनमें नायक-नायिका की क्रिया-प्रतिक्रिया के रूप में, नर-नारी का कौन सा समीकरण निरूपित हुआ है। क्या वे एक-दूसरे के बराबर हैं या एक-दूसरे के निमित्त हैं, पूरक हैं। उनमें कई जगह यह ध्वनि निकलती लगती है कि पुरुष की उन्नति का नारी निमित्त मात्र है और उसे अधिक कुछ नहीं। इन दोनों उपन्यासों मों साम्य खोजते हुए एक बार अवसर पाकर मैंने अज्ञेय से ही पूछ लिया, 'शशि वा रेखा के समर्पण की नींव पर शेखर अथवा भुवन जब अपने भविष्य का भव्य प्रासाद बनाने की सोचते हैं तो क्या शशि वा रेखा उनके लिए साधन या अधिक से अधिक प्रेरणा मात्र नहीं रह जातीं?'

उत्तर में अज्ञेय ने कहा, 'मेरी समझ में शेखर और भुवन के चरित्र अथवा नारी के संबंध में उनकी धारणा में अंतर भी है। **शेखर यह मानता है कि नारी अपने प्रिय को आगे बढ़ाने का निमित्त बनती है। वह यह भी अनुभव करता है कि उसके जीवन में भी नारी का इस प्रकार का योग रहा है और उसके मन पर इस बात का बोझ भी है। उसको बनाने में कोई टूट जाए, इसमें जहाँ वह दानी के प्रति कृतज्ञ है वहाँ इसलिए कुंठित भी है कि क्या वह जितना दे सकता है उससे अधिक उसे मिल चुका है, अर्थात् वह चिरऋणी रह जाए।** भुवन में यह भाव दूसरे ढंग का है, दूसरे कारण से है। उसका अहं भी शेखर जैसा प्रबल नहीं है।'

किसी का चिरऋणी रह जाना न शेखर को गवारा है, न उसके रचयिता अज्ञेय को और न उनके मूलप्रेरक व्यक्ति वात्स्यायन को ही, न उपन्यास में और न जीवन में। उनका आत्मभाव या अहंभाव इतना प्रबल है कि चिरऋणी रह जाने की संभावना मात्र से वे सिहर उठते है और संबंधित व्यक्ति से, वह चाहे कोई भी हो, मुक्ति पाने के लिए छटपटाने लगते है। वे नदी के द्वीप ही बने रहना चाहते हैं, व्यक्ति को समाज की, समष्टि की अखंड धारा में छोड़ देने को कतई तैयार नहीं। उन्हें इस बात का खतरा रहता है कि 'बहेंगे तो रेत हो जाएंगे/बहेंगे तो रहेंगे ही नहीं।' व्यक्ति की अद्वितीयता में अडिग आस्था रखने वाले और उसकी अस्मिता को सर्वोपरि मानने वाले अज्ञेय को यह स्थिति किसी भी हालत में स्वीकार्य नहीं।

लंबी कविताएँ

(एक)

बिजली का उड़नखटोला

डॉ. गोपाल शर्मा

प्रकाश की रफ्तार से घुमा रहा है हमें
बिजली का विशाल उड़नखटोला
शायद हमारी ही घड़ी का काँटा
अरई चुभाकर
हम को तुराता जा रहा है।
मन में आकाश छू लेने का हर्ष
तन में धरती पर लटपटाकर
दम तोड़ देने की आशंका।
मौत से सूतभर फासले पर घबराते
हम लहराते चक्कर खा रहे हैं,
लोमहर्षक गुदगुदी से
चीखते कहकहे के चक्रावर्त
अपनी ही नाभि में खिंचते चले आ रहे हैं।
सड़कों और तारों में कैद शहर
बार-बार बेताल सा आकार बढ़ाता
हवा को घूंसे मारता
चिकनी गर्दभरी हाँफ के साथ घुटने मोड़ कर बैठ जाता है।
हमारा हर चक्कर
मदक से प्रेरित फैलते-सिकुड़ते
मज़ाकिया और डरावने साये दिखाकर
हँसी रुलाता है, रोनी हंसाता है।

इस उड़न खटोले की धुरी
मजबूत है कि नहीं, हम नहीं जानते।
जन्म का भाड़ा देकर
बैठा दिया था सदी ने इस पर।
न गति पर हमारा बस है
न हत्थे पर कोई स्विच,
नज्जारे को, थमकर पहचानने की
कोई गुंजाइश नहीं।
परिवेश की धज्जियाँ उड़ातीं
'राक' धुनो के बीच
किचकिचाता, धर्राता,
चिनगारियाँ छोड़ता घुमे जा रहा है
दनादन, दनादन।

अरे रोको ! कोई रोको रे !
मेरा सिर घूम रहा है, उबकाई आती है।
आवाज़ों के सैलाब में
मेरी पुकार, तड़पती मछली सी
उठल कर डूब जाती है।

लगता है झूले के मालिक और मिस्त्री
इसे चलता छोड़कर
आकाश गंगा पर लुनाई में लगे हैं,
कौंधों के पूले बाध कर
सूर्य किरणों के गन्ने पेर रहे हैं।
अनामत की टांगों को पास खींच लाने
अपनी बांहों से घेर रहे हैं
उनकी उग्र जिज्ञासा,
सृष्टि की हर अंधेरी खंदक में
सिर डालने को उतावली है,
दिमाग में कम्प्यूटर और दिल में पिस्टन
भर देने को बावली है।
गति, गति, गति—
मनुष्य और काल का संबंध
रोमांचक सनसनी है।
दुनिया की हर वस्तु
उसके उपभोग के लिए बनी है
उसमें ईश्वर नामधारी संशय भी शामिल है।

उनकी जेब से दिया गुर
जो स्वीकार नहीं करता,
सूरज के चकों में चिपका
कीचड़ है—जाहिल है।

आज सहस्त्रापाद निमिषों की फौज
भावुक मृदुताओं को
क्वार्टज़ के बूटों से कुचलती जा रही है
रस को उफान,
रूप को अंगों का संघान बना रही है।
वे मानते हैं—असूर्यपश्या नाम कन्याओं ने
ऊब में फेके थे अपनी घट और पट,
संतों की अनुभूति के आलोक-प्रवाह में
मानव मेधावी हिंस्त्र है,
आध्यात्मिक फर्क करता है
झटके और लहाल के लिए उठी हुई बाँह में,

नहीं, नहीं, मुझे बाहर आने दो
इस तीव्र भँवर से।
मेरी चेतना, काल से हाथ छुड़ाकर
बीती सुबहों की ओर लौट सकती है।
निकालने दो मुझे
अतीत के संग्रहालय से
नांद और सूराखदार प्याला,
जिसमें रस भर कर, मेरे पितरों ने
अपने समय के वेग को
अपने हाथों से सँभाला—
दिन की भागदौड़ को घिमाते
खड़ाऊँ पहिनाए
यामा के अभिसारी पगों में
महावर रचाया।
गुफाओं की बस्तियों को
काशी और वैशाली बनाया।
भौतिक वैभव की बाढ़ के नीचे
एक मंद्र चपल सरस्वती बहती आई है
इसकी सामर्थ्य
सूर्य के अश्वों की शक्ति से नहीं
उसकी पैंजन के शिंजन से

आँकी जाती है।
यह मानव उल्लास और विश्वास की
सहस्त्रों भंगिमाओं की झाँकी है
इसने इतिहास के श्मशानों की राख
अपने वक्ष से सींची है,
उसमें गीत-नृत्य लहरों से झूमती
शस्यश्यामल छवि खींची है।
निषेध और स्वीकृति से
संस्कृति बटकर दिक्-काल को मथा है,
अमृत घट पाया है,
श्वेत और श्याम का लय करते
हर संगम को तीरथ बनाया है.

प्रकाश और गति के इंद्रजाल ने
मुझे घोर चक्कर में डाला है।
लगता है कण-कण में सौर मंडल है।
पुष्प किसी तरु के परिरम्भ में प्रफुल्लित उजाला है।
मैं विज्ञानान्ध हो रहा हूँ
यथार्थ से सत्य की पहचान खो रहा हूँ।

ओ, विस्मयी विवशताओं के शासक,
मुझे उतार दो इस चक्र-झूले से
आज लग रहे हैं मेरे अपने मूल्य
भूले-भूले से।
संसार को तुमने,
घंटी और कुकुर-बुभुक्षा न्याय से
पहचाना है
मनुष्य के संकल्प को,
स्थिति और मति के द्वंद्व का—
समाहार माना है।

स्थूलों की बारात,
मेरी नैहराकुल भाषा को
पथरीले मार्ग पर धकेले जा रही है
बंकिम लावण्यों को
युद्ध ध्वस्त मन के
खंडित-बिंबों मेंग
सकेले जा रही है

तुम क्षण को शराब के ग्लोब की तरह
एक ही घूँट में उतारने झपटते हो।
समय के रथ से बंधे, पीछे घिसटते हुए
कण-कण को चूमते-लिपटते हो।
वह निर्मम ताज जैसे सुदृढ़ सौंदर्य में भी
बुढ़ापा आँकता आता है।
ब्रह्माण्ड के ग्रह-नक्षत्रों की उम्र
प्रतिपल नापता जाता है।
किंतु मैं, मनु की जन्मांतर संगति,
अपने नित-नवीन अस्तित्व का रखवाला हूँ
राग में फूलों का महकता गजरा
विराग में कठ-मनकों की माला हूँ।
सरिता की धारा में पुलिन-दीप बिंबों सा
गतिमय विश्राम हूँ।
भुवन के त्रिविध विस्तार में
समाज की नैतिक गुणवत्ता का
स्पंदित आयाम हूँ।
मेरा सूर्य के बुझ जाने से
कोई सरोकार नहीं
करोड़ों सूर्यों में से
एक अपना लूंगा और कहीं।
तुम्हारे चमत्कारी आविष्कार
अब हिंसा के श्रृंगार बनते जाते हैं
नील सरोवर पर उड़ाए गए हंस
भूख नाज और गिद्ध जनते जाते हैं
आओ।
मुझे मुक्त करो
अपनी भीम प्रतिभा की प्रदक्षिणाओं से।
उपभोग की तृष्णा में
पीड़ा सुख व्यसनी इन यांत्रिक द्रुतताओं से।

(दो)

मौसम की दस्तक

प्रताप सहगल

आषाढ़स्य प्रथम दिवसे था
या अंतिम
नहीं जानता महीपाल
उसकी रगें सूंघती थीं
मौसम की खुशबू
और दस्तक देती थीं
जिस्म के पोर-पोर पर
मैं हूँ मैं हूँ

आसमान में तैर रहे थे
मस्त काले हाथियों के झुण्ड
सूंड उठाकर
वंदना कर रहे थे आकाश की
और पानी के फूल
अर्पित कर रहे थे ज़मीन पर
स्याह काले बादलों की
सुरमई गंध की मोटी चादर ने
ढक लिया
आकाश और ज़मीन के
बीच का खालीपन
पानी के फूल
चाबुक की तरह बरसने लगे
देखते ही देखते
ज़मीन का रंग

तैरने लगा ज़मीन के ऊपर
महीपाल ने आँख उठा देखा
छत सही सलामत थी

खिड़की की काली सलाखों के खालीपन को
भेदती उसकी नज़रें
देख रही थीं जल-प्लावन
अपनी कोठरी से बाहर
उसे ध्यान आया
कामायनी के मनु का
ऐसा ही जल-प्लावन देखा था उसने
और डूब गया था
देवों के सुखदायी अतीत को
फिर से खड़ा करने की चिंता में,

मनु-पुत्र होने का एहसास जगा आया था
उसके अंतर के किसी गह्वर में
कोई नदी, कोई समुद्र नहीं
सामने के नाले में
तेज़ी से गिर रहा था पानी
जैसे मोटर का पुराना इंजन
स्टार्ट कर के खड़ा कर गया हो कोई

महीपाल की कोठरी के ठीक सामने
एक खोखा था
पानी की मार का शिकार
महीपाल की आँखें
खोखे के दरवाज़े पर लटकते पर्दे पर पड़ीं,
पर्दा हटा
और श्यामवर्णी नायिका
अपने गदराये यौवन के
साथ मौजूद थी
दरवाज़े की चौखट पर
कहने को चौखट थी
पर पानी उसे खोखे के आर-पार
बह रहा था
छोटी नदी की शक्ल में,

महीपाल की नज़रें
श्यामवर्णा से टकराई
इस हल्की सी टकराहट से
उसे अपने करीब
एक आहट सुनाई दी
इस आहट को
उसने निमंत्रण मान लिया,
और उसके कदम
कोठरी से निकल कर
खोखे के अंदर जा कर रुके
जानता था नाम उसका
भोली थी वह
देखता आया था
उसे एक अरसे से
पिता उसका नीम हकीम था
और दोस्ती थी उसकी उससे
चंद्रकांता और भूतनाथ
उनकी चर्चा के केंद्र में रहते थे

भोली अकेली थी घर में
घर में थी बहती हुई नदी
भोली को डर था
कहीं जलधार में
खोखे के साथ-साथ
वह भी बह न जाए
हाथों से उलीच रही थी पानी
पानी ने ठान ली थी हठ
और न महीपाल ही था
कोई अगस्त्य ऋषि
कि पी जाता यह छोटी सी नदी
वह खड़ा-खड़ा भोली को देखता रहा
भोली उसे
जलधार हल्की हो रही थी
बढ़ रही थी उन दोनों के अंदर एक बेचैनी
कंपाकंपाने लगे
उनके होंठ
महीपाल ने आखिर पूछा—'कहाँ हैं सब लोग'
'चिड़ियाघर' कहकर भोली

फैले हुए कबाड़ से
कोई मोती खोजने लगी
महीपाल के दिमाग में
एक कौंध आयी
मिली-जुली कौंध
वर्षा पहले दूर कहीं खोई
पुष्पा के बदन की कौंध

कौंध में पुष्पा के यौवन की गंध थी
उस गंध के ही साथ थी
एक कसक
महीपाल की पुष्पा
खो गयी थी
किन्हीं अंधेरी गुफाओं में

गुफाएँ
जिनके रास्ते भटकीले
और गंतव्य कहीं नहीं होता
गुफाएँ
जो लील लेती हैं
आदमी का समूचा अस्तित्व
गुफाएँ
जिनकी दीवारों से आदमी टकराता है
और लहूलुहान होकर
उन्हीं में
कहीं खप जाता है
गुफाएँ
जिनका सिर्फ एक रास्ता होता है
जो अंदर तो जाने देता है
पर बाहर आने की
इजाज़त वहां नहीं मिलती
इन्हीं अंधेरी गुफाओं में
खो गयी थी पुष्पा
अपने पिता की मौत के बाद
पेट पालने की मजबूरी थी
या जस-तस बने रहने की लालसा
था एक रास्ता
नहीं जानता महीपाल

जानता था इतना ही
कि पुष्पा
निकल गयी थी दूर
अंधी गुफाओं में
और वह चुपचाप ताकता रहा
कुछ नहीं कर सका।

आज उसके सामने भोली थी
पुष्पा की तौक उसने
अपने गले से उतार कर
अलगनी पर टाँग दी
और भोली के
ठंडे हाथों को थाम लिया

चार हाथों की नसों में
गर्म रेखाएँ तैरने लगीं
रेखाएँ जाल में बदलने लगीं
जाल जादू दिखाने लगा
महीपाल और भोली के बीच
संकोच और शर्म की दीवार
भरभर कर ढह गयी
दो समानांतर रेखाएँ
तरह-तरह के आकार लेने लगीं
आकार
निश्चित नहीं थे पहले से
दो ताकतें
उन्हें दे रहीं थी शक्ल
शक्ल के साथ कोई अर्थ
महीपाल की बाहों में भोली थी
और आँखों में पुष्पा
पुष्पा ने उसे
एहसास दिया था
पूर्ण पुरुष होने का
और भोली ने
उस एहसास को
गहरा दिया। कुछ पलों के लिए
महीपाल अपने इस अनुभव लोक से
खारिज नहीं कर सका पुष्पा को

पुष्पा को अपनी दुनियाँ से ढालने
और चाहे अनचाहे
उसे न टाल पाने के द्वंद्व के बीच
फँसा महीपाल
श्यामवर्णा पहाड़ों के साथ
टकरा रहा था
खोखे के कोने से
बाहर नज़र पड़ी महीपाल की
फटे दूध की तरह
बादल बड़े पतीले में तैर रहे थे
और नदी का ज्वार उतर रहा था
पानी अभी भी ठहरा था
खोखे के अंदर
दोनों के अंजुरी भर-भर
उसे उलीच दिया,

फटे बादल सा
महीपाल अपने अंदर एक भारी खालीपन लेकर
लौट आया
अपनी गुफा में
करने लगा व्याख्या
प्रेम की
भोली देख रही थी
खोखे की खोखली दहलीज के बीचों-बीच
खड़ी भोली देख रही थी
महीपाल की पीठ
महीपाल
महसूस कर रहा था
खुद को खाली
खालीपन ने धीरे-धीरे
महीपाल के
मैं हूँ मैं हूँ
को जकड़ लिया
वह खालीपन को
प्रेम के अर्थ देने लगा
प्रेम तो देना है
लेना नहीं,
नहीं/बिना हासिल होने की आशा के

कौन करता है प्रेम
छल करते हैं सब खुद से
सबसे पहले प्रेम आदमी करता है खुद को
खुद के अस्तित्व को
और फिर अपने होने के साथ ही
जोड़ता-घटाता है दूसरों का अस्तित्व
उसे याद आता रहा
भर्तृहरि का नीतिशतक
यक्ष का प्रलाप
दुष्यंत का पश्चाताप
मनु का आध्यात्मिक विकास
राम का सीता-वियोग में विलाप
और कृष्ण का विलास
उसे याद आता रहा रत्नसेन
कौंध गया उसकी शिराओं में ओथेलो
और रोमियो
फरहाद, मजनूं और महीवाल
एक बड़ी भीड़ के बीच
वह घिर गया
और खोजने लगा
खुद को सबके केंद्र में रखकर
समझने लगा अपने होने का अर्थ
प्रेम उसे
एक भ्रम लगा
मथने लगा उसकी शिराओं के बीच बहता खून
खून के साथ बहते संस्कार
परंपरा
समुद्र मंथन होने लगा
उसके अंदर

एक कोने से उछला एक सिक्का
खनखनाता हुआ
प्रेम एक शब्द है
शब्द के पीछे भ्रम
भ्रम पहले खड़ा करता है आदमी
और फिर उसमें करने लगता है विश्वास
पहली नज़र में होता है प्रेम
उसे सबसे बड़ा छल लगता है

वह नहीं मानता कि प्रेम हो जाता है—
किया जाता है प्रेम
वैसे ही
जैसे पकती है रोटी
प्रेम करने के केंद्र में
आदमी होता है खुद ही
उसे भर्तृहरि के अनुभव बासी लगने लगे
मजनूं, फरहाद और महीवाल के किस्से
गढ़े हुए लगे
कोई किसी के लिए नहीं मरता
किसी के प्रेम में पागल होकर
मरने का तो प्रश्न ही निरर्थक है
जए भी मरा
सिर्फ इसलिए कि उसे मरना पड़ा
दुष्यंत का पश्चाताप हो
या मनु का विलाप
सभी के केंद्र में
कोई और नहीं
वे खुद थे
यही था महीपाल भी
प्रेम उसके लिए सुख भोगने का एक औज़ार है
प्रेम उसके लिए
सीढ़ियाँ बनाने
या सुरंग लगाने का
एक हथियार है
प्रेम शाश्वत होता है
प्रेम एक मूल्य है
या जन्म-जन्मांतर तक होता है प्रेम
सब थोथा लगा उसे
प्रेम और कुछ नहीं
उसके रगों के बीच बहती गरम धारा है
प्रेम खूबसूरत सी इमारत खड़ी करने के
काम आने वाला ईंट-गारा है
वह प्रेम को नया आयाम देना चाहता है
प्रेम के नाम पर
शोषण नहीं
गरमाते संबंधों के बीच फैले आकाश को उठाता है। □

रामनवमी के उपलक्ष्य पर विशेष

गोस्वामी तुलसीदास के काव्य में प्रखर युगबोध

प्रो. विजयेंद्र स्नातक

भारत के जनजीवन में दो महापुरुषों के नाम अनेक संदर्भो में अमित श्रद्धा और पूज्य बुद्धि के साथ स्मरण किये जाते हैं। राम और कृष्ण को इस देश की धार्मिक जनता विष्णु के अवतार रूप में और बुद्धिवादी जनता लोकनायक, लोकरक्षक और धर्म संस्थापक के रूप में स्वीकार करती है। ये दोनों महामानव अपनी आदर्श मर्यादाओं और उदात्त मान्यताओं के कारण इस देश की जातीय अस्मिता के संवाहक बन गये हैं। वाल्मीकि और व्यास ने इन दोनों विभूतियों का चरित्र रामायण और महाभारत में इस शैली से चित्रत किया है कि वह समाज के आदर्शनिष्ठ मूल्यों को सार्वदेशिक एवं सार्वकालिक बनाने में सफल रहा है।

वाल्मीकि रामायण का राम केवल विष्णु भगवान का अवतार न होकर लोकजीवन की भूमिका में अवस्थित लोकमर्यादा का विधान करने वाला है। गोस्वामी तुलसीदास ने इसी राम को रूप, गुण, शील समन्वित, लोकसंग्रही व्यक्तित्व से परिपूर्ण बनाकर सर्वव्यापक (सिया राममय सब जग जानी) दिव्यत्व प्रदान किया है। तुलसीदास ने राम के विभुत्व को खंडित नहीं किया वरन् उनके ऐश्वर्य और वर्चस्व को द्विगुणित कर भक्तजन के लिए अभिनव रूप में प्रस्तुत किया है। राम की यशोगाथा तो वाल्मीकि रामायण, अध्यात्म रामायण, आनन्द रामायण, भावार्थ रामायण, भास्कर रामायण, बौद्ध रामायण (जातक-त्रिपिटक), जैन रामायण, पउमचरिउ, पद्मचरित, स्वयंम रामायण, कंब रामायण, कृत्तिवास रामायण, रंगनाथ रामायण आदि सैकड़ो ग्रंथों में विभिन्न रूपों में उपलब्ध है। काव्य, नाटक और आख्यानों में भी रामकथा का विविध शैलियों में पल्लवन हुआ है। भारत की सभी भाषाओं में राम को केंद्र में रखकर नाना प्रकार की रचनाएँ समय-समय पर लिखी जाती रही हैं। आज शताधिक ग्रंथों में रामायण और रामकथा को फैला हुआ देखा जा सकता है। किंतु लोकप्रियता के निकष पर गोस्वामी तुलसीदास रचित रामचरित मानस की तुलना किसी अन्य रामायण से नहीं की जा सकती। जन साधारण की भाषा में लिखित रामचरित मानस ने उत्तरभारत की सीमाओं को पार कर भारत और विदेशों में जो लोकप्रियता प्राप्त की है उसे देखकर चीन और रूस के साहित्यकार भी चकित हैं।

गोस्वामी तुलसीदास की रामकथा यों तो प्राचीन रामायणों के आड़ में ही लिखी गई हैं किंतु

इसकी शाखा-प्रशाखाओं का तंतुजाल गोस्वामी की अपनी प्रतिभा से हुआ है। भारत से दूर थाईलैंड, बर्मा, जावा, सुमात्रा, इंडोनेशिया, सूरीनाम, मॉरीशस, फीज़ी आदि अनेक देशों में रामकथा जिस रूप में जीवित है उसका श्रेय रामचरित मानस को सबसे अधिक है। राम का चरित आज किसी एक जाति, धर्म या देश की सीमाओं में आबद्ध न होकर धर्मनिरपेक्ष महामानव के रूप में स्वीकार किया जाता है। रामचरित को उपजीव्य बनाकर अनेक देशों में जातीय पर्व-उत्सव आयोजित होते हैं। भारत में दशहरे के समय रामलीला का जो व्यापक समारोह उत्तर भारत में होता है लगभग वैसा ही महोत्सव उपर्युक्त विदेशों में भी मनाया जाता है। रूस जैसे समाजवादी देश में भी रामचंद्र को मानवता का आदर्श नायक सिद्ध करने का सफल प्रयास प्रसिद्ध रूसी लेखक वारान्निकोव ने किया है। रामचरित मानस की रूसी भाषा के अनुवाद की भूमिका में उन्होंने रामचंद्र को सार्वभौम नायक की संज्ञा प्रदान की है। रामकथा की व्यापक स्तर पर स्वीकृति इस बात का प्रमाण है कि इतिहास, पुराण और मिथक के रूप में प्रचलित रामकथा विश्व की सर्वोत्कृष्ट उदात्त एवं अनुकरणीय गाथा है।

गोस्वामी तुलसीदास ने रामचरित मानस का प्रणयन कर राम के चरित को युगबोध से संपृक्त कर ऐसा लोकधर्मी बना दिया है कि आज चार सौ वर्ष से अधिक हो जाने पर भी उसकी महत्ता और प्रासंगिकता में कोई अंतर नहीं आया है. अपने युग का जितना प्रत्यक्ष और प्रखर बोध रामचरित मानस में है वैसा तत्कालीन किसी अन्य कृति में लक्षित नहीं होता। तुलसीदास ने यह अनुभव कर लिया था कि निराश, कुंठित और भग्नमनोरथ जाति को जीवन और जागृति का संदेश देने के लिए प्रवृत्ति परायण बनाना नितांत आवश्यक है। मानस की रामकथा अपने युग को वाणी देने वाली नव्य चेतना के संस्पर्श से लिखी मोहक कहानी है। उस पुरातन कथा में केवल कल्पित अतीत ही नहीं वरन युग के वर्तमान और अनागत भविष्य का संदेश निहित है। इसीलिए वह कालजयी भूमिका का निर्वाह करने में समर्थ है। मानस के पात्र जिस संघर्ष से गुजरे हैं उसे झेल लेने की शक्ति उन्हें किसी बाह्य स्रोत से नहीं वरन् आभ्यंतर ऊर्जा से मिली है। सत्य, संयम, अभय और विवेक उनकी प्रेरणा के स्रोत रहे हैं।

रामचरित मानस के प्रथम सोपान में कवि ने ईश्वरवन्दना और गुरुवन्दना के बाद सज्जन वन्दना की है। संतो के सत्संग को तुलसी ने विवेक का मूल माना है :—

बिनु सत्संग विवेक न होई, रामकृपा बिनु सुलभ न सोई।
सठ सुधरहिं सतसंगति पाई, पारस परस कुधातु सुहाई।।

संत और सज्जन की स्तुति के बाद दूरदर्शी कवि ने खलों की भी व्याजस्तुति की है। अभिधेयार्थ से खलों का स्वभाव प्रत्यक्ष होता है और व्यंग्यार्थ से उस स्वभाव में संश्लिष्ट दुष्टता भी स्पष्ट होती है। तुलसी ने अपने युग में दुष्टों को देखा होगा, उनका कुटिल स्वभाव परखा होगा तभी बड़े सहज भाव से उनके विषय में जो वर्णन किया है वह वर्तमान में भी प्रासंगिक है :

बहुरि बंदि खलगन सति भाएँ। जे विनु काज दाहिने बाएं।।
परहित हानि लाभ जिन्ह केरे। उजरे हरष विवाद बसेरे।।

संत और असंत का स्वभाव की विश्लेषण करते हुए गोस्वामी जी ने कहा है कि संत तो उस सुमन के समान होते हैं जो अंजलि में धारण करने पर दोनों हाथों को समान रूप से सुवासित करता है किंतु असंत तो अकारण कष्ट देने वाला होता है। संत का वियोग प्राणहरण का दुख देता है और असंत तो मिलते ही दारुण दुख का कारण बनता है:—

बंदौ संत असज्जन चरना। दुखप्रद उभय बीच कछु वरना।।
बिछुरत एक प्रान हरि लेई। मिलत एक दारुन दुख देई।।

इसी प्रसंग में कवि ने अपनी काव्य चर्चा करते हुए बड़े विनयभाव से स्वीकार किया है कि मेरा काव्य उच्चकोटि का नहीं है। मैं कवि नहीं हूँ, कथा कहने में प्रवीण भी नहीं हूँ, समस्त कला और विधाओं से हीन हूँ लेकिन अपनी रचना किसे अच्छी नहीं लगती किंतु जो दूसरों की रचना सुनकर प्रसन्न होते हैं, ऐसे श्रेष्ठ पुरुष इस जगत में बहुत नहीं है। लगता है कि तुलसी ने अपनी जन-भाषा विषयक कृति से असंतुष्ट लोगों को ध्यान में रखकर ही यह लिखा है। आज भी कवि समाज की यही स्थिति ।

निज कवित्त केहि लागि न नीका। सरस होइ अथवा अति फीका।।
जे पर भनिति सुनसि हरषाहीं। ते वर पुरुष बहुत जग नाँही।।

कवि न होऊँ नहिं चतुर प्रवीनू। सकल कला सब विद्या हीनू।।
भाषा भनिति भोरि भति मोरी। हँसिवे जोग हँसे नहिं खोरी।।

उपर्युक्त उद्धरणों से स्पष्ट है कि तुलसी ने अपने युग की मानसिकता का गहराई के साथ अध्ययन किया था और उन तथ्यों को उजागर करने में कोई कसर बाकी नहीं रखी थी जो युगधर्म और युगबोध को सामने लाते हैं।

सप्तम सोपान में गोस्वामी जी ने पुन: असंतों के स्वभाव का विस्तार से वर्णन किया है। इस वर्णन को पढ़ते ही प्रतीत होता है कि तुलसीदास के समकालीन समाज में भी नीचता और दुष्टता बहुत बढ़ गई थी जिस पर गोस्वामी जी ने बार-बार खुलकर प्रहार किया है। द्वेष और क्रोध से भरे रहते हैं। उनके स्वभाव की नीचता के कारण उनसे विलग रहना ही श्रेयस्कर है। खल व्यक्ति के हृदय में सदा ताप रहता है, वह दूसरे की सम्पत्ति की उन्नति को देखकर जलता है। यदि कहीं परनिंदा सुनता है तो उसे परम प्रसन्नता का अनुभव होता है. उसका अकारण दूसरों से बैर रहता है, हित-अहित का उसे बोध ही नहीं होता। उसका समस्त व्यवहार झूठ पर निर्भर करता है, झूठ ही उसका भोजन और झूठ ही उसका चबेना है। ऊपर से तो मोर के समान मधुर वाणी बोलता है किंतु हृदय में साँप के समान कठोर बनकर डसता है। लोभ ही उसका ओढ़ना-बिछौना है और परायण होकर यमपुरी का भी त्रास नहीं मानता। किसी अन्य व्यक्ति की प्रशंसा सुनने पर उन्हें जूड़ी आ जाती है। यदि किसी पर विपत्ति आती है तो ऐसे प्रसन्न होते है मानों वे जग के नृपति हों। स्वार्थ में लीन रहकर ऐसे नीच व्यक्ति परिवार का भी विरोध करते हैं। स्वभाव से कामी, क्रोधी, लोभी और लंपट होते हैं। माता-पिता, विप्र, गुरु किसी को आदर नहीं देते। स्वयं को ही सब कुछ मानते हैं। ऐसे नीच व्यक्ति सतयुग, त्रेता और द्वापर में थे किंतु अब कलयुग में इनकी संख्या बहुत हो गई है।

खलन्ह हृदय अतिताप विसेषी। जरहिं सदा परी संपत्ति देखी।।
जहँ कहुँ निंदा सुनहि पराई। हरषहिं मनहु परी निधि पाई।।
झूठह लेना झूठइ देना। झूठइ भोजन झूठ चबेना।।
बोलहि मधुर वचन जिमि भोरा। खाइ महा अहि हृदय कठोरा।।
लोभइ ओढ़न लोभइ डास। सिस्नोदर पर जमपुर त्रासन।।
काहू की जो सुनहि बड़ाई। स्वास लेहि जनु जूड़ी आई।।
स्वारथरत परिवार विरोधी। लंपट काम लोभ अति क्रोधी।।
मातृ पिता गुर विप्र न मानहि। आपु गये अरु घालहि आनहि।।

असंतों के स्वभाव वर्णन के बाद अपने युग के स्वरूप को कलियुग के संदर्भ में तुलसीदास ने भोगे हुए यथार्थ की भाँति चित्रित किया है। कलियुग का यह वर्णन काल्पनिक न होकर प्रत्यक्ष क्रियाकलाप का

ही वर्णन है। कलियुग का दृश्य कदाचार और भ्रष्टाचार में दिखाई पड़ता है। दूसरे शब्दों में कहें तो आज जो देखा जा रहा है, घटित हो रहा है वही कलियुग है। यहाँ तुलसीदास त्रिकाल-दृष्टा के रूप में समय का अतिक्रमण कर जाते हैं।

कलिमल ग्रसे धर्म सब लुप्त भये सदग्रंथ।
दंभहि निज मति कल्पिकरि प्रगट किए बहुपंथ।।

वरन धर्म नहि आश्रमचारी। श्रुति विरोध रत सब नरनारी।।
द्विज श्रुति वेचक भूष प्रजासना। कोउ नाहि मान निगम अनुसासन।।
मारग सोइ जाकहूँ जोइ भावा। पंडित सोई जो गाल बजावा।।
मिथ्यारंभ दंभ रत जोई। ता कहँ संत कहै सब कोई।।
सोइ सयान जो परधन हारी। जो कर दंभ सो बड़ आचारी।।
जो कह झूठ मसखरी जाना। कलियुग सोई गुनवंत बखाना।।
जाके नख अरु जटा विसाला। सोइ तापस प्रसिद्ध कलिकाला।।
नारि विवस नर सकल गोसाई। नाचहि नट मर्कट की नाई।।
नारि मुई गृह संपत्ति नासी। मूड़ मुड़ाइ भये संसासी।।
विप्र निरच्छर लोलुप कामी। निराचार सठ वृषली स्वामी।।
सब नर कल्पित करहि अचारा। जाइ न वरनि अनीति अपारा।

कलियुग का यह वर्णन इतना प्रखर युगबोध प्रस्तुत करता है कि इसे पढ़कर आज से चार सौ वर्ष पूर्व का ही नहीं वरन् आज बीसवीं शताब्दी का चित्र भी अपने पूर्ण भ्रष्ट आचरण के साथ मूर्तिपन्न हो उठता है। यह वर्णन कवि-कल्पना प्रसूत न होकर अपनी भोगी हुई विविध दशाओं से उत्पन्न भोगे हुए यथार्थ का स्थूल मांसल वर्णन है। ऐसा यथार्थ वर्णन अन्यत्र कहीं देखने में नहीं आता।

गोस्वामी तुलसीदास ने अपनी दूसरी रचना कवितावली में भी अपने युग को सांगोपांग उतारा है। पहले अपनी दीन-हीन दशा का वर्णन किया है और समाज की अर्थव्यवस्था पर करारी चोट की है तदनंतर तत्कालीन सामाजिक एवं आर्थिक स्थिति को स्पष्ट करते हुए गरीबी, भुखमरी, बेरोजगारी आदि पर बड़े चुटीले प्रहार किये हैं। कवितावली का यह वर्णन इतना सजीव और सटीक है कि उसकी ध्वनि और प्रतिध्वनि से पाठक के समक्ष संपूर्ण युग अपनी छटपटाती मर्मव्यथा को प्रस्तुत कर देता है। यहाँ केवल दो कवित्व उधृत कर हम समकालीनता का संदर्भ और यथार्थपरकता का दृश्य प्रस्तुत करना चाहेंगे। तुलसीदास ने पूरे युग की व्यथा को इन दो कवित्तों में समेट लिया है। पेट की आग कितनी प्रचंड होती है और जीविकाहीन होकर जीना कितना दारुण एवं दयनीय होता है यह इन कवित्तों में मूर्तिमन्त हो गया है :

किसनी, किसान कुल, वनिक, भिखारी, भॉट
चाकर, चपल, नट, चोर, चार, चेटकी।
पेट को पढ़त, गुन गढ़त, चढ़त गिरि,
अटत गहन वन, अहन अखेट की।
ऊँचे नीचे करम, धरम, अधरम करि
पेट ही को पचत बेंचत बेटा बेटकी।
तुलसी बुझाइ एक राम घनश्याम ही तें।
आगि वडिवागि ते वड़ी है आगि पेट की।।

दूसरा मनहरण कवित्त सामयिक यथार्थ के चित्रांकन का सुंदर निदर्शन है। चार सौ वर्ष का लंबा व्यतीत हो गया किंतु आज भी आर्थिक विपन्नता की वही दयनीय स्थिति है। किसान पानी के अभाव से सूखाग्रस्त है, कृषिकर्म की सुविधा नहीं है, भिक्षुक को उदरपूर्ति के लिए भिक्षा नहीं मिलती, व्यापारी का वाणिज्य व्यापार चौपट है, नौकरी पेशा व्यक्ति बेरोजगारी से पीड़ित है। कहने को तो आज रोजगार के दफ्तर है किंतु बेराजगार लोग मारे मारे घूम रहे हैं उन्हें कहीं नौकरी नहीं मिलती। ऐसी भीषण स्थिति में भगवान के सिवा और कौन असहायों का सहायक हो सकता है। तुलसी ने इसी दारुण दशा का चित्र अंकित किया है :

खेती न किसान को, भिखारी का न भीख, वलि
बनिक को वनिज, न चाकर को चाकरी।
जीविका विहीन लोग सीद्यमान सोचवल
कहैं एक एकन सों कहाँ जाई का करी।
वेद हू पुरान कही, लोक हू विलोकियत
साँकरे समै पै राम रावरे कृपा करो।
दारिद दसानन दवाई-दुनी दीन बंधु।
दुरित दहन देखि तुलसी हहा करी।

सामान्य जन की दुर्दशा का ऐसा सटीक-यथार्थ चित्रण भक्तिकालीन हिंदी कविता में तो दुर्लभ है ही, परवर्ती हिंदी काव्य में भी ऐसा मार्मिक यथार्थबोध शायद ही कहीं मिले।

गोस्वामी तुलसीदास के रामचरित मानस में ऐसे अनेक संदर्भ है जो आधुनिक विचारधारा के साथ एक सीमा तक मेल रखते हैं। एक दो ऐसे भी कथाप्रसंग हैं जिनका प्रभाव असहयोग आंदोलन के समय महात्मा गांधी ने ग्रहण किया था। ऐसा कहा जाता है कि गोस्वामी तुलसीदास का परमधर्म 'परहित सरस धर्म नहिं भाई' था। परहित में आत्मोत्सर्ग और आत्मभविसर्जन का भाव स्वतः निहित है अतः परहित की भावना को तुलसीदास ने यदि सर्वोच्च स्थान दिया तो वह विमल विवेक का ही परिणाम है। आधुनिक युग में स्वार्थ और संघर्ष की जो तेज दौड़ हो रही है उसे रोकने के लिए परहित को यदि धर्म बना लिया जाय तो शांति प्रेम और समता का वातावरण बन सकता है।

रामचरित मानस का एक सुप्रसिद्ध प्रकरण है जो मानवीय गुणों के उत्कर्ष और शक्ति पर प्रभाव डालता है। लंका के रणक्षेत्र में महावीर बलवान रावण चार घोड़ों के विशाल रथ में बैठकर युद्ध करने आया है। रावण के इस अजेय रथ को देखकर विभीषण सहम उठता है, सोचता है कि राम के पास न तो चार घोड़ों का रथ है और न शरीर रक्षा के लिए कवच, तन-पद त्राण विहीन राम की स्थिति साधनहीन अकिंचन की है। शस्त्र-सम्पन्न हीन राम, महावीर रावण को किस प्रकार जीत सकेंगे, यह संशय विभीषण को उद्वेलित कर देता है।

'नाथ न रथ नहिं तन पद त्राना। केहि विधि जितहि वीर बलवाना।।'

राम के समक्ष विभीषण का संशयजनित भय जिस रूप में आया वह राम को विचलित करने वाला ही हो सकता था। विभीषण का यह संशय युग-संशय के रूप में राम के सामने खड़ा था किंतु राम न तो विचलित हुए और न हतप्रभ ही। बड़े शांतभाव से उन्होंने विभीषण को जो उत्तर दिया वह उत्तर आधुनिक युग संदर्भ में ब्रिटिश शासन के विरोध में सत्य और अहिंसा का अस्त्र लेकर संघर्ष करने वाले भौतिक साधनहीन व्यक्ति मोहनदास कर्मचंद गांधी का ही उत्तर था राम ने कहा—

सुनहु सखा कह कृपा निधाना। जेहि जय होइ सो सस्यंन्दन आना।।
सौरज, धीरज तेहि रथ चाका। सत्य शील दृढ़ ध्वजा पताका।।

बल विवेक दम परिहित घोरे। क्षमा कृपा समता रजु जोरे।।
ईस भजन सारथी सुजाना। विरति धर्म, संतोष कृपाना।।
दान परस वधि सक्ति प्रचंड। वरविज्ञान कठिन कोदंडा।।
कवच अभेद विप्रगुरु पूजा। एहिसम विजय, उपाय न दूजा।।
सखा धर्ममय अस रथ जाके। जीत न कहँन कतहुँ रिपु ताके।।

राम ने ऊपर की पंक्तियों में जिस धर्म चक्र को रथ-रूप में वर्णित किया है वह अपने युग-संदर्भ से आधुनिक युग-संदर्भ तक अपरिच्छिन्न रूप से व्याप्त है। मुगल साम्राज्य के दुर्द्धर्ष प्रभाव को निरस्त करने के लिए तुलसी के पास शौर्य, धैर्य, शील, विवेक, संयम, परोपकार, क्षमा, कृपा, ईश्वरभक्ति, वैराग्य, संतोष, दान के सिवा और हो भी क्या सकता था। तुलसी का विश्वास था कि तत्कालीन साम्राज्य के दमन चक्र के विरुद्ध धर्मचक्र से ही विजय प्राप्त हो सकती है। आधुनिक युग में महात्मा गाँधी ने अंग्रेजी के दमन और शोषण के विरोध में ऐसे ही आचार-नीति-निर्मित रथ की कल्पना की थी।

तुलसी ने अपने युग की विषम परिस्थितियों को भलीभाँति समझकर ही अपने काव्य के नायक का चरित्र निर्मित किया है। हताश और पददलित जातियाँ जब बाह्य उद्‌बोधन से नहीं जागती तो उन्हें अंत: उद्‌बोधन से जगाया जाता है। तुलसी ने इसी अंत:उद्‌बोधन का संदेश रामचरित मानस द्वारा उत्तरभारत की जनता को दिया था। तुलसी राजनीतिवेत्ता थे या नहीं, यह मैं नहीं जानता किंतु वे लोकनायक थे यह सर्वस्वीकृत मत है। लोकनायक को राज्य के विधि-विधान के लिए व्यवस्था-निर्माण करना चाहिए। इस संदर्भ में मानस का सप्तम सोपान-उत्तरकांड पठनीय है। इस सोपान में तुलसी ने रामराज्य की बहुत सुंदर कल्पना की है। यह रामराज्य किसी एक जाति, धर्म या देश का राज्य न होकर भूतल के सभी देशों को लिए स्वीकार्य हो सकता है। रामराज्य का तात्पर्य प्रजाजन का मंगलमय जीवन है। तुलसी ने स्पष्ट शब्दों में कहा है कि जिस राजा के राज्य में प्रजा दुखी रहती है वह राजा नरक का अधिकारी होता है। 'जासु राज प्रिय दुखारी। सो नृत अवस नरक अधिकारी।' रामराज्य की कल्पना में जो सार्वभौम वैशिष्ट्य है उस पर ही ध्यान देना चाहिए :

दैहिक दैविक भौतिक तापा। रामराज नहि काहू व्यापा।।
सब नर करहि परस्पर प्रीती। चलहि स्व धरम निरत श्रुति नीती।।
अल्प मृत्यु नहि कब निउ पीरा। सव सुंदर सव निरज सरीरा।।
नहि दरिद्र कोउ दुखी न दीना। नहि कउ अवुध न लक्षण हीना।।
सव निर्भय धर्मरत पुनी। नर अरु नारि चतुर सव गुनी।।
सब गुणज्ञ पंडित सब ज्ञानी। सब कृतज्ञ नहि कपट सयानी।।

रामराज्य की यह कल्पना देशकाल की सीमाओं में आबद्ध नहीं है। त्रिताप से मुक्त होकर परस्पर प्रीतिपूर्वक रहने का इस व्यवस्था में विधान है। स्वधर्म में आस्था और विश्वास रखने की पूरी छूट है। दीर्घ जीवन की आकांक्षा है, पीड़ा रहित, रोगरहित सुंदर काया की कामना है। दारिद्रय और दैन्य से दूर रहना है। सब विद्वान गुणज्ञ और सुसंस्कृत हों, सब निर्भय हो, धर्मपरायण हों, नर-नारी का भेद न हो और सब चतुर हों। सब पंडित और ज्ञानी हों, सब कृतज्ञ हों, कपटाचरण से दूर हों। यही वास्तविक रामराज्य का आदर्श है। ऐसे रामराज्य की आकांक्षा कौन नहीं करेगा?

सामाजिक एवं नैतिक मूल्यों के प्रति जैसा आग्रह तुलसी की रचनाओं में लक्षित होता है वह सार्वभौम स्वीकृति पर भी खरा उतरता है। वर्णाश्रम की परंपरावादी मर्यादा को यदि छोड़ दिया जाए तो तुलसी की नैतिक मूल्य विषयक अवधारणा को किसी भी निकष पर अव्यवहार्य नहीं कहा जा सकता।

नारी विषयक दो चार अर्धालियों के आधार पर तुलसी को नारी निंदक कहने का चलन है किंतु नारी महिमा और नारी प्रतिष्ठा के दर्जनों प्रसंगों को छोड़ दिया जाता है। वस्तुत: भारतीय समाज को उस युग में जिस आस्था और विश्वास की आवश्यकता थी वही राम चरित मानस के माध्यम से 'तुलसी ने प्रदान किया था। पराजित जाति को विवेक के आश्रय से आस्था के संबल से, स्वावलम्बन के सहारे से पुनर्जीवित किया था। अन्याय के प्रतिरोध का नया रास्ता दिखाया था। उसे युगबोध के साथ अनागत भविष्य के निर्माण का संकेत दिया था। यही कालजयी कृति की अक्षुण्ण मर्यादा है। □

ललित निबंध

प्रिय पुत्र, अमृत लेकर ही लौटना

कुबेरनाथ राय

रामायण का प्रथम शब्द है 'तप'। तितिक्षा तप का ही एक रूप है। तितिक्षा अर्थात् सहन करने की, अपनी दुःखद नियति को स्वीकार करके धैर्यधारण करने की ओर धैर्यपूर्वक सब कुछ बरदाश्त करते रहने की क्षमता। मनुष्य के मन में, उसके गहन गंभीर अंतर के आखिरी तल में कोई देवता बैठा है, मूलाधार के नागपर्यक पर कोई भगवती शक्ति है तो निरंतर तप कर रही है और उसी के तपोबल पर जीवन टिका हुआ है। मनुष्य अपनी हताशा के चरम अंध क्षणों में डूबता-डूबता इसी देवता से जा जुड़ता है और इस तरह वह सर्वथा समाप्त होने से बच निकलता है। वही देवता उसके धैर्य और उसकी विविक्षा के मूल में है। उसी के बल पाकर वह शील का पथ नहीं छोड़ता और नियति द्वारा आरोपित सब कुछ बरदाश्त कर जाता है। रामायण का प्रत्येक सही पात्र तपता है। सूर्य की तरह अपने को दग्ध करता है और इस तप के भीतर वह निरंतर मधुमय होता जाता है, और अपने आसपास के संपर्क को वह मधुमय करता रहता है। सूर्य अंतरिक्ष में माधवी कला का जिस प्रकार विस्तार करता है वैसे ही जीवन मूल में बैठी हुई वह सविता शक्ति भी जीवन के प्रत्येक क्षण को काल की मधु नाड़ी में परिवर्तित करती रहती है। सारी रामकथा इसी जीवन-सूत्र को अभिव्यक्त करती है। यह क्रिया ही महाकाव्य की करुणा में महिमा को प्रतिष्ठित करती है। मानवीय स्तर पर एक से एक करुणाजनक दृश्य और करुणाधीर चेहरे उपस्थित होते हैं जिनके भीतर सूर्य तप रहा है और उन्हें मधुमय करता जा रहा है। ऐसी ही करु चेहरों में एक चेहरा है राम की माँ का। कौशल्या के लिए तुलसी का एक वाक्य आता है 'जिसि करुणा धरि देह बिसूरति', मानो साक्षात् करुणा ही देह धारण करके बिसूर रही हो। कौशल्या अपने व्यक्तिगत दुःख या व्यक्तिगत करुणा का प्रतीक न होकर साक्षात् करुण रस हो गयी है और उसकी करुणा किसी सार्वभौम 'अनुभाव' का रूप धारण कर चुकी है। अनुभव नहीं 'अनुभाव'। अनुभव व्यक्तिगत होता है तो 'अनुभाव' सार्वभौम। जब अनुभव अनुभाव बन जाता है तो वह 'रस' रूप धारण कर लेता है। वात्सल्य-रस में एक करुणा निहित है और इसका प्रतीक है सवत्सागौ। सवत्सागौ करुण रस की नहीं, बल्कि सकरुण वात्सल्य रस की प्रतिमा होती है। कौशल्या एक ऐसी ही प्रतिमा बन कर अयोध्याकांड के रामवनगमन के अवसर पर कवि द्वारा उपस्थित की जाती है। सीता के वर्णन को पढ़कर बहुत कम लोगों को अपनी पत्नी का स्मरण होगा, परंतु कौशल्या के वर्णन को पढ़कर सबको, चाहे वह राजा हो या रंक, अपनी माँ का अनायास स्मरण हो जाता है, अपने

निजी जीवन के कुछ प्रसंग बरबस याद आ जाते हैं। यह है उसकी सार्वभौमता का प्रमाण। कौशल्या वात्सल्य की तथा पुरुष प्रधान समाज में निरंतर व्रतधारण करके तपोरत रहने वाली भारतीय माँ और भारतीय नारी का सार्वभौम प्रतीक है। इसी से मैं कहता हूँ कि वह रामायण में रस-रूप हो गयी है।

जब वह कहती है, 'हे राम जैसे दुर्बल गाय अपने बछड़े के पीछे-पीछे बन में चलती है वैसे ही मैं भी तुम्हारे पीछे-पीछे वन चलूँगी' (अ.का./२०/५४) तो हमारे सामने एक सवत्सा धेनु का दीन करुणा बिंब उभरता है जो उसके पूर्व जीवन और वर्तमान के अंदर निहित सारी बेवसी, सारी त्राहि, और सारी ममता को गंभीर रूप में व्यक्त करता है। राम जब अपने वनवास का प्रथम संवाद स्वयं उसे देते हैं तो वाल्मीकि के अनुसार 'तीक्ष्णधार परशु से काटे गये कदली वृक्ष' की तरह वह ढह पड़ती है और दीर्घ जीवन यात्रा में मर्यादा और मौन विविक्षा का भार ढोते-ढोते थकी हुई वह धूल में वैसे ही लोटने लगती है जैसे दीर्घश्रम से थकी हुई, धूल में हाथ-पाँव पटकती हुई घोडी ! वह प्रथम आघात को संभाल नहीं पाती और जो प्रथम भाषा उसके मुख से निकलती है वह एक प्रतापी सम्राट के अंत:पुर में निहित अव्यक्त त्राहि और दैन्य की प्रथम अभिव्यक्ति है। 'राम, मैं बंध्या नारी से भी अधिक अभागिन हो गयी। श्रेष्ठसती रहते हुए भी मुझे जीवन में कोई सुख नहीं मिला।' दशरथ के अंत:पुर में तीन सौ पचास रानियाँ और रक्षिताएँ थीं (अयोध्याकांड, श्लोक ३६/सर्ग ३९) सबसे ज्येष्ठ और वरिष्ठ राजमहिषी के बाहरी सम्मान के बावजूद पति के आकर्षण और प्रीति का कितना पात्र वह रह सकी होगी, यह कल्पना सहज ही की जा सकती है। सारा जीवन मुँह बंद कर वह सब्र करती रही। वह कहती है, 'मैं आजीवन सौतों के व्यंग वचनों से बिद्ध होती रही। तो भी संतोष था कि शायद पुत्र द्वारा कुछ सुख प्राप्त हो। आज जब मेरी देह यौवनहीन हो चुकी है, मैं पुन: दासी कोटि में विधाता द्वारा डाल दी गयी।' साढ़े तीन सौ सुंदरियों के अंत:पुर में जो हिंसा द्वेष और आत्मपीड़न का वातावरण रहा होगा उसका हल्का संकेत कौशल्या की इन उक्तियों से मिल जाता है। रामायण में यह प्रसंग कहीं भी उभरकर सामने नहीं लाया गया है। ऐसा करना महाकाव्य के घोषित उद्देश्य के प्रतिकूल 'विरोधी रस' की सृष्टि करता। महाकाव्यकार को सर्वत्र ही विषयगत अनुशासन बरतना पड़ता है। परंतु इन उक्तियों से भीतरी स्थिति का संपूर्ण संकेत मिल जाता है।

तत्पश्चात् आते हैं लक्ष्मण के रोष और राम के सांत्वना प्रयास के प्रसंग। अल्पकाल बाद ही यह महीमयसी नारी अपनी शांत और धैर्यभरी महिमा में पुन: स्थित हो जाती है और सारी नियति को स्वीकार करके अपनी भावनाओं का कंठ दबाकर उन्हें वहीं शांत कर देती है। अंतर का देवता जो आत्मा के अतल में बैठा हुआ निरंतर तितिक्षा और धैर्य का अमृत आजीवन देता रहा है, पुन: सक्रिय हो उठता है और उसे अपने कर्त्तव्य का स्मरण हो आता है वह पुत्र को साश्रुकंठ आशीर्वाद देती हुई कहती है, 'हे पुत्र, जब तुमने सत्यरक्षा के लिए बन जाने का संकल्प कर ही लिया है तो उससे मैं तुम्हें किस प्रकार विचलित कर सकती हूँ? काल ही बलवान है। तुम भी उसी काल के प्रति नतमस्तक होकर बन को जाओ। भाग्य की गति प्रबल है। तुम मेरी अनसुनी करके वन जाने पर तुले ही हो तो जाओ, फिर कल्याणपूर्वक घर लौटो। इससे अधिक क्या कहूँ? तुम्हारे फिर लौट आने पर तुम्हारा मुख देख पाऊँगी या नहीं यह तो नहीं जानती। परंतु इस वन यात्रा के अवसर पर मैं तुम्हारे लिए स्वस्तिवाचन करती हूँ।'

ऐसा कहकर राम की माँ ने उनकी यात्रा की मंगलकामना करते हुए एक अद्भुत स्वस्तिवाचन किया जो पूरे महाकाव्य में कई दृष्टियों से बहुत महत्वपूर्ण है। कौशल्या के सबसे पहले देवता को नहीं शीलाचरण और पौरुष का स्मरण किया और कहा,

नशयसे वारयि तुं गच्छेदानीं रघूत्तम।
शीघ्रंच विनिवर्तस्व वर्तस्व च सतां क्रमे।
यं पालयसि धर्मं त्वं प्रीत्या नियमेन च
सर्वे राघव शार्दूल धर्मस्त्वामभिरक्षतु।
येम्य प्रणमसे पुत्र देवेष्याय तनेषु च
ते च त्वामभिरक्षन्तु वने सह महर्षिभि:
यानि दत्तानि तेऽस्त्राणि विश्वामित्रेण धीमता
तानि त्वामभिरक्षन्तु गुणै: समुदितं सदा।'

—अयोध्याकाण्ड (२५/२-५)

(हे राम, तुम्हें रोका नहीं जा सकता। पर शीघ्र लौटना और मेरी इस बात का सर्वदा ध्यान रखना कि तुम सदा सद्‌मार्ग पर चलोगे, तुम उसी पथ पर विचरण करोगे जिस पर सद्‌पुरुष विचरण करते आये हैं।

हे रघुकुल सिंह, जिस धर्म का तुमने पालन किया है वह धर्म अर्थात् तुम्हारा आचरण ही तुम्हारी रक्षा करें।

जिन देवस्थानों और ऋषिकुलों को तुमने अपनी श्रद्धा अर्पित की है वे देवता और ऋषि तुम्हारी रक्षा करें।

जिन अस्त्रों की तुमने गुरुओं से शिक्षा ग्रहण की है, वे अस्त्र तुम्हारी रक्षा करें।)

रामकथा 'ऋत' (धर्म या विधात) का महाकाव्य है। 'ऋत' ही 'सत्य' है। ऋतानुसार आचरण का नाम है शील। यों 'शील' शब्द स्वयं में एक विस्तृत शब्द है। हिंदी में इसका लौकिक प्रयोग इसके सीमित अर्थ 'भद्रता' 'संकोच' या 'मुरौवत' के अर्थ में होता है। परंतु इसका व्यापक अर्थ है चरित्र का सौंदर्य या आचरण-सौंदर्य। सुंदर या भव्य वही है जो 'ऋत' या 'सत्य' के अनुकूल हो, जो धर्म या विधान के प्रतिकूलन हो।

बौद्धों ने तो इसे 'धर्म' के प्रति शब्द के रूप में देखा है। किसी वस्तु का प्राकृतिक सहज धर्म उसका स्वभाव रचता है। इसी से शील का अर्थ 'आचरण' के साथ 'स्वभाव' भी हो गया। कर्म का स्रोत है मन और मन स्वभाव का जनक होता है। अत: व्यक्तिगत संदर्भ में शील का अर्थ होता है स्वभाव-सौंदर्य और सामूहिक संदर्भ में इसका अर्थ होता है आचरण-सौंदर्य। स्वभाव और आचरण एक दूसरे से जुड़े हैं और शील शब्द दोनों को व्यक्त करता है और दोनों की भव्यता की कसौटी है 'ऋत'। वस्तुत: 'ऋत' शब्द का जो वैदिक साहित्य में स्थान है 'शील' का वही स्थान है बौद्ध साहित्य में और पुराणों में 'ऋत' एवं 'शील' के ही समगोत्र 'धर्म' शब्द को व्यवहृत किया है। व्यवहारत: ये तीनों एक ही अर्थ देते हैं। 'ऋत' एवं 'धर्म' की तरह 'शील' शब्द का भी अनुवाद अभारतीय भाषा में असंभव है। डॉ. कृष्णचैतन्य ने इसको 'सोशीओ कलचरल ब्यूटी' कहा है। परंतु केवल 'ब्यूटी' से काम नहीं चलता क्योंकि इस 'शील' शब्द में 'गुडनेस' का भाव भी अंतर्निहित है। आसुरी जीवन की 'सशोओ कलचरल ब्यूटी' को 'शील' नहीं माना जा सकता।

रामायण स्वभाव और आचरण की भव्यता और दिव्यता का महाकाव्य है। इसी से इसे शीलप्रधान महाकाव्य कहते हैं। इस तथ्य का संकेत कौशल्या के जीवन के एक चरम महत्व के क्षण पर आशीर्वाद देते हुए प्रथम वाक्यों में ही कहती है, 'पुत्र, तुम सद्‌पुरुषों के मार्ग पर चलोगे, धर्म का पथ तुम्हारा पथ होगा, तुम्हारा आचरण ही सर्वत्र तुम्हारी रक्षा करेगा।' ऐसा कहकर कौशल्या एक बहुत बड़े सिद्धांत का प्रतिवाचन कर देती है कि मनुष्य का रक्षक, उसके अभय का स्रोत उसका 'शील' ही है।

तत्पश्चात् आते हैं उसकी उपासना का पुण्य और उसकी अर्जित विद्या का बल। वह स्वस्तिवाचन के प्रारंभ में यह नहीं कहती कि भगवान तुम्हारी रक्षा करें। बल्कि वह कहती है, 'पुत्र तुम्हारा शील तुम्हारी रक्षा करे, तुम्हारी उपासना का पुण्य तुम्हारी रक्षा करें और तुम्हारी अर्जित अस्त्र-विद्या तुम्हारी रक्षा करें।' शील, उपासना और विद्या यह ही तीन मनुष्य के प्रथम रक्षक हैं। इनके बाद आती है देवताओं की कृपा या करुणा। रामायण बीरगाथा है। अतः आशीर्वाद के प्रारंभ में ही पौरुषवाद की स्थापना कर दी गयी। परंतु शील और उपासना से रिक्त हुई शुद्ध 'सेक्यूलर' दृष्टि से किया गया पौरुष दिव्य या भव्य नहीं होता। शील निरपेक्ष और उपासना निरपेक्ष विद्या-बल, अस्त्रबल, और पौरुष उस मंगल की भूमि से नहीं जुड़ पाता जो रामकथा का अभिप्रेत है। आधुनिक 'सेक्यूलर' मानववाद की पराज्य का यही रहस्य है। आधुनिक सभ्यता की सारी उपलब्धियों का पतन अवदमनों और शोषण प्रक्रियाओं के पुनरावर्तन में इसीलिए हो जाता है कि इसमें शील और उपासना का तुलसी दल नहीं पड़ा है। वाल्मीकि का नायक जिस पौरुष योग या 'पुरुषार्थ योग' का प्रतीक है। वह प्रत्येक स्तर पर शील और उपासना से जुड़ा हुआ है। कौशल्या इन तीन तत्वों का संकेत करके आगे के स्वस्तिवाचन में तत्कालीन देव-मण्डल के प्रति अपने पुत्र की रक्षा के लिए अपनी प्रार्थना व्यक्त करती है।

तत्पश्चात् कौशल्या अपने प्रिय पुत्र के कल्याण के लिए जड़चेतन व्याप्त वैदिक देव मण्डल के प्रति अपनी प्रार्थना अर्पित करती है। यह देव-स्तवन अनेक दृष्टियों से महत्वपूर्ण है और 'रामायण' कालीन धार्मिक चेतना पर प्रकाश डालता है। यह प्रार्थना इस तथ्य की द्योतक है कि काव्य की रचना पैराणिक युग के पूर्व और वैदिक युग के बाद संभवतः ब्राह्मण काल में हुई होगी। पुराणों की वरेण्य उपासना मूर्तियों, शिव, विष्णु, दुर्गा, लक्ष्मी आदि का इसमें स्तवन नहीं है। इस प्रार्थना की प्रकृति मूलतः वैदिक है और वैदिक लोकायत धर्म (आर्य और आर्येतर) के देवता ही इसमें मुख्य रूप से आते हैं। लोकायत धर्म जो आर्य-आर्येतर जन समाज का विमिश्र लोकधर्म था वृक्ष पूजा, नदी पूजा, ऋतु पूजा, संवत्सर की शक्तियों ग्रह, नक्षत्र, वीर-'बरम', यज्ञ-किन्नर आदि की पूजा से जुड़ा था। आर्य लोकधर्म में वेदी, कुशा, होमाग्नि आदि भी देव प्रतीक थे। इन सबके प्रति राम-माता साश्रुकण्ठ से पुत्र के कल्याण की याचना करती है।

'हे पुरुषोत्तम ऋषियों की होमग्नि तुम्हारी रक्षा करें, उनकी कुशा उनकी होमवेदी और उनके आहूत देवता तुम्हारी रक्षा करें।

'सारे पर्वत तुम्हारी रक्षा करें, सारे जलाशय तुम्हारी रक्षा करें, सारे वृक्ष, कीट-पतंग, हाथी-सर्प और सिंह तुम्हारी रक्षा करें।

'हे राम, सघन वन में दिशाओं के लोकपाल तुम्हारी रक्षा करें, षट ऋतुओं के अभिमाली देवता तुम्हारी रक्षा करें, दिवस, मास, संवत्सर आदि काल खण्डों के देवता तुम्हारी रक्षा करें, चंद्रमा और सूर्य तुम्हारी रक्षा करें, नक्षत्रों की कलाएँ, ग्रहों की कक्षाएँ तुम्हारी रक्षा करें, सप्तर्षि मंडल तुम्हारी रक्षा करें; विविध नक्षत्र मण्डलों के देवता तुम्हारी रक्षा करें, व्योम के ज्योतिष्क चक्र की सारी गतियाँ, आकृतियाँ और संपूर्णकाल चक्र ही तुम्हारी रक्षा करता चले।

'मैं कुमार कार्तिकेय, चंद्रमा, इंद्र और वृहस्पति से याचना करती हूँ कि तुम्हारी रक्षा करें, मैं वरुण कुवेर आदि दिशाओं के अधिपतियों से, सारे सिद्धगणों से, तुम्हारी रक्षा की भीख माँगती हूँ। शुक्र, चंद्र, सूर्य, ग्रहगण तुम्हारी रक्षा करें, मृत्यु का अभिमानी देवता यम तुम्हारी रक्षा करें।

'हे पुरुष सिंह, पृथ्वी, आकाश, पवन, चर और अचर जीवगण तुम्हारी रक्षा करें।.........
घोर अरण्य में घूमते हुए क्रूर अपदेवता और पिशाचगण तुम्हें न सतावें। जो मांस भक्षी हैं, वे तुम्हें न

पीड़ित करें। वानर, बिच्छू, मच्छर, सर्प, हाथी, सिंह, वृक, वाराह और तीक्ष्ण धारदार सींगों वाले महिष तुम को पीड़ा न दें। ये सभी मेरे द्वारा पूजित हों, इनके नियामक देवगण मेरे द्वारा पूजित हों। मैं इन सबकी आराधना करती हूँ। ये तुम्हें पीड़ा न दें।

'हे राम, जल में स्नान करते हुए ऋषियों द्वारा अघमर्षण सूक्तों और मंत्रों में जो बल है, सुगंधित होम में जो बल है, वायु और अग्नि में जो बल है, वे सारे बल तुम्हारी रक्षा करें।

'सर्वव्रतों का कर्ता, सर्वलोकों का प्रभु ब्रह्मा या प्रजापति तथा ऋषि कुल तुम्हारी रक्षा करें।

'और अंत में मेरा आशीर्वाद है कि तुम्हारे द्वारा पढ़ा गया समस्त आगम शास्त्र तुम्हारा कल्याण करें, तुम्हारा पराक्रम सिद्ध हो, वन में तुम्हें ऐश्वर्य प्राप्त हो, तुम्हारा पथ कल्याणमय हो।'

(अयोध्याकाण्ड)

इस स्वस्ति-प्रार्थना से ज्ञात होता है कि 'प्रजापति' ब्रह्मा ही रामायण काल के मुख्य देवता थे और इंद्र-अग्नि आदि का महत्व पीछे चला गया था। संहिता-काल के मुख्य देवता थे मित्र, वरुण, इंद्र, सोम और अग्नि। ब्राह्मण-आरण्यक काल में कर्मकाण्ड का विस्तार हुआ और सर्वदेवोपरि 'प्रजापति' 'गणाधिपति' 'वृहद्पति' आदि संज्ञाओं से प्रजापति ब्रह्मा ही मुख्य देवता बने। इसी से कौशल्या अपनी मंगलप्रार्थना के उपसंहार में 'सर्वलोक प्रभुर्ब्रह्मा तथर्षय:' का स्पष्ट उल्लेख करती है। रामायणकाल वाल्मीकि महाकाव्य के प्रारंभ में ही ब्रह्मा प्रजापति को ही अपनी प्रेरणा-स्रोत बनाते हैं। रामायण का प्रतिनायक रावण प्रजापति का और मेघनाथ वैश्वानर (अग्नि) का उपासक है। विष्णु के अवतारों में त्रिविक्रम वामन-अवतार का मूल 'संहिता' में है। परंतु मत्स्य और वराह अवतारों का मूल ब्राह्मण-ग्रंथों में है ('वृषाकपि और 'वराह' का उल्लेख वेदों में है परंतु वे स्पष्टत: विष्णु के अवतार के रूप में उल्लिखित नहीं) इस अवतार का स्पष्ट उल्लेख 'तैतिरीय संहिता' और 'शतपथब्राह्मण' में है।

'प्रारंभ में केवल जल था, महासमुद्र था। प्रजापति ने मरुत का रूप धारण किया और समुद्र पर संचरण करने लगा। प्रजापति ने पृथ्वी को देखा, 'वराह' रूप धारण करके उसे ग्रहण कर लिया। तब प्रजापति ने विश्वकर्मा का रूप लिया, उसे स्पर्श किया, फैलाया जिससे कि वह 'विस्तीर्ण हो जाय! वह पृथुल हो गयी। इसी से पृथ्वी कहलायी। प्रजापति ने उसके भीतर अपने को रिक्त कर दिया (जैसे पत्नी में पति अपने को रिक्त कर देता है) और (इस प्रकार) वसुओं, रुद्रों और आदित्यों तथा देवताओं को जन्म दिया।'

(तैत्तरीय संहिता)

'प्रारंभ में पृथ्वी बित्ते भर की थी। एक वराह ने उसे ऊपर उठा लिया। उसे 'एमूष' कहा गया। वह वस्तुत: प्रजापति ही था। वही पृथ्वी का प्रिय पति था वह उसकी प्रिय भायी थी तथा प्रिय अधिष्ठान थी।'

(शतपय ब्राह्मण)

वराह की 'यज्ञ वराह' के रूप में कल्पना के पीछे यही हेतु है कि वह मूलत: यज्ञ का प्रधान देवता प्रजापति ही थी। यह भाव पौराणिक युग में भी समाप्त नहीं हुआ था 'विष्णु पुराण' तक। विष्णु पुराण में भी वराह अवतार को 'नारायण' संज्ञा वाले ब्रह्मा का अवतार बताया गया है और यज्ञ पुरुष के रूप में वराह ('वर' श्रेष्ठ 'आइ' आहरण-भक्षण करने वाला अर्थात् 'य पुरुष') की स्तुति की गयी है।

'प्रजा: ससर्ज भगवान् ब्रह्मा नारायणात्मक:
प्रजापति पतिर्देवो तथा तन्मे निशामय।'

....

तोयान्तः स्यां महीं ज्ञात्वा जगत्येकार्णवीकृते
अनुमानात्तदुद्धारं कतुकामः प्रजापतिः।
अकात्स्वतनुमन्यां कल्पादिषु यथा पुरा
मत्स्यकूर्मादिकां तद्वद् वाराहं वपुरास्थितः
वेदयज्ञमयं रूपमशेष जगतः स्थितौ
स्थितः स्थिरात्मा सर्वात्मा परामात्मा प्रजापतिः।'

(प्रजापतियों के स्वामी नारायणात्मक ब्रह्मा ने जिस प्रकार प्रजा सृष्टि की वह मुझसे सुनो।.......... संपूर्ण जगत जलमय हो रहा था। इससे प्रजापति ने अनुमान से पृथ्वी को जल में स्थित मानकर उसके उद्धार के लिए एक दूसरा शरीर धारण किया और पूर्वकल्पों में जैसे मत्स्य कर्म आदि वपु ग्रहण किया था उसी शाँति (इस वाराहकल्प में) वाराहवपु को प्रजापति ने धारण किया और वे सर्वात्मा प्रजापति जो वेद यज्ञमय हैं संपूर्ण जगत की स्थिति में तत्पर हो स्थित हो गये। (वि.पु. १/४/२-९)

प्रजापति के बाद वैदिक देवताओं तैतीस संख्या व्यूह (१२ आदित्य ११ रुद्र ८ वसु २ अश्वि द्वय) ब्राह्मण काल में वरेण्य और ज्येष्ठ माना जाता था। रामायण में इनकी उपासना ही आर्य धर्म का मूल स्वरूप थी और उपासना-पद्धति थी यज्ञकर्म। परंतु इनके अतिरिक्त चंद्रमा, सप्तर्षि, नारद, दिग्पालगण, ग्रह-नक्षत्र आदि का उपास्य देवों में स्थान था जो 'आर्यलोकायत धर्म' के अंग थे। इस स्वस्तिवाचन के पूर्व अयोध्याकाण्ड में ही १९वें सर्ग में एक प्रसंग आता है। वहाँ पर कैकेयी अपने वरदान के साक्षी के रूप में जिन देवताओं का नाम लेती है उनकी सूची भी कौशल्या स्वस्ति-वाचन-प्रसंग में आयी सूची से मेल आती है।

'तच्छ्रनवन्तु मयत्रिंशदेवाः सेन्द्रपुरोगमाः
....
चंद्रादि त्यौ नभश्चैव ग्रहराम्याहवी दिशः
जगच्च पृथ्वी चेयं सगंधर्वा-सराक्षसाः
निशाचरानि भूतानि गृहेषु गृहदेवताः
यानि चरन्यानि भतानि जानी युः भाषितं तव।'

('अयोध्या' (११/१३-१५)

अयोध्याकाण्ड में एक स्थान पर राम और सीता द्वारा नारायण अर्चना का वर्णन है। यों भी 'रामायण' एक वैष्णव काव्य है। परंतु न तो कैकेयी के साक्ष्य और न कौशल्या के स्वस्तिवाचन में शिव और विष्णु का उल्लेख है। इसका अर्थ यही है कि रामायण की रचनाकाल में विष्णु महज़ एक आदित्य थे। रुद्र की स्थिति भी प्रधान नहीं गौण थी। यह ब्राह्मण ग्रंथों का काल था जब विष्णु प्रतिष्ठित होने की दिशा में उन्मुख थे परंतु अभी सर्वोपरि परम रूप में प्रतिष्ठित नहीं हुए थे जैसा कि पुराणों और 'महाभारत' में उन्हें हम पाते हैं। 'महाभारत' के मंगलाचरण में ही हम पाते हैं :

'आद्यं पुरुषमीशानं पुरुहूतं पुरुष्टतम्
ॠतं एकाक्षरं ब्रहम् व्यक्ताव्यक्त सनातनम्
....
मंगल्यं मंगलं विष्णु वरेण्यं अनघंशुचिम्
नमस्कृत्यं ॠषीकेशं चराचर गुरुं हरिम्।'

'महाभारत' में सर्वत्र निर्गुण और सगुण दोनों ब्रहम् के रूपों को विष्णु माना गया है। परंतु रामायण में

इस प्रक्रिया की शुरुआत ही है जो स्पष्टत: कहीं भी व्यक्त नहीं होती। वस्तुत: यह तथ्य भी एक बहुत बड़ा प्रमाण है इस बात का कि रामायण महाभारत से प्राचीनतर रचना है। महाभारत तक आते-आते विष्णु तत्व अपनी चरम प्रतिष्ठालब्ध कर लता है। पर रामायण काल में वे वैदिक देव-व्यूह, साध्यगण, मरुद्गण, धाता, विधाता, अर्यमा, पूषा भग का ही प्राधान्य है। विष्णु और इन्द्र भी रामायण काल में पूज्य थे। परंतु विष्णु अपनी सीमित वैदिक कालीन महिमा में ही थे। उन्हें सर्वोपरि और सर्वव्यापी महिमा अभी प्राप्त नहीं हुई थी।

विष्णु की एक मूर्ति जलशायी नारायण की उपासना का उद्भवकाल भी यही युग था। नारायण रूप को चरम प्रतिष्ठा व्यास के द्वारा 'महाभारत' और पुराणों के माध्यम से मिलती है। इस मूर्ति का स्पष्ट उल्लेख रामायण में उपास्य देवता के रूप में नहीं। परंतु रघुकुल में नारायण संज्ञक देवता की आराधना भी चलती थी, ऐसा महाकाव्य के अयोध्याकाण्ड से ही प्रमाणित होता है। राज्याभिषेक के पूर्व कृत्यों का वर्णन करते हुए वाल्मीकि ने राम के व्रत उपवास के साथ-साथ 'ध्यान्नारायणं देवं स्वास्तीर्ण कुश संस्तरे' ('अयोध्या' (सर्ग ६/श्लो. ३) का उल्लेख किया है। यह नारायण-उपासना के अस्तित्व का संकेत है। कुछ पंडितों की राय में यह श्लोक प्रक्षिप्त हो सकता है क्योंकि नारायणोपासना ब्राहमणग्रंथों के कर्मकाण्डी युग में प्रचलित नहीं थी। किंतु ऐसा मानने का कोई कारण नहीं। उपासना लौकिक और वैदिक दोनों तरह की होती है। नारायण भारतव्यापी लोकसंस्कृति के देवता रहे होंगे। मूर्ति पूजा एवं देवमूर्ति की कल्पनाएँ आर्येतर लोक-पक्ष, से आकर बाद में अभिजात शास्त्रीय उपासना बनी हैं। शैव और वैष्णव उपासना के अनेक प्रधान सूत्र और कल्प लोकपथ से उपासना के 'वृहद्साम' या 'लोकसामा' से ग्रहणकर के विकसित किये गये हैं परंतु उनकी प्रकृति को वैदिक धर्म के अनुकूल संशोधित करके जब उत्तर भारत में 'आर्य-आर्येतर लोकधर्मों का समन्वय हो रहा था, उसी काल में रामायण की रचना हुई। संभवत: यह 'नार' (जल) में 'अयन' (शयन) करने वाला देवता जिस सगुण रूप में कल्पित है 'शेष शय्या पर की नारायण मूर्ति', वह विशुद्ध आर्य स्रोत से न आकर अवैदिक एवं आर्येतर कल्पना की उपज है। यह आर्येतर स्रोत निषाद-द्राविड़ स्रोत है। निषाद (आस्ट्रिक) और द्राविड़ दोनों समुद्र से जुड़ी जातियाँ हैं और क्षीरसागर, समुद्रसंभवा लक्ष्मी, जलाशायी विष्णु की मूर्ति कल्पनाएँ उनकी ही लोकाश्रयी श्रुतियों का पौराणिक विस्तार हैं। परंतु आर्यों ने उन्हीं आर्येतर लोकानुश्रतियों को पुराणों में प्रयुक्त किया है। जिनका बीज या बिंब संहिताओं के मंत्रों के प्रचलित बिंबों में खप सकता था। उन्होंने अपनो आदित्य रूप हिरण्यमय विष्णु को सगुणमूर्ति में श्याम रंग दे दिया आर्येतर सौंदर्य-कल्पना के दवाब से तो इसलिए कि उनके भीतर भी पहले से ही 'कृष्ण सूर्य' (रात्रि सूर्य) की कल्पना विद्यमान थी। उन्होंने शिव में अनेक महायज्ञ या महाभूत रूप निषाद किरात देवताओं को अंतर्भुक्त किया। परंतु रुद्र पूषन मरुत की अवधारणाओं से समरूपता रखते हुए। इसी तरह नारायण की सगुण मूर्ति का प्रचार आर्येतर कल्पना से ग्रहण किया गया, परंतु इसके साथ ही एकार्णव जल में स्थित 'प्रजापति' और 'सहस्र शीषी पुरुष' के वैदिक बिंब आर्य कल्पना में पहले ही से मौजूद थे। इन वैदिक बिंबों से मेल खाती हुई आर्येतर लोकायत कल्पना की शुद्धियाँ ग्रहण की गयी हैं। अत: नारायण-विग्रह एक समन्वय का प्रतीक है। जलशायी या शेषशायी मूर्ति का सबसे प्रसिद्ध विग्रह भारत में श्री रंग-विग्रह है। यह वैष्णव धर्म के प्रधान श्री विग्रहों में से एक है। इसके बारे में एक लोकापवाद है कि यह रघुकुल की इष्ट-देवता मूर्ति थी। राम ने विभीषण को प्रदान किया था। वे इसे लंका ले जा रहे थे। परंतु मैसूर (विरुचि-कर्णाटक) में ही यह मूर्ति अचल हो गयी। विभीषण वहीं पर इसे स्थापित करके लंका लौट गये। परंतु वे प्रतिदिन अदृश्य रूप से इसका पूजन करते हैं। यह लोक-किंवदंती तो रामकथा के महत्व की प्रतिष्ठा के बाद चलाई गयी है। परंतु इसके प्रत्यक्ष संकेत

बड़े मार्के के हैं। पहली बात तो यह कि यह मूल रूप में रामायणकालीन वानर प्रदेश और राक्षस प्रदेश की लोकायत देवता ज्ञात होती है। नाम को लें। 'श्री रंग', यह शब्द 'श्रीलंका' का मूल रूप हो सकता है। 'लंका' ध्वनिखण्ड यदि 'राक्षस पुरी' के अर्थ में केवल विदूषण, विद्रूप और विकृति का द्योतक होता तो मलेशिया के अनेक प्राचीन नगरों का नाम 'काम रंका' (रंका-लंका) नहीं होता। मलेशिया के निवासी निषाद (आस्ट्रिक, मालय या नाग) जाति के हैं। ये ही यक्षपूजा की लंका भी पहले 'यक्षपुरी' थी, यह सूचना भी संकेत-पूर्ण है। 'रङ' और 'लङ' ध्वनिखण्ड मूल रूप से एक ही हो सकते हैं और यह 'श्री लंका' भी मूल रूप से 'श्री रंगा (रंगिनी, मनोरम) हो सकती है। वानर-संस्कृति (आस्ट्रो-द्राविड जन समुदाय की संस्कृति) कभी लंका तक रही होगी। राक्षसों ने उन्हें खदेड़ दिया होगा (कुबेर के यक्ष अनुचरों को रावण ने मार भगाया था) और श्री लंका पर अपना दखल जमा लिया होगा। राक्षसों के शासनकाल में यह 'श्री रंग' देवता भी उपेक्षित रहा होगा और राक्षस अपने लोकदेवता 'निकुम्भिवतर' या वैदिक प्रजापति एवं वैश्वानर की उपासना करते होंगे। सुंदरकाण्ड में राक्षस वेदपाठियों का वर्णन मिलता है। मुझे लगता है कि यह राक्षस संस्कृति आदिम अनगढ़ आर्य संस्कृति ही थी। राम विकसित एवं प्रगतिशील आर्य संस्कृति के प्रतीक हैं जो स्थानीय आर्येतर से समन्वित करके भिन्न संस्कारों को विकसित कर रही थी। वे नये संस्कार ही पौराणिक भारतीय संस्कृति और वैष्णव भागवत या शैव संस्कृति के रूप में 'महाभारत' तक आते-आते प्रतिष्ठित हो गये। राम 'नव्य आर्य' थे, तो रावण 'आदमि आर्य' जिसके खूँखार और पौरुष प्रधान रूप का चित्र होमर के ग्रीम महाकाव्यों में सुरक्षित है। नव्य आर्य धर्म में सविता और विष्णु प्रमुख हो रहे थे और वह आर्येतर लोकधर्म को गंगानदी एवं गांगेय संस्कृति को वरेण्यता प्रदान कर रहा था। इस नयी सांस्कृतिक धारा के नेता थे विश्वमित्र और अगस्त्य। दोनों का आशीर्वाद और दोनों की प्रेरणा राम के जीवन में अभिव्यक्ति पाती है। ऐसी अवस्था में दक्षिण भारतीय लोकदेवता 'श्री रंग' की नारायण मूर्ति को रघुकुल की देवता मानकर विभीषण द्वारा उसे दक्षिणपथ ले जाना लोककल्पना होते हुए भी ऐतिहासिक संकेतों से पूर्ण है। नारायण उपासना लोकपथ से आयी होगी और अखिल भारतव्यापी रही होगी। उसका संकेत रामायण में उतना स्पष्ट नहीं जितना 'महाभारत' में। यह सत्य होते हुए भी उसके अस्तित्व का आभास और उसकी पृष्ठभूमि में धार्मिक उदारदृष्टि का आभास रामायण में पर्याप्त स्पष्ट है। यद्यपि इस स्वस्तिवाचन में इस नारायणाख्य मूर्ति का उल्लेख नहीं। परंतु उसका वैदिक-ब्राह्मण-आरण्यक रूप 'प्रजापति' का ही उल्लेख है। वैदिक प्रजापति जलशायी देवता है और सृष्टि बीजों की योनि है। यही वैदिकेतर नारायण का समानांतर वैदिक रूप है। बाद में यह देवता और यह मूर्ति विष्णु से जुड़ गये। ब्राह्मण का प्रजापति 'वाराह' या 'यक्षवाराह' अवैदिक आर्येतर जलशायी नारायण के बिंब से जुड़कर अपना असली परिचय खो बैठा और 'विष्णु-वाराह' बन गया।

इसके अतिरिक्त कौशल्या का स्वस्तिवाचन तत्कालीन लोकधर्म किरातों की सर्पपूजा, वृक्षपूजा, निषांदों की नदीपूजा पर्वतपूजा, गंधर्वयक्ष आदि अपदेवताओं और अर्धदेवताओं की पूजा का स्पष्ट संकेत प्रस्तुत करता है। कौशल्या अपने पुत्र के कल्याण के लिए समस्त जम्बूद्वीप की वैदिक-लोकायत, क्रूर-सौम्य देवता-शक्तियों के प्रति अपनी विनती अर्पित करती है।

इस स्वस्तिवाचन के सर्वाधिक महत्वपूर्ण अंश हैं प्रारंभ के चार श्लोक जो महाकाव्य की 'शीलदृष्टि' (इथोस) को उपस्थित करते हैं और अंतिम पाँच श्लोक जो महाकाव्य की 'विषयवस्तु (थीम) का 'संकेत बीज' प्रस्तुत करते हैं। प्रथम की चर्चा हो चुकी है। अब इन अंतिम पाँच श्लोकों को देखे। (अयोध्याकाण्ड, सर्ग २५)

'यन्मंगलं सहस्राक्षे सर्वदेव नमस्कृते
वृत्र नाशे समभवत् तत्ते भवतुमगंलम् ।।३२।।

यन्मंगलमं सुपर्णस्य विनताकल्पयन् पुरा
अमृतं प्रार्थनस्य तत् ते भवतु मंगलम् ।।३३।।

अमृतोत्पादने दैत्यार्न ध्नतो वज्रधरस्य यत्
अदितिर्मगलं प्रादात् तत् ते भवतुमंगलम् ।।३४।।

त्रिविक्रमान प्रक्रमतो विष्णेरतुलतेजस:
यदासीन्मंगलं राम तत् ते भवतु मंगलम् ।।३५।।
ऋषय: सागरा द्वीपावेदा लोका दिशस्च ते
मंगलानि महावाहो दिशन्तु शुभ मंगलम् ।।३६।।'

इन पाँच मंत्रात्मक श्लोकों को पढ़ते हुए उस करुणामयी राम माता ने विशल्यकरणी नामकलता का एक खण्ड राम के मणिबंध में उनकी सुरक्षा के लिए बाँध दिया और साश्रुकंठ वन जाने की अनुमति दे दी।

ये पाँच श्लोक रामायण के 'कथाबीज' को प्रतीक शैली में व्यक्त करते हैं। कौशल्या यहाँ पर चार वैदिक कथा रुढ़ियों का उल्लेख करते हुए अपना आशीर्वाद देती है : (१) वृभ-इंद्रद्वंद्व (२) अमृत के लिए 'दैवासुरम्' (देवासुर संग्राम) (३) सुपर्ण द्वारा अमृत आहरण (४) त्रिविक्रम विष्णु का 'स्वराज्य' और यक्ष के लिए विक्रम।

उपर्युक्त चारों वैदिक गाथाओं का रामकथा के मूल रूप 'पौलत्स्यवध' की 'थीम' से एक भावात्मक संबंध है। इनमें वृभवध और दैवस्सुरम' तो स्पष्टत: रामकथा का ही वैदिक प्रारूप व्यक्त करते हैं। वैदिक विद्या मूल रूप से 'शाश्वत सृष्टि-विधा' (कोसमोगोनी) है जिसमें सृष्टि के प्रसव, स्थिति और प्रलय की शक्तियों का विवेचन है। देवगण इसी की शाश्वत, कल्प प्रतिकल्प, दुहरायी जाने वाली क्रियाओं और कर्त्ताओं के प्रतीक हैं। यह अर्थ का 'प्रतीकात्मक'' (सिम्बोलिक) स्तर है। इसी सृष्टि विद्या को वैदिक कल्प (रिच्यूअल) 'यज्ञ' द्वारा भी व्यक्त किया जाता है। सारे यज्ञ कर्म 'पुरुष सूक्त' का क्रियात्मक रूप ही अभिनीत करते हैं। शाश्वत स्वर पर रामकथा सविता-कथा है। वारुणमण्डल का 'तमस' उसका प्रतिरोधक है और उसकी माधवी शक्ति को अवरुद्ध कर देता है। फल होता है द्वंद्व। यही द्वंद्व रामकथा में 'अपहरण-उद्धार' की 'थीम' का रूप लेता है। वैदिक क्विा अर्थ के दूसरे स्तर पर 'देव-कथा' (थीओगोनी) है और इसमें इन्द्र आदि शक्तियाँ 'व्यक्तित्व' धारण कर आती है। यह अर्थ का कथात्मक (माइथोलोजीकल) स्तर है। रामकथा में रामचंद्र 'प्रच्छन्न इन्द्र' की भूमिका में उतरते हैं। रावण 'प्रच्छन्न वृभ' और 'प्रच्छन्न असुरसेना' का प्रतिनिधि है। सीता 'स्वराज्य' और 'अमृत' है। कौशल्या का आशीर्वाद इसी कथात्मक स्तर से जुड़ा हुआ है। यह आशीर्वाद इसी कथात्मक स्तर से जुड़ा हुआ है। यह आशीर्वाद महाकाव्य के चरम संकट के मुहूर्त में वाल्मीकि द्वारा कौशल्या के मुख से व्यक्त कराया गया है। इस आशीर्वाद की भाषा भी ऊपर के स्वस्तिवाचन की श्लोक-भाषा से भिन्न वैदिक-धातु से गढ़ी गयी भाषा है। इस आशीर्वाद के माध्यम से कवि संकेत कर रहा है कि रामकथा का स्नायुमण्डल वैदिक मनोभूमि से बुना गया है। वैदिक बिंबों और वैदिक तथ्यों का उपवृंहण रामकथा में तरह-तरह से किया गया है।

त्रिविक्रमकथा और सुपर्णकथा से 'सुंदर और 'लंका' कांड का विषय ध्वनित होता है। विष्णु के अमित तेज और बल का प्रतीक है त्रिलोकी सृष्टि को तीन पगों से माप जाना। हनुमान का समुद्रलंघन

और राम का सेतु द्वारा समुद्र-बंधन ऐसा ही असाध्य साधन है। त्रिविक्रम विष्णु ने यह पराक्रम किया था 'यज्ञभूमि' (स्वराज्य) के विस्तार के लिए। और उन्होंने इस प्रकार कीर्ति रूपी 'अमृत' का आहरण करके अदिति को गौरवशाली बनाया। सुपर्ण ने माँ के उद्धार के लिए अमृत का आहरण किया था। यह एक अद्भुत पराक्रम था। महाभारत में वर्णित सुपर्ण का पार्थिव मंडल के ऊपर स्थित अंतरिक्षमण्डल का संतरण हनुमान के सुंदरकांड के समुद्र-संतरण के समानांतर है। सीता-अन्वेषण और अमृतकुम्भ अन्वेषण समान परिस्थितियाँ रचते हैं। अवश्य ही प्रतिपक्ष एक में स्पष्ट है। गरुड़ की माता कौशल्या की ही तरह यात्रा के आरंभ में स्वस्तिवाचन करती हैं :

'प्रीता परम दु:खार्त्ता नागैविप्रकृता सती
पक्षौते मारुत: पातु चंद्रसूर्यो च पृष्ठत:
शिरश्च पातु वह्निस्ते वसव: सर्वतस्तनुम्
अहं च ते सदा पुत्र शांति स्वस्ति परायणा
इहासीना भविष्यानि स्वस्तिकारे रता सदा
अरिष्टं ब्रज पंथानं पुत्र कार्यार्थ सिद्धये।'

—महाभारत (१/२७/१४-१६)

गरुड़ की आकाश यात्रा, अपने चंगुल में कछुए और हाथी को लेकर उड़ना, पिता कश्यप के आदेश से 'नि:पुरुष शैल' पर यात्रा के मध्य, अवतरण, शैल का पटकर विदीर्ण होना, वृक्षों का गिरना इंद्र के वज्र का इस धक्के के तरंगाघात से जल उठना, देवताओं के विश्वव्यापी अस्त्राशास्त्रों का परस्पर टकराने लगना, प्रलय जैसा दृश्य; तत्पश्चात् अमृत दुर्ग में अतिलघु रूप ('अंगुष्ठकाय' बनकर प्रवेश करना आदि कर्म, सुंदरकांड के प्रारंभ में वर्णित अनेक घटनाओं के समानांतर हैं। सुपर्ण कद्रु को बुद्धि द्वारा छानते हैं तो हनुमान सुरसा को। सुरसा भी सर्प-माता ही है। सुपर्ण विष्णु के वाहन है और विष्णु के वृहद्साम के भी। उसी भाँति हनुमान अप्रत्यक्षत: राम वाहन है और रामकथा के भी वाहन हैं। सुपर्ण का बिम्ब मूल रूप से सविता शक्ति से जुड़ा हुआ है। भारतेतर सूर्योपासना में भी सुपर्ण एक सूर्यपक्षी है इजिप्ट और बैनीलोन में। हनुमान 'वृषाकपि' हैं। सूर्य, विष्णु और रुद्र के लिए भी वृषाकपि शब्द आता है। सुपर्ण और हनुमान के बीच बिम्बगत और कथात्मक समानताएँ स्पष्ट हैं। सूर्य, वस्तुत: सुपर्ण के पौराणिक मिथ (जो महाभारत में प्राप्त है) के अतिरिक्त ऋग्वेद के दशममण्डल के मंत्रों में भी सुपर्ण या गुरुत्मन के बिम्ब को सोम या अमृत के आहरण से जोड़ा गया है। 'गरड़ी' का रूप धारण करके सोम लाती है। 'इस सुपर्ण ने व्योम से सोम का ऊहरण किया और देवताओं को दिया।' (ऋ. वे. १०/..........)। यहाँ सुपर्ण सूर्य (सविता) का प्रतीक है जो 'वारुणमंडल' के 'सोम' (मधु' को अंतरिक्ष मंडल (देवमण्डल) को दता है चंद्रकिरणों के माध्यम से। सुपर्ण के द्वारा सोम या अमृत का आहरण कर बिम्ब महाभारत की कद्रूविनता मिथ के बाहर भी वैदिक कथाशास्त्र (मॉयथोलोजी) में प्रयुक्त हुआ है। यह एक बहुरूपी और बहुअर्थवाला बिम्ब था। इस बिम्ब का प्रयोग वाल्मीकि ने यहाँ पर अपनी कथा की मूल रुढ़ि 'सीता (स्वराज्य, अमृत कीर्ति) का अवरोध से उद्धार' की मानसिक प्रस्तुति और दिशा-संकेत के लिए किया है। वस्तुत: रामकथा उस 'रिक्थ' से जन्म लेती है जिसका आदिम मूल आर्यों की जातीय 'जनसंस्कृति' या 'लौकसंस्कृति' में है और विकसित रूप है संहिता के मंत्रों और ब्राह्मणग्रंथों की संक्षिप्तकाय गाथाओं में। यह 'रिक्थ' अर्थात् परंपरा द्वारा प्राप्त ऋद्धि' का अनुदान है। यह 'रिक्थ' सतही स्तर पर वहीं है जिसे आज की शब्दावली में 'लोकसाहित्य' (फोकलव) कहा जाता है। परंतु, जैसाकि आनन्द के. कुमारस्वामी ने स्पष्ट किया है कि इस (रिक्थ) के लिए जो परमा स्मृति' (रिसीअल मेमोरी) की अभिव्यक्ति है 'लोकसाहित्य' एक हीन और क्षुद्र

शब्द है। लोकसाहित्य' आज के जनतांत्रिक युग में कल्पना-प्रसूत कथा कहानियों गीतों के लिए आता है जो निर्वैयक्तिक रूप में जनकवियों या लोककवियों-कथाकारों द्वारा रचा जाता है। इसका उद्देश्य मात्र मनोरंजन होता है और कथा-रस से आगे, आत्मिक और मानसिक ऋद्धियों के संचयन एवं अंतर्वहन से इसका कोई खास सरोकार नहीं। परंतु 'रिक्थ' का अर्थ ही है 'परंपरा प्राप्त मानसिक और आत्मिक ऋद्धि', जिसमें 'प्रज्ञा' और 'प्रतिभा' का समान सहयोग और निर्वहन होता है। इसके लिए 'लोकसाहित्य' शब्द छोटा पड़ जाता है। इसके लिए वस्तुतः सही शब्द है 'ऋति' ओर यह अपौरुषय परमास्मृति अवदान है। रामकथा श्रुति के 'रिक्थ' का अवदान है अतः श्रुति के विकसित रूप मंत्र साहित्य और ब्राह्मण साहित्य के भाव बिम्ब, तथा 'कथा प्रारूप' इसमें अपने आप बिना किसी प्रयत्न के उतरते गये हैं। रामकथा में वैदिक आर्य के उत्तराधिकारी नव्य आर्य की जातीय परमा स्मृति बोलती है। कौशल्या के आशीर्वाद के ये पाँच श्लोक वही संकेत देते हैं।

कौशल्या अपने पुत्र को केवल सौत का पराभव और राज्य की पुर्नप्राप्ति के लिए ही आशीर्वाद नहीं देती हैं। इन वैदिक गाथाओं का संकेत है कि वे पुत्र को वृहत्तर विजय और वृहत्तर उपलब्धियों का आशीर्वाद देती है, 'हे पुत्र, इंद्र की तरह, त्रिविक्रम की तरह और सुपर्ण की तरह स्वराज्य, कीर्ति और अमृत लेकर घर लौटना। तुम इंद्र की तरह प्रतिपक्ष का हनन करके स्वराज्य और अमृत को जीतो। तुम त्रिविक्रम विष्णु की तरह अपने यश-पुरुष का त्रिलोक व्यापी विस्तार करो। तुम सुपर्ण की तरह असाध्य-साधन करके घर लौटो।' यह आशीर्वाद के साथ-साथ संकेत-भाषा में एक परम आह्वान है। जिस तरह एक क्षुद्र शंख के भीतर संपूर्ण समुद्र के कंठ का वज्रोपम आह्वान छिपा रहता है वैसे ही आशीर्वाद के इन अंतिम पाँच श्लोकों में संपूर्ण महाकाव्य का उदात्त आह्वान छिपा हुआ है। कौशल्या प्रकारांतर से राम से कहती है, 'प्रिय पुत्र, जब जाना ही चहते हो तो जाओ। परंतु इंद्र की तरह लौटना, विष्णु की तरह लौटना, सुपर्ण की तरह लौटना, असाध्य साधन करके स्वराज्य, कीर्ति और अमृत लेकर ही घर लौटना। मैं इसीलिए तुम्हारी प्रतीक्षा करती रहूँगी।'

महाकाव्य की 'काठी' (देह यष्टि) कालजयी होती है। मूलतः दो कारणों से। प्रथम तो यह कि यह 'समूह मन' की आकांक्षा को 'बिम्बित' और 'अनुप्रेरित' दोनों करता है। महाकाव्य समूह मन की आकांक्षाओं का बिम्ब होता है तो उपन्यास समूह मन के अवदमनों का। उपन्यास की भूमि वास्तविक जीवन से जुड़ी होती है और यथार्थ जगत में आकांक्षाओं का अवदमन ही अधिक व्यापक अनुभव है। महाकाव्य की भूमि परावास्तव का कालमुक्त 'वास्तव' की भूमि है। इसमें समूहमन की आकांक्षाएँ एवं समूहमन की सिसृक्षात्मक दिशाएँ व्यक्त होती है। विषय वस्तु की 'काठी' (देह यष्टि) दीर्घकालीन और शाश्वत होने के कारण महाकाव्य की,देह यष्टि भी दीर्घजीवी होती है, कालप्रवाह में जल्दी गलती पचती नहीं, 'हीर' ज्यों का त्यों सुरक्षित रह जाता है। भारतीय महाकाव्यों का वस्तुतत्व समूहमन की जिस आकांक्षा को सर्वाधिक व्यक्त करता है वह एक शब्द 'अमृत' द्वारा दर्शाया जा सकता है। भारतीय जाति की सर्वोच्च लालसा या आकांक्षा 'अमृत' के बिम्ब से जुड़ी है। अमृत का पार्थिव रूपांतर अपने मूल में 'सोम' था। सोमपान द्वारा देवोपम मनोभूमि के आहरण का अनुभव भारतीय आर्यो को अमृत की कल्पना का दान करता है। इसके बाद इसके अनेक उपअर्थो का विस्तार हुआ : यथा, मधु, जल, दुग्ध, सोम अथवा तेज-मधु, प्राणमधु, जीवनी शक्ति, संजीवन रस, अथवा आनंद, सुख, भूमा, श्री, देवत्व, और विद्या। अमरत्व का अर्थ भी आर्य दो तरह से लगाते हैं। (१) असुर दृष्टि से देह की मृत्यु को अवरुद्ध कर देना ही अमृतत्व या अमरत्व है। परंतु यह तो सीधे-सीधे 'ऋत'-चक्र में दखलन्दाज़ी हुई। (२) वस्तुतः इसका अर्थ है 'देवोपम' हो जाना, अपनी मानसिक और आत्मिक ऋद्धियों को इतना विकसित कर देना के मानवीय कषाय या अवदमन कोई पीड़ा न दे सकें। भारतीय दृष्टि की विकसित

अवस्था में माना गया कि मरण तो ध्रुव है प्रत्येक जीव के लिए। देवताओं और इन्द्र की भी मृत्यु होती है। अनन्तकाल प्रवाह में सहस्रों-सहस्रों इन्द्रों की पाँत चींटियों की तरह उतरती है और विलीन हो जाती है। ब्रहमा विष्णु शिव का तिरोधान हो जाता है। फर्क यही है कि कीट-पतंग से दीर्घजीवी है वनस्पति और वनस्पति से दीर्घजीवी है मनुष्य। मनुष्य की तुलना में इन्द्रादि देवगण विराट दीर्घजीवन जीते हैं। परंतु अंत उनका भी होता है। वस्तुतः 'मृत्युहीनता' के चरम अर्थ में एक ही 'अमृत' है। वह है परमात्मा स्वयं। 'अमृत' की आदिम धारणा। 'मृत्युहीनता' तो असुरों की देहवादी दृष्टि का प्रतिफलन है। बाद में इस धारणा का संशोधन करके अमृत के उपअर्थों का विकास हुआ। अमृत का अर्थ स्थूल (सोम, दूध, मधु) से विकसित होता हुआ सूक्ष्मतर रूपों में प्रतिष्ठित हुआ देवोपम मानसिकता, ब्रह्म-विहार (मुदिता मैत्री करुणा-उपेक्षा मुक्त दिव्य मनोदशा), आनन्द, सुख, क्रिया के साथ-साथ श्री, कीर्ति भूमा आदि। बड़ी विचित्र बात है कि अन्य जातियों ने 'मृत्यु' पर चिंतन किया तो भारतीयों ने मृत्युबोध पर विजय के लिए 'अमृत' पर मृत्यु के चिंतन द्वारा अन्य जातियों ने जीवन में 'ट्रेजडी' की विडम्बना का आविष्कार किया, तो भारतीयों ने अमृत-चिंता द्वारा जीवन में 'रस' का, सद्-चित्-आनन्द बोध का और दिव्यता का आविष्कार किया। यह कोई मामूली प्रभेद नहीं। भारतीय आकांक्षा के इसी केंद्रीय बिम्ब 'अमृत' का उल्लेख कौशल्या अपने आशीर्वाद में करती हैं और रामकथा में 'अमृत' के अनेक उपअर्थों का सगुण अस्तित्व इसके पात्रों के जाति के समूहमन की केंद्रीय आकांक्षाओं से जुड़ा है और इसकी 'काठी' (देह यष्टि) बड़ी दीर्घजीवी साबित हुई है।

दूसरा कारण यह है कि महाकाव्य की काठी का 'हीर' (हृदय) संकल्प प्रधान होता है। 'हीर' (भोजपुरी) काष्ठ खण्ड के केंद्रीय भाग को कहते हैं। हवा पानी के असर से परिधि के भाग भले ही गल जायें पर 'हीर' जल्दी गलता नहीं है। महाकाव्य का 'हीर' संकल्प प्रधान होता है। संकल्प (विल) और इच्छा (डिज़ाअर) में भेद होता है। काव्य की अन्य विधाओं में 'भाव' या 'इच्छाशक्ति' की रुमानी तरलता मुख्य होती है, परंतु महाकाव्य में संकल्प का ही प्राधान्य होता है। संकल्प ही चरित्रों को ठोसपन तथा कथा के आकार को सुदृढ़ता देता है। संकल्प का काठिन्य चाहे वह सद्-संकल्प हो या दुष्ट संकल्प रामायण के पात्रों में कूटकूट कर भरा है। संकल्प की यह दृढ़ता राम के चरित्र में अनोखी है। राम का संकल्प 'अमृत' से जुड़ा है। अमृत-तत्व के सारे उपअर्थ राम के संकल्प में अभिव्यक्ति पाते हैं। दुष्ट संकल्प वारुणी है। वह आसुरी आकांक्षा से जुड़ी है। परंतु सद् संकल्प अमृत है और इससे जीवन में दिव्यता का प्रवेश होता है। राम संकल्प-सिद्धि के पथ पर दिव्यतर होते-होते देवोपम बन जाते हैं और अंत में विष्णु-रूप में प्रतिष्ठित होते हैं। माँ की यह आकांक्षा कि 'प्रिय पुत्र अमृत-जयी बनो' महाकाव्य के उपसंहार में राम को विष्णु रूप में प्रतिष्ठित पाकर पूर्णतोष को प्राप्त करती है। संकल्प-प्रधान चरित्र होने के कारण ही रामचंद्र जातीय जीवन क्या, सार्वभौम मनुष्य जीवन के लिए प्रेरणास्रोत बन जाते हैं। कहने का तात्पर्य यह कि रामायण समूहमन की चरम आकांक्षा 'अमृत' की 'संकल्प प्रधान' अभिव्यक्ति है। कौशल्या के आशीर्वाद में 'अमृत आहरण' और 'अमृत विजय' के बिम्बों का स्मरण इस तथ्य का संकेत भी देता है। संकल्प प्रधान होने के कारण ही रामायण के पात्र जातीय उतप्रेरणा एवं संवेग के स्रोत आज तक बने हुए हैं। □

आधुनिक रामकाव्यों में सौंदर्य-बोध

डॉ. नीलम गुप्त

'सौंदर्य' मानव-मन की एक ऐसी असाधारण वृत्ति है जो उससे अविच्छिन्न रूप से जुड़ी हुई है। सौंदर्य के प्रति आकर्षित होना मनुष्य की स्वभावगत विशेषता है, भले ही वह सौंदर्य आत्मा का हो या वस्तु का। 'सौंदर्य' शब्द की व्युत्पत्ति संस्कृत के 'सुंदर' शब्द से भाव अर्थ में 'ष्यञ' प्रत्यय जुड़कर हुई है और 'सुंदर' शब्द, जिसकी उत्पत्ति स्वयं संदेहास्पद है, 'सु' उपसर्ग 'उन्द' धातु से 'अरन्' प्रत्यय जुड़कर बना है, जिसका शब्दार्थ है—अच्छी प्रकार आद्र या सिक्त करने वाला।

भारतीय वाङ्मय में यद्यपि 'सौंदर्य' शब्द का प्रयोग अधिक प्राचीन नहीं है तथापि ऐसा भी नहीं कहा जा सकता कि प्राचीन साहित्य में सौंदर्य के व्यंजक शब्दों तथा उक्तियों का अभाव है। वेद उपनिषद, रामायण, महाभारत आदि में 'सुंदर' और 'सौंदर्य' शब्द के अनेक पर्यायों का प्रयोग हुआ है, यथा—रूप, चारु, रुचिर, रमणीय, सौम्य, शोभन, मनोहर, मनोज्ञ, मनोरम, मधुर, पेशल, कांत, लावण्यवान्, युतिवान्, अभिराम, प्रियदर्शन आदि। अभिजात संस्कृत-साहित्य में तो सौंदर्य का बड़ा ही सशक्त और मुक्त प्रयोग हुआ है।

वस्तुत: 'सौंदर्य' शब्द एक बहुत-ही व्यापक अर्थ वाला शब्द है। विभिन्न भारतीय और पाश्चात्य विद्वानों ने 'सौंदर्य' शब्द की जो व्याख्या प्रस्तुत की है वह इस शब्द के व्यापक अर्थ-धारण का ही परिणाम है। भारतीय चिंतन में सत्य और शिव के साथ सुंदर की कल्पना की गई है अर्थात् सुंदर वही है जो कल्याणकारी है और सत्य-स्वरूप है। इसीलिए वेद, उपनिषद आदि में ईश्वर के स्वरूप को ही विश्व-सौंदर्य का प्रतीक एवं मूल उद्गम माना गया है। भारतीय मनीषियों ने सौंदर्य को प्रमुखत: मन के भीतर की वस्तु माना है जिसे प्रसाद ने 'उज्जवल वरदान चेतना का सौंदर्य जिसे सब कहते हैं' कहकर परिभाषित किया है। पाश्चात्य विचारक प्लेटो ने भी शरीर-सौंदर्य के ऊपर चेतना के सौंदर्य को स्वीकार करते हुए प्रज्ञात्मक सौंदर्य को प्रकाश रूप माना है जो वस्तुत: आत्म चैतन्य का ही प्रतीक है। प्लेटो के अतिरिक्त प्लेटिनस, ऑगस्टीन तथा एक्विन और आधुनिक विचारक हीगल एवं कांट आदि ने भी सौंदर्य की भावना को मूलत: आध्यात्मिक अनुभूति ही माना है।

विचारकों का एक दूसरा वर्ग भी है जो 'सौंदर्य' को केवल मन के भीतर की या आत्मा की वस्तु नहीं मानता अपितु उसे गोचर और एंद्रिय कहकर उसकी रूपगत अथवा वस्तुगत सत्ता को ही स्वीकार करता है। उन विचारकों की मान्यता है कि सौंदर्य की सत्ता वस्तु की संरचना में ही है भाव तथा विचार से उसका कोई संबंध नहीं है।

वास्तव में 'सौंदर्य' साधना की वस्तु है और सौंदर्य-साधना को किसी भी दृष्टि से एकपक्षीय

नहीं कहा जा सकता। यद्यपि बाह्य सौंदर्य (शारीरिक अथवा भौतिक) और आंतरिक सौंदर्य (आत्मिक) दोनों की अपनी स्वतंत्र सत्ता है तथापि दोनों एक दूसरे के परिपूरक भी हैं। इस संबंध में डॉ. त्रिगुणायत का कथन द्रष्टव्य है—'आनन्दमय अभिव्यक्ति एकपक्षीय नहीं होती, उसमें बाह्य सौंदर्य के साथ-साथ आंतरिक सौंदर्य भी निहित रहता है। कला का लक्ष्य इन्ही बाह्य और आंतरिक सौंदर्य को अधिक-से-अधिक सजीव रूप में व्यक्त करना होता है।'

सौंदर्य का बाह्य पक्ष सौंदर्य की वस्तुगत सत्ता से संबंधित होता है। सौंदर्य की वस्तुगत सत्ता का अर्थ है—'सौंदर्य नाम के गुण का वस्तु से अलग करके न देखना।' काव्य में वस्तुपरक सौंदर्य का चित्रण प्रभावी वातावरण की निर्मिति, भावोत्कर्ष की योजना और संस्कृति के ज्ञान आदि के लिए किया जाता है। इसके अतिरिक्त वस्तु-निरूपण काव्य में सजीवता, चित्रात्मकता और दृश्यात्मकता का विधान करता है। इसीलिए वस्तुपरक सौंदर्य का चित्रण काव्य में अनिवार्य-सा माना गया है। वस्तुपरक सौंदर्य-विधान एक ऐसी कला है जिसमें कवि का सूक्ष्म निरीक्षण का गुण प्रकट होता है। संपूर्ण भारतीय वाङ्मय में वस्तुपरक सौंदर्य-विधान दर्शनीय है। आधुनिक युग विज्ञान प्रधान होने के कारण उसकी दृष्टि वस्तुपरक अधिक है और इसी कारण आधुनिक युगीन रामकाव्यों में वस्तुपरक सौंदर्य का चित्रण अधिक मुक्त रूप से और सशक्तता के साथ हुआ है। वस्तुपरक सौंदर्य का विस्तार प्रमुख रूप से मानवीय-सौंदर्य, प्राकृतिक-सौंदर्य और स्थानों आदि के सौंदर्य में देखा जा सकता है।

मानवीय-सौंदर्य के अंतर्गत प्रमुखतः स्त्री एवं पुरुष के शारीरिक-सौंदर्य का चित्रण ही साहित्य में मिलता है। आधुनिक युग के रामकाव्यों में स्त्री और पुरुष के शारीरिक-सौंदर्य के जो चित्र कवियों ने प्रस्तुत किए हैं, वे परंपरागत होते हुए भी नई दृष्टि से युक्त हैं।

आदिकाल से लेकर आज तक के साहित्य में नारी-सौंदर्य के चित्रण को प्रधानता मिली है। रीतिकालीन साहित्य में इसका उत्कर्ष देखने को मिलता है। आधुनिक युग के साहित्य में भी नारी-सौंदर्य के चित्रण को महत्त्वपूर्ण स्थान मिला है किंतु रीतिकालीन सौंदर्य-चित्रण से इसका स्वरूप भिन्न है। आधुनिक काल में नारी को जो प्रतिष्ठा और सम्मान प्राप्त हुआ है, इसके कारण उसके नख-शिख वर्णन, रूप वर्णन में पर्याप्त परिवर्तन हुआ है।

द्विवेदीयुगीन रामकाव्यों में नारी-सौंदर्य के लिए यद्यपि कवियों ने परंपरागत उपमानों का ही प्रयोग किया है तथापि वह रीतिकालीन चित्रण से बहुत कुछ भिन्न है, क्योंकि द्विवेदीयुगीन कवियों ने नारी को जो प्रतिष्ठा प्रदान की है, वह रीतिकाल में नहीं थी। 'साकेत' गुप्तजी का महाकाव्य है जिसमें गुप्तजी ने रामकथा को अपनी नवीन दृष्टि से प्रस्तुत करने का प्रयास किया है। रामकथा की प्रमुख नारी पात्र और भारतीय नारी का आदर्श 'सीता' का 'साकेत' में कवि ने जो सौंदर्य-चित्र प्रस्तुत किया है वह सीता की गरिमा को और ऊँचा उठा देता है—

'अँचल पट कटि में खोंस कछोटा मारे,
सीता माता थीं आज नई छवि धारे।
अंकुर हितकर थे कलश पयोधर पावन,
जन-मातृ-गर्वमय कुशल वदन भव-भावन।.........
मुख धर्म-बिंदु-मय ओस-भरा अम्बुज-सा
पर कहाँ कण्टकित नाल सुपुलकित भुज-सा।'

यहाँ कवि ने सीता के आंगिक-सौंदर्य का चित्र यद्यपि परंपरित उपमानों के द्वारा ही खींचा है तथापि नारी की गरिमामयी मूर्ति को उन्होंने कहीं धूमिल नहीं होने दिया है। 'साकेत' में सीता के अतिरिक्त

उर्मिला, माण्डवी, कौशल्या, कैकेयी आदि के भी अनेक सौंदर्य-चित्र कवि ने प्रस्तुत किए हैं किंतु उर्मिला के मनमोहक सौंदर्य चित्र कवि की सूक्ष्म सौंदर्य-दृष्टि के परिचायक हैं—

'अरुण-पट पहने हुए आह्लाद में,
कौन यह बाला खड़ी प्रासाद में?
प्रकट-मूर्तिमती उषा ही तो नहीं?
कांति की किरणें उजेला कर रहीं।
यह सजीव सुवर्ण की प्रतिमा नई,.........
कनक-लतिका भी कमल-सी कोमला......
शील सौरभ की तरंगे आ रहीं,
दिव्य भाव भवाब्धि में हैं ला रही।'

उषा के समान मधुमयी किरणें फैलाने वाला और शीलयुक्त सौंदर्य नारी की अप्रतिम विशेषता है। इसीलिए यह सौंदर्य वर्णन प्रभावात्मकता उत्पन्न करता है।

स्त्री के स्थूल सौंदर्य के अंतर्गत उसके अंगों और वेशभूषा का वर्णन प्रमुख रूप से होता है। अंगों के वर्णन में उनकी सुडौलता, स्निग्धता, पुष्टता, सुकुमारता, गठन आदि का वर्णन होता है। कवि विभिन्न उपमानों के माध्यम से आंगिक-सौंदर्य के चित्र खींचता है—

लता पल्लव-पुष्पों के साथ, निरख कर हाथ, मले निजहाथ
और मुख? उसके सम हो कौन, सुधाकर इसीलिए है मौन
तुम्हारा लखकर केशकलाप, अचल उर पर लोटेंगे साँप
तुम्हारा सुनकर मधुरालाप, कोकिलाएँ जायेंगी काँप।।

यहाँ डॉ. बलदेव प्रसाद मिश्र ने माण्डवी के शारीरिक सौंदर्य को चित्रित करने के लिए प्राकृतिक उपकरणों का प्रयोग किया है। स्थूल रूप-सौंदर्य के वर्णन में भी कवि का अनुभूति गांभीर्य ही मुख्य है।

नारी के बाहय सौंदर्य के प्रसंग में शोभा, काँति, दीप्ति, माधुर्य, औदार्य, तेज आदि की भी चर्चा की जाती है। रामकथा के समस्त नारी पात्र अपनी अद्भुत काँति और शोभा के सम्मुख समस्त विश्व को नत करते प्रतीत होते हैं। आधुनिक कवियों ने भी अपने रामकाव्यों में नारी पात्रों के इस रूप सौंदर्य को व्यापकता के साथ चित्रित किया है। 'कल्याणी कैकेयी' की कैकेयी के तेज, शौर्य, सौम्यता, सहजता, कांति और गरिमा आदि गुणों ने उसके स्थूल सौंदर्य को द्विगुणित कर दिया है—

ज्योतिपुँज कंजारुण जिसके नेत्र सदा खिलते आनन।
शौर्य्य दीप्त रहता था जिसमें क्षत्राणी के विभु कानन।।
क्षात्र तेज का सत्स्वरूप था मुख पर थी अद्भुत विक्रांति।
नेत्र न टिक पाते थे जिस पर गरिमायुत थी जिसकी कांति।।

'ज्योति' सौंदर्य को द्विगुणित और आभायुक्त करने वाला अलौकिक गुण है। सीता के प्रति प्रथम दर्शन में राम की आसक्ति, सीता के इसी ज्योति स्वरूप अलौकिक सौंदर्य के कारण ही हुई होगी। 'राम की शक्तिपूजा' में निराला ने, सीता को स्वर्ग का ज्योतिः प्रपात कहकर, सीता के सौंदर्य की दिव्यता को प्रकट किया है—

ज्योतिः प्रपात स्वर्गीय-ज्ञात छवि प्रथम स्वीय,
जानकी-नयन-कमनीय प्रथम कम्पन तुरीय।

चरित्र की उदात्तता और पवित्रता नारी-सौंदर्य का आभूषण है। सीता के इसी चारित्रिक सौंदर्य के कारण उन्हें जो मान और प्रतिष्ठा मिली है, आधुनिक कवि भी उसके समक्ष नत हुए बिना नहीं रह सकता है। सीता के पवित्र आलोक के सौंदर्य से सारी धरा आलोकित है—'वैदेही-वनवास' में कवि ने ऐसा ही विचार व्यक्त किया है—

आज भी अमित नयनों की वह दीप्ति है।
आज भी अमित हृदयों की वह शांति है।।
आज भी कलित उसकी कीर्ति कलाप से।
मंजुल-मुखरित उसका अनुपम ओक है।।
आज भी परमपूता भारत की धरा।
आलोकित है उसके शुचि आलोक से।।

त्याग, धैर्य, बलिदान, सहिष्णुता आदि गुण नारी के रूपगत सौंदर्य को नहीं, बल्कि उसके चारित्रिक सौंदर्य को व्यक्त करने वाले गुण हैं। लक्ष्मण की प्रियतमा उर्मिला में गंभीरता, त्याग, साहस, धैर्य, कर्त्तव्यनिष्ठा, सहिष्णुता आदि गुणों का दर्शन कराके आधुनिक कवियों ने उसकी महानता के सम्मुख सीता को भी नत कर दिया है—'मैं लज्जा से गड़ जाती हूँ, देख तुम्हारा यह बलिदान।'

'नारी का समस्त सौंदर्य उसके ममतामयी रूप में सिमटा हैं'—आधुनिक कवियों ने कौशल्या के माध्यम से उस बात को स्वीकारा है। आधुनिक रामकाव्यों में कौशल्या का समस्त सौंदर्य इसी रूप में बिखरा है—

पवित्रता में पगी हुई, देवार्चन में लगी हुई,
मूर्तिमयी ममता माया, कौशल्या कोमल काया।

'शबरी' काव्य में आधुनिक कवि नरेश मेहता ने शबरी का जो सौंदर्यांकन किया है, यद्यपि वह परंपरा से हटकर बौद्धिक हो गया है तथापि नवीन उपमानों के माध्यम से खींचा गया शबरी का रूप सौंदर्य-चित्र कवि के सूक्ष्म सौंदर्य-बोध को भी दर्शाता है—

थी शवेत-वसन में जैसे/कोई अकलंक तपस्या।
उन दूज-चंद्र नैनों में कितनी अगाध करुणा थी,
चल रही धरा पर ऐसे/जैसे नभ की अरुणा थी/
यदि दिवस तेज था उसमें/रातों सी नीरवता थी,
यदि कोलाहल लगती थी/तो भी मृदु कलरवता थी/

उपर्युक्त पंक्तियों में प्रयुक्त शब्द-अकलंक तपस्या, दूज चंद्र नेत्र, अगाध करुणा, नभ की अरुणा, दिवस-तेज, मृदु कलरवता आदि सौंदर्य के पर्याय रूप में ही प्रयुक्त हुए हैं।

आधुनिक कवियों ने अपने रामकाव्यों में रामकथा के नारी पात्रों का सौंदर्यांकन करते हुए उनकी गरिमा को पूर्ववत बनाए रखा है। नारी के स्थूल रूप सौंदर्यांकन में भी उनकी दृष्टि आंतरिक सौंदर्य की भावना से सजीव व पुलकित है।

साहित्य में नारी-सौंदर्य का चित्रण ही विस्तार से मिलता है, किंतु पुरुष-सौंदर्य भी उपेक्षणीय नहीं रहा है। वाल्मीकि, कालिदास, तुलसी, सूर जैसे महाकवियों ने पुरुष-सौंदर्य का चित्रण पूर्ण मनोयोग के साथ किया है।

आधुनिक रामकाव्यों में नारी-सौंदर्य के चित्रण के साथ-साथ पुरुष-सौंदर्य का चित्रण भी मुक्त रूप से हुआ है। कवियों ने पुरुषों के बाह्य व आंतरिक दोनों ही रूपों पर दृष्टि डाली है। राम का

सौंदर्य तो विश्व-विश्रुत है। आदि कवि वाल्मीकि से लेकर आधुनिक युग तक के कवियों ने राम के शील, शक्ति और सौंदर्य के जो चित्र प्रस्तुत किये हैं, वे अनुपम हैं। द्विवेदीयुगीन कवियों से लेकर नई कविता तक के सभी कवियों ने राम के मर्यादापुरुषोत्तम और ओजस्वी स्वरूप का मुक्त कंठ से गान किया है। राम, भरत, लक्ष्मण, दशरथ, विश्वामित्र, वशिष्ठ आदि पुरुष पात्रों के संदर्भ में सुरूप, तेजस्वी व्यक्तित्व, विशाल नेत्र, पुष्ट स्कंध, दीर्घ बाहु, अंग-संगति और रूप-सौंदर्य-तत्त्वों का स्तवन आधुनिक रामकाव्यों में भी विस्तार से हुआ है।

'वैदेही-वनवास' में राम के बलिष्ठ शारीरिक सौंदर्य का चित्रण उल्लेखनीय है—

एक रहे उन्नत ललाट पर विधु-वदन
नव-नीरद श्यामावदत नीरज-नयन
पीन-वक्ष आजानुबाहु मांसल वपषु
धीर वीर अति सौम्य सर्व गौरव-सदन।

पुरुष का सौंदर्य उसके रूपाकर्षण में नहीं, बल्कि उसके पौरुष में है। केदारनाथ मिश्र 'प्रभात' के राम का पौरुष संपूर्ण संसार के मंगलमय में आलोक फैलाने वाला है—

वह राम कि जिसके पौरुष की खर ज्वाला,
निकली किशोर वपु से ज्यों रवि-कर-माला।
वह राम कि जिसने युग के मंगलमय में,
आलोक शुभकर फैलाया अग-जग में।

राम के लिए सीता का यह कथन—'मैंने किसी/सामान्य राजकुमार के नहीं/वरन्/एक यज्ञ पुरुष के दर्शन किये हैं/क्योंकि उस व्यक्तित्व की गंध में/फूलों की कमनीयता तथा/मंत्रों की पवित्रता थी' राम के चारित्रिक सौंदर्य को व्यक्त करता है/'कमनीयता' और 'पवित्रता' सौंदर्य के ऐसे पर्याय हैं जो उसे दिव्यता प्रदान करते हैं। 'प्रवाद-पर्व' में चित्रित राम का उपर्युक्त वर्णित सौंदर्य-चित्र वाल्मीकि के राम के रूप से कहीं कम नहीं ठहरता।

सौंदर्य में भरत भी राम से कम नहीं हैं। राम जैसा शील, राम जैसा सौंदर्य भरत की विशेषता है। भरत के उदात्त सौंदर्य का वर्णन 'साकेत-संत' की इन पंक्तियों में देखा जा सकता है—

हृदय यह जैसा शिव-अधिवास, कहाँ होगा वैसा कैलाश,
फले फैलें यह बाहु-विशाल, करेंगे क्या कमाल वे शाल,
तुम्हारे मुख पर जो गुरु भाव, कहाँ हिमगिरी में जमा जमाव,,
तुम्हारे नयनों में जो ओज, व्यर्थ रतनों में उसकी खोज।

यहाँ कवि ने भारत के सौंदर्य में हिमालय की गुरुता को मूर्तिमान करके उसे उदात्त बना दिया है। पुरुष के बाह्य रूप सौंदर्य का उतना महत्व नहीं है, जितना उसके कर्म-सौंदर्य का। पुरुष का कर्म-सौंदर्य साहित्य में प्राय: रणक्षेत्र के बीच-ही जाकर दिखाया गया है। युद्ध क्षेत्र में लक्ष्मण की वीरता का सौंदर्य संपूर्ण भूतल को कंपित कर देने वाला है। 'वैदेही-वनवास' में लक्ष्मण का वीरत्व पूर्ण भाव सौंदर्य चित्र दर्शनीय है—

सुनकर धनु टंकार मेदिनी थर्राती थी,
दिग्दंती की द्विगुण दलक उठती छाती थी।
प्रलय-वह्नि थी दहकती त्रिपुरारी थे कोपते,
जिस काल वीर सौमित्र थे समर भूमि पग रोपते।

बाह्य वीरता से भी बढ़कर जीवन में आंतरिक वीरता का महत्व है। आत्मजयी वीरों का सौंदर्य कहीं अधिक प्रभावशाली और मुग्ध करने वाला होता है। निराला ने रामभक्त हनुमान के इसी ओजस्वी सौंदर्य का वर्णन किया है। अपने स्वामी की आँखों से गिरी अश्रु बूंद को देखते ही हनुमान उद्वेलित हो उठते हैं—

'ये अश्रु राम के' आते ही मन में विचार
उद्वेल हो उठा शक्ति-खेल-सागर अपार.....
वज्रांग तेजघन बना पवन को महाकाश
पहुँचा एकादश रुद्र क्षुब्ध कर अट्टहास।

पुरुष का 'तेज' उसके सौंदर्य का आधार है। हनुमान के तेज और क्रोध के समक्ष शक्ति का ठहर पाना भी कठिन है, इसे शिव भली प्रकार जानते हैं। इसीलिए हनुमान को क्रोधित देखकर शिव शक्ति से कहते हैं—

सम्वरो देवि, निज तेज, वही वानर
यही नहीं हुआ श्रृंगार-युग्म-रत, महावीर
अर्चना राम की मूर्तिमान अक्ष शरीर.........
लीला सहचर, दिव्यभावधर, इन पर प्रहार
करने पर होगी देवि, तुम्हारी विषम हार।

इंद्रिय-संयम, अहिंसा, क्षमा, कर्त्तव्यपरायणता, बलिदान की भावना, सेवापरायणता, परदु:खकातरता आदि गुणों में पुरुषों का सौंदर्य द्विगुणित हो उठता है। आधुनिक कवियों ने अपने रामकाव्यों में लगभग सभी पुरुष पात्रों को, यथा राम, लक्ष्मण, भरत, दशरथ, वशिष्ठ, जनक, हनुमान आदि, उपर्युक्त गुणों से मण्डित करके चित्रित किया। कर्त्तव्यपरायणता के सम्मुख राज्य का त्याग राम के चरित्र की सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण विशेषता है, तो बड़े भाई के अधिकार की रक्षा के लिए राज्य का त्याग भरत के चारित्रिक सौंदर्य की अनुपमता। भरत का यह कथन—'राजमुकुट राजा के रहते धारण मैं न करुँगा', उनके उदात्त चरित्र को और भी ऊँचा उठा देता है।

द्विवेदी युगीन रामकाव्य 'साकेत' से लेकर 'वैदेही-वनवास', 'राम की शक्ति पूजा', 'रामराज्य', 'साकेत-संत', 'कैकेयी', 'उर्मिला', 'संशय' की एक रात', 'प्रवाद पर्व', 'शम्बूक' आदि नयी कविता के काव्यों में नारी और पुरुष-सौंदर्य का चित्रण अपनी उदात्तता के कारण प्रशंसनीय कहा जा सकता है। आधुनिक कवियों ने रामकथा के पात्रों की गरिमा को बनाये रखने के लिये उनके बाह्य सौंदर्य के स्थान पर आत्मिक सौंदर्य के चित्र ही अधिक मनोयोग पूर्वक खींचे है।

मानवीय सौंदर्य के अतिरिक्त प्राकृतिक सौंदर्य की छटा भी आधुनिक रामकाव्यों में सर्वत्र बिखरी हुई है। प्रकृति का सौंदर्य कवि के भाव स्फोट का प्रबल प्रेरक होता है। यही कारण है कि प्राचीन काल से आज तक के साहित्य में साहित्यकारों की लेखनी प्रकृति-चित्रण के सौंदर्य में अपने कौशल का परिचय देती रही है। आधुनिक रामकाव्यों में प्रकृति का विविध रूपों में बड़ा ही हृदयग्राही वर्णन हुआ है। प्रकृति का प्रेमसिक्त और त्यागपूर्ण रूप मन को छू लेने वाला है—

सिद्ध शिलाओं के आधार
जो गौरव-गिरि उच्च उदार
नहलाती है नभ की वृष्टि, अंग पौंछती आतप-सृष्टि
करता है शशि शीतल दृष्टि, देता है ऋृतुपति श्रृंगार।.

'साकेत' महाकाव्य में वर्णित कामद पर्वत का उपर्युक्त चित्र प्रकृति में मानवीय व्यापार को दर्शाता हुआ

उसके सुकुमार रूप को प्रकट करता है।

प्रकृति का सौंदर्य तो यही है कि वह जीवन के तापों का हरण करने वाली हो। उसका प्रतिक्षण परिवर्तित और नवीन रूप जीवन में भी नव्यता का संचार करता हो। उल्लास और आनंद की खान वसंत ऋतु का सौंदर्य उसकी मधुता में ही है—

सत्यतः मधुऋतु थी वह, क्योंकि हुआ था मधु संचय सब ओर
लताओं पर मधु छत्ते टंगे, उरों में था मधुता का जोर।

'संशय की एक रात' में नरेश मेहता ने भी प्रकृति के उदात्त रूप का चित्रण किया है। संशय ग्रस्त राम भाद्रपद की वर्षा को संबोधित करते हुए कहते हैं—

ओ भाद्रपदी वृष्टि/आद्यंत भीग उठने दो
संभय है तुम्हारे इन देव जलों से
यह संशयाग्नि शांत हो सके।

आधुनिक रामकाव्यों में कवियों ने प्राकृतिक चित्रों में सौंदर्य के जिन तत्त्वों पर बल दिया है वे हैं—दीप्ति, औज्जवल्य, निर्मलता, वैचित्र्य और नवीनता, सुकुमारता, रहस्यात्मकता आदि। 'शम्बूक' काव्य में वर्णित शीतल चाँदनी का प्रकाश मनोहारी है और उसका चाक्षुष सौंदर्य विराट है—

चाँदनी उतरी धरा पर, श्वेत रेशम पंख फैलाये,
आँख जैसा पात्र छोटा कौन कितना रूप पी जाए।

आधुनिक कवियों ने प्रकृति के विभिन्न रूप-सौंदर्य-चित्रों में किसी अदृश्य सत्ता के दर्शन किए हैं। कतार में खड़े ऊँचे-ऊँचे वृक्षों को देखकर उर्मिला को लगता है कि संभवतः ये वृक्ष कोई मौन निमंत्रण दे रहे हैं। अतः उसके मन में जिज्ञासा उत्पन्न होती है—

उदग्रीव हुए आतुर से तरु किसको बुला रहे ये?
कुछ मौन निमंत्रण देते, क्यों बाहें डुला रहे ये?

'उर्मिला' महाकाव्य में बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' ने विरह-व्यथित प्रकृति का सुंदर चित्रण किया है। प्रियतम की खोज में भटकती-रोती प्रकृति का करुण चीत्कार मन को करुणा-सिक्त कर देता है

कलियाँ रोती टहनी पे, रोते प्रसून डाली पे
पतियाँ बिलखती हैं ये, बेलों की प्रति जाली पे।
निशि की अपनी उजियारी, निशि की अपनी अँधियारी,
नित उसको ढूँढ़ रही हैं, ये दोनों बारी-बारी।

उपदेशात्मक रूप में भी प्रकृति का सौंदर्य अनुमप है। आधुनिक कवियों ने अपने रामकाव्यों में उपदेश देने के लिए प्रकृति को माध्यम बनाया है, क्योंकि संसार की सभी घटनाएँ प्राकृतिक व्यापारों से जुड़ी हैं। 'साकेत', 'वैदेही-वनवास', 'उर्मिला' आदि रामकाव्यों में उपदेशात्मक रूप में प्रकृति का सौंदर्य दर्शनीय है। 'एकता में शक्ति होती है' इस बात को गुप्त जी 'साकेत' में प्रकृति के माध्यम से बताते हैं—

बहुत तारे ये अँधेरा कब मिटा,
सूर्य का आना हुआ जब, तब मिटा।

पं. बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' का उपदेशात्मक रूप में प्रकृति का सौंदर्य-चित्र उल्लेखनीय है—

जब रवि अपने प्रखर करों से ज्वाला ले आता था
झुलसाने को पृथ्वी जब वह क्रोधित हो जाता था......
तब वे सघन वृक्ष उस भू की करते ये रखवारी
ज्यो सपूत बालक करता है रक्षित निज महतारी।

कवि जब प्रकृति में मानवीयता का आरोपण करता है, तब प्रकृति जड़ नहीं रह जाती वरन चेतना युक्त हो उठती है। चेतन प्रकृति का सौंदर्य अपनी अनुपम छटा से वातावरण को आनंददायी बना देता है। आधुनिक कवियों ने अपने रामकाव्यों में प्रकृति में मानवीय-चेतना का आरोप करके उसके रूप-सौंदर्य का वर्णन किया है। 'साकेत' में रात्रि-आगमन के वर्णन को देखकर लगता है—जैसे रात्रि नहीं यामिनी रूपी नायिका ही चलकर आई है—

अरुण संध्या को आगे ठेल
देखने को कुछ नूतन खेल
सजे विधु की वेंदी से भाल,
यामिनी आ पहुँची तत्काल।

आधुनिक रामकाव्यों में कवियों ने प्रकृति के केवल मधुर, कोमल और चेतनायुक्त रूपों में ही नहीं, वरन् परूष और विराट दृश्यों में भी सौंदर्य का उद्‌घाटन किया है। 'राम की शक्तिपूजा' में हनुमान के क्रोध को अभिव्यक्ति देता हुआ प्रकृति का भयंकर ताण्डव अपने विराट रूप में चित्रित है—

शत घूर्णावर्त, तरंग-भंग उठते पहाड़
जल-राशि राशि-जल पर चढ़ता खाता पछाड़......
शत-वायु-वेगबल, डुबा अतल में देशभाव
जलराशि विपुल मथ मिला अनिल में महाराव।

प्रकृति का कैसा रौद्र चित्र है। प्रौढ़, पुष्ट तथा प्रवाहमयी भाषा वातावरण की उत्तेजना को व्यक्त करने में समर्थ हुई है।

प्राकृतिक-सौंदर्य चित्रण के साथ-साथ आधुनिक रामकाव्यों में स्थानों आदि के सौंदर्य का वस्तुपरक चित्रण भी सफलता पूर्वक हुआ है। नगर, आरम, वन, उपवन, प्रासाद आदि के सौंदर्य-चित्र आधुनिक रामकाव्यों में बहुलता से देखे जा सकते हैं। इन सौंदर्य-चित्रों में कवियों की सहजता और चित्रात्मकता अथवा बिंबात्मकता दर्शनीय है।

'साकेत' महाकाव्य के आरंभ में साकेत नगरी का वर्णन द्रष्टव्य है—

देख लो साकेत नगरी है यही/स्वर्ण से मिलने गगन में ना रही
केतु पर अंचल सदृश हैं उड़ रहे/कनक कलशों पर अमर दृग जुड़ रहे

इसी प्रकार 'उर्मिला' महाकाव्य में कवि ने जनकपुरी के सौंदर्य का विस्तार से वर्णन किया है। नवीन जी का यह वर्णन लाक्षणिक और चित्रात्मक शैली में है। जनकपुरी के प्राचीर, राजमार्ग, उद्यान, भवन, कूप आदि का क्रमिक वर्णन मन को मोहने वाला है। मुग्धानायिका के रूप में जनकपुरी का सौंदर्य अप्रतिम है—

रम्योद्यानोंमय यह पुरी शोभती यों अनूपा,
मानो कोई नवल तरुणी मोद-मुग्धा, सरुपा,
क्रीड़ोतकण्ठामंय चपलता की हठीली लरी-सी,
फूलों वाली हरित लतिका से सजी वल्लरी-सी।

केदारनाथ मिश्र 'प्रभात' ने भी 'कैकेयी' काव्य में अयोध्या के सौंदर्य का चित्र विस्तार से प्रस्तुत किया है। कवि के अनुसार यह अवध देश ही आर्य-सभ्यता और आर्य-धर्म की रक्षा करने वाला और उसकी गौरव गाथा है—

पुण्य नगर यह आर्य धर्म के गौरव की हुँकार लिए
आदिकाल से खड़ा अतुल यश कीर्ति अनन्त अपार लिए
आर्य सभ्यता लिखी हुई है इसकी गौरव-छाया में
चमक वज्र की तेज प्रलय का इसकी पावन काया में।

नगरों के सौंदर्य-वर्णन के साथ-साथ राजभवनों के सौंदर्य का चित्रण भी कवियों ने मनोयोगपूर्वक किया है। 'वैदेही-वनवास' में राम के राजभवन का सौंदर्य अवलोकनीय है—

अवध के राजमंदिरों मध्य एक आलय था बहु-छविधाम
खिंचे थे जिसमें ऐसे चित्र जो कहाते थे लोक-ललाय
दिव्य-तम कारु-कार्य अवलोक, अलौकिक होता था आनंद
रत्नमय पच्चीकारी देख दिव-विभा पड़ जाती थी मंद।

आश्रमों के सौंदर्य-चित्र भी कुछ रामकाव्यों में देखे जा सकते हैं। रचनाकारों ने आश्रमों को भारतीय संस्कृति के केंद्र के रुप में प्रस्तुत किया है। प्राचीन भारतीय सभ्यता और संस्कृति के केंद्र ये आश्रम ही थे। 'वैदेही-वनवास' में वाल्मीकि के आश्रम का सौंदर्य-चित्र मनमोहक है—

शीतल-मंद-समीर वर-सुरभि कर वह न/शांत-तपोवन-आश्रम में था बह रहा
बहु संयत बन भर-भर पावन भाव से/प्रकृति कान में शांति बात था कह रहा
स्तोत्र-पाठ स्तवनादि/ से ध्वनित थी दिसा/सामगान से मुखरित सारा ओक था
पुण्य कीर्तनों के अपूर्व-आलाप से/पावन आश्रम बना हुआ सुरलोक था/

कथावस्तु एवं घटनाक्रम का ध्यान रखकर आधुनिक रामकाव्यों में कवियों ने सौंदर्य के वस्तुगत पक्ष को कुशलतापूर्वक अंकित किया है। यद्यपि यह सौंदर्यांकन अधिकांशतः स्थूल ही रहा है, तथापि मानवीय सौंदर्य के चित्रण में सूक्ष्म-सौंदर्य के उदाहरण भी द्रष्टव्य है।

आधुनिक काल की परिस्थितिगत चेतना के कारण आधुनिक कवियों की दृष्टि सौंदय के प्रति भावपरक अधिक रही है, वस्तुपरक कम। यही कारण है कि आधुनिक राम-काव्यों में कवियों का सौंदर्य के प्रति वस्तुपरक दृष्टिकोण उतना विस्तार नहीं पा सका, जितना भावपरक दृष्टिकोण। वस्तुतः सौंदर्य की दो स्थितियाँ होती हैं—एक उसकी भौतिक सत्ता और दूसरी उसकी गोचर सत्ता। भौतिक सत्ता के अंतर्गत केवल उसका संरचनात्मक रूप ही सामने आता है जबकि गोचर सत्ता के अंतर्गत उसका रूप आता है। हमारी सौंदर्य दृष्टि निश्चय-ही हमें वस्तु के उस रूप तक ले जाती है, जहाँ हम राग तत्त्व को सर्वाधिक महत्त्व देते हैं। इस संदर्भ में डॉ. नगेंद्र का कथन उल्लेखनीय है— 'सौंदर्य में एद्रिंय तत्त्व के अतिरिक्त राग और प्रज्ञा का भी समावेश रहता है। सौंदयं का रूप निश्चय ही गोचर या एंद्रिय होता है, किंतु इस गोचर रूप में आकर्षण तथा मूल्य उत्पन्न करने वाले तत्त्व राग और प्रज्ञा ही हैं।'

रामकथा के आधुनिक काव्य 'साकेत', 'रामराज्य', 'साकेत-संत', 'कैकेयीं', 'उर्मिला', 'एक विश्वास और', 'व्रतबद्ध', 'भरत' आदि ऐसे कवियों की कृतियाँ हैं जिनकी चिंतन दृष्टि कहीं-न-कहीं राष्ट्र से जुड़कर रामकथा के माध्यम से राष्ट्रीय मूल्यों की अभिव्यक्ति में लगी रही है और उन्होंने जो कुछ लिखा, उसका निचोड़ कहीं-न-कहीं, किसी-न-किसी रूप में राष्ट्र ही रहा है। ऐसी कृतियों में सौंदर्य की भाववादी दृष्टि को अधिक अभिव्यक्ति का अवकाश यद्यपि नहीं मिला है, फिर भी अनेक

स्थलों पर कवियों ने सौंदर्य की सूक्ष्म अभिव्यक्ति के द्वारा पात्रों एवं घटनाक्रमों को प्रभावपूर्ण बना दिया है।

नई कविता के कुछ प्रमुख कवियों, यथा— नरेश मेहता, भारत भूषण अग्रवाल, जगदीश गुप्त आदि ने रामकथा को लेकर जो रचनाएँ लिखी हैं, उनमें रामकथा को समग्र रूप में ग्रहण नहीं किया गया, प्रत्युत कुछ विशिष्ट प्रसंगों एवं घटनाओं का चयन कर इन कवियों ने अपने आधुनिक मानसिक चिंतन को अभिव्यक्ति दी है। इसी कारण इनके रामकाव्यों में सौंदर्य का केवल भावपक्ष ही उभर कर आया है।

डॉ. जगदीश गुप्त ने 'शम्बूक' काव्य में शम्बूक-वध के प्रसंग को आधुनिक परिप्रेक्ष्य में देखने के कारण, उसे नवीन और विशिष्ट मानसिक भाव-भूमि में प्रस्तुत किया है। वर्ग-संघर्ष और निम्न वर्ग के प्रति कवि की विशिष्ट चिंतन-दृष्टि ने इस कृति को भाववादी सौंदर्य की कृति बना दिया है। कवि ने राम के पौरुष और उच्चवर्गीय आभिजात्य चिंतन पर प्रश्न चिन्ह लगाकर वस्तुतः एक विलक्षण सौंदर्य दृष्टि दी है—

> यदि रही वध ही तुम्हारी नीति/नहीं बदली गई रघुकुल रीति
> राम आगे से तुम्हारा राज्य/कवि जनों के हेतु होगा त्याज्य।

यहाँ वस्तुपरक सौंदर्य के लिए कवि को अवकाश ही नहीं मिला है।

नरेश मेहता की तीनों रामकथात्मक कृतियाँ—'संशय की एक रात', 'शबरी', 'प्रवाद-पर्व' आधुनिक भाव-बोध की विशिष्ट कृतियाँ हैं, जिनमें सर्वत्र भाववादी सौंदर्य का चित्रण ही प्रमुख रहा है। इन कृतियों में कवि का चिंतन व्यक्ति का अंत:स्थल भेदता चलता है—'या तो राष्ट्र का प्रत्येक सदस्य स्वाधीन है/या फिर स्वाधीनता/केवल कपोल कल्पना है/और व्यक्ति, पद, मर्यादा, अधिकार/सब कुछ का त्याग कर ही/निर्भय हो सकता है।' 'संशय की एक रात' में भी कवि ने मानसिक राग और प्रज्ञा अर्थात चिंतन के द्वंद्व को ही प्रमुख रूप से अभिव्यक्ति प्रदान की है।

कविता में सौंदर्य और सत्य दोनों ही अवस्थित होते हैं। अत: सौंदर्य का केवल भावात्मक पक्ष पर्याप्त नहीं होता। यदि कविता में व्यक्त भाव या अनुभूति का आधार ऐसा व्यक्तिगत अनुभव है जो सामाजिक रूप से अनुभूत नहीं किया जा सकता, तो वह सौंदर्य सृष्टि नहीं कर सकता। सत्य के साथ शिव अर्थात् कल्याण का भाव भी सौंदर्य की परिपूर्णता के लिए अनिवार्य है। निरुक्त में कल्याण को कमनीय कहा गया है। कमनीयता की अनुभूति कल्याण के उस रूप तक मनुष्य को पहुँचा सकती है जहाँ से उसे विश्व में सर्वत्र सौंदर्य ही दिखाई पड़ता है। विश्व में जो कुछ दृष्टिगोचर होता है वह असुंदर नहीं वरन् सुंदरता की विभिन्न स्थितियाँ हैं और इसीलिए सृष्टि का कण-कण सौंदर्य से जुड़ा हुआ है। यही कारण है कि आधुनिक कवियों ने अपने रामकाव्यों में सौंदर्य के समस्त रूपों का अत्यंत नवीनता और आधुनिकता के साथ वर्णन किया है। इन कृतियों में मानव-सौंदर्य, प्राकृतिक-सौंदर्य के साथ-साथ आधुनिक मानसिक चिंतन का सौंदर्य अनुपमेय है। ☐

रवींद्रनाथ ठाकुर की एक सौ छब्बीसवीं वर्षगाँठ पर

प्रकृति की गोद में शांति निकेतन

ललित शुक्ल

मधुर स्वप्न के प्रसंग में गुरुदेव रवींद्रनाथ ने अपने प्रियतम से कहा था कि वह छाया की ओट में क्यों खड़े हैं। पूजा की थाली मुसकाते फूलों से भरी है। प्रतीक्षा वेला है। इतना ही नहीं, जो आता है, अपनी-अपनी पसंद का एक-एक फूल चुन लेता है। गीतांजलि की पंक्तियों के भाव मन में गूँजते रहते थे। आप कितनी कोशिश कर लीजिए पर जिंदगी अपनी रफ्तार से ही चलती है। न चाहते हुए भी थक कर सुस्ताने लगती है। कई साल पहले सोचा था कि शांति निकेतन जाऊँगा और अतीत की स्मृति-छवियों से अपनी झोली भर लूँगा पर उस समय अपना चाहा हुआ नहीं हो पाया।

कामना कभी बूढ़ी नहीं होती। समय के साथ उसमें निरंतर निखार आता रहता है। पूर्णता के अवसर पर वह खिल पड़ती है। यदि यह कामना अकिंचन की है तो पत्रहीन पलाश के वृंतो पर झूलते टेसू-कुसुमों की भाँति और सुदर्शन लगने लगती है। कंचनजंघा एक्सप्रेस से बोलपुर स्टेशन पर उतरा तो बहुत अजनबीपन नहीं महसूस हुआ। इसलिए कि बोलपुर का कस्बाई चेहरा जाना-पहचाना लगा। छोटी-छोटी दुकानें, ऊबड़-खाबड़ पतली सड़क, फुटपाथ पर बैठे हुए साधारण लगने वाले दुकानदार और धीरे-धीरे चलने वाले मुसाफिर आभास देते रहते हैं कि यह कोई न देखा हुआ उपनगर नहीं है। उत्तर भारत के किसी भी भाग में जाइए, ऐसे कस्बे मिल ही जाते हैं। सभी की प्रकृति एक होने से लगता है आर्यों की घुमक्कड़ प्रवृत्ति का विस्तार दूर-दूर तक फैला हुआ है। जहाँ-जहाँ गये, अपनी संस्कृति और सभ्यता के मान-प्रतिमान लेते गये।

मकानों की बनावट, व्यक्तियों के चेहरे और वातावरण का रूखापन देखकर साफ झलकता है कि यह इलाका बहुत ग़रीब है। होगा, पर कलात्मक अभिरुचि में बहुत आगे। जहाँ ऐश्वर्य होता वहाँ कला नहीं होती। वैभव की संस्कृति ही अलग है। वहाँ जन-मानस को खुली हवा में सांस लेने का अवसर कम ही मिलता है। मैं तो कहूँगा, नहीं ही मिलता। पुरबिए रिक्शे वाले दिल्ली में भी हैं और बोलपुर में भी पर दोनों में बहुत अंतर है। स्थान-स्थान की तासीर है। दिल्ली की संस्कारहीन धरती पर वही रिक्शे वाला अकड़ कर बातें करता है जबकि शांति निकेतन में उसकी जुबान की मिठास में मिसरी घुल जाती है। जैसे जहाँ का खाद-पानी वैसे वहाँ की पौध। यहाँ रिक्शेवाला किसी महिला या लड़की को 'दीदी' कहकर संबोधित करता है। दिल्ली की 'मैडम' के लिए 'दीदी' संबोधन कदाचित अपमानजनक लगे।

स्टेशन से शांति निकेतन परिसर की दूरी ज्यादा नहीं है। पांच-दस मिनट चलने के बाद शहर पीछे छूट जाता है। वही दुबली-पतली सड़क साथ बचती है। किनारे की वृक्षावलियाँ पीछे की ओर भागी जा रही है। मुसाफिरों से उनका कोई लगाव नहीं है। क्षण भर की भेंट किस काम की। और प्यास जगाती है ऐसी भेंट। ऐसे लगाव से अलगाव ही अच्छा है।

चारों और निहारता हूँ। समतल भूमि पर सड़क काफी दूर तक सरकती चली गयी है। इतनी दूर कि आँखें उसे नाप नहीं पातीं। मधुमास अपनी पूरी भव्यता के साथ उतर आया है। रिक्शा धीमी गति से आगे की ओर बढ़ा जा रहा है। शांति निकेतन समीप आ गया। लताओं, फूलों एवं हरीतिमा ओढ़ी वनस्पतियों के बीच शिक्षा-सदनों की सादगी जिज्ञासा की ओर बढ़ाती है। इस केंद्रीयविश्वविद्यालय के परिसर की कोई दीवार नहीं है। अलग-अलग संकायों के भवन फूल पंक्तियों से घिरे हैं। रिक्शा छोड़ देता हूँ। गुरुदेव की विद्या-भूमि को मन ही मन अभिवादन करता हूँ। खुले आसमान के नीचे भी शिक्षा की व्यवस्था है। गोलार्द्ध आकृति में शिक्षार्थियों को बैठने के लिए पाथर की बेंच बनी है। वहीं श्यामपट्ट स्टैण्ड पर रखा है। आसपास हरियाली और फूलों की रंगीनी बड़ी भली लगती है।

कला-शिल्पी की गढ़ी हुई मूर्तियां भवनों के पास स्थापित की गयी हैं। सारा वातावरण खुला-खुला है। एक मोहक कमनीयता की सुगंध चारों और फैली है। शालीनता का पाठ तो लगता है यहां की प्रकृति को भी पढ़ा दिया गया है। सुजान मालियों के करतब के सांचों में ढली प्रकृति अपने सम्मोहन में दर्शकों को बाँधती है।

आम्र मंजरी की सुगंध की मादकता में सारा परिवेश रसमय हो गया है। पलाश यहाँ जल्दी फूल गया है, कदाचित आम का साथ देने के लिए। माधवी, बोगन बेलिया, कर्णिकार, जवाकुसुम और अनगिनत फूलों की बहुवर्णी सुंदरता से आवेष्टित है शांति निकेतन। शिक्षार्थियों के मुखमण्डल पर विद्या का तेज और नम्रता की द्युति जगमगाती दीखती है। हाँ, इस शिक्षायतन के परिसर को भली प्रकार सुसज्जित करने के लिए शायद पर्याप्त धन सरकार नहीं देती। सड़कें है पर सफाई नहीं है। भवनों के पास खुली जगह है पर वहाँ कचरे का ढेर लगा है। इसे साफ-सुधरा रखने के लिए पैसा और परिश्रम दोनों चाहिए। भविष्य में शायद कभी देश की शिक्षा की ओर कोई बुद्धिमान अधिकारी ध्यान दें। रंगकर्मी परिवेश में कला के प्रति समर्पित हो जाते हैं जिन्हें कला से कभी कोई सरोकार नहीं होता। अच्छा फूल, आकर्षक मौसम सज्जापूर्ण वातावरण देखकर सभी का मन लट्टू हो जाता है। दिगंत की ओट में डूबने वाली किरणें एवं सकाल में उगती हुई ताम्राभा देखकर सभी प्रफुल्लित होते हैं। धूप कुछ तेज हो गयी है। अभी दो बहुत आवश्यक काम बाकी हैं। एक तो अभयारण्य देखना और दूसरे रवींद्र साहित्य में वर्णित 'कोपाई' नदी का दर्शन।

बल्लवपुर पार्क का ही नाम अभयारण्य है। हरिणों की कई किस्में यहाँ पायी जाती हैं। यह पार्क काफी दूर तक फैला हुआ है। इसी के समीप एक छोटी झील है। हरिणों के नाम पर ही अभयारण्य को 'डियर पार्क' भी कहा जाता है। प्रवास पर गये हुए पक्षी लाखों की संख्या में झील के पास लौट आये हैं। कोई एक ताल है, कोई लय है, किसी लुभावने आकर्षण में बिंध कर पंखों पर खेलने वाले प्राण अपनी कौतुकी मुद्रा में दिखायी पड़ते हैं। यह पंखों की दुनिया है, गगन विहारियों का संसार है। धरती अपने ममत्व में सभी को बांधे है, चाहे वह आसमान में उड़ने वाला जीव हो, या भूमि पर विचरने वाला प्राणी।

अभयारण्य की झील में विचरण करने वाले पक्षी 'सीखपर' होते हैं। इनका अंग्रेजी नाम पिण्टेल है। यह एक प्रकार की बतख है। चैत के बाद भारत के उत्तर भूभाग में इसका आगमन होता

है। इसी को लंबी पूछ होने के कारण 'पुछार' भी कहा जाता है। यह अपने देश का अतिथि पक्षी है। गर्मी के दिनों में पहाड़ों पर चला जाता है। समूह में रहना इनका स्वभाव है। उड़ना और जल विहार करना सब कुछ साथ-साथ। हजारों-लाखों की संख्या में रहते हुए भाई-चारा लगातार बना रहता है। पशु-पक्षी भी जानते हैं कि उनका हित-अनहित कहाँ है। व्याध की लोभी दृष्टि इन पर गड़ी रहती है पर यह तो अभयारण्य है। यहाँ प्राणों का संकट नहीं है। शांतिनिकेतन से अभयारण्य जाकर पैदल लौटने का अलग आनंद है।

ऊंचे-ऊंचे शाल वृक्षों की सघनता मोहक लगती है। लगता है अपनी लंबाई से आसमान की ऊँचाई नाप लेना चाहते हैं। गुरुदेव ने कहीं इनके बारे में लिखा है कि दूर से आने वाले पथिकों को शालवृक्षों की ऊँचाई संकेत करती है कि शांतिनिकेतन यहीं है। अभयारण्य का दूसरा अधिकाधिक पाया जाने वाला वृक्ष 'आकाश मोनी' है। बंगला भाषा का यह नाम अभयारण्य के एक कर्मचारी ने बतलाया था। हलके हरे रंग की पतियाँ, यूक्लिप्टस की पत्तियों जैसी। ऊँचाई ज्यादा नहीं। अभयारण्य में निश्चिन्त होकर घूमिए। जंगली जानवरों का कोई डर नहीं है। एक भालू बेचारा कैदखाने में है। हरिणों की भोली-भाली आँखें अभयारण्य का अक्स उतारती घूमती हैं। एक क्षण में स्थिरता की प्रतिमूर्ति लगते हैं ये, पर अगले ही क्षण में उड़नछू होने के लिए तत्पर दीखते हैं। इनकी चौकन्नी आंखों में भोलेपन की अगणित छायाएँ तैरती रहती हैं।

शिक्षा निकेतन, झील, अभयारण्य और सौंदर्य लुटाती प्रकृति में कोई ऐसी अंतर्धारा यहाँ दीखती है जो अपने शीतल कणों से सराबोर कर देती है। तन-मन जुड़ा जाता है। हमें भाव लोक की वह सारी सम्पदा मिल जाती है जिसके लिए हम क्षण-प्रतिक्षण बेचैन रहते हें। अपर्णा टैगोर वहीं मुझे एक दंतकथा सुनाती हैं।

कथा रवींद्रनाथ ठाकुर के बारे में है। शांतिनिकेतन के कण-कण में उनकी स्मृतियों की दीप्ति है। दोनों एक दूसरे के पर्याय हैं। किस्सा इस प्रकार है कि स्वच्छ आकाश में बादल देखकर एक व्यक्ति ने कहा—'देखो, देखो रवींद्रनाथ गोद में बिल्ली का बच्चा लिए आसमान में हैं। आकार साम्य के आधार पर दर्शकों को बात ठीक लगी। इस कलात्मक और वास्तव चित्र के बारे में उसने कई लोगों से कहा। दो, चार, दस, बीस लोग ललचायी आंखों से आकाश में रवींद्रनाथ को देखने लगे। थोड़ी देर के बाद वह आदमी ग़ायब था। सभी लोग दृश्य देखते ही जा रहे थे। तन्मयता की यह लीला कितनी देर तक चली कहा नहीं जा सकता।

कोपाइ नदी के बारे में गुरुदेव की कविता में पढ़ा था। यह लंबी रचना उनके 'पुनश्च' संकलन में है। बहुत छोटी नदी। छुद्र नदी कह लीजिए। पर कहीं यह नाराज़ न हो जाय। जल्दी नाराज़ हो जाती है, तभी तो इसका नाम कोपाइ है, कोप करने वाली। शांति निकेतन के समीप ही उत्तर दिशा में पश्चिम से पूर्व की ओर बहती है। आगे जाकर कोपाइ का सम्मिलन पद्मा नदी से होता है। सभी जानते हैं, पद्मा बंगाल की प्रमुख नदी है। बंगाल में गंगा का ही दूसरा नाम है पद्मा। रिक्शेवाले ने आने-जाने के दस रुपये मांगे। कोपाइ को देखने की लालसा इतनी तीव्र थी कि वह कुछ भी मांगता, मैं देने को तैयार हो जाता।

नदी की ओर रिक्शा चल पड़ा। कच्ची पगडंडी पर उतर गया था वह। मुझे कोई विस्मय नहीं हुआ। इस महादेश के असंख्य लोगों का जीवन पगडंडियों से जुड़ा है। सामने दीखता है ग्वालपाड़ा गाँव। माटी के बने हुए कच्चे घर जिनके सिर पर पुआल की छाजन। गलियारों में खेलते हुए नंग-धड़ंग धूल-धूसरित बच्चे। इन्हें कोई चिंता नहीं है। देश चाहे जितनी बार आज़ाद हो, आधुनिक हो, इन्हें तो धूल-माटी ही भाग्य में लिखी है। रिक्शे को घूर-घूर कर देखते हैं। चेहरे पर अनेक

जिज्ञासाओं के फूल खिले हैं। ये बच्चे ही तो गंवई-गाँव के धन हैं, वहाँ की शोभा हैं। वृक्षों की हरियाली गाँव को घेरे हुए है। बांस के लंबे झाड़ों से घना झुरमुट ही बन गया है। इस गाँव के चेहरे को किसी नौसिखिए कारीगर ने लापरवाही से सँवारा है। बनाने कुछ चला था पर कोई अन्य रूप ही निकल आया। अब तो जो बन गया, सो बन गया। गोआलपाड़ा में राजवंशी रहते हैं। गुरुदेव ने 'कोपाइ' रचना में इन्हें याद किया है। कविता की थोड़ी-थोड़ी याद बची है। हठात् मन उधर दौड़ता है। एक तारतम्य उभरता है। सुधियों के बिम्ब जागते हैं और आँखों के फलक पर जड़ उठते हैं।

कोपाइ दूर से झलकने लगी। अपनी कृश काया को बालुका तटों में छिपाये हुए है। रिक्शा पैदल चल रहा है। गुरुदेव की रचना के खण्ड चित्र मेरे ध्यान में उभर आये हैं। आम, बरगद, झोपड़ी, खंडहर, बूढ़ा, कटहल वृक्ष। साथ में सरसों के खेत। पगडंडियाँ कास और सरपत से घिरी हैं। धारा हृदयहीन है। गाँव डरता रहता है। कोपाड का नाम श्रद्धास्पद ग्रंथों में आया है। यह गंगा का धारांश अंतस्तल में संजोये है।

थोड़े दिन के बाद परिवर्तन की आंधी में पुराना चेहरा उड़ा-उड़ा लगता है। संथाल के गांव का रूप भी बदला है। कोपाइ की भाषा में विद्वत्ता नहीं है। वह गाँव की बोली जानती है। वह अपना संबंध धरती और जल के साथ जोड़े हुए है। यह छोटी नदी यायावर है, परिभ्रामी है। मुझे तो पता नहीं, गुरुदेव कहते हैं, 'धरती की सुनहली और हरी संपदा के प्रति कोपाइ की घुमक्कड़ धारा ईर्ष्यालु नहीं हैं।' और सुनिए—'वर्षा में कोपाइ का तनबदन हवशी हो जाता है जैसे कोई ग्रामीण युवा संथाल लड़की ने महुए की मदिरा पी ली हो। जोर से हँसती हुई वह लड़की भँवर के रूप में अपनी घाघरी नचाती आगे बढ़ जाती है। कवि और समीप से देखता है। कोपाइ की अकिंचनता उसके लिए लज्जा का विषय नहीं है। उसका ऐश्वर्य उद्धत नहीं है और गरीबी में तुच्छता नहीं हैं।

एक स्वप्नलोक जाग्रत था। रिक्शा चालक ने माथे का पसीना पोंछा और खड़ा हो गया। 'कोपाइ थोड़ा आगे है बाबू जी। वहाँ तक रिक्शा नहीं जायेगा। कोई बात नहीं। पैदल ही चलते हैं। कोपाइ तक पहुँचने में तीनेक मिनट लगे होंगे।

सर्पिल गति से बहने वाली कोपाइ। कोई भयंकरता नहीं, अजनबीपन नहीं। बिल्कुल परिचित नदी है। शांत बह रही है। निर्मल जल की पतली धारा गंतव्य की ओर तीव्र आकांक्षा से बह रही है। बालू पर चलना बहुत आसान नहीं है। मैं तो धारा के बीचो-बीच खड़ा हो जाता हूँ। घुटने तक पानी है। ऐसी ही एक पागल नदी मेरे गाँव के समीप बहती है। अब तो उसे 'सई' नाम से पुकारा जाता है पर पुराणों में वह स्यंदिका नाम से जानी जाती है।

कुश, कास और सरपत के थानों का साथ लिए चलती है कोपाइ। दूर से छोटी-छोटी गायें आ रही हैं। साथ में बकरियाँ भी है। चरवाहा कांधे पर लाठी संभाले बहुत सतर्क नहीं है। नदी के साथ जानवरों का मन बहलता है। खुले वातावरण में उन्हें आजादी का अनुभव होता है। घर पहुँच कर तो पुनः खूंटे से बंध जाना है। कोपाइ को देखकर विश्वास ही नहीं हुआ कि यह कभी कोप भी करती होगी। अधिक गहराई न होने के कारण वर्षा में तटों को तोड़कर फैल जाती होगी यह। उस समय कोपाइ किसी की न सुनती होगी। लहरों की वेणियाँ नाग-पाश में सब कुछ बाँध लेती होगी। कोप की मुद्रा में प्रेम-विह्वलता के चिह्न नहीं होते होंगे। नदी की कोप भंगिमा को कोई सागर ही झेल सकता है।

नन्हीं-नन्हीं चिड़ियाँ कोपाइ के पानी में छप-छप कर रही हैं। गायों से ये डरती नहीं है। यह तो प्रतिदिन का मेल-मिलाप है। मैं कोपाइ को भली-भाँति पहचान लेना चाहता हूँ। 'बाबूजी लौटिए' को

आवाज़ रंग में भंग करती है। लगभग आधे घंटे के बाद पुनः शांतिनिकेतन आ गया हूँ। वास्तव में शांतिनिकेतन अब एक शैली बन चुका है, एक जीवन पद्धति। चाल-ढाल, पहनावा, वार्तालाप एवं व्यवहार में वही कमनीयता और शालीनता जिसकी नींव पर प्रेम और परस्परता की बड़ी-बड़ी इमारतें खड़ी हो जाती हैं। कोपाइ और शांतिनिकेतन कितने तो समीप हैं। कोपाइ में कोप और संजीदगी दोनों है। स्वभावतः होनी भी चाहिए। अभयारण्य वस्तुतः प्रीति निकेतन है और शांति निकेतन जैसे सौष्ठव का दूसरा नाम हो।

□

पाँच कविताएँ

रमेश कौशिक

(एक)

बल्गारिया

नीला आसमान
हरे मैदान और पहाड़
काला समुद्र
रंगों की विविधता के अनेक आयाम।

गुलाबों के बाग
चेरी के जंगल
अंगूरों के खेत
झूमते रहते हैं सुबह से शाम।

और इस सब के बीच
यह जो आदमी है
शताब्दियों के दुःस्वप्न से जागा है
अब यहाँ अक्षांश और देशान्तर
काटते नहीं हैं एक दूसरे को
दोस्ती के हाथ रहे थाम।

(दो)

ईश्वर

ईश्वर
हमारी आस्था का जल है
जिस पात्र में गिरता है
उसी का रूप धरता है।

(तीन)

तन-मन

अंकुरित
फिर पल्लवित होना
धर्म है तन का
गंध बन उड़ना गगन में
स्वप्न है मन का।

(चार)

एक उपग्रह में

ऊर्जा-सी व्याप्त हो
तुम सब दिशाओं में
समय तुमसे लिपट
पीछे भागता है
एक उपग्रह मैं तुम्हारा
बन गया हूँ।

(पाँच

तुम्हारा प्रभा-मंडल

एक तुम थी
एक था तुम्हारा प्रभा-मंडल
तुम जितनी दूर होती गयी
वह उतना ही बढ़ता गया
घेरे में लेता रहा
अतीत और वर्तमान
और भविष्य भी
उसी में समा गया
डूबते सूरज की तरह

दो कविताएँ

प्रेमशंकर रघुवंशी

(एक)

तुम्हें भी मालूम होगा

यह सच है कि तुम
साँस की तरह हो
जिसकी ताजगी से
महकता है मेरा रोम-रोम

तुम्हें उच्छ्वास की तरह
छोड़ता हूँ तो इतने भर को
कि तुम थोड़ा-सा घूमघामकर
ढेर-सी प्राणवायु समेटे
समा जाओ मुझमें जिजीविषा की तरह

लेकिन देख रहा हूँ कि तुम
आजकल कोहरे से
बोलने-बतियाने लगी हो
जो सूरज को भी दीवान की तरह
घेरकर बैठा है

ओ मेरी साँस । मेरी आत्मगंधा।।
इतना तो तुम्हें भी मालूम होगा कि
कोई भी दीवार रोशनी के खिलाफ होती है
और कोई भी कोहरा किरनों का जल्लाद
कि जिसके फंदों पर झूलती
पहाड़ की पहाड़ देहों की
शिनाख्त भी मुश्किल होती है

खतरों के निशान से ऊपर पहुँचकर पानी
डूबो देता है पुल
और लौट आने का शीतल सुख
खड़ा रह जाता है उस पार

ओ मेरी साँस । मेरी आत्मगंध
इतना तो, तुम्हें मालूम ही होगा ।।

(दो)

वे शब्द ही हैं
जो जनमते संग साथ
ध्वनियों की कोंख से

वे शब्द ही हैं
जो खेलते नंग धड़ंग
वर्णों के समाज में बेझिझक

वे शब्द ही हैं
जो अर्थ छवियों के साथ
उठाते अनगिनत लहरें सोच-सिंधु में

वे शब्द ही हैं
जो हिज्जे करते ही मारे खुशी के
उछलते रहते देर तक जहन में

वे शब्द ही हैं
जो चाँद-सूरज-तारे बनकर
निखारते आसमान की नीलिमा
और बनते धप्प रात में जुगनू की चमक

वे शब्द ही हैं
जो धूप, हवा पानी बनकर
उलटते पलटते धरती की सोंधी गंध
और परसर्ग बने
जोड़ते सार्थक संबंध
कण-कण से ओर छोर
वे शब्द ही हैं ।।

हरी आकांक्षाएँ

डॉ. उमादत्त शर्मा 'सतीश'

जब पास-पड़ोस की गरजती हुई
रुखी
बेहद रुखी हवाएँ
तन-मन को
दबोचने लगती हैं,
और बारिश की बौछारें
शरीर को
तर-बतर कर देती हैं,

तब तुम्हें कैसा लगता है?
तब तुम क्या सोचती हो?
तुम्हारी हरी आकांक्षाएँ
तब कहाँ अंकुराती हैं?

जब चमचमाती रातें
तुम्हारे लिए
चमक बिखेरती हैं,
तुम चुपचाप बैठी रहती हो
समुद्र के किनारे-किनारे
नावों में तैरते तैरते
जल में मचलती मछलियाँ
जब तुम्हारे लिए
बुदबुदाती हैं,
तब तुम्हें कैसा लगता है?
तब तुम क्या सोचती हो?
तुम्हारी हरी आकांक्षाएँ
तब कहाँ उगती हैं?

जब-जब खुरदरी
त्वचावाली मछलियों को
डकारने के लिए
पैने दाँतों वाला मगरमच्छ
जलधर में ही
कहीं ललचा और आँखे
तरेर रहा होता है
कुछ ही क्षणों में वह
तुम्हारे सम्मुख
तैर जाता है,

तब तुम क्या चिंतन करती हो?
तब तुम्हें कैसा लगता है?
और तुम्हारी हरी आकांक्षाएँ
कहाँ फूटती हैं?

जब जब रात्रिभर
हरे-भरे द्वीपसमूहों के वासी
नृत्यमुद्राओं
और ढोल की गमक में
तन-मन का दर्द
टपकाते हैं
अनहोना सुख पाते हैं
समुद्र की ओर से
उगते सूर्य के साथ
बिखेरने का क्रम ज़ारी रखते हैं।

तब तुम क्या सोचती हो?
तुम्हें कैसा लगता है?
तब तुम्हारी हरी आकांक्षाएँ
कहाँ महमहाती हैं?
जब इन्सानों पर
बरसते चाबुकों की याद
बर्बरता, प्रहार, संहार और उत्पात,
सिकुड़ी हुई जलधारी आँखें
पढ़ती हो तुम उकेरे चित्रों में

तब तुम्हारी विश्वसनीय आँखें
हरी-हरी आकांक्षाएँ
कहाँ डबडबाती हैं?

तुम क्या सोचती हो?
तुम्हें कैसा लगता है?

फीजी, मारीशस, सूरीनाम
गुयाना, त्रिनिदाद, जमैका
या विश्व में फैली भारतवंशी जाति,
समुद्री जल से सिंचित
माटी में
श्रमस्वेद बहाते-बहाते
रोपे जो बिरवे तुमने
फूल, फल और अन्न के
शिक्षा, उद्योग और संस्कृति के
उनका उल्लास
उनकी हरियाली
युगयुगों तक
हरी भरी रहे
छिटकाती रहे चंदनगंध,
तब तक
सूरज, चाँद, सितारे
धरती, आकाश, मनुष्य
जब तक !

दो कविताएँ

हरदयाल

(एक)

मौन रहोगी

तुम रहती हो मौन
तुम्हारी देह-यष्टि लेकिन
हरदम मुखरित रहती है।
निर्गत नीर तीर तक आतीं
चतुर मछलियों-सी ये आँखें
कितनी गाथाएँ कहती हैं।
फिर भी कैसी चुप रहती हैं।
जब तक उन्हें आँख-भर देखें
जाने किस अथाह में तब तक
छूने की सीमा से बाहर
छिप रहती हैं।
कहीं दमकता स्वर्ण
कहीं दिपती चाँदी है
कहीं उमड़ते मेघ
कहीं काली आँधी है
मरमर सिल के इन कुम्भों में
कितना मधु संगीत भरा है।
होठों पर क्यों हाथ धरा है।
तन है अगर तरंग-भरा तो
मन में भी उमंग कुछ होगी

क्या शब्दों में उसे कहोगी।
या फिर बिल्कुल मौन रहोगी।

(दो)

जेठ की जलती धूप

जेठ की जलती धूप क्या बीती,
प्रयामा।
उमड़ आई तुम घटा-सी
छा गई मन के गगन पर
क्या हुआ जो नहीं बरसीं
बिना बरसे तुम रीती
बिना सरसे में हुआ अंजर
जेठ की जलती धूप
बीती भी न बीती।

□

दो गीत

यश मालवीय

(एक)

एक अपरिचित गंध
कहीं से दबे पाँव आयी
जैसे सूने तट,
फूलों से लदी नाव आयी

कितना भी अज्ञातवास हो
साथ चलू छत्रियाँ
छज्जे आँगन दालानों भर
सुधियाँ ही सुधियाँ

खुशी कनी बनकर फुहार की
गली गाँव आयी

छलक गया गगरी से पानी
मन था भरा-भरा
आँखों में छोने से दुबका
सपना डरा-डरा

कड़ी धूप में चलते-चलते
घनी छाँव आयी

माथ सजा नक्षत्र थाल में
नन्हा दिया जले
सुख के सौ संदर्भ जुड़े तो

पथ भूली ऋतु पता पूछकर
ठौर ठाँव आयी

(दो)

धूप उतारे राई नोन

आँगन में महका लोहबान
गंध नहाये भीगे प्राण

हम सा भाग्यवान है कौन
पानी उठ-उठ कर गिरता
बीच नदी में मन तिरता

लहरों के बनते हैं कोण

आँखों में चंदन के वन
युकलिप्टस के चिकने तन

दिन साखू रातें सागौन।

□

रेणु-स्मृति

११ अप्रैल पुण्य-तिथि पर

रिमझिम बरसत मेघ हे

डॉ. रामदरश मिश्र

''डाक्टर पर यहाँ की मिट्टी का मोह सवार हो गया है। उसे लगता है मानो वह युग-युग से इस धरती को पहचानता है। यह अपनी मिट्टी है।—नदी, तालाब, पेड़-पौधे, जंगल-मैदान, जीव-जानवर, कीड़े-मकोड़े—सभी में एक विशेषता देखता है।—बनारस और पटना में भी गुलमुहर की डालियां लाल लाल फूलों से लद जाती थीं। नेपाल की तराई में, पहाड़ियों पर पलास और अमलतास को भी गले मिल कर फूलते देखा है—लेकिन इन फूलों के रंगों ने उस पर पहली बार जादू डाला है।''

''गोल्डमोहर – गुलमुहर – कृष्ण।चूड़ा। गुलमुहर का कृष्णचूड़ा नाम कितना मौज़ू लगता है। काले कृष्ण के मुकुट में लाल फूल कितने सुन्दर लगते होंगे।''

''आम से लदे हुए पेड़ों को देखने के पहले उसकी आँखें इनसान के उन टिकोलों पर पड़ती हैं, जिन्हें आमों की गुठलियों के सूखे गूदे की रोटी पर ज़िन्दा रहना पड़ता है।—और ऐसे इंसान—भूखे, अतृप्त इंसानों की आत्मा कभी भ्रष्ट नहीं हो या कभी विद्रोह नहीं करे ऐसी आशा करनी ही बेवकूफी है।—डाक्टर यहाँ की ग़रीबी और बेबसी को देखकर आश्चर्यचकित होता है।—वह संतोष कितना महान है जिसके सहारे यह वर्ग जी रहा है? आखिर कौन सा कठोर विधान है जिसने हजारों हजार क्षुधितों को अनुशासन में बाँध रखा है।''

ये उद्धरण 'मैला आंचल' के छत्तीसवें अध्याय से लिये गये हैं। ये उद्धरण एक साथ जुड़े हुए हैं। ऐसे उद्धरण रेणु के साहित्य से कहीं से उठाये जा सकते हैं और गाँव के जीवन के संबंध में उनकी गहरी संश्लिष्ट पहचान की कलात्मक अभिव्यक्ति देखी जा सकती है। डाक्टर इस गाँव में महज एक बाहरी डाक्टर बनकर आया था जो वैज्ञानिक होने के नाते मानता था कि दिल नामक कोई चीज़ नहीं होती। वह यहाँ व्याप्त मलेरिया का वैज्ञानिक कारण जानने आया था। वह बाहर का है, डाक्टर है, वैज्ञानिक निस्संगता वाले कर्म से जुड़ा है। वह बाहर से आये अनेक डाक्टरों या अफसरों की तरह इस गाँव से निस्संग होकर अपनी कमाई-धमाई भी कर सकता था या वहाँ की विसंगतियों का उपहास उड़ा

सकता था (जैसा कि कई उपन्यासों में हुआ है) किन्तु डा० प्रशान्त कहीं रेणु का प्रतिनिधित्व करता है इसलिए गाँव के प्रति रेणु की ममता, दर्द, सोच-समझ उसमें भर गया है। रेणु तो उसी धरती के हैं किंतु डाक्टर तो बाहर से आया है। रेणु का उस धरती से अनुरक्त होना स्वाभाविक ही है किंतु रेणु ने डाक्टर को उस धरती से प्रभावित दिखा कर दो कार्य किए हैं—(१) उस धरती की गहन प्रभविष्णुता की ओर संकेत किया है, (२) एक बुद्धिजीवी (चाहे वह डाक्टर हो चाहे साहित्यकार, चाहे और कोई) के गाँव के प्रति असली दायित्व का बोध कराया है। कोई भी बुद्धिजीवी, बुद्धिजीवी होने से पहले एक रागात्मक मनुष्य है और उसकी मनुष्यता की पहचान होती है सौंदर्य, अभिशाप, अभाव और विडंबनाओं से तनी हुई ज़िंदगी के बीच। डाक्टर का वैज्ञानिक और बाहरी आदमी धीरे धीरे इस गाँव की ज़िंदगी के बीच धंसता है और वह यहाँ का हो जाता है। उसका वैज्ञानिक कर्म मानवीय कर्म में परिणत हो जाता है। डाक्टर का डाक्टरी कर्म मनुष्य के दुख-दर्द, सेवा-भाव आदि से स्पंदित हो उठता है और उसे लगने लगता है कि दिल नामक चीज़ होती है। यदि उसे निकाल दिया जाय तो मनुष्य मनुष्य नहीं रह जाता, पशु बन जाता है। इसीलिए डाक्टर मलेरिया संबंधी जो निदान देता है वह वैज्ञानिक नहीं होता, मानवीय और सामाजिक होता है। "डाक्टर ने रोग की जड़ पकड़ ली है।— ग़रीबी और जेहालत इस रोग के दो कीटाणु हैं।—एनोफिल्स से भी ज़्यादा ख़तरनाक, सैडफ्लाई से भी ज़्यादा ज़हरीले हैं यहाँ के—"

"डाक्टर पर यहाँ की मिट्टी का मोह सवार है" कह कर लेखकर डाक्टर की उस मानसिकता की ओर संकेत कर रहा है जो किसी ज़मीन के रस में रच-पच जाने से बनती है। यहाँ मोह छिछले अर्थ में नहीं है बल्कि एक गहरे रागात्मक लगाव के अर्थ में है और यह रागात्मक लगाव केवल संवेदनात्मक नहीं है ज्ञानात्मक भी है। डाक्टर यहाँ की मिट्टी से गहरे रागात्मक सूत्र से जुड़ कर वहाँ के सुख-दुख का, मिठास और तिक्तता का बौद्धिक विश्लेषण भी करता है। यानी मिट्टी के प्रति उसका मोह उस मिट्टी से जुड़ी ज़िंदगी की एक बड़ी पहचान के रूप में उभरता है। वह उस मिट्टी से इतना जुड़ गया है कि लगता है वह उसे युग-युग से पहचानता है। भारतीय गाँव की ज़िंदगी एक संश्लिष्ट बिंब है उसमें प्रकृति और मनुष्य का गहरा साहचर्य है। केन्द्र में तो मनुष्य ही है किंतु मनुष्य सूने में तो नहीं खड़ा है। उसके आस-पास प्रकृति का विराट परिवेश है। उस परिवेश में ही वह पैदा होता है, बढ़ता है, वहीं से और उसी से अपनी जीविका अर्जित करता है और जीवन से जुड़ी उस प्रकृति के रूप-रस-गंध-स्पर्श-स्वर के, कोमलता और कठोरता के अनेक बिंब ग्रहण करता है। प्रकृति उसके जीवन के संदर्भ में ही उसे अच्छी और बुरी लगती है। प्रकृति के अनेक तत्व उसके सहचर बनकर उसे प्यारे लगने लगते हैं। डाक्टर ने पटना, बनारस और नेपाल की तराई में गुलमुहर खिलते देखा है लेकिन तब वे उसे केवल फूल लगे थे। वे साथी नहीं लगे थे। किसी धरती के प्रति गहरा जुड़ाव पहले से देखी चीज़ों को नया अर्थ दे देता है। डाक्टर तब किसी धरती से जुड़ा नहीं था इसलिए तब फूल केवल फूल थे, डाक्टर उन्हें देखता हुआ असंपृक्त भाव से निकल जाता था। अब वह धरती विशेष से जुड़ा है इसके नाते ही अब ये फूल उस पर जादू डाल रहे हैं। रचना का भी यही रहस्य है। वह किसी विशेष ज़मीन से जुड़कर ही जीवन-सौंदर्य को पहचानती और रचती है। ऐसा सौन्दर्य अमूर्त नहीं होता, वरन् एक विशेष परिवेश, एक विशेष ज़मीन से जुड़कर अधिक जीवंत और मूर्त हो उठता है। उसके साथ परिवेश जीवन के अनेक स्पंदन जुड़ जाते हैं और इसीलिए वह अपने प्रभाव में अधिक गहरा और सार्वभौम हो जाता है।

रेणु की जीवन-पहचान की एक और विशेषता है कि वे वर्तमान और अतीत को एक दूसरे में पैठ जाने देते हैं। वर्तमान के क्षण में गुलमुहर के जादू से प्रभावित डाक्टर अतीत की ओर, एक सुंदर

पौराणिक प्रसंग की ओर सरक जाता है और गुलमुहर के सौंदर्य को कृष्ण के मुकुट से जोड़ कर और भी प्रभावशाली बना देता है। सौंदर्य गुलमुहर के वर्तमान से लेकर अतीत तक दहकने लगता है। यह सौंदर्यबोध इस मिट्टी से जुड़ने के कारण ही फूटता है, पहले नहीं फूटा।

मिट्टी से मोह का मतलब केवल गुलमुहर के फूल देखना नहीं होता। यद्यपि इसे भी देखना जरूरी है (क्योंकि इससे कट कर जीवन जीना कष्ट कर हो जाता है) फिर भी यथार्थवादी लेखक धीरे धीरे एक आयाम से दूसरे आयाम में धंसता चला जाता है। वह प्रकृति को देखता देखता उस जीवन को देखने लगता है जिसके संदर्भ में ही प्रकृति चरितार्थ होती है। मेरीगंज गाँव (यानी भारतीय गाँव) प्राकृतिक सौंदर्य से ओतप्रोत है, किंतु उसी प्रकृति की गोद में जो मनुष्य पल रहे हैं वे कितने भूखे, नंगे, यातनाग्रस्त हैं। इसलिए वहाँ की मिट्टी के मोह से ग्रस्त डाक्टर प्रकृति को देखता देखता उन्हें देखने लगता है और उसका सारा प्रकृति-सौंदर्य उन्मेष जैसे ठंडा पड़ जाता है। ''आम से लदे हुए पेड़ों को देखने के पहले उसकी आँखें इंसान के उन टिकोलों पर पड़ती हैं जिन्हें आमों की गुठलियों के सूखे गूदे की रोटी पर ज़िन्दा रहना पड़ता है।'' प्रकृति की समृद्धि तो है पर किसके लिए? चंद धनवानों के लिए। आम से लदे पेड़ वसंत के सौंदर्य और जीवन की समृद्धि दोनों के प्रतीक हैं किंतु गरीब लोग प्रकृति के इस सौंदर्य और समृद्धि दोनों से वंचित हैं। इसलिए मानववादी लेखक की दृष्टि मनुष्य की उपेक्षा करके प्रकृति के सौंदर्य में नहीं रमती, वरन् उसे उसकी सापेक्षता में ही देखती है। कहीं दोनों के विरोध को देखती है कहीं साहचर्य को। आम से लदे पेड़ों की समृद्धि के विरोध में उसके उपयोग से वंचित हजार हजार लोगों बल्कि उनके नन्हें मुन्नों के अभाव को तान कर लेखक अभाव की विडंबना को गहरा देता है किंतु वहीं एक साहचर्य भी है वह यह कि आखिर इन्हें भोजन भी आम से ही मिलता है भले ही उसकी गुठली के गूदों से मिलता हो। बड़े लोगों के उपयोग के बाद बची हुई प्रकृति की तलछट उनकी ज़िंदगी बनी हुई है।

डाक्टर (यानी लेखक) आम जन की इस गहरी जीवन-विभीषिका का संकेत देकर वहीं रुकता नहीं, वह उस विभीषिका के परिणामों के बारे में भी सोचता है। ये परिणाम मूल्यवादी और मूल्यहीन दोनों हो सकते हैं। या तो लोग विद्रोही हो जाते हैं या अपराधी। डाक्टर दोनों स्थितियों को स्वाभाविक ठहराता हुआ उनका पक्षधर बन जाता है। उन्हें केवल यातना से लथपथ देखकर आँसू नहीं बहाता बल्कि यातना के विरुद्ध उनके सक्रिय होने की स्थिति में एक सौंदर्य देखता है, उसे मूल्यवान ठहराता है। यानी—अन्याय के विरुद्ध उनके पाप-पुण्य दोनों को ठीक मानता है। **''ऐसे इंसान—भूखे अतृप्त इन्सानों की आत्मा कभी भ्रष्ट न हो, या कभी विद्रोह नहीं करे, ऐसी आशा करनी ही बेवकूफी है।''** यह सोचने के बाद भी वह यह अनुभव करता है कि ये लोग इस अपार ग़रीबी में भी आश्चर्यजनक संतोष धारण किए हुए हैं यानी इस स्थिति में जो विस्फोट होना चाहिए था वह नहीं हो रहा है। जो होना चाहिए और जो हो रहा है दोनों का एक तनाव डाक्टर के अनुभव जगत में उतरता है और यथार्थ को जटिल बना देता है।

यथार्थ की जटिलता को पहचानने की रेणु की यह विशेष शैली है। वर्गीकृत ढंग से यथार्थ को देखने वाले आलोचकों को रेणु में कुछ घोषित मार्क्सवादी यथार्थवादियों की तुलना में कम सामाजिक यथार्थ दिखाई देता है किंतु ज़ाहिर है ऐसे आलोचक यथार्थ की एक बनी-बनायी प्रक्रिया और निष्पत्ति पसंद करते हैं। वे कथा साहित्य को (और कविता को भी) यथार्थ का दस्तावेज मात्र मानते हैं। वे यह भूल जाते हैं कि साहित्य के माध्यम से व्यक्त होने वाला यथार्थ अधिक सांकेतिक, कलात्मक और अन्तर्व्याप्ति होता है। रचना (भले ही वह कथा साहित्य ही क्यों न हो) का अपना सौंदर्य जगत होता है। उसकी सौन्दर्य प्रक्रिया को छोड़कर यदि हम उसमें से यथार्थ के जमे-जमाये शिलाखंड खोजना

शुरू करेंगे तो उसके साथ न्याय नहीं कर पायेंगे। सौन्दर्य की प्रक्रिया से गुज़रने वाला रचनाकार जीवन के अनेक सारे तत्वों को परस्पर संग्रथित कर यथार्थ जटिल बिंब बनाता है और सांकेतिक ढंग से उसे कोई दिशा देकर अपनी पक्षधरता व्यक्त करता है। वह न जीवन का इकहरा चित्र खींचता है, न नारे लगाता है। रेणु सौंदर्य-प्रक्रिया से यथार्थ का जटिल बिंब उपस्थित करने वाले समर्थ कलाकार थे इसलिए सामाजिक यथार्थ के अनंत रूप उनके दृश्यों, लोक-गीतों, लोक-कथाओं, प्रकृति-चित्रों, संवादों आदि में अन्तर्व्याप्ति है और कलात्मक ढंग से आम आदमी के प्रति उनकी पक्षधरता भी व्यक्त होती है। व्यंग्य, करुणा, यातना, विद्रोह, प्रेम, आदि के जटिल बोध संश्लिष्ट बिंब बनकर उभरते रहते हैं, गाँव की जड़ परंपरा से आधुनिक चेतना टकराती रहती है, राजनीति, अर्थव्यवस्था, समाज व्यवस्था, धर्म के पारस्परिक दबावों से बनती हुई आज की ज़िंदगी की पर्तें खुलती रहती हैं।

आइए, 'मैला आंचल' के एक दृश्य से गुजरें। संदर्भ आषाढ़ का है। 'दो दिन से बदली छाई हुई है। आसमान कभी साफ नहीं होता। दो तीन घंटों के लिए बरसा रुकी, बूंदाबूंदी हुई फिर फुहिया, एक छोटा सा सफेद बादल का टुकड़ा भी यदि नीचे की ओर आ गया तो हरहरा कर बरसा होने लगती है। असाढ़ के बादल।—रात में मेंढकों की टरटराहट के साथ असंख्य कीट पतंगों की आवाज़ शून्य में एक अटूट रागिनी बजा रही है। टर्र ! मेक़-टर्रर—मेंकू ! झिं झि चि किर किर्र— सिं किंटिर किंटिर।— किं — टर्र—।''

प्रकृति का यह दृश्य है। इस छोटे से दृश्य में वर्षा के कई रूपों के विधान के साथ असंख्य कीड़े मकोड़ों के उल्लास की भागीदारी है। यह दृश्य हमें अपने भीतर से आगे ठेल देता है आदमी के सुख-दुख की ओर। **कोठारिन लछमी को नींद नहीं आ रही है। चित्त बड़ा चंचल है।** उन्हें वर्षा के इस उल्लास के बीच बालदेव जी की याद आ रही है और विरह वाण से घायल उनका मन सिसक कर रह जाता है। लेखक इस माहौल में रामदास की खोज खबर लेता हुआ किसानों की ओर सरक जाता है।

''गड़गड़ाम — गड़ गड़ बादल घुमड़ा। बिजली चमकी और हरहरा कर बरसा होने लगी।—''

''हाँ, अब कल से धन रोपनी शुरू होगी।—जै इन्दर महाराज बरसो।'' लोगों में वर्षा उल्लास बन कर छा रही है किंतु यह उल्लास 'पिकनिकी' मन:स्थिति का उल्लास नहीं है। खेतों के साथ जुड़ा हुआ जीवनधर्मी उल्लास है। जै इन्दर महाराज बरसो ताकि खेत बोये जा सकें। वर्षा के अभाव में उकठते खेतों में कल से धन-रोपनी शुरू होगी। हाँ लेखक की यथार्थवादी और अभावग्रस्त जन की वेदना को समझने वाली दृष्टि इस उल्लास के आगे एक 'लेकिन' लगा देती है। यह उल्लास धन-रोपनी को लेकर ही है न।— लेकिन बीचड़ (बीहन) के लिए धान कहाँ मिलेगा? ''आज तो पंचायत में सभी बड़े मालिक लोग बड़ी-बड़ी बात बोलते थे, कल ही देखना कैसी बात करते हैं, 'अपने खर्चा के जोग धान नहीं है, बीहन नहीं है अथवा पहले हमको बोने दो।'' यानी ये ग़रीब लोग उल्लास में भीगते भीगते एकाएक एक बहुत बड़ी समस्या या आशंका के रूबरू हो उठते हैं और लेखक एक साथ अतीत वर्तमान और भविष्य को परस्पर तान देता है। वर्तमान में ये लोग उल्लास में भीगते हुए कल (भविष्य) की आशंका से सहम जाते हैं। कल बोने के लिए धान कहाँ से मिलेगा? यह आशंका भी हो सकती थी किंतु इसमें उसके अतीत का अनुभव जुड़ा हुआ है। मालिकों की ओर से वे जो संवाद बोल रहे हैं वे काल्पनिक नहीं हैं वे अतीत अनुभवों से उभरे हैं। वर्षा के उल्लास भरे वर्तमान में वे अतीत के दुखद अनुभव और भविष्य की दुखद आशंका से घिरे हुए हैं।

लेखक इस अध्याय के पहले यह दृश्य प्रस्तुत कर चुका है कि वर्षा को बुलाने के लिए अभावग्रस्त तथाकथित छोटी जातियों की औरतें रात में हल चला चुकी हैं। लेखक ने एक प्रचलित विश्वास का रचनात्मक उपयोग किया है। विश्वास यह है कि यदि औरतें रात को हल चलायें तो वर्षा होती है। ज़ाहिर है बड़े घरों की औरतें इसमें शामिल नहीं होती हैं, होती हैं तथाकथित छोटी जातियों की औरतें। वे इस अवसर पर जट्टजाटिन का नाटक खेलती हैं और हल चलाते हुए किसी को भी गाली दे सकती हैं। यह गाली सम्मान सूचक होती है, जिसका नाम छूट जाता है वह बुरा मानता है। लेखक ने अपने उपन्यासों में ऐसे संदर्भों का प्रयोग बहुत बार किया है और हँसी-हँसी में बड़े लोगों के प्रति छोटे लोगों के मन में उमड़ते-घुमड़ते भावों को व्यक्त कराया है। बड़े लोग ऐसे अवसरों पर अपनी आलोचना सुन कर बुरा नहीं मानते।

यहाँ भी लेखक ने यह काम किया है, किंतु इससे बढ़कर एक और काम किया है। वह दिखाना चाहता है कि जिस ततमा, धानुक, पासवान, कोइरी टोले की औरतें वर्षा को बुलाने का उपक्रम करती हैं, वर्षा होने पर उसी टोले के लोगों को बोने के लिए धान नहीं मिलता। बड़े लोग तो भोगने के लिए हैं। इन्द्र राजा को खुश करने की क्रिया में उनकी कोई भागीदारी नहीं है। वे तो इंद्र राजा के खुश होने पर प्रसाद भोगने के लिए ही हैं। लेखक ने बड़ी सहजता से इस आर्थिक, सामाजिक विसंगति को उभार दिया है।

पानी बरस रहा है सोनाई यादव अपनी झोंपड़ी में बारहमासे का तान छेड़े हुए हैं—

सावन हे सखी सबद सुहावन
रिमझिम बरसत मेघ हे

उसका गीत पूरे परिवेश में गूँजता है और सुहावन सावन का यह गीत अनेक लोगों के दर्द से टकराता है। सावन सुहावन तो है लेकिन किसानों को खेत में बोने के लिए धान न मिले तो? कालीचरन के आँगन में मंगला रहती है वह वहाँ डर रही है। बादलों के गरजने और बिजली के चमकने से उसे बड़ा डर लगता है। बचपन से ही उसे डर लगता है लेकिन आज एक डर और समा गया है। इस मौसम में किसी के आ जाने का डर। "कौन— ?" मंगला फुसफुसा कर पूछती है—"कौन?" लेकिन इस डर का स्वाद कुछ अलग है। यह संदर्भ मंगला के डर को सहज ही एक अलग आयाम दे देता है।

कमली डाक्टर को याद करती है। "खिड़की के पास ही डाक्टर सोता है। बिछावन भीग गया होगा। कल से बुखार है।—सर्दी लग गई है।—न जाने डाक्टर को क्या हो गया है?—"

प्रकृति की लीला, सोनाई यादव का गीत और विविध मानवीय मन:यात्रा साथ चल रही है और बरसात का एक बहुत सघन संकुल बहुआयामी बिंब निर्मित हो रहा है। वह बिंब बरसात का नहीं, उसके माध्यम से उस अंचल का है।

"छररर। छररर। बादल मानो धरती पर उतर कर दौड़ रहे हैं। छहर — छहर — छहर —" और लेखक की दृष्टि बिरसा माझी पर पड़ जाती है। वह संथाल है। 'बिरसा माझी अब लेटा नहीं रह सकता। परसों गाँव वालों ने मीटिंग किया है, बाहरी आदमी यदि चढ़ाई करे तो सब मिलकर मुकाबला करेंगे।—कालीचरन भी था और बालदेव भी।— संथाल बाहरी लोग हैं।" बिरसा माझी ने देखा है कि आज हरगौरी सिंह का सिपाही जमीन देख रहा था। उसे आशंका होती है कि पक गया अखता भदै धान तहसीलदार के आदमी काट ले जायेंगे क्या? क्या सचमुच तहसीलदार संथालों से ज़मीन छुड़ा लेंगे। उसे परेशानी इस बात से भी होती है कि जमींदारी प्रथा खत्म होने की बात सुनाई

पड़ने पर भी यह सब होने के लक्षण दिखाई पड़ रहे हैं। परेशानी इस बात की भी है कि उस मीटिंग में कालीचरन भी था जो किसानों के हक का नारा उठाता है। इसी मानसिकता का परिणाम होता है कि संथाल दूसरे दिन तहसीलदार के खेत में से बेहन लूट लेते हैं और अपने अधिकारों के लिए लड़ने को सन्नद्ध हो जाते हैं, लड़ते हैं और मारे जाते हैं।

इस प्रसंग को छोड़कर लेखक फिर आगे बढ़ जाता है और बारहमासे के रस में डूबता-डुबाता लोक जीवन के यथार्थ के विविध पहलुओं को खोलता चलता है। बारहमासा बारह महीनों का गीत है और बारह महीने लोक-जीवन के बाहरी और भीतरी यथार्थ के विविध संदर्भों से जुड़े होते हैं। इन महीनों के गीत उन्हीं संदर्भों को खोलते हैं। ये गीत किसी न किसी पात्र के दर्द से जुड़ जाते हैं—

'बाट चलैत – आ – केशिया संभारि बान्ह

ऊँचरा हे पवन झरे हे — ए — ए —..'

डाक्टर अब गीतों का अर्थ शायद ज्यादा समझता है क्योंकि उन गीतों की वह संवेदनाओं को जी रहा है। इसलिए वह सोनाय से भी ज्यादा इनका अर्थ समझता है। 'ऊँचरा हे पवन झरे हे !— आंचल उड़ी उड़ी जाय।' डाक्टर आंचल के उड़ने का अर्थ अनुभव कर रहा है।

सोनाय का गीत सुबह के खेतों से जुड़ कर सामूहिक हो जाता है। वह सामूहिक कर्म से जुड़कर सब का हो जाता है। सोनाय अकेला नहीं है, सैकड़ों कंठों में एक-एक बिरहिनी मैथिली बैठी हुई कह रही है—

मास असाढ़ हो रामा, पंथ जनि चढ़िह

दूर ही से गरजत मेघ-रे-मेरो

सैकड़ों कंठों में एक एक विरहिनी है। यह अभावग्रस्त इलाका है जहाँ के लोग अर्थोपार्जन के लिए बाहर जाते हैं। विरह दुहरा है। विरहिनियों के अभावग्रस्त स्वर में प्रियतम के बिछोह का स्वर मिल जाता है। वे पति से अनुनय करती हैं कि असाढ़ मास में उन्हें छोड़कर न जायें। दुहरे दर्द से दंशित यह गीत खेतों में काम करते सैकड़ों कंठों से फूट रहा है और एक घने अवसाद की सृष्टि कर रहा है। मिथिला की पूरी ज़मीन अपने दर्द में गाने लगती है।

□

जब रेणु जी याद आए

शंकरदयाल सिंह

जब कभी रेणुजी की याद आई पता नहीं क्यों प्रसादजी की यह प्रसिद्ध पंक्ति भी याद आई — 'बिखरी अलकें ज्यों तर्कजाल'।

उस समय भी यह पंक्ति याद आती थी, जिन दिनों रेणुजी थे और आज भी यह पंक्ति याद आती हैं, जब वे हमारे बीच नहीं हैं।

रेणुजी के सामने होते ही कहने की जरूरत नहीं होती थी कि वह क्या हैं? कोई भी सहज रूप में अनुमान कर सकता था या कह सकता था कि किसी कलाकार, किसी अभिनेता या साहित्यिक का दर्शन कर रहा हूँ। उन अलकों को संभालने, सँवारने, सजाने और बेतरतीबी को तरतीब देने में उनका बहुत समय लगता होगा, ऐसा मेरा ख्याल है। और उन अलकों ने ही उनके व्यक्तित्व को सुरभित भी किया था तथा साहित्य-सृजन की पृष्ठभूमि भी गढ़ी थी।

उन्हीं श्री फणीश्वरनाथ रेणु को किसी प्रसंग में आज मैं याद कर रहा हूँ। कहाँ देखा था उन्हें पहली बार? शायद अपने ही घर पर। 'परती: परिकथा' का प्रकाशनोत्सव पटना के अशोक राजपथ पर हाथी पर लेखक तथा पुस्तक को बैठाकर किया गया था और उस पुस्तक के प्रथम खरीदार मेरे पिताजी थे। रेणुजी का वह हस्ताक्षरयुक्त 'परती: परिकथा' अभी भी उनकी याद मुझे हरदम दिलाती है। और जिस दिन उसका प्रकाशन हुआ था उसी दिन या फिर उसके दूसरे दिन शाम को वह, राजकमल के ओंप्रकाश जी तथा कतिपय साहित्यकार जिनमें से नलिनजी को याद कर पा रहा हूँ, मेरे घर खाने पर आए थे।

साल-संवत् और दिन का उल्लेख किए बिना मैं यह कहना चाहूँगा कि उसी दिन पहली बार मैंने उन्हें देखा था।

भरा-पूरा शरीर, पायजामा और कोकटी का कुरता, आँखों पर चश्मा, पाँवों में चप्पल, अधरों पर मुस्कुराहट, सांवला-सा शरीर, कुछ टटोलती-सी नजर और इसके साथ-साथ झूलती हुई उनकी लटें। यही थे रेणुजी। जिन्हें देखते ही पता नहीं क्यों प्रसादजी की वह पंक्ति मेरे सामने उसी समय खड़ी हो गई थी – 'बिखरी अलकें ज्यों तर्क जाल......'

उसके बाद दर्जनों बार रेणुजी से मिलना, उनके साथ बैठना, साहित्य से लेकर जीवन के अनेक पक्षों पर बातें-बहसें करना, कुछ पाना, कुछ खोना सब कुछ का सिलसिला बना रहा। मेरे पास जब कभी वे आते साहित्यकार के साथ-साथ राजनीतिक भी हो जाते थे। देश की वर्तमान स्थिति, प्रांत की बिगड़ती स्थिति और गिरते मूल्य पर वह स्वाभाविक चिंता प्रकट करते।

रेणुजी हर कोण से जागरूक और सहृदय साहित्यकार थे। बोलने का, किसी भी चीज को देखने का तथा किसी पहलू से जूझने का उनका अपना अंदाज था। वह न तो इस बात की चिंता करते थे कि कोई उनकी 'हाँ' में 'हाँ' भरे और न खुद जल्द हुँकारी भर देते थे। और इन्हीं बिंदुओं पर आकर उनका व्यक्तित्व झलक जाता था, जिसमें उनकी निजता थी तथा गाँव का अल्हड़पन भी था।

जिंदगी जीने की ख्वाहिश बड़ी होती है लेकिन इससे भी बड़ा कठिन है, मरने के लिए सदा तैयार रहना। वही कुछ ख्वाहिश थी उनके अंदर। जीने की चाह भला किसे न होगी या होती है, लेकिन वे विचित्र थे। जीना चाहकर भी मरने के लिए तत्पर रहते थे और यही रेणु औरों से जुदा थे।

सही अर्थ में जीना भी तो मरने का ही एक बहाना है या फिर उसकी प्रतीक्षा या उसकी आगवानी या तैयारी। दार्शनिक, आध्यात्मिक और निराश-हताश लोग भले इस सच्चाई को लेकर चलते हों, कोई साहित्यकार इसे गाँठ में बाँधकर नहीं चलता। मेरा मानना है कि रेणु इसे मानकर चलते थे, लेकिन इसका प्रकटीकरण जिस फकीराना अंदाज में करते थे कि सुनने वाले हँस देते थे। और कहने वाला कभी भी रोकर इसे नहीं कहता था।

डाक्टरों का कहना था – आप सिगरेट न पिएँ। शराब मुँह से न लगाएँ। संयम से काम लें। खाने-पीने का परहेज रखें।

रेणु जी किसी बच्चे के समान उन्हें तसल्ली दे देते थे। लेकिन कभी भी उस हिदायत का पालन नहीं करते थे, जो आदमी को बचाकर ले चले।

यह कैसा संयोग है कि मात्र दो कृतियों के बाद शीर्ष पर पहुँच पाए थे। हालाँकि जब यही बात दूसरे तरीके से आचार्य नलिन विलोचन शर्मा ने कही थी कि रेणु प्रेमचंद की खाई को पाटते हैं, तो अनेक लोग चौंक गए थे।

आम पाठकों से लेकर हिंदी के दिग्गज आलोचकों ने इसे स्वीकारा कि आंचलिकता का पर्याय ही रेणु हैं। 'बलचनमा', 'बूंद और समुद्र', 'आधा गाँव' और 'राग-दरबारी' के होते हुए भी जब तक 'मैला आंचल' और 'परती: परिकथा' का नाम नहीं लिया जाता, तब तक आंचलिकता की चर्चा पूरी ही नहीं होती है। भला इस बात से न जाने कितने लोगों को ईर्ष्या होती होगी कि हमने इतना लिखा, किसी ने जाना, न जाना और रेणु नाम के लेखक ने मात्र दो-चार पुस्तकें ही लिखकर अपने को सिरमौर बना दिया। इस तथ्य को चतुरसेन शास्त्री जी का वह वाक्य उजागर करता है, जो उन्होंने पटना के हिंदी साहित्य सम्मेलन में प्रकट किया था :

''रेणुजी की आंचलिकता उधार ली हुई नहीं थी। वह पटना के काफी हाउस में बैठते हों या इलाहाबाद के काफी हाउस में, उनका दिल पूर्णियां के जोगबनी, फारबिसगंज और हिंगना औराही में ही विचरता रहता था। यही कारण था कि वे महानगरों के कोलाहल में रहकर भी उनमें खो नहीं जाते थे। उनका एक पाँव बंबई-इलाहाबाद-पटना में होता था, तो दूसरा पाँव कटिहार-पूर्णियां और जोगबनी में।

''भारतीय गाँव, ग्रामवासी तथा उनकी समस्याएँ उनके लिए मात्र रस्म-अदायगी लेखन की तरह नहीं थी। बल्कि वे उन्हें अनुभव करते थे, कसमसाते थे, पीड़ा संजोते थे, पकाते थे और तब उतारते थे। समाज या अव्यवस्था या सत्ता के फाँकों के बीच कराहती गाँव की जनता उनके लिए कभी भी चित्रपट की नुमायश नहीं थी। वे स्वयं उनमें से एक थे। यही कारण है रेणुजी की सजीवता, जीवंत और यथार्थ दोनों है।''

मैं अपने साहित्यिक जीवन की बहुत बड़ी उपलब्धि 'पारिजात' को मानता हूँ, जहाँ बिहार या

देश के वरिष्ठ तथा लोकप्रिय साहित्यकारों का आना-जाना सहज रूप से होता रहता है। श्रद्धेय रेणुजी भी उनमें से एक थे। प्राय: वह पारिजात से दो सौ कदमों की दूरी पर काफी-हाउस में बैठते थे, लेकिन यदा-कदा पारिजात आना भी नहीं भूलते थे। अधिकतर पटना से बाहर रहने के कारण उनसे मेरी मुलाकात बहुत कम हो पाती थी। लेकिन जब भी मिले ऐसे स्नेह के साथ कि मैं घंटों उससे आप्लावित रहता था।

आज रेणुजी हमारे बीच नहीं हैं, लेकिन उनकी याद, वह कभी भी हमसे जुदा नहीं हो सकती है। और भारतीय परंपरा भी इधर बनती जा रही है कि आदमी जब तक रहता है तब तक हम उसे शायद नहीं पहचानते, लेकिन उसके उठ जाने पर आँसू ढरकाने में किसी से भी कम हम अपने को नहीं पाते हैं।

रेणुजी के संबंध में अनेक बातें उनके जीते और उनके उठने पर कही जाती रही हैं, जिनमें विस्तार से न जाकर इतना जरूर कहना चाहूँगा कि जिन आस्थाओं, मूल्यों और विश्वासों को संजोकर उन्होंने समाजवाद तथा जनता की सेवा की और उनके साथ लिपटे रहे उनकी वे आस्थाएँ और विश्वास जनता-शासन की स्थापना के साथ ही मुरझा गए। और मुझे ऐसा लगता है कि उनकी जिजीविषा उन दिनों सूख गई थी। साहित्य का भी कोई कोमल फूल होता है और वह इस प्रकार मुरझाता है, इसका भान उन लोगों को निश्चित रूप से हुआ होगा, जो उन दिनों रेणुजी के इर्द-गिर्द, दाएँ-बाएँ रहते थे।

भला साहित्यकार ने क्या-क्या सपना देखा होगा – संपूर्ण-क्रांति की उस वेला में, जिसमें उसने अपने आपको पूर्णतया समर्पित कर दिया था। लेकिन जब वक्त आया, तो लगा उसके नीचे की जमीन खिसक गई है। उन दिनों मुझे उनसे जब मुलाकात हुई तो उन्होंने बहुत सारी बातें कीं, जिनका कोई संदर्भ यहाँ नहीं बनता और न तो लिखना चाहता हूँ। लेकिन उनकी जब बहुत सारी बातें मैंने सुन लीं, तो उत्तर में मैंने उन्हें एक शेर सुनाया —

'वक्त जब गुलशन पे पड़ा था, तो हमने खून दिया,
अब बहार आई है तो कहते हैं तेरा काम नहीं'।

इस पर वह ठठाकर हँस पड़े। लेकिन उस हँसी के अंदर एक दर्द गहरा रहा था, जिसे समझने वाले ही समझ सकते थे। कल्पना की टक्कर जब वास्तविकता से होती है, तो ऐसा ही होता है। बिहार ने धर्म, अध्यात्म, ज्ञान, विज्ञान, प्रशासन, साहित्य और राजनीति में एक से अनेक सपूतों को पैदा किया, जिनमें रेणुजी का स्थान भी सुरिक्षत रहेगा, इसमें दो राय नहीं हैं। दुख यही है कि जब उनके जीने की सबसे अधिक आवश्यकता थी, उसी समय वह हमसे बिछुड़ गए। उन्हें याद करने वालों में उनके असंख्य पाठक ही नहीं वरन् उनके वे मित्र भी हैं, जो परिवार के समान उनके साथ संबद्ध रहे और उन्हें जिलाने की तृष्णा में कहीं मीठा जहर देकर मारते रहे।

हाँ, इतना जरूर हुआ कि रेणु हमसे ऐसी अवस्था में बिछुड़ गए, जो उनके जीने की अवस्था नहीं थी और छोड़ गए अनगिनत सवाल कि केवल साहित्यकार होकर जीना कितना कठिन है और कितना आसान है। उनके द्वारा अधूरे छोड़ें अनेक प्रश्न हवा में तैरते रहेंगे, विशेषकर उन क्षणों में जब उनकी याद को कुरेदने की चेष्टा की जाएगी। □

भारतीय कला, संस्कृति और सूर्य

दिनेशचंद्र अग्रवाल

अत्यारंभिक काल से ही भारतीय संस्कृति में प्रकृति के प्रति आस्था का महत्व सर्वोपरि रहा है। हमारा सारा प्राचीन साहित्य प्रकृति में ब्रह्म की कल्पना के दाय के आधार पर ही रचा गया है। यह निर्विवाद सत्य है कि प्रकृति के बिना मानव का अस्तित्व ही नहीं है। असीम ऊर्जा से संपन्न प्रकृति के समक्ष मानव तुच्छ तथा निर्बल ही रहा है। यही कारण है कि प्रकृति के विविध दृश्य शक्तियों, यथा – अग्नि, सूर्य, वर्षा, मेघ, तड़ित, जल, तूफान आदि के हमारे प्राचीनतम वैदिक साहित्य "वेद" ने दिव्य मानवीय रूप में प्रस्तुत किया, देवता माना तथा उनकी उपासना की प्रशस्ति की। ("दिव्य शक्तया समपन्न: मानव एव"(ऋग्वेद) प्रकृति के इस साहचर्य से प्रेरित होकर ही यहाँ के समाज में अनेक परंपराओं ने सहज ही जन्म ले लिया, परिपुष्ट हुई तथा सदियों तक चलती रहीं। दिव्य शक्ति से संपन्न मानव रूपी देवताओं की पूजा का विधान सारे विश्व में सर्वप्रथम भारतीय संस्कृति की ही देन है। अति प्राचीनकाल से आज तक अनेक देवी-देवताओं के अनगिनत रूप भारतीय धरा पर उद्भत होते रहे हैं। प्राकृतिक प्रचंड शक्तियों से प्रेरित देवताओं में सर्वप्रथम स्थान "अग्नि" का रहा है। सभ्यता के अन्वेषण का सूत्रपात ही अग्नि से हुआ। हमारे प्राचीनतम वाड्मय "ऋग्वेद" का आरंभ अग्नि के सर्वप्रथम प्रतिष्ठापन से ही होता है। ("अग्निमीडे पुरोहितं यज्ञस्य देवमृत्विजं होतारं रत्नधामम्।") अग्नि के पश्चात् दूसरा देवता है सूर्य; अग्नि का वृंहित रूप, संपूर्ण विश्व को प्रकाश प्रदान करने वाला, ऋतुओं को लानेवाला तथा मानव को स्वास्थ्य ही नहीं वरन् जीवन प्रदान करने वाला एक मात्र स्रोत। अग्नि की विनाशकारी प्रवृत्ति से तो मानव भयभीत था किंतु सूर्य की कल्याणकारी प्रवृत्ति के प्रति वह कृतज्ञ तथा गद्गद् होकर नतमस्तक था। यही कारण है कि सूर्य की उपासना व मान्यता आदि काल से आज तक अगाध श्रद्धापूर्वक की जाती है।

वैदिक साहित्य का मुख्य अर्थसार सूर्य-उपासना ही है, जो विद्वत जन वेदों का वाचन करते हैं, सूर्य के ऐश्वर्य का ही मान करते हैं – (ये अर्वानुत वा पुराणे वेदम् विद्वान समभितो वदन्त्यादित्याम् एव ते परिवदन्ति सर्वे" (ऋग्वेद) वेदों में सभी देवताओं में सूर्य को प्रतिष्ठापित किया गया है। अथर्ववेदीय सूर्योपनिषद् में सूर्य को ब्रह्म का साकार रूप बताया है – "ॐ असावादित्यो ब्रह्म।" सूर्य को ही भगवान कहा गया है ("भग एव भगवाँ अस्तु देव: सनो भग पुर एताभमेव।" — अथर्ववेद– ३/१६/५) सृष्टि के सभी जड़ व चेतन विषयों की आत्मा में भी सूर्य की स्थापना की गयी है ("सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च" – ऋग्वेद – १/११५/१) "महाभारत" में भी सूर्य को संपूर्ण जगत के

प्राणियों की आत्मा से संबोधित किया है, संपूर्ण प्राणियों का जीवन भगवान सूर्य पर ही आधृत है, संपूर्ण सृष्टि चक्र का संचालक सूर्य ही है (''त्वं भानो जगतश्चक्षुस्त्वभात्मा.... निर्वाणमं पाल्यते त्वया।''- वनपर्व -३/३६-३८), सूर्योपनिषद् में ही सूर्य को ब्रह्मा, 'विष्णु तथा शूद्र माना गया है- (''एव ब्रह्मा च विष्णुश्च रुद्र एषहि भास्कर:'' १-सूर्योपनिषद) ''महाभारत'' में भी धर्मराज युधिष्ठिर सूर्य-स्तवन करते हुए, सूर्य को विष्णु ब्रह्मा व रुद्र के अतिरिक्त इंद्र, प्रजापति, अग्नि, मन तथा प्रभु भी मानते हैं (त्वामिन्द्र - माहुस्त्वं रूद्रस्त्वं विष्णुस्त्वं प्रजापति:। त्वमानिग्नस्त्वं मन: सूक्ष्मं प्रभुस्त्वं ब्रह्मशाश्वतम्) इसके अतिरिक्त महाभारत में ही सूर्य को चराचर जगत का धाता-पाता, संहर्ता, एकदेव विशेष, कालाध्यक्ष, गृहपति, एक ज्योतिष्कपिंड और मोक्षद्वार के रूप में निहित किया गया है।

भगवान श्री कृष्ण अपनी विभूतियों का विवरण करते समय स्वयं कहते हैं - चंद्र, सूर्य और अग्नि में जो तेज है, वह मैं ही हूँ, वह मेरा ही स्वरूप है - (''यदादित्यगतं तेजो जगद्भासयते खिलम्। यच्चन्द्रमसि यच्चाग्नौ-तत्तेजोविद्धि मामकम्।'' - श्रीमद्भागवतगीता - १५/१२) तथा (''ज्योतिषां रविरशुमान'' - श्रीमद्भागवत गीता - १०/२१) यही भाव ''श्रीमद्भागवत'' - ११/१६/३४ में भी दृष्टव्य है।

अपनी इहलीला समाप्त कर श्रीकृष्ण अंत में सूर्यनारायण में ही विलीन हो गये थे। ''य: स नारायणो नाम .... कर्मणो न्ते विवेश ह।'' - महाभारत, स्वर्गारोहण पर्व - ५/२५) सभी देवताओं का सूर्य से ही उद्‌भव तथा उसी में सबका विलय होता है। ''सूर्यादि भवन्ति भतानि सूर्येण पालितानितु। सूर्ये लयं प्राप्नुवन्ति य: सूर्य: सो हमेव च।'' - सूर्योपनिषद)।

(भारतीय संस्कृति के बीजाक्षर ॐ (ओ म्) तथा सूर्य के तादम्य का भी उल्लेख प्राय: हुआ है, ओ म् ही आदित्य (सूर्य) है, इस रूप में भी आदित्य का ध्यान करने का निर्देश मिला है - ''आदित्य ओमित्येवं ध्यायंस्तयात्मानं युंजीतेति'' - मैत्रायण्युपनिषद् - ५/३'')। सूर्य तथा ओ म् में तादाम्य की स्थापना तथा ओ म् से ही सूर्य के अवतरण भावना की श्रीमद्भागवत् (स्कन्ध १२, अध्याय ६) में परिलक्षित होती है। जिस दिव्यज्योति को ब्रह्म माना गया है, वह भी सूर्य ही है (''यद्ब्रह्म तज्ज्योतिर्यज्ज्योति: से आदित्य:।'' - मेत्रायण्युपनिषद् - ५/३) सूर्य भगवान स्वयं कहते हैं— मैं ब्रह्म ही हूँ, ऐसा जानकर पुरुष कृत कृत्य होता है (''ब्रह्ममाहमस्मीति कृत कृत्यो भवति।'' - मण्डल ब्राह्मणोपनिषद् - 3/२) संपूर्ण ब्रह्माण्ड में जो कार्य भगवान करते हैं, इस सौर मण्डल में सूर्य की भी वही स्थिति है तथा तत्सम कृति है अतएव वैदिक संस्कृति के रचयिताओं ने भगवान की सूर्य से उपमा दी है - (''भग एव भगवाँ अस्तु देव: सनो भग पुर एताभमेव।'' -अथर्ववेद - ३'१६/५) तथा (ब्रह्म सूर्यसमं ज्योति:। -यजुर्वेद - २३/४८) उक्त संदर्भ में ''भग'' सूर्य का ही पर्यायावाची है।वेदों में सर्वप्रथम सूर्य के चौदह पर्यायवाची संबोधन मिलते हैं, जो इस प्रकार हैं — भग, वैवस्वत, मित्र, अर्क, सुपर्ण, सवित्र (सवित), पूषण, आर्यमन, विष्णु, वरुण, शुक्र, त्वश्त्रु, धात्रु तथा मरूत्मत। ''ब्रह्मपुराण'' के अध्याय-३३, श्लोक-३४-४५ में एक सौ आठ तथा ''भविष्य पुराण'' के सप्तमीकल्प में सूर्य के ही एक सहस्र नामों वाला ''सूर्य सहस्र नाम स्त्रोत'' ध्यातव्य है।''अमर कोष'' में भी सूर्य के चउअन नामों की एक सूची है। इन सभी नामों का विस्तृत उल्लेख अत्यधिक स्थान-विस्तार की अपेक्षा करता है। वस्तुत: सूर्य तो एक ही है, उसके विविध नाम व रूप तो उसके गुण, कर्म और परिस्थिति के अनुसार प्रशस्त किये गये हैं।

सूर्य की सर्वोपरि दिव्यता, वैराट्य, माहात्म्य तथा स्तवन संबंधी सहस्रों संदर्भ ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, शुक्लयजुर्वेद, गीता, महाभारत के अतिरिक्त सूर्योपनिषद्, चाक्षुषोपनिषद्, अक्ष्युपनिषद्, सूर्यतापिनी उपनिषद्, तैत्तिरीय आरण्यक, औपनिषद श्रुतियों, सूर्यतंत्र, सूर्यशतक, मार्कण्डेय पुराण,

वह्नि पुराण, सूर्यपुराण, साम्य पुराण, श्रीमद्भागवत; जैन आगम साहित्यों में प्रमुखत: सूर्यप्रज्ञप्ति, नमस्कार संहिता, पौरिषी व भगवती; वराहमिहिर कृत वृहतसंहिता, मध्यकालीन तांत्रिक साहित्य तथा बौद्धवाङ्मयों में भरे पड़े हैं जिनका उल्लेख स्थानोचित नहीं है, किंतु सभी ने प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप से सूर्य की सर्वशक्तिमत्ता तथा उच्चता का ही गुणगान किया है।

सूर्य की उत्पत्ति अथवा उद्गम को भारतीय प्राचीन वाङ्मयों में अतीन्द्रिय और अलौकिक विधान पर प्रस्तुत किया है। ऋग्वेद में सूर्य की उत्त्पत्ति विराट पुरुष भगवान के नेत्र से होने का संदर्भ आता है – (''चक्षो: सूर्यो अजायत'' – ऋग्वेद – १०/९०/१३) श्रुतियों के अनुसार संसार की उत्पत्ति से पहले सर्वत्र दिशाओं में एक मात्र अवर्णात्मक गहनतम अंधकार व्याप्त था तब सर्वशक्तिमान परमात्मा हिरण्यगर्भ का आत्मप्रकाश उदित हुआ, जिसके प्रकाश के समान अन्यतम प्रकाश इस भूतल पर नहीं है, उसे सूर्य से संबोधित किया गया। ऐतरेय ब्राह्मण उपनिषद् के अनुसार हिरण्यगर्भ रूप पुरुष के नेत्रों से सूर्य प्रकट हुए हैं (''चाक्षुष आदित्य ....।'' ऐ. उ. – १/१/४) विष्णुपुराण के याज्ञवलक्यकृत सूर्यस्तोत्र (अंश-३, अध्याय-५) में सूर्य को ''अग्नीषोमभूत'' अर्थात् अग्नि तथा सोम द्वारा उद्भूत कहा गया है। ब्राह्मण ग्रंथों में भी सूर्य उद्भव विषयक इसी भावना को वैज्ञानिक रूप में प्रस्तुत किया है। वहाँ सूर्य को पार्थिव, आंतरिक्ष्य एवं दिव्य – तीन अग्नियों का समष्टि रूप पिण्ड कहा है। पिण्ड-निर्माण सोम के बिना नहीं हो सकता, अग्नि में सोम की आहुति से ही सूर्य का उदय प्रतिपादित है – ''आहुते: (सोमाहुते:) उदैत (सूर्य:)।''

प्राचीन साहित्य में सूर्य की उत्पत्ति को प्राय: अलौकिक परिप्रेक्ष्य में ही प्रस्तुत किया गया है। वह तो सर्वज्ञ ही है कि जो देवता जितने अधिक महान होते हैं, उनकी जन्म कथा भी उतनी ही अद्भुत तथा विविध रूपी होती है। पौराणिक ग्रंथों में ही इस विषय पर कई कथाएँ निहित हैं, वे न केवल विचित्र हैं अपितु उनमें सूर्य के वैज्ञानिक आयामों का रूपकात्मक विन्यास भी परिलक्षित होता है। ये कथाएँ अधिकांशत: मार्कण्डेयपुराण पर ही आधृत हैं तथा विशेषकर भविष्य पुराण के ब्रह्मपर्व, वराहपुराण के आदित्योत्पत्ति अध्याय, कर्मपुराण के चालीसवें अध्याय, विष्णुपुराण के द्वितीय अंश/अध्याय-११; मत्स्य पुराण के एक सौ एकवें अध्याय तथा ब्रह्मवैवर्त पुराण के श्री कृष्ण खण्ड/अध्याय उनसठ आदि में वर्णित हैं। इस विषय में ''हिंदी विश्व कोष'' भी दृष्टव्य है। सभी कथाएँ सूर्य जन्म को एक दिव्य तेज पुंज उद्भूत मानकर रची गयी हैं। संपूर्ण विश्व में भारत ही ऐसा देश है, जहाँ के साहित्य में सूर्य की व्याख्या, महत्ता तथा विवेचन संबंधी आलेख भरे पड़े हैं।

सूर्य की शाब्दिक व्याख्या हेतु ''निरूक्त'' कार यास्क ने सूर्य शब्द की निरूक्ति इस प्रकार की है – (''सूर्य: सवेर्ता सुवतेर्वा।'' – १२/२/१४)'' सिद्धांत कौमुदी:।'' –पाणिनि सूत्र – ३/१/१४४) से निपातित सूर्य की व्याख्या इस प्रकार हुई है – ''सरति सातत्येन परिभ्रमत्याकाश इति सूर्य:।'' अर्थात् आकाश में जो गमन करता है वही सूर्य है। यद्यपि सूर्य यथार्थत: स्थिर है, किंतु फिर भी लोक समाज को ऐसा चाक्षुष भ्रांत अनुभव होता है कि सूर्य पूर्व दिशा में उदय होता है तथा एक विशिष्ट मार्ग पर विचरण करता हुआ पश्चिम दिशा में अस्त होता है। सूर्य की इस विचरण क्रिया से प्रेरित होकर ही सूर्य को सुपर्ण, गरुड़ तथा दिव्य अश्व से संबोधित किया गया है। उदय से अस्त तक की इस यात्रा का क्रम सूर्य निरंतर व अबाध गति से करता रहता है। सूर्य की इस अद्वितीय कर्मशीलता से प्रभावित होकर ही इंद्र ने रोहित को लोकमंगल के लिये सूर्य देव की भाँति कर्मपथ पर सदैव चलते रहने का उपदेश दिया था (''सूर्यस्य पश्य श्रेमाणां यो न तंद्रयते चरंश्चरैवेति।''– ऐतरेय ब्राह्मण ३३//५) कर्मयोग के उपदेश का वास्तविक अधिकारी तथा सर्वश्रेष्ठ पात्र सूर्य को जानकर ही श्रीकृष्ण ने कर्मयोग का सर्वप्रथम उपदेश सूर्य को ही दिया था। तत्पश्चात सूर्य ने मनु को तथा मनु ने इक्ष्वाकु को

कर्मयोगोपदेश दिया था। कालांतर में वही उपदेश श्रीकृष्ण ने अर्जुन को दिया था- (इमं विवस्वते योगं प्रोक्तवानहमव्ययम् रहस्यं ह्येतदुत्तमम''।- श्रीमद्भागवतगीता- ४१/३)।

सूर्य के प्रत्यक्ष देवत्व को आस्तिक और नास्तिक एवं साकार व निराकार ईश्वर में आस्था रखने वाले सभी ने सहर्ष स्वीकारा है। इनका चाक्षुष दर्शन सर्वाधिक सहज व सुलभ है, अतएव लोक मानस में इनकी उपासना आदिकाल से ही प्रचलित है। **लोक सम्मानित होने के कारण ही भारतीय संस्कृति में सूर्य की महिमा अतिशय रही है तथा वह भारतीय अध्यात्मिक जीवन का उच्चतम आदर्श प्रस्तुत करती है। वैदिक काल में ही सूर्य को आचार्य रूप में प्रतिष्ठित किया गया था तथा सूर्य को संबोधित करते हुए उपासक की बुद्धि को अपने तेज द्वारा प्रकाशित करने की प्रार्थना की गयी थी** - (''तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि धियो यो नः प्रचोदयात्'' ... शुक्ल यजुर्वेद - ३६/३) वेदों से उद्धृत कई स्रोतों के समन्वय और संकलन से ही स्तवन हेतु ''गायत्री'' की रचना हुई। प्रसिद्ध गायत्री मंत्र सवितोपासना का तत्व; चारों वेद तथा समस्त ज्ञान व प्रज्ञा का ही सार है जिसमें सर्वाधिक उल्लेखनीय स्तुति इस प्रकार है - ''ओ म् विश्वानि देव सवितर्दुरितानि परासुव। यद् भद्रं तन्न आसुव।'' - ऋग्वेद ५/८२/५ तथा शुक्ल यजुर्वेद - ३०/३) अर्थात् - हे परब्रह्म स्वरूप सविता देव, आप हमारे पापों को हमसे दूर करें, हम सभी प्राणियों के लिये चारों ओर से कल्याण-मांगल्य ले आयें, वही हमें प्रदान करें। हिंदू धर्म-दर्शन के अनुसार मानव जीवन का सर्वोपरि प्रयास एवं लक्ष्य मोक्ष प्राप्ति रहा है जिसके लिये वह सत्कर्म तथा ईश्वर भक्ति करने का प्रयास करता रहता है, किंतु सूर्य के दर्शन मात्र से ही मानव को पुनर्जन्म प्राप्त नहीं हो पाता है अर्थात् मानव योनि से मोक्ष प्राप्त कर लेता है। उक्त विधान को भी वैदिक दार्शनिकों ने ही प्रशस्त किया था - (''भास्करं दृष्टवा पुनर्जन्म न विद्यते।'' - ऋग्वेद संहिता) । सूर्य की पूजा हेतु अनेक स्तुतियाँ अनेक ग्रंथों में भरी पड़ी हैं, जिसको जो भी भा गयी उसे ही उसने अपना लिया। भगवान श्रीराम रावण से युद्ध करते हुए जब अत्यधिक परिश्रांत होकर घोर चिंता में डूब गये तो महर्षि अगस्त्य ने श्रीराम को ''आदित्य हृदय स्तोत्र'' के जप द्वारा सूर्योपासना करने का निदेश दिया था। ऐसा करने के पश्चात् ही वे रावण का शिरश्च्छेद कर पाये थे - (''एनमापत्सु वृद्धेषुकान्तारेषु भयेषु च कीर्तियन् पुरुषः कंचित् नाव सीदति राघवः।'' - वाल्मीकि रामायण - ६/१०५/२५)। सूर्य की सच्ची आराधना के प्रसाद स्वरूप ही महाभारत काल में धर्मराज युधिष्ठिर को अपने चार भाइयों सहित अज्ञात वनवास काल में, एक ऐसा अक्षय पात्र प्राप्त हुआ था जिसमें सदैव भोज्य पदार्थ भरा रहता था, वह कभी रिक्त नहीं होता था (महाभारत-वनपर्व-३/७१)।

विशेष रूप से उल्लेखनीय है कि मुगल सम्राट अकबर भी सूर्य का उपासक बन गया था, उसके समय की ही एक हस्तलिखित पुस्तक ''सूरिष्बर और सम्राट'' के अनुसार राजा बीरबल (मंत्री) द्वारा सूर्य के माहात्म्य और प्रताप के बताये जाने पर ही सम्राट सूर्य की आराधना करने को प्रेरित हुआ था। एक अन्य पुस्तक ''भानुचंद गणि चरित'' के अनुसार सम्राट अकबर ने एक ब्राह्मण से ''सूर्य सहस्र नाम'' पूछा, पर वह ठीक से बता नहीं सका। तब जैन विद्वान भानुचंद्र ने ''सूर्यसहस्र नाम'' स्तोत्र सुना दिया और तभी से प्रति सप्ताह रविवार को सम्राट उन जैन विद्वान के मुख से सूर्य सहस्रनाम सुनने लगा। उक्त सूर्य स्तोत्र की एक हस्तलिखित प्रति आगरा स्थित विजय धर्म सूरि ज्ञान मंदिर में सग्रहीत है। इस प्रति के अंत में अकबर को स्तोत्र सुनाने का उल्लेख इस प्रकार है.... ''अमु श्री सूर्य स्तोत्र सहस्रनाम स्तोत्र, प्रत्यहं, प्रणय पृथ्वीपति कोटी संघ हित पद कमल त्रिखण्डाधिपति दिल्ली पति पाति साहि श्री अकबर साहि जलालदीनः प्रत्यहं श्रणोति सो ति प्रतापवान भवतु।। कल्याणमस्तु।।'' इसके अतिरिक्त बदांयुनी लिखता है कि **अकबर ने हुक्म निकाला था**

कि सवेरे, दोपहर, शाम और मध्य रात्रि – इस तरह दिन में चार बार सूर्य की पूजा करनी चाहिये। सम्राट स्वयं सूर्य की ओर मुख कर सूर्य के एक सहस्र नामों का पाठ भक्तिपूर्वक करता था। इसके बाद अपने दोनों कानों को छूकर चक्राकार घूमता और अपनी अंगुलियों से कर्मपाली को पकड़ता था। जहांगीर भी सूर्य का सम्मान करता था तथा उसने अकबर द्वारा सम्मानित सौर संवत् को राजकीय कार्यों में काल-गणना के लिये प्रचलित कर रखा था। १५६७ ई. में सूर्य ग्रहण के अवसर पर अकबर ने स्थानेश्वर (कुरुक्षेत्र) की यात्रा की थी। बदांयुनी ने यह भी लिखा है कि सम्राट के आदेश पर ही शेख ख्वाज़ा की कब्र पर जालीदार झरोखा इस प्रकार और इसलिये लगाया गया था कि उस (कब्र) पर सूर्य का प्रकाश पड़े और शेख के सभी पाप धुल जाए। एक अहिंदू शासक द्वारा सूर्य देवता के प्रति हिंदू धार्मिक रीति द्वारा इतना विशिष्ट सम्मान तथा आस्था भारतीय सांस्कृतिक इतिहास में अपने आप में अद्वितीय है।

भारतीय साहित्य में सूर्य के धार्मिक तथा आध्यात्मिक माहात्म्य विषयक अथाह सामग्री भरी पड़ी है, किंतु इसके अतिरिक्त वैज्ञानिकों, ज्योतिषियों तथा चिकित्सकों ने भी सूर्य तत्व से अपने ज्ञान में अभिवृद्धि कर जन-कल्याण के नये आयामों का अन्वेषण किया। संसार का संपूर्ण भौतिक विकास सूर्य पर ही आधारित है, उसकी सत्ता के बिना पौधे नहीं उग सकते, वायु का शोधन नहीं हो सकता, जल की उपलब्धि नहीं हो सकती, प्राणियों में स्फूर्ति व नवचेतना का संचार नहीं हो सकता तथा मानव नीरोग नहीं रह सकता। सूर्य में निहित प्रबल रोगनाशक शक्ति से प्रेरित होकर ही प्रार्थना की गयी थी – "आरोग्यं भास्करादिच्छेन्मोक्षच्छेज्जनार्दनात्।" – (ऋग्वेद)। सूर्य-किरण-चिकित्सा पर देशी-विदेशी चिकित्सकों ने कई ग्रंथ लिखे हैं तथा कई असाध्य व अक्षय रोगों के चमत्कृत निदान ढूँढ़ निकाले हैं। अंग्रेजी में कथन है – "सन लाइट इज़ लाइफ एण्ड डार्कनेस इज़ डैथ" – (सूर्य-प्रकाश ही जीवन है और अंधकार ही मृत्यु है। अथर्ववेद में पाँव, जानु, श्रोनि, कंधा, मस्तक, कपाल तथा हृदय आदि के रोगों को उदीयमान सूर्य-रश्मियों द्वारा निरस्त करने का उल्लेख आता है – "रामचरितमानस" में गोस्वामी तुलसीदास लिखते हैं – "भानु कृसानु सर्ब रस खाहीं" वे आगे लिखते हैं – "समरथ के नहिं दोष गुसाई। रवि पावक सुर सरि की नाई।।" सूर्य द्वारा चर्म रोगों में सर्वाधिक वीभत्स और दुस्साध्य कुष्ठ रोग से मुक्ति पाने के कई उल्लेख प्राचीन साहित्यों में मिलते हैं। साम्ब पुराण में अपने ही पिता, श्रीकृष्ण तथा महर्षि दुर्वासा के शाप द्वारा भयंकर कोढ़ से पीड़ित साम्ब सूर्य की आराधना के प्रसाद स्वरूप ही पूर्णतया रोग मुक्त हो गये थे तथा उन्हें कंचन काया प्राप्त हुई थी। यह कथा अन्य पुराणों में भी कुछ परिवर्तित रूप में विद्यमान है। सातवीं शती ई. में सम्राट हर्षवर्द्धन के राज दरबार द्वारा सम्मानित कवि बाणभट्ट के साले व सुप्रसिद्ध कवि मयूर भट्ट ने अपनी ही पुत्री के शाप द्वारा कुष्ठ पीड़ित होकर सूर्योपासना द्वारा रोग से मुक्ति तथा अति सुंदर काया प्राप्त की थी। इसके साथ ही उन्होंने "सूर्य शतकम्" (सूर्य-स्तवन एवं महात्म्य के सौ श्लोकों का संग्रह) की एक उच्च कोटि की रचना की थी जो आज तक भी संस्कृत साहित्य की एक अमूल्य निधि मानी जाती है। भारत में कई स्थानों पर सूर्योपासना हेतु बालार्क (बालादित्य) के मंदिर बने हैं जहाँ प्रतिवर्ष हजारों चर्मरोगी स्वास्थ्य-लाभ हेतु जाते हैं, दतिया जिले में उन्नाव नामक स्थान पर बालाजी का सूर्य मंदिर है, जहाँ असाध्य कुष्ठ रोगियों को चमत्कारिक रूप से रोगमुक्ति प्राप्त हो जाती है। इसी प्रकार श्रीराम जन्मभूमि अयोध्या के निकट एक प्राचीन सूर्यकुण्ड में स्नान करने से सभी प्रकार के चर्म रोगों का विनाश हो जाता है।

प्राचीन काल में केवल सूर्य-किरणों तथा विशिष्ट सूर्य-आराधना पद्धति द्वारा गंभीर नेत्र-रोगों में अचूक रामबाण चिकित्सा की जाती थी। आराधना के अंतर्गत "चक्षुष्मती विद्या स्तोत्र" (अक्ष्युपनिषद्)

अथवा ''चाषुषी-विद्य स्तोत्र'' (चाक्षुषोपनिषद्) का जाप किया जाता है। सूर्य स्नान, सूर्य-नमस्कार तथा सूर्य-रश्मि-वर्ण पर आधारित प्राकृतिक चिकित्सा पद्धति से कई असाध्य रोगों का निदान ढूंढ़ा गया है। जब सभी अन्य औषधि असफल हो जाएँ तो भी रोगों को निराशा न होकर सूर्य की शरण में ही आना चाहिये। क्योंकि सच्चे हृदय से भक्तिपूर्वक भगवान सूर्य की उपासना मात्र से सभी रोगों से मुक्ति मिल जाती है – (''अस्योपासना मात्रेण सर्वरोगात् प्रभुच्यते'' – पद्मपुराण – सृ. खं. ७९/१७) तथा (''सूर्यो नीरोगतां दद्याद भक्तया यैः हि सः।'' – स्कन्द पुराण – २/३/१५)।

ज्योतिष तथा खगोलीय क्षेत्र में भी सूर्य का महत्वपूर्ण स्थान रहा है। नवग्रहों में सूर्य ग्रहराज कहे जाते हैं। ग्रहों की गति तथा उनकी दुनिया का वैज्ञानिक विवेचन भारतीय मनीषियों ने धार्मिक तथा ज्योतिष-ग्रंथों में सविस्तार किया है। किसी व्यक्ति विशेष के जीवन में प्रत्येक ग्रह की गति व स्थिति का निश्चित प्रभाव होता है। सूर्य तथा अन्य ग्रह एक विशेष स्थिति में संयोग करके व्यक्ति विशेष को उच्चतम सम्मान दिलाते हैं तथा राजपद पर सुशोभित कर देते हैं और प्रतिकूल परिस्थिति में वे उसे राजसिंहासन से नीचे पटककर श्रीहीन कर डालते हैं – ''ग्र हा राज्यं प्रयच्छन्ति ग्रहा राज्यं हरन्ति च। ग्र हैस्तु व्यापितं सर्व जगदेतच्चराचरम्।'' ग्रहों की गति में सर्वाधिक महत्वपूर्ण, घटना है ''सूर्यग्रहण''। प्राचीन काल में महर्षि अत्रि तथा मध्यकाल में आचार्य भास्कराचार्य ने सूर्यग्रहण का विषद् विवेचन प्रस्तुत किया था। ''सिद्धांतशिरोमणि; ''सूर्य सिद्धांत'' तथा ''अत्रिख्याति'' ग्रंथों में इस विषय पर प्रचुर सामग्री है जो अनुसंधानकर्ताओं के लिये प्रेरक सिद्ध हो सकती है। पुराणों तथा अन्य धार्मिक ग्रंथों में प्रशस्त विधान के अनुसार सूर्यग्रहण के अवसर पर कुरुक्षेत्र (सम्प्रति थानेश्वर-हरियाणा प्रदेश) तथा पुष्कर (अजमेर, राजस्थान) में स्थित सरोवर में लाखों श्रद्धालुओं द्वारा स्नान करना; निर्बलों व शूद्रों को सामर्थ्यानुसार अन्न, धन व वस्त्रादि दान करने की परंपरा सदियों से चलती आयी है। सूर्यग्रहण में महानंदी (गंगा), यमुना, सरस्वती आदि नदियों में या किसी सूर्य प्रतिमा के निकट मंत्र जपने से वह सिद्ध हो जाता है – (''सूर्य ग्रहणे महानद्यां ... सिद्ध मंत्रो भवति।'' – गणपत्युपनिषद्, मंत्र-८)। इसी कारण अनेक साधक सूर्यग्रहण के विशिष्ट अवसर की प्रतीक्षा किया करते हैं तथा इन नदियों के तट पर स्थित तीर्थ स्थलों पर लाखों श्रद्धालु इस दिन स्नान करते हैं, मेले जुड़ जाते हैं। जो स्थान इन नदियों से बहुत-बहुत दूर स्थित है, वहाँ सूर्य-मंदिरों के निकट सूर्य-कुण्डों का निर्माण किया गया है।

तंत्र तथा योग साधना में भी सूर्य ने साधवों को प्रभावित किया है। वस्तुत सूर्य और नाड़ी के बीच अटूट संबंध है। सूर्य संयमन, सूर्य भदेन प्राणायाम, सूर्य चक्र जागरण तथा सूर्य त्राटक योग द्वारा साधक असीम परा (शक्ति) तथा अति संवेदनशीलता (सुपर सेंस्टिविटि) प्राप्त कर लेता है। यहाँ स्मरणीय है कि लंकाधिपति रावण द्वारा बलात् रखे जाने पर जगन्माता सीता लंका में सूर्य पर त्राटक योग द्वारा ही दीर्घकाल तक तपस्या करती रही थीं। सीता जी को इस योग का पूर्ण ज्ञान था, इस तथ्य की अनुभूति महाकवि कालिदास द्वारा भी प्रस्तुत की गयी है – ''साहं तपः सूर्यनिविष्टदृष्टिरुर्ध्वं प्रसूतेश्चरितुंयतिष्ये। ... विप्रयोग।। ''– रघुवंशम् – १४/६६) अर्थात् पुत्र को जनने के बाद मैं सूर्य में दृष्टि बाँधकर ऐसी तपस्या करेंगी कि अगले जन्म में भी आप (राम) ही मेरे पति हों। तंत्र तथा योग के शास्त्रीय सिद्धांत तथा अभ्यास क्षेत्र में अधिक विस्तृत विवेचनं न करते हुए, केवल यही कहना पर्याप्त होगा कि सूर्य में संयम करने से भुवन (संपूर्ण लोक) का ज्ञान प्राप्त हो जाता है – (भुवन ज्ञानं सूर्ये संयमात्।'' – वि. पाद-२६, पांतजल-योग दर्शन)। तंत्र तथा योग में सूर्य के महत्व का विवेचन ''प्राणतोषिणीतंत्र'' तथा ''योगशिखोपनिषद्'' में सविस्तार हुआ है।

जैन धार्मिक परंपराओं में भी सूर्य को विशिष्ट सम्मान दिया गया है। यद्यपि जैन संप्रदाय

यथार्थतः सूर्योपासक नहीं है। जैन धर्म के महत्वपूर्ण शास्त्रों में एक आगमग्रंथ ''सूर्यप्रज्ञप्ति'' है जिसमें सूर्य संबंधी इतनी सूचनाएँ भरी पड़ी हैं कि उनके आधार पर ज्योतिष के क्षेत्र में ही कई विधान अनुसंधान कर सकते हैं। सूर्य को अनुपस्थिति में जैन मुनि भाजन भी नहीं करते हैं इस तथ्य की अभिव्यक्ति ''आगमवाणी'' में इस प्रकार हुई है – ''अत्थंगयाम्नि आइच्चे पुरथ्या य अणुग्गए। आहारंमइयं सव्वं मणसा वि न पत्थए।।'' तात्पर्य यह है कि सूर्यास्त से सूर्योदय तक मुनि किसी प्रकार के आहार की मन से भी इच्छा न करे। केवल सूर्योदय से सूर्यास्त तक के काल में ही मुनि भोजन जल आदि ग्रहण करने का संकल्प (विचार या इच्छा कर सकता है – ''उग्गएसूरे अणत्थमियसंकप्पे।'' इसी परंपरा को जैन संप्रदाय में प्रत्येक व्यक्ति ने अपना लिया जो आज भी विद्यमान है। जैन धर्म में प्रत्याख्यान की परंपरा में भी सूर्य को साक्षी रूप में माना जाता है। जैन शास्त्रों में एक विशेष शक्ति ''तैजसलब्धि'' की चर्चा भी बहुधा हुई है जिसे प्राप्त कर साधक अनेक चमत्कार दिखा सकता है। इस शक्ति को प्राप्त करने के लिये निरंतर छः मास तक साधक द्वारा सूर्य की ओर मुख करके दोनों हाथ फैलाकर आताप लेने का विधान है।

भगवान मरीचि माली की महत्ता का प्रतिपादन भारतीय वाड्मय की वह अमूल्य थाती है, जिसका आवश्यकतानुसार उपयोग कर भारतीय मेधा ने स्वयं को कृतकृत्य करने का प्रयास कितने ही युगों से किया है। वैदिक, पौराणिक तथा अन्य साहित्यों ने सूर्योपासना की अनेक विधियाँ तथा स्तुतियाँ समय-समय पर प्रशस्त की हैं। सर्वाधिक प्रसिद्ध ''गायत्री मंत्र'' वेदों की ही देन है, जिसे वेदों की माता भी कहा जाता है। कालांतर में मंत्रों व स्तुतियों को सीमित कर, आठ अक्षरों से बने मंत्र – ॐ घृणि सूर्यः आदित्योम्'' को भी प्रशस्त किया गया किंतु सरल हृदय तथा अशिक्षित लोक समाज स्तुतियों के शाब्दिक जाल तथा मंत्रों की दुरूहता, जटिलता तथ उच्चारण आदि से दूर रहकर ही सूर्य को अर्घ्य दान, नेत्र मूंद कर सूर्य भगवान का ध्यान तथा पुनः शीष झुका कर नमन, केवल इतना ही करके वह सूर्योपासना को पूर्ण समझता है तथा अपने ईष्ट देव की कृपा की अपेक्षा कर लेता है। अपने घर की भित्ति पर सातिया (स्वस्तिक) अंकित कर सूर्य को वहीं साकार कर लेता है; उस सतिये पर हल्दी व रोली के छीटे लगाये जाते हैं, पूजा की जाती है उसकी तथा उसकी को भास्कर समझकर, सभी उसके सम्मुख नतमस्तक हो जाते हैं। **सुहागिन महिलाएँ पुत्र प्राप्ति के लिये रविवार तथा शुक्ल पक्ष में कार्तिक मास की छठी तिथि (सूरजछठ) को उपवास रखती हैं, सूरज की कथाएं बड़ी बूढ़ी महिलाओं के मुख से सुनती हैं, सतिये को पूजकर उस पर जल चढ़ाती हैं, घर में बने पकवान द्वारा ही भास्कर का भोग लगाती हैं, शेष भोग को ही सूर्य-प्रसाद मानकर उसी को ग्रहण कर उपवास तोड़ती हैं।** पुत्र जन्म होने तक यह क्रम चलता रहता है। सूर्योदय तथा सूर्यास्त होते ही मंदिरों में शंख तथा घंटियों के स्वर गूँज उठते हैं। नगर हो या ग्राम, सभी जन भोर होते ही निद्रा, आलस्य तथा अकर्मण्यता को त्यागकर अपने अपने कार्य आरंभ कर देते हैं, जिसे देख ऐसा प्रतीत होता है, मानो सूर्य देव रात्रि के अंधकार को हटाते हुए सारे विश्व को ''कर्म'' की ओर प्रेरित करते हैं, तभी तो ऋग्वेद में कहा गया है – ''सुवति प्रेरयति कर्मणि लोकम्''।

संपूर्ण जगत के कल्याण की सामर्थ्य जिस शक्ति पुँज में है उसे कौन नहीं पूजना चाहेगा। जो नहीं पूजते, सूर्य उनसे रुष्ट भी नहीं होते हैं, वरन् उनको भी समान रूप से ही सुख प्रदान करते हैं। इसी कारण सर्वाधिक पूजित देवता यदि कोई है तो वह केवल सूर्य ही है जिसकी आराधना के लिये किसी प्रतिमा या देवालय की आवश्यकता नहीं वरन् जिस स्थान पर इनकी एक किरण मात्र का पदार्पण हो जाता है वहीं पूजा स्थल बन जाता है, किंचित दृष्टि ऊपर उठते ही भगवान भास्कर के उन्मुक्त

दर्शन हो जाते हैं। वे तनिक भी अभिमानी नहीं है, इतने सरल हैं कि धरती पर, जल से भरी छोटी-सी थाली में भी उतर आते हैं। सूर्य को अपना ईष्ट देवता और एकेश्वर मानने वाले व्यक्ति "सौर" कहलाते हैं, सौर सांप्रदायिक परंपरा के अंतर्गत ये लोग अपने कण्ठ में स्फटिक माल,मस्तक पर रक्त चंदन का तिलक तथा लाल फूलों की माला भी धारण करते हैं, रविवार व संक्रांति के दिन भोजन में नमक का प्रयोग नहीं करते तथा सूर्य-दर्शन किये बिना जल ग्रहण नहीं करते।

सूर्य-प्रतीकों का प्रचलन सिंधु घाटी सभ्यता के पश्चात् प्रथम शती ई. पू. तक भारतीय संस्कृति में विद्यमान था, जिसकी अनुभूति प्रथम शती ई. पू. तक के प्राचीन सिक्कों के अध्ययन से हो जाती है। इन सिक्कों पर उक्त प्रतीकों से उद्‌भूत विविध रूप-आकारों को उत्कीर्ण किया गया है। मौर्य, सुंग, पाण्ड्य, कार्ड, क्षत्रप, तोरमान तथा अन्य राजवंशों के असंख्य पंच मार्क्ड सिक्कों पर सूर्य के प्राकृतिक रूप को स्पष्ट व निश्चित रूप से अंकित किया गया है; ऐरण (म. प्र.) से प्राप्त तीसरी शती ई. पू. के सिक्कों पर कमल उत्कीर्ण है; पांचाल राज्य के मित्र शासकों (२०० वर्ष ई. पू.-१०० वर्ष ई. पू.) द्वारा प्रचलित सिक्कों पर वेदिका समान पीठिका पर सूर्य, अग्निकुण्ड के समीप पीठिका पर सूर्य तथा आठ ग्रहों से घिरे हुए सूर्य को उत्कीर्ण किया गया है; परवर्ती काल में भीटा, बसाढ़, सुनेत तथा राजघाट (उ. प्र.) में हुए उत्खनन से प्राप्त गुप्त शासकों के सिक्कों पर भी अग्निकुण्ड के समीप पीठिका पर सूर्य को प्रदर्शित किया गया है। अवन्ति (उज्जैन) से प्राप्त प्रथम शती ई. पू. के कई सिक्कों के पर एक साथ स्वस्तिक, बैल और चक्र के निरीक्षण से ईसा पूर्व काल तक सूर्य प्रतीकों के प्रचलन की निश्चित परंपरा की अनुभूति हो जाती है। सिक्कों के विस्तृत विवरण हेतु द्रष्टव्य-डा. परमेश्वरीलाल गुप्त- "कॉइन्स" तथा एलैन – कैटलॉग ऑफ इंडियन कॉइन्स इन ब्रिटिश म्यूज़ियम"। मौर्य कालीन सम्राट अशोक के बनवाये स्तम्भों पर वृष (सिंह) तथा चक्र इन्हीं प्रतीकों से प्रेरित थे। जैन तीर्थकर ऋषभनाथ का प्रतीक वृषभ तथा सुपार्श्वनाथ का प्रतीक स्वस्तिक ही था। श्रीराम, कृष्ण, विष्णु, बुद्ध तथा महावीर के दिव्य कायिम लक्षणों में सूर्य तथा स्वस्तिक को भी स्थान दिया गया है। मौर्य से गुप्त काल तक लोक समाज में आठ मांगलिक द्रव्यों की पूजा होती थी। जिनमें स्वस्तिक भी एक था। मथुरा क्षेत्र (उ. प्र.) में उत्खनन से प्राप्त दूसरी शती ई. काल के कई "आयाम पट्ट" तथा अन्य सामग्री पर अत्यंग कलात्मक ढंग से बाके रूप वाली "स्वस्तिक" आकृतियों को उत्कीर्ण किया गया है, यह पुरातत्व सामग्री राजकीय संग्रहालय-लखनऊ में संग्रहीत है, विस्तृत विवरण हेतु द्रष्टव्य – "मेरा ही लेख – "कला तथा संस्कृति में जैन अष्ट मंगल" – जैन सिद्धांत भास्कर-संख्या-२/१९८०। सूर्य-प्रतीकों को निरंतर प्राचीन तथा नवीन अनेक राजमहलों, दुर्गों, मंदिरों, राज सिंहासनों, राजकीय ध्वज-पताका, मुद्राओं तथा अन्य सामग्री पर अंकित किया गया है।

प्रथम शती ई. पू. के आरंभ होते ही सूर्य की मानवीय रूप में अभिकल्पना के नवीन प्रवाह ने भारतीय संस्कृति में भाव तथा सौंदर्य का अप्रतिम समावेश का शुभारंभ किया। मानवीय रूपधारी सूर्य-प्रतिमाओं में प्राचीनतम उपलब्धि-बोधमया में प्रथम शती ई. पू. कालीन प्रतिमा उल्लेखनीय है जिसमें चार ऋतुओं के प्रतीक चार घोड़ों द्वारा खींचे जा रहे, एक वर्ष के प्रतीक एक पहिये वाले रथ पर सूर्य आरूढ़ हैं, रथ के दोनों पार्श्व में एक-एक नारी-आकृति, प्रातः व सायं की प्रतीक ऊषा व प्रत्यूषा अंधकार को नष्ट करने के लिये अपने धनुष को प्रत्यंचा पर चढ़ाए हुए हैं तथा अंधकार के प्रतीक दैत्यकाय आकृति को रथ द्वारा कुचलते हुए उत्कीर्ण किया गया है। यह कलाकृति यद्यपि बौद्ध स्तूप की वेदिका पर स्थापित है किंतु इसका मूल भाव 'ऋग्वेद की उन पंक्तियों से प्रेरित है जिनमें सूर्य के रथ को १, ३, ४ अथवा ७ घोड़ों द्वारा खींचे जाने का संदर्भ है। लगभग इसी काल की ही एक दूसरी कृति

भाजा (महाराष्ट्र) की बौद्ध गुफाओं में अवशिष्ट है जो उपर्युक्त बोधगया वाली प्रतिमा से साम्य रखती है जिसे सर्वप्रथम जॉन बरगेस ने पहचाना था, इसमें ऊषा व प्रत्यूषा क्रमशः छत्र तथा चँवर लिये हुए हैं। कालांतर में प्रथम शती ई. में खंडगिरी (उड़ीसा) की अनंतगुम्फा में भी इसी भाव को अभिव्यक्त करती हुई एक शिला पट्टिका है जिस पर सूर्य को दांये हाथ में कमल तथा बांये हाथ से चारों घोड़ों की लगाम पकड़े दिखाया गया है। ये गुफाएँ जैन धर्म से संबंधित हैं। दूसरी शती ई. की एक अन्य कलाकृति कानपुर (उ. प्र.) में लाला भगत स्थान से प्राप्त हुई है जो एक शिला स्तंभ की सतह पर उभारी गयी है तथा भाजा व बोधगया वाली प्रतिमा से भाव-साम्य रखती है, कंनिघम् के मतानुसार इस प्रतिमा का निर्माण जिस स्तम्भ पर हुआ है, वह उन सूर्यध्वजों में से एक है जिनकी परंपरा उस काल में ''गरुड़ध्वज' की भांति विद्यमान थी (एलेक्ज़ेन्डर कनिंघम – ''आर्कियोलौजिकल सर्वे ऑफ इंडिया'' एबुअल रिपोर्ट – १९२९-३०) इसी शती में निर्मित एक सूर्य स्तंभ का अवशिष्ठ अधोभाग नागार्जुन कोण्ड (आंध्र प्र.) से प्राप्त हुआ है, इस पर प्रतीक रूप में सूर्य को उत्कीर्ण किया गया है। उक्त प्रतिमाओं के माध्यम से प्रतीत होता है कि सूर्योपासना न केवल ब्राह्मण धर्म में, वरन् बौद्ध तथा जैन संप्रदायों में भी प्रचलित थी। इन प्रतिमाओं के शिल्प पर शक तथा यूनानी प्रभाव मिलता है। यहाँ स्मरणीय है कि सूर्य पूजा का प्रचार उस समय एशिया माइबर से रोम तक था, यूनान का सम्राट सिकंदर, स्वयं सूर्य का उपासक था। शक द्वीप ईरान में था, जहाँ ''मग'' नामक जाति के सूर्योपासक रहते थे। ईरान में मिथ्र (मिहिर) धर्म के अनुसार मिहिर देवता के दो पार्श्वचर थे– एक रश्न और दूसरा नरोफ, जो रूपांतरित होकर भारतीय सूर्योपासना में राज्ञी और निक्षुमा कहलाये थे तथा भारतीय साहित्य में सूर्य का पर्यायवाची ''मित्र'' तथा ईरानी मिथ्र, मिसिर व मिहिर समानार्थक हैं।

भारतीय कला तथा संस्कृति के क्षेत्र में विदेशी तत्वों के आयात का एक प्रवाह (यूनानी) सिकन्दर के आगमन के साथ हुआ तो दूसरा प्रवाह (शक) कुषाण शासकों के साथ आया था। सूर्य प्रतिमा लक्षण-अध्ययन में इन विदेशी तत्वों का विशिष्ट महत्व है।

शकों के आगमन के साथ ही सूर्य के विदेशी रूप विधान से भारत में अनेक प्रतिमाओं का निर्माण हुआ जो पूरे कुषाण काल तथा उसके बाद भी होता रहा। सिक्कों पर भी सूर्य के मानवीय रूप का प्रचलन कनिष्क के शासन काल में ही हुआ था जिन पर यूनान के सूर्य देवता हेलियोस तथा मिथर की प्रतिमाओं का प्रभाव था। इस विदेशी विधान के अंतर्गत सूर्य को पैरों में घुटने तक के जूते (गम बूट्स), बिरजिस, शिरस्त्राण (हेलमट), भारी चोगा, कमर में पेटी, हाथ में भारी खड्ग लिये हुए तथा सीधे खड़े हुए दिखाया गया था। यह विधान उदीच्य वेश कहलाता है। इन प्रतिमाओं में शक्ति, पौरुष, दृढ़ता तथा स्थिरता के भाव की अनुभूति होती है। ऐसी प्रतिमाएँ प्रायः उत्तरी भारत में ही अधिक मिली हैं तथा इनके निर्माण केंद्र प्रधानतः पेशावर (पश्चिमी पाकिस्तान), तक्षशिला में सलेटी पत्थर से बनी रथारूढ़ सूर्य प्रतिमा (इंडियन म्यूज़ियम-कलकत्ता-संग्रह सं. जी-५८); अफगानिस्तान में खैर खनेह नामक स्थान से प्राप्त, सफेद संगमर्मर से निर्मित रथ पर बैठे हुए सूर्य की प्रतिमा (चौथी शती ई. में निर्मित तथा काबुल संग्रहालय में संग्रहीत, विस्तृत विवरण – ''जॉरनल ऑफ इंडियन सोसाइटी ऑफ ओरियंटल आर्ट'' – बाल्यूम-१६ प्लेट-१४) तथा मथुरा से प्राप्त दो प्रतिमाएँ जिनके एक हाथ में खड्ग तथा दूसरे में कमल है, सिर पर चपटी पगड़ी सरीखा शिरस्त्राण है, सिर के पीछे परिकर (हालो) के रूप में सौर तश्तरी है तथा बैठने की मुद्रा कुषाण सम्राट जैसी है (मथुरा संग्रहालय-संग्रह सं. -डी. ४६ तथा २६९ विस्तृत विवरण हेतु द्रष्टव्य-वी.एस. अग्रवाल – ''ए कैटलॉग ऑफ ब्राह्मनिकल इमेजेस इन मथुरा'' – पृष्ठ १६७)। इस शैली की मूर्तियों का निर्माण प्रथम से चौथी शती ई. तक होता रहा, इनमें एक पहिये वाले रथ के साथ दो या चार घोड़ों को दिखाया गया है, कालांतर में घोड़ों

की संख्या सात हो गयी जो सूर्य-रश्मि के सात रंगों के द्योतक हैं।

गुप्त काल (चौथी से छठी ई. तक) में भारतीय कला तथा संस्कृति ने अपना स्वर्ण युग देखा था, प्रत्येक कलाकृति अपने आप में ऐश्वर्य, गौरवपूर्ण सौंदर्य तथा दिव्यता की अद्वितीय रचना बन उठती थी; ललित साहित्य व शिल्प शास्त्रों में प्रशस्त कल्पित देवी देवताओं के रूप वैविध्य को अनेक कलाकार नयनाभिरामरूप-शिल्प में ढालकर भारत की धरती पर अवतरित होने को बाध्य कर रहे थे। यद्यपि इस काल में अन्य सांप्रदायिक देवी-देवताओं की प्राप्त प्रतिमाओं की संख्या की तुलना में सूर्य-प्रतिमाओं की संख्या बहुत कम है किंतु इसका तात्पर्य यह कदापि नहीं कि सौरोपासना का प्रवाह मंद हो चला था वरन् वह शनैः शनैः अधिक परिपुष्ठ तथा विस्तृत होने लगा था। अनेक प्रतिमाएँ तथा देवालय समय-समय पर अहिंदुओं द्वारा ध्वंस होने तथा अन्वेषण न होने के फलस्वरूप अज्ञात ही रह गये। कलाकारों ने सूर्य प्रतिमा के रूप मंडन में नवीन तथा विविध आयामों का समावेश किया। मार्तण्ड के नये नाम से सूर्य को संबोधित किया जाने लगा; पंच देवोपासना तथा द्वादशादित्योपासना का समाज में प्रसार हुआ। कलाकारों ने सूर्य की कुषाण कालीन प्रतिमा शैली से विदेशी आवरण उतार कर सूर्य प्रतिमाओं को भारतीयता के साँचे में ढाल दिया था; रूप-प्रतिरूप, आकार-प्रकार, भाव-भंगिमा, वस्त्र-शस्त्र, अलंकरण-मंडन, पुष्प-प्रतीक, सौंदर्य-ऐश्वर्य, दिव्य-भव्य, प्रभामंडल, एकाकी सूर्य, सौर परिवार व सेवकगण– सभी कुछ अपने ही देश की धरती से प्रसूत उपादानों से सँवारा था अपने सूर्य देवता को। गुप्त कालीन कई महत्वपूर्ण प्रतिमाएँ लखनऊ तथा मथुरा स्थित पुरातात्विक संग्रहालयों में दर्शनीय हैं (मथुरा संग्रहालय – संग्रह सं. – ९३०, १२४, १२२१, २३१४, २५०७, १००७ व ३८८४ तथा लखनऊ संग्रहालय – संग्रह सं. २२३ ए) गुप्त काल के पश्चात मध्यकाल में लगभग चौदहवीं शती ई. तक गुर्जर प्रतिहार, परमार, मैत्रक, सैन्द्रक, चालुक्य, चन्देल, पाल, पल्लव, कलचुरि, राष्ट्रकूट, चौहान, चाहमान, सोलंकी, गंग, गहड़वाल, सेन तथा अन्य शासकों के आश्रय में सूर्य की ऐसी नयनाभिराम प्रतिमाओं का विशाल निर्माण हुआ कि जिनको देख ऐसा प्रतीत होता है कि यदि एक बार स्वयं सूर्य देव धरती पर अवतरित हो जायँ तो भी उनके चाक्षुष गुणों का पलड़ा इनकी तुलना में कुछ हल्का रह जायेगा। गुप्त कालीन शिल्पियों द्वारा प्रदत्त संस्कृति, सौंदर्य, भाव तथा शिल्प की उत्कृष्टता में मध्यकालीन शिल्पियों ने नवीनता, रूप-वैविध्य, चारुत्व, ऐहिक सौंदर्यानुभूति, संपन्नता तथा अनुकूल परिवेश का योगदान कर भारतीय संस्कृति को विश्व में सर्वोच्च स्थान पर स्थापित कर दिया। समाज में वैष्णव, शैव, शाक्त और गणपत्य संप्रदायों का साहचर्य होते हुए भी धार्मिक सहिष्णुता तथा कल्पना के परिपाक से ब्रह्मा, विष्णु, महेश तथा सूर्य के मिश्रित रूपों से प्रसूत द्विमुखी, त्रिमुखी तथा चतुर्मुखी सूर्य-प्रतिमाओं का नवनिर्माण हुआ। सूर्य के साथ सेवक-गणों, पत्नियों, शेष ग्यारह आदित्यों, गणेश, अष्ठमात्रकाओं, कार्तिकेय, कीर्तिमुख, छः ॠतुओं के अतिरिक्त बारह राशियों, नौ ग्रहों तथा अन्य आलंकारिक आकृतियों का निर्माण हुआ। शिल्पियों को निर्देश हेतु कई शिल्प वाङ्मयों की रचना हुई, यथा — अंशुमद्भदागमः सुप्रभेदागमः, बृहत्संहिता, शिल्परत्नम्, विश्वकर्माशास्त्राम्, अग्निपुराणम्, विष्णुधर्मोत्तर पुराणम्, अपाजितपृच्छा, मत्स्यपुराणम्, पूर्वकारणागमः तथा रूपमंडन आदि। विपुल पुरातत्व सामग्री से प्रमाणित होता है कि इस काम में सूर्य पूजा का व्यापक तथा निष्ठापूर्ण प्रचलन कश्मीर, राजस्थान, उत्तरप्रदेश, बिहार, बंगाल, उड़ीसा, मध्यप्रदेश तथा गुजरात तक विस्तृत था। दक्षिणी भारत में यद्यपि सूर्य-पूजा की व्यापकता उत्तरी भारत की अपेक्षा कुछ कम थी किंतु ७ वीं शती ई. कालीन गुडिमल्लम् स्थित परशुरामेश्वर मंदिर, महाबलिपुरम्, त्रिचिनापल्ली की गुफा, कुम्भकोणम् के मंदिर, बादामी, एलोरा (८वीं शती), दुर्गा मंदिर (आइहोल, जि. बीजापुर), पत्तडकल के लाड़खान और पापनाथ मंदिर, सूर्यनारकोइल (जि. तंजौर) का

कलोत्तुंग चोल मार्तण्डालय (११वीं शती) तथा आलमपुर (आंध्रप्रदेश) के मंदिर से प्राप्त सूर्य प्रतिमाओं के माध्यम से दक्षिणी भारत में भी सूर्य के प्रति लोक-आस्था की अनुभूति हो जाती है। भारत भूमि पर मध्यकाल के अंत तक सहस्रों, एक से बढ़कर एक, सुंदर प्रतिमाएँ सौर बन चुकी थीं, जिनमें से चार प्रतिमाएँ सर्वोत्कृष्ट मानी गयी है। – प्रथम है, कोणार्क से प्राप्त सूर्य-मूर्ति जो संप्रति उड़ीसा स्टेट म्यूज़ियम भुवनेश्वर में सुशोभित है। दूसरी कलाकृति सुखबासपुर (ढाका) से प्राप्त हुई थी तथा आज यह ढाका म्यूज़ियम (ढाका, बंगलादेश) में सुरक्षित है, तीसरी सूर्य प्रतिमा मोधेरा (गुजरात) के सूर्य मंदिर से प्राप्त हुई है, तथा चौथी सूर्य प्रतिमा बंगाल में संथाल परगना क्षेत्र में राजमहल पहाड़ियों से उत्खनित कर प्राप्त की गयी थी तथा संप्रति विक्टोरिया एंड अलबर्ट म्यूज़ियम (लंदन) को गौरवान्वित कर रही है। उक्त चारों प्रतिमाएँ उत्तर मध्यकाल (११ वीं-१३ वीं शती ई.) में निर्मित हुई थीं। सूर्य संबंधी अनेक उत्कृष्ट कला-कृतियाँ देश-विदेश के अनेक संग्रहालयों में निर्मित हुई थीं। □

पुस्तकें

विराट कालफलक पर 'करवट'

डॉ. गंगाप्रसाद विमल

हिंदी उपन्यास अपनी यात्रा के सौ वर्ष पूरे कर चुका है। आरंभ के अविश्वसनीय, प्रकल्पनात्मक उपन्यासों से आज के बेहद जटिल माहौल को सांकेतिक पद्धति से व्यक्त करने वाले उपन्यासों के बीच हम जीवन के विभिन्न परिवर्तनों को आँक सकते हैं। प्रौढ़त्व के जिस शिखर पर उपन्यास पहुँचा है उसमें आसानी से उपन्यास के कौशल में जो परिवर्तन हुए हैं उसकी झाँकी भी देख सकते हैं। इस संदर्भ में निर्विवाद रूप से कहा जा सकता है कि नागर जी का नवीनतम उपन्यास ''करवट'' हिंदी उपन्यास धारा की उस शिखरवर्ती प्रौढ़ता का प्रमाण है जिसके कल्पनापूर्ण अभाव पर बहुतेरे लोग टिप्पणियाँ करते रहते हैं। यह संदेह से परे है कि हिंदी के उपन्यास एक शताब्दी के भारतीय जीवन को उसकी समग्रता में अंकित करते रहे हैं। उपन्यास की इस दायित्वपूर्ण धारा में प्रेमचंद, राहुल सांकृत्यायन, जैनेंद्र, रांगेय राघव, हजारीप्रसाद द्विवेदी, इलाचंद्र जोशी, यशपाल, अज्ञेय, फणीश्वरनाथ 'रेणु', राजेंद्र यादव, कमलेश्वर, मोहन राकेश, उपेंद्रनाथ अश्क, मन्नू भंडारी, मन्मथनाथ गुप्त, राजेंद्र अवस्थी, जगदंबा प्रसाद दीक्षित, रामदरश मिश्र, निर्मल वर्मा, विष्णु प्रभाकर, शानी, रमेश बक्षी, श्रीलाल शुक्ल, राही मासूम रज़ा, नरेश मेहता से लेकर न जाने कितने नाम अपना योगदान दे चुके हैं। इससे स्पष्ट हो जाता है कि हिंदी उपन्यास वैश्विक धरातल पर उपन्यास रचना के पेचीदे, हताशापूर्ण, संघर्षमय मार्ग पर चलकर अपनी पहचान के एक पड़ाव पर आ पहुँचा है। आज बहुधा यह ध्वनि कई हलकों से सुनाई पड़ती है कि हिंदी उपन्यास को अपना मुहावरा नहीं मिला है। यह आरोप ''अरण्यरोदन'' के अतिरिक्त कुछ भी नहीं है। उपन्यास और बड़े काव्य की गरिमा के अनुरूप, अपनी विशिष्ट पहचान बनाने का काम उपन्यास ने किया है। फलत: एक बड़े फलक पर भारत के वैविध्यपूर्ण वास्तव का चित्रण संभव हुआ। गरज़ यह कि एक परंपरा से चले आ रहे कथा लेखन में कुछ न कुछ नया जोड़ने का काम प्रत्येक उपन्यासकार ने किया है। तथापि इस अर्थ में **अमृतलाल नागर** का नाम संभवत: एकदम अकेला है, जिनके उपन्यासों में एक ''क्लासिकीय'' गरिमा से मंडित, जीवन के विराट, व्यापक वस्तुपरक को चित्रांकित किया जाता है। 'करवट' में नागर जी ने अपने पूर्व उपन्यासों की कथा, कथाशिल्प और 'सृजन' के दूसरे पक्षों में क्या नया अन्वेषित किया होगा- यह

तो सहज जिज्ञासा है ही परंतु क्या लेखन की किसी नयी प्रयोजनीयता, किसी नयी विमा (डायमेंशन) की भी खोज है – यह एक ऐसा प्रश्न है, ऐसी जिज्ञासा है (जिसमें अनेक प्रश्नों की भावपरक उपस्थिति केवल प्रश्नाकूलता के एकत्वपूर्ण अहसास में होती है) जिसका उत्तर कृति में ही खोजा जा सकता है।

'करवट' को सहसा ऐतिहासिक उपन्यास मानने के पीछे क्या तर्क हो सकता है? यही कि यह उपन्यास पिछली सदी का उपन्यास है? क्या हर उपन्यास या कथा 'व्यतीत' की सामग्री पर आधारित नहीं होती? इस दृष्टि से तो समग्र कथा लेखन ऐतिहासिक लेखन है। **इतिहास की सामग्री को जब आधार बनाकर कोई रचना की जाती है तो वह ऐतिहासिक उपन्यास कहा जा सकता है।** एक ऐसी कृति जो तथ्यों के अनुरूप ही अपने लक्ष्य को स्पष्ट करती हो और पूर्वज्ञात निष्कर्षों का ही समर्थन करती हो, उसे तो इतिहास की आवृति के रूप में ही देखा जा सकता है। परंतु जो कृति इतिहास के अंधेरे में किसी मानव सत्य को उद्घाटित करती हो उसे न तो ऐतिहासिक कहा जा सकता है न काल्पनिक। इतिहास की अंधी गुफाओं में से एक सार्थक सत्य चुनना काफी कठिन काम है। कभी-कभी बहुत डरावना काम भी है। यह एक ऐसा शोध है जिसमें हम अपने अतीत के पिछड़ेपन, सामाजिक मान्यताओं की कीमत और अमानवीय आचरण विधि, अविकसित मानस की तस्वीर तो पाते हैं साथ ही साथ देखते हैं कि निरर्थक-सी कर देने वाली सामाजिक मान्यताओं की बीमार और अमानवीय आचरण विधि कितनी क्रूरता से मनुष्य को प्रभावित और संचालित करती है। ऐतिहासिक कृतियाँ बहुधा उपलब्ध तथ्यों के आलोक में ही वह सीमित सा सत्य सामने रखती हैं जो एक बड़े एकांश का भाग होता है इसकी उपेक्षा अनुसंधान की वृति से किसी महीन, अव्याख्यायित सत्य को अनावृत कर भाषा में रूपांतरित करने का काम वास्तव में एक छोटी-सी आँख से बड़ी, विराट दुनिया की प्रतीति देने वाला काम है।

'करवट' की कथा लखनऊ की लक्खी सराय से आरंभ होती है। बस एक विवरण, या कथा संकेत ही उसके समय का निर्धारण करता है। और वह संकेत है **हैदरीखां** का अस्तबल। अस्तबल की उपस्थिति, उसके रख-रखाव के विवरण, उसकी आवश्यकता आदि कुछ ऐसे पक्ष हैं जो स्पष्ट कर देते हैं कि हम किस समय के देश-प्रदेश की चर्चा कर रहे हैं। लखनऊ में आज ये जगहें हों या न हों – पाठक के लिए महत्व की बात यह नहीं है। महत्व है उस ऐतिहासिक परिदृश्य का जो सांकेतिकता से उभरता है। विवरणों तथा वक्तव्यों से उभरने वाला सत्य उतना जीवंत और अर्थवान नहीं होता जितना कि संक्षिप्त विवरणों के संकेतों से उभरने वाला 'सत्य' होता है। कहना पड़ेगा 'सृजनात्मकता' का संवेद्य रूप एक रचाव है जो **अमृतलाल नागर** के समस्त लेखन की विशेषता है। **'करवट'** के कथारंभ में ही हमें उस संवेद्य सांकेतिकता का परिबोध हो जाता है।

उन्नीसवीं शताब्दी के भारत के अवशेष देखकर हम उस काल के जीवंत रूप की केवल कल्पना ही कर सकते हैं। नागर जी ने 'करवट' में हिंदुस्तान को जिस रूप में करवट लेते देखा है–उससे तो बचे-खुचे अवशेषों में भी जैसे जीवंत मूर्ति रेखा झिलमिला जाती है। यह करवट सामंतशाही की आखिरी साँसों को गिनते हुए पूँजीवाद और साम्राज्यवाद की नई चालों से हमें घेरती है। आज अगर हम किसी से कहें कि साम्राज्यवाद की स्थापना के पीछे एक सुदृढ़ व्यापारिक दृष्टि कार्य करती है तो इसे लोग एक अकादमिक वक्तव्य कहेंगे, किंतु करवट में हम उस अंग्रेज कौम की मुख्य रणनीति से परिचित होते हैं जो धीरे-धीरे भारतीय रजवाड़ों में हस्तक्षेप कर उन्हें खत्म करती है और जनता को अपने नये साम्राज्यवादी ढाँचे में कसती है। जहाँ इस कसाव के प्रति प्रतिरोध होता है वहाँ 'न्याय' के नाम पर क्रूर दमन चलता है। जब दमन और शोषण काम नहीं करते तब उसी क्षेत्रीय परिसीमा में

अंग्रेज मस्तिष्क दो धार्मिक इकाइयों के बीच तनाव पैदा करवाते हैं और एक न्यायिक की भाँति अपना स्थान सर्वोच्च बना डालते हैं। सदियों से साथ रहने, साथ खाने और साथ-साथ एक दूसरे के उत्सवों में उत्साहपूर्वक सहअस्तित्व के मानवीय मूल्य के आधार पर सक्रिय वर्गों में नये ढंग से ही विभेद पैदा करने की यह नीति आगे चलकर कारगर होती है। इतनी कारगर कि जैसे आज भी हमें अपने बीच न्याय के लिए शोषकों, पर-सत्ताओं की ओर देखना पड़े। अंग्रेजों ने जनता के बीच हस्तक्षेप के जो नायाब तरीके निकाले थे उन्हें नागर जी ने अपनी 'रचाव' क्षमता और कौशल से बहुत ही अद्भुत ढंग से चित्रित किया है। 'करवट' में अंग्रेजों की यह रणनीति एक 'काव्य सत्य' की तरह धीरे-धीरे खुलती है। वंशीधर अर्थात् तनकुन महाशय, अपनी महत्वाकांक्षा के वशीभूत हो कैसे स्थानीय अंग्रेजों के संपर्क से कलकत्ता पहुँचते हैं और पुरानी पोथियों को बेचकर कुछ अरसा धन कमाते हैं – केवल इतने ही विवरणों के बीच अंग्रेज कौम एक जाति के रूप में अपनी सत्ता-लोलुप मानसिकता से बखूबी उजागर हो जाती है। कथाक्रम में मुख्यकथा के रेखांक वंशीधर उर्फ तनकुन के मुताबिक निर्मित होते हैं। वह एक महत्वाकांक्षी युवक के रूप में हमारे सामने आता है जिसे किसी न किसी विधि से कोई उच्चता प्राप्त करनी है। वह पहले अवध के अंतिम बादशाह के अंतरंग लोगों का हितैषी बनता है लेकिन कालक्रम में जब बादशाह की स्थिति अंतर्कलह और अपनी अक्षमता से विपरीत हो जाती है तो तनकुन का संपर्क अंग्रेजों से होता है। वह अंग्रेज हाकिमों के सहारे आगे बढ़ता है। अपने परिवार के भीतरी विश्वासों, अंधविश्वासों के प्रति संदेह करने वाला तनकुन कई प्रगतिशील कदम उठाता है तथापि वह किसी न किसी रूप में अपने संस्कारों की जकड़ में रहता है। यही तनकुन कलकत्ता पहुँचकर अंग्रेजी शिक्षा प्राप्त कर फिर अंग्रेजों के सहयोग से लखनऊ में नई शिक्षा के विद्यालय को खोलता है और धीरे-धीरे अंग्रेजी हकूमत के शिक्षाधिकारी के रूप में सेवानिवृत होता है। कथा की इस मुख्यधारा से एक दर्जन कथाएँ निकलती हैं। वे कथाएँ एक ओर हमारे सामाजिक जीवन की जटिलताओं, उन जटिलताओं के घनघोर अंधेरों से उत्पन्न समस्याओं को संकेतित करती हैं तो दूसरी ओर बाहर से आई गोरी जाति के व्यापारिक मानस की धैर्यपूर्ण स्थिति और उनके भावी स्वरूप को संकेतित करती हैं। ईस्ट इंडिया कंपनी का वर्चस्व कैसे बढ़ता है, वह व्यापारिक कंपनी किस तरह भारत की भूमि में अपने व्यापारिक हितों के लिए सक्रिय रहती है – इसके वृतांत इतने चित्रात्मक हैं कि कभी-कभी मुझे एक पाठक की हैसियत से लगता रहा कि मैं क्या कोई लंबा स्वप्न देख रहा हूँ या 'ल्यूव्र' के विश्व-प्रसिद्ध संग्रहालय में घूम रहा हूँ। **वैविध्य, जीवंतता, चित्रात्मकता, संवेदनात्मकता के विभिन्न पहलुओं से रची कृति 'करवट' क्लासिकी किस्म के उपन्यासों की तरह बेजोड़ कृति है।**

'करवट' का कालफलक बहुत विराट है। उसमें न सिर्फ 'देश' में नये परिवर्तन आ रहे हैं बल्कि पुरानों की जगह लेने वाली नई चीज़ों में सतत् परिवर्तनशीलता जारी है। अवध के सम्राट की जीवनविधि और कंपनी सरकार से एकदम साम्राज्यवादी सत्ता में तब्दीली कुछ ऐसे बिंदु हैं जो स्पष्ट करते हैं कि नयेपन में किस किस्म की तीव्रता है। वाज़िद अलीशाह के लखनऊ के चित्रण में नागर जी ने राष्ट्रीय महत्व का जोड़ तो लगाया है पर एक वस्तुनिष्ठ अनुसंधाता की तरह उन्होंने यह भी बताया है कि रात-दिन नाच गानों, महफिलों में डूबे रहने वाले राजविलास का प्रभाव जनता के क्रियाकलापों पर भी पड़ा था। वहाँ बटेरबाज़ी, पतंगबाज़ी, घुड़सवारी, मेले, तवायफों के नाच, विवाह-शादियों का आडंबर, धार्मिक उत्सवों की अर्थहीन सक्रियता—ये सब चीज़ें आर्थिक पुनरुत्पादकता की शक्ति से हीन थी। यह आडंबर एक झूठ था—उसमें न कहीं आगे बढ़ने की ऊर्जा थी न समाज के विकास, आर्थिक स्रोतों के नवीनीकरण की वह आग थी जो कुछ ही वर्षों में अंग्रेजों के आने से आरंभ हो गई थी।

यह आग सिर्फ सत्ता के बदलाव के रूप में 'वायसरीगल' किस्म के आलीशान बंगलों और अफसरों की जीवनचर्या में सीमित नहीं थी वरन् इसने अपनी लपट में हमारे पुराने विश्वास, रीति रिवाज़, रंग-ढंग तथा तमाम दूसरी चीज़ों को लिया था। तब पहली बार यह अहसास होता है कि हम दुनिया के आगे बढ़ते परिवर्तनों से कितने पीछे थे। 'तनकुन' (इस उपन्यास के नायक) के निजी अनुभवों में हम पाते हैं कि कलकत्ता इस अर्थ में बहुत आगे था क्योंकि वहाँ अंग्रेजों और 'ईस्ट इंडिया कंपनी' की गतिविधियों ने बहुत पहले बंगाली भद्र-समाज को प्रभावित किया था– लेकिन इतिहास के इस तथ्य की उद्घोषणा नागर जी नहीं करते अपितु कथा-विन्यास में यह स्पष्ट होता है कि अंग्रेजी प्रभाव से बढ़ने वाले ब्राह्मो समाज ने जिस ढंग से संस्कृति और आचार-व्यवहार की व्याख्याएँ कीं, तथा एक मानवीय पहलू यह उद्घाटित किया कि **सोई जाति का भाग्य भी सोया रहता है— उसका जागना वास्तव में विभिन्न अंतर्धाराओं के टकराव से निर्मित नव्यता है जिसके अभाव में पूर्वीय जन समाज केवल कबीलाई संस्कृति में ही जा रहा है।** वास्तव में तथ्यों की ये नई व्याख्याएँ लेखक के उस 'मिशन' का हिस्सा हैं जो नागर जी के दूसरे उपन्यासों में भी दीखता है।

उपन्यास में उन्नीसवीं शताब्दी के परिवर्तन सहसा नहीं दीखते बल्कि उनके पीछे एक संगठित शक्ति है और वह शक्ति बहुत क्रूरता से स्वयं को स्थापित करती है। वह जनता की स्वाधीनता संबंधी कामना पर प्रहार करती है और उसके स्वीकृत मानदण्डों की हँसी उड़ाती है। वंशीधर सोचता है कि "सत्ता के राजमुकुट पहने हुए संगठित डाकुओं से हमारा एक बादशाह त्रस्त और विवश होकर अपनी गद्दी छोड़कर भाग गया।.... एक ही क्या हिंदुस्तान भर के तमाम राजे महाराजे और शाह ही नहीं बल्कि शाहंशाह तक सब अंग्रेजों की चालबाजियों से विवश हैं, यह एक नये ढंग की राजनीति पुराने सियासतदारों को उठा-उठाकर बराबर पछाड़ती और उन्हें पस्त हिम्मत करती चली जाती है। यह लोग हमारे लोगों में फूट डालकर राज हथियाते हैं। लेकिन हम फूटते क्यों हैं? — संगठित होना क्यों नहीं जानते?" वंशीधर के इस अंतर्मथन में भविष्य में 'स्वराज्य' की परिकल्पना का संकेत छिपा है। उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में कांग्रेस का उदय, नयी स्वाधीन कामना के अंतर्गत नये नये राजनैतिक रंग उभरने लगे थे। वस्तुत: 'करवट' में राजनैतिक करवटों का एक सिलसिला जैसा दिखाई देता है।

भारतीय जन समाज जातियों, उपजातियों, गोत्रों और फिर बहुत ही महीन पवित्रतावाची वंश कुलों के रूप में इतना विभाजित है कि कभी-कभी अहसास होता है कि इस विभाजन का इस्तेमाल करना बहुत ही आसान है। और यह होता भी है। हमारे 'सवर्ण' भाइयों के अहंकार ने निम्नवर्ण को अलगाने का काम किया तो सवर्णों में भी ऊँच-नीच के भेद ने पूरी जातीय इकाइयों को संकीर्णता के उस नरक में पैठा दिया जहाँ से उबरना नामुमकिन-सा है। इसके दूसरे पहलू भी हैं जिनसे भारतीय समाज के पतन के वैज्ञानिक आधार स्पष्ट हो सकते हैं। भारतीय जन-समाज जातियों की जटिलताओं से आक्रांत है। वहाँ वैचारिक क्रांतियाँ अपना प्रभाव अवश्य छोड़ती हैं परंतु वह प्रभाव पूरे समाज को आमूल परिवर्तन की ओर नहीं ले जाते। इसके प्रयोजन का एक ही बिंदु हमारे समक्ष है कि भारतीय संस्कृति की गतिशील धारा को गतिहीन करने के ये ही कुछ प्रमाण हैं, अवरोधों के अवशेष। परंतु क्या इनसे भारतीय समाज कभी अतीत में या निकटस्थ वर्तमान में उबरा है? ऐसे कुछ अन्य प्रश्न भी 'करवट' की मार्फत सामने आते हैं और हमें अपनी सांस्कृतिक पतन-गाथा के संदर्भ में उन पर पुनर्विचार करना होगा। क्योंकि नागर जी ने उसे एक इतिहासज्ञ की भाँति खोजकर यह संकेत देने का जोखिम उठाया है।

प्रश्न भी 'करवट' की मार्फत सामने आते हैं और हमें अपनी सांस्कृतिक पतन-गाथा के संदर्भ में उन पर पुनर्विचार करना होगा। क्योंकि नागर जी ने उसे एक इतिहासज्ञ की भाँति खोजकर यह संकेत देने का जोखिम उठाया है।

'करवट' उन्नीसवीं सदी के बीसवीं सदी में प्रवेश की एक त्रासद गाथा है। यह त्रासदी उन क्लासिकी कृतियों में इसे जगह दिलाती है जो मानव सृजन के शिखर हैं। हिंदी में **बाणभट्ट की आत्मकथा**, यशपाल के **झूठा सच** और रेणु के **परती-परिकथा** में जो प्रयत्न किए गये हैं शायद **'करवट'** में औपन्यासिक कौशल के रूप में वे पूर्णता पाते हैं। क्षेत्रीय सांस्कृतिक इकाइयों के विविधवर्णों का संयोजन एक कठिन काम है। उसे नागर जी ने संभव बनाया है। न सिर्फ भाषा या देशज़ आचरण बल्कि प्रकृति में भी जैसे वही एक क्षेत्रीय अनुभाव टंगा हो जिसे यथावत् नागर जी एक चित्रकार की तरह शब्दों में रूपांतरित कर रहे हों। प्रकृति के प्रति जो सार्थक संवाद रेणु ने स्थापित किया था, जीवंत पर्यावरण के साथ वही अंतरंग संबंध 'करवट' में दीखता है। क्या यह हमारे औपन्यासिक सृजन का नया रूपाकार है? इसलिए भी कि मनुष्य, प्रकृति और मानवीय-स्थितियों के परिवर्तन लाने की चाह के अगोचरत्व के बीच यह नया तालमेल है।

'करवट' इतिहास नहीं है — वह पीढ़ियों के विकास का नैसर्गिक संचरण है। उसमें आशा-निराशा, प्रेम-क्रूरता, हत्या-ममत्व, प्रतिहिंसा-संरक्षा, सौंदर्य और वीभत्स जैसे असंख्य युग्म हैं जिनमें धीरे-धीरे मनुष्य की मानवी-कांक्षा परिष्कृत होती दीखती है। वह हमारी त्रासदी आशा सूत्र को हमारे हाथों में देने वाला एक आत्मान्वेषण है। □

करवट (उपन्यास)/लेखक-अमृतलाल नागर/प्रकाशक-राजपाल एण्ड संस, दिल्ली-११०००७/मूल्य-साठ रूपये/पृष्ठ-३५९।

नयी आशाओं की तलाश 'उत्तरगाथा'

डॉ. रणजीत साहा

समीक्ष्य उपन्यास का प्रकाशन चाहे जिस कारण से भी हो, काफ़ी विलंब से हुआ है। लेकिन आज जबकि हम अपनी आज़ादी की चालीसवीं वर्षगाँठ मनाने जा रहे हैं, इस उपन्यास की तीव्रता और उठाये गये प्रश्नों की प्रासंगिकता और भी बढ़ गयी दीखती है।

दरअसल आज़ादी के आठ-दस वर्षों बाद ही, इसका मूल्यांकन शुरू हो गया था। राष्ट्रीय संकल्प और सर्वस्व त्याग के बावजूद देश का कोई सामूहिक चरित्र नहीं बना। गांधी जैसे व्यक्तित्व की हत्या के बाद इसे दिशा देने वाला कोई प्रेरक राजनैतिक और सांस्कृतिक पुरुष पैदा नहीं हुआ। १९४७ से लेकर १९५७ के बीच इसी दिशाहीनता लेकिन स्वार्थान्धी दौड़ में शामिल एक छोटे से गाँव के लोगों का चारित्रिक पतन और स्खलन ही इस उपन्यास का कथा-बिंदु है। इस कथावृत्त के द्वारा सार्वजनिक व्यक्तित्व और संस्था के ''व्यक्तित्व'' बन जाने का अभिशाप ही वर्णित है। यह दर्शाया गया है कि कैसे व्यक्ति समूह से कटकर अपने स्वार्थ की पूर्ति कर रहा है – देश और संस्था की कीमत पर।

आज़ादी के तत्काल बाद, गाँव-गाँव में पंचायत और ग्राम समितियों के निर्माण की प्रक्रिया शुरू हुई ताकि देश की लघुतम इकाई को आत्मनिर्भर बनाया जा सके। बुनियादी शिक्षा, सहकारिता संस्थाएँ, खादी आश्रम, ग्राम सभा आदि के संस्थापन और संचालन का भार स्वतंत्रता-सेनानियों, स्वयंसेवकों और कांग्रेसियों को सौंपा गया। दूसरी पार्टियों के कार्यकर्ता भी सक्रिय रहे और इन सबके कंधे पर देश के नव-निर्माण का भार सौंपा गया।

ऐसे ही एक समर्पित स्वतंत्रता-सेनानी गोपीचंद को यह दायित्व दिया गया कि वे अपने क्षेत्र के बहुविध उत्थान के लिए पार्टी निर्दे शों के अनुरूप कार्यक्रम बनायें और उन्हें लागू करें। उपन्यास की कथा-यात्रा यहीं से आरंभ होती है। गोपीचंद के जीवन में स्वतंत्रता की जो चिनगारी १९३० में लगी थी, वह १९५७-५८ की क्रांतिकारी लपटों में प्रचंड होती है और १९५७-५८ की ख़ाक पर जाकर ख़त्म होती है। तरुणाई का वह सपना जिसमें, ''भारत आज़ाद होगा। सुराज मिलेगा। हर आदमी अपना पेशा चुनने के लिए स्वतंत्र होगा। समाज से ज़ोर-जुल्म, शोषण ख़त्म हो जायेगा। लोग आपस में भाई-भाई की तरह मिला करेंगे। सभी सुखी होंगे.... सभी प्रसन्न होंगे।'' (पृष्ठ १)

लेकिन ये पवित्र संकल्प, राष्ट्रीय नेताओं का बलिदान, स्वतंत्रता-सेनानियों का त्याग और नये राष्ट्र का संविधान उन लोगों के लिए कोई अर्थ नहीं रखता था जो केवल सत्ता चाहते थे; जिन्होंने सेवा, आदर्श और मूल्य को ताक पर रख छोड़ा था और लूट के लिए एक अंधी दौड़ में शामिल हो गये थे और जो इसमें शामिल नहीं हो पा रहे थे वे किसी प्रतिकार के अभाव में एक तरह से ऐसी शक्तियों

को बढ़ावा दे रहे थे। ऐसे समर्पित लोगों को अपनी आड़ और ओट किए एक ऐसा तबका सामने आ गया, जिसे कोई चुनौती नहीं दी गयी; जो पुल-सड़कें और नहर बनाने के नाम पर अपनी कोठियाँ बनाने लगे, सामुदायिक और प्रखण्ड-विकास के नाम पर, खादी और ग्रामोद्योग के बहाने, ग्राम विकास और कल्याण-आश्रम की आड़ में अपना उल्लू सीधा करने लगे।... और अगर इस काम में धर्म उनकी सहायता कर सकता था तो दंगे, फूट और आगज़नी के सहारे उसका भी भरपूर फ़ायदा उठाया गया। भला कैसे?

कथाकार **मधुकर गंगाधर** ने इस सारे सवालों को बिहार के उत्तर-पूर्व स्थित पूर्णिया ज़िले के सोनारी गाँव की छोटी-सी पृष्ठभूमि में उठाया है। सरकार और संस्थाओं द्वारा चलाये गये विभिन्न कार्यक्रमों और साधनों की पवित्रता के बावजूद, इस अंचल में भी ऐसे तत्व सक्रिय थे जो जातिवाद, प्रभुत्व और डण्डे के ज़ोर पर हर तरह का लाभ उठाना चाह रहे थे – देश की सेवा और राष्ट्रभक्ति के नाम पर। इस अंचल विशेष के संदर्भ में कथाकार का अपना दृष्टिकोण यह है कि "मुख्य रूप से, इस परिवर्तन का कारण था – सर्वे। इसने पिछले चालीस-पचास वर्षों के बने सामाजिक तथा आर्थिक ढाँचे को चरमरा कर रख दिया।.... ज़मीन वालों के मन से "और अधिक" का भाव समाप्त हो गया और भूमिहीनों के मन में "और अधिक" का भाव जागा। समाज का मानसिक चक्का कुल दो वर्षों में बुरी तरह उलट गया। गाँव का भाईचारा एक-ब-एक समाप्त हो गया। पुराना समाज स्नेह-सौजन्य पर आधारित था। नया समाज नियम-कानून पर बना। पूरे गाँव में द्वेष और ईर्ष्या का वातावरण दिन-प्रतिदिन बढ़ता गया।" (पृष्ठ ८३)

यही द्वेष, "जतियारी" और "लाठी" सारे संकल्प और कार्यक्रम को ले डूबती है। हरिजन और अछूत उद्धार का विरोध होता है और एक स्थान पर कथा नायक गोपीचंद "ब्राह्मण-पुत्र और हरिजन-कन्या" के प्रेम-प्रसंग का सामना नहीं कर पाते और अकबरपुर का ज्ञानकेंद्र छोड़कर सोनारी आ बसते हैं। यहाँ भी, ज़मीन पर मालिकाना हक जताने के लिए गाँव में छोटी-छोटी बातों पर आगज़नी होती है, सर फुटव्वल होती है और ऊँची जात वाले नीची जातवालों को अपनी जूती के नीचे दबाकर रखना चाहते हैं। अब इनके सामने कोई बाहरी दुश्मन नहीं। अपने गाँव-जवार के जाने-पहचाने लोग ही अधिकार मद में चूर, विषधर बने घूमते हैं। व्यक्ति को सार्वजनिक बनाने का संकल्प ढहता जा रहा है हालाँकि चर्खा यज्ञ, सूत-यज्ञ, अस्पृश्यता दूर भगाओ और सबसे बढ़कर विनोबा जी का भूदान-यज्ञ बाहरी तौर पर बड़ा प्रभावी दीखता है। लेकिन सच तो यह है कि सार्वजनिक संस्थाओं और ग्राम-संपत्ति का उपयोग निजी हितों के लिए गुंडों के ज़ोर पर किया जाने लगा है। जिस पर अधिकार न जमा सको उसे फूँक-ताप दो... जो रास्ते में आये उसे मार डालो। यह तो ऐसा ही कुछ था जिन्ना की धमकी की तरह, "या तो भारत के टुकड़े करेंगे या मुल्क को नेस्तनाबूद कर दिया जायेगा।" (पृ. २१)

यह सब देखकर गोपीचंद मामा मन-ही-मन घुटते हैं। गाँव का राजपूत वर्ग, जिसके सरगना हैं जगदंबा सिंह,; और ब्राह्मण वर्ग, जिसके अगुआ हैं, भोगानंद झा – दोनों में बरसों से चले आये वैमनस्य को ज़मीन और जोत का मालिकाना हक को लेकर खुली लड़ाई लड़ी जाती है। और वह भी प्रयाग सिंह नाम के एक गरीब किसान के बाप की मौत पर आयोजित श्राद्ध के बहाने। एक छोटी-सी बात पर सारे गाँव का सौहार्द्र मटियामेट हो जाता है कि श्राद्ध के दिन चूड़ा-दही नहीं – गाँववालों को पूड़ी खिलाई जाय। ब्राह्मण बनाम ठाकुर के इस विवाद में गोपीचंद के सपने का आश्रम — रतनझरिया आश्रम, जिसे जबरन भवनाथ चौधरी (पुराने सर्वोदयी) सर्वोदय आश्रम का नाम दे दिया जाता है — उद्घाटन के दिन वाली रात में ही फूँक दिया जाता है। चौधरी के सारे कार्य नाम और

अधिकार की भूख से ही संपन्न होते हैं, सेवा हो जाय तो हो जाय। इस आश्रम की आड़ में खलिहान जोगते और खेती के दूसरे काम के लिए बना-बनाया पक्का घर पा लेने की तैयारी है। आश्रम के फूँक जाने पर सारे देश को गांधी-विनोबा और जयप्रकाश के सपनों का भारत बनाने वाले आत्म-बलिदानी गोपीचंद मामा बुझे हुए शब्दों में बोल उठते हैं, ''लगभग पैंतीस वर्षों से हाथों में झाड़ू है और गंदगी, मलबे और राख की सफ़ाई में लगे हैं। सैंतालीस के पहले पूरे देश के लिए यह सब करता था। बाद में जिले के लिए, और फिर सोनारी के लिए करने लगा। आज पता चला कि यह भी ग़लत है। सोचता हूँ, मात्र इतनी जगह साफ़ करूँ कि स्वयं बैठ सकूँ।'' (पृ. १०९)

आत्म-निरीक्षण की यह विषादपूर्ण घड़ी, देश की माटी को आज़ाद करने वाले हर सच्चे साधक और सेनानी में हताशा का भाव भरती रही है। यही सवाल कथाकार को भी परेशान करता है कि देश की समृद्धि के बावजूद जिस पुरोहित (महात्मा गांधी) ने जन-पूजा का रास्ता दिखलाया था, वही कहीं ग़लत तो नहीं था? लेकिन चाहे जो भी हो, कथाकार गंगाधर ने मोहभंग और हताशा की इसी भावना को, भारत की महिमा से जोड़कर देखा है। तमाम लूट-खसोट, भाई-भतीजावाद, जातिवाद, भ्रष्टाचार और पतन के बावजूद उसकी आस्था के संबल को गोपीचंद जैसे अकिंचन पात्र भी थामे रहते हैं और कहते हैं, **''इस राख के नीचे की मिट्टी कभी नहीं जलती है। वह वीरान होकर फिर से हरी-भरी हो जाती है।''** (पृ. १०२)

जहाँ तक उपन्यास की कथावस्तु का सवाल है इसमें भारतीय स्वातंत्र्य-संग्राम से जुड़े मूल्यों और उसके परवर्ती विनियोजन का बड़ी गहराई से विश्लेषण किया गया है। सत्य, अहिंसा, लोगों के मौलिक अधिकारों की रक्षा और सबको न्याय जैसे मूल्यों की रक्षा के लिए आज़ादी के बाद जो कीमत चुकाई जानी थी – उसमें कहीं कोई चूक जरूर हो गयी। गोपीचंद जैसे सेनानी तटस्थ दर्शक की तरह मूक हो रहे गाँव या अंचल विशेष की राजनीति पर वह प्रभाव नहीं डाल सके जो अपेक्षित था। उपन्यास में या किसी पात्र में आत्म-संधान या बलिदान की सक्रिय भावना नहीं है, जो जातिवाद, भ्रष्टाचार या सामाजिक कुप्रथाओं के विरोध में खड़ा हो! इसलिए सारा विवरण लेखकीय वक्तव्य होकर रह जाता है। उपन्यासकार को किन्हीं रामभजन सिंह (उपन्यास में चित्रित गोपी मामा) का ऋण चुकाना है और इस दबाव में वे उनके प्रमुख अंशों को एक सुनी-सुनायी कहानी की तरह, प्रस्तुत भर कर देते हैं। केवल रहुआ गाँव में हिन्दू-मुस्लिम दंगे के दौरान दंगाइयों से एक विजातीय बालक की रक्षा का प्रसंग अवश्य ही मार्मिक बन पड़ा है। इसके बाद गोपी मामा या तो कथावाचक की तरह तटस्थ रहते हैं या दर्शक की तरह गाँव की राजनीति का तमाशा देखते रहते हैं। आगज़नी (कुल मिलाकर चार बार), आज़ादी का पहला दिन, झण्डोत्तोलन, नमक-सत्याग्रह (पूर्व-दीप्ति), भूदान-यज्ञ, लगभग डेढ़ साल तक विनोबा की बिहार-यात्रा, हिंदू-मुस्लिम दंगे और सोनारी गाँव की जतियारी की टुच्ची राजनीति – किसी ठण्डे मानचित्र या बोसीदा ख़ाके की तरह है – उसमें जीवन और रंग नहीं है; मिट्टी की ताकत तो है पर सोंधी महक नहीं है। मान लिया जाय कि इसी विषयवस्तु को ''रेणु'' अपने हाथ मे लेते तो क्या बैलों की दौड़, हाथी की दौड़ (पृ. २०) गो कुशी (पृ. ३१), आगज़नी, भजन-कीर्तन, चरखे और करघे की गति को इतने सतही ढंग से चित्रित करते? उनमें प्राणों का स्पंदन नहीं कर देते। हैरानी होती है कि जिस कथाकार ने पृ. १० पर गोपीचंद की मानसिकता का इतना काव्यात्मक और अंतरंग चित्र उकेरा हो, ''गोपी मामा उदास थे। आँसू की बेसहारा बूँद गालों से नीचे की ओर ढरक कर ठुड्डी के नीचे गायब हो जाती है और सर्द अनुभूति और सिहरता हुआ खालीपन छोड़ जाती है; वैसे ही गोपी मामा बगीचे की ओट में चले गये...,'' उसी ने कैसे बड़े ही चलताऊ और ''फेंकौआ'' ढंग से (वकौल कथाकार) सारी स्थितियों का सपाट विवरण भर प्रस्तुत कर दिया है। ऐसा इसलिए कहा जा

रहा कि जब कथाकार यह कहकर टाल जाता है कि "लड़के-बच्चे अच्छे-अच्छे कपड़े पहनकर प्रेमचंद की "ईदगाह" कहानी की तरह तैयार हो रहे थे। (पृ. ३) या फिर "१५ अगस्त, १९४७, भारत में इससे अच्छा सवेरा कभी नहीं हुआ था, इससे ज्यादा आनंद का दिन कभी नहीं हुआ। नगर-नगर गाँव-गाँव में उत्सव का आयोजन हुआ। जैसे समूचा भारतवर्ष खुशियों से पागल हो गया।" (पृ. ५) यह सब पढ़कर ऐसा लगता है, जैसे कि लेखक कोई स्कूली निबंध या चिट्ठी लिख रहा है। ऐसा ही पाठ-विवरण भूदान-यज्ञ (पृ. ६९) और चर्खा यज्ञ (पृ. ५९) पर देखा जा सकता है। कहीं-कहीं तथ्यों और घटनाओं की पुनरावृत्ति भी हो गयी है।

पूरे उपन्यास में छोटे-बड़े लगभग पंद्रह पात्र हैं – सिधेश्वर, तिलकधारी, गणपत ठाकुर, श्रीमंत ठाकुर, हरकिसन सिंह, नित्यानंद सिंह, गजेंद्र सिंह, निरंजन दास, हमीद, भवनाथ चौधरी, भोगानंद, चंद्रकांत, जो एक-एक कर अलग छूटते चले जाते हैं। ये व्यक्ति नहीं, पात्र नहीं– प्रवृत्ति के सूचक हैं और नाम या स्थान बदल देने से भी इनके काम पर कोई असर नहीं पड़ता। और जैसा कि कहा गया, अंतिम पृष्ठ तक पहुँचकर भी कहीं कोई समाधान नहीं सूझता। असहयोग और सत्याग्रह, हरिजन उद्धार, जन-जागरण, चरखा प्रचार, "४२ की क्रांति और फिर पंद्रह अगस्त.... "यह सब साधना नहीं तो और क्या थी? एक विराट साधना। जैसे हिंदुस्तान एक मंदिर था। गांधी पुरोहित था और मंदिर के आंगन में खड़ा संपूर्ण हिंदुस्तान पुरोहित द्वारा उच्चारित मंत्रों को दुहारते हुए वर्षों से विराट साधना में जुटा हुआ था। लेकिन इस साधना का निष्कर्ष क्या मिला? पंद्रह अगस्त? नोआखाली? रहुआ?".... (पृष्ठ. ४८-४९)

ग़लती कहाँ हुई है और किसने की है, यह गोपीचंद अंततः नहीं समझ पा रहे हैं लेकिन उनका संकेत इस दायित्व से जुड़े उन तमाम लोगों का ही नहीं, स्वयं उनका भी है। आशा है, अपने आगामी उपन्यासों में लेखक मधुकर गंगाधर इन सवालों से खुद टकरायेंगे। □

उत्तरकथा (उपन्यास) – डॉ. मधुकर गंगाधर/प्रकाशक : भारती भण्डार, लीडर रोड, इलाहाबाद, २११००१/पृष्ठ संख्या १०२/मूल्य २१ रूपये/प्रथम संस्करण १९८४, सजिल्द, डिमाई।

एक विशिष्ट प्रतिनिधि संकलन 'राष्ट्रीय कविताएँ'

सुरेश ऋतुपर्ण

आधुनिक हिंदी कविता के विकास की एक प्रमुख प्रवृत्ति देश भक्ति की भावना के रूप में मिलती है। भारतेंदु हरिश्चंद्र को आधुनिक हिंदी साहित्य का जनक माना जाता है। भारतेंदु का युगांतरकारी महत्व इस बात में है कि उन्होंने सबसे पहले 'भारत-दुर्दशा' के कारणों को पहचाना और परतंत्रता के अभिशाप के प्रति एक जागृति का शुभारंभ किया। यों वीर भाव से जुड़ी ऐसी अनेक कविताएँ वीरगाथाकाल से लेकर सन् १८५७ के गदर तक मिल जायेंगी जिनमें अपने अभिमान और आत्मसम्मान की रक्षार्थ विदेशी आक्रांताओं या अन्य शत्रुओं के साथ लड़ने वाले वीरों की प्रशस्तियाँ गायी गयी हैं। लेकिन उनकी यह देश भक्ति, आधुनिक राष्ट्रीय भावना से भिन्न कोटि की है। वस्तुतः उनकी वीर भावना के मूल में संपूर्ण राष्ट्र न होकर अपने-अपने राज्य ही थे। या फिर हिंदुत्व की रक्षा का संकल्प था। छत्रसाल, शिवाजी की वीरता, शौर्य और उत्साह का चित्रण करने वाली कविताओं के मूल में यह हिंदुत्व की रक्षा वाला भाव ही प्रमुख है। वस्तुतः आधुनिक संदर्भ में राष्ट्रीय भावना का प्रथम उत्स सन् १८५७ का गदर ही है। यह ब्रिटिश शासन के विरुद्ध भारत की संगठित राष्ट्रीय चेतना का विस्फोट था और पहली बार भारत की जनता अपने अपने राज्य, धर्म, संप्रदाय, मतवादों को भूलकर संगठित रूप में अपने शत्रु से लड़ती है। सन् १८५७ का विद्रोह यों तो एक असफल विद्रोह कहलाता है लेकिन इसने भारतवासियों में एक ऐसी राष्ट्रीय भावना का बीज बो दिया था जिसका पल्लवन स्वराज्य-प्राप्ति के संघर्ष के रूप में हुआ और फलतः सन् १९४७ में भारत विदेशी दासता से मुक्त हो सका।

इस राष्ट्रीय भावना को पोषित करने में हिंदी भाषा और उसके साहित्य ने एक ऐतिहासिक भूमिका निभायी है। राष्ट्रीय भावना से ओतप्रोत कविताएँ लिखने वाले अनेक कवियों ने भारतीय जनता में स्वतंत्रता प्राप्ति की कामना को एक आग की तरह सुलगा दिया था। भारत की आजादी की लड़ाई में इन कवियों और उनके द्वारा लिखी गयीं ओजस्वी कविताओं का महत्व निर्विवाद रूप से युगांतरकारी है लेकिन हिंदी साहित्य का इतिहास लिखने वालों की दृष्टि में इनका महत्व बहुत कुछ अनदेखा ही रहा है। ऐसी स्थिति में प्रसिद्ध हिंदी सेवी विद्वान, साहित्य मर्मज्ञ और सांसद श्री नरेशचंद्र चतुर्वेदी तथा परिचित समीक्षक और गीतकार डा. उपेंद्र द्वारा संपादित पुस्तक 'राष्ट्रीय कविताएँ' एक गहरे अभाव की पूर्ति का स्तुत्य प्रयास है। इस पुस्तक में पहली बार ऐसी अनेक कविताएँ सम्मिलित रूप से प्रकाश में आयी हैं जो स्वातंत्र्य-संग्राम के दिनों में जन-जन के कंठों से निकल गूँजा करती थीं।

प्रस्तुत पुस्तक में अस्सी से ऊपर कवियों की लगभग २५० कविताएँ संकलित हैं। सन् १८५० में जन्मे भारतेंदु हरिश्चंद्र से लेकर सन् १९१९ में जन्मे श्री रघुवीरशरण मित्र तक की कविताएँ संकलित हैं। पुस्तक के अंत में कवियों का संक्षिप्त परिचय और कविताओं की प्रथम पंक्ति की एक 'संकेतिका' भी अकारादि क्रम से दी गयी है। पुस्तक में एक परिशिष्ट भी है जिसमें बंकिम चंद्र चटर्जी की रचना 'वन्दे मातरम्' भी है। इकबाल की 'हिंदोस्तां हमारा' के साथ ही साथ कई ऐसी प्रसिद्ध कविताओं को भी संकलित किया गया है जिनके लेखकों के नाम अज्ञात हैं।

इस पुस्तक में संकलित कविताओं में भारत के गौरवशाली अतीत की गहरी स्मृतियाँ, विदेशी शासन के अत्याचार, अन्याय व शोषण की पहचान और उसका विरोध, परतंत्रता के कष्टों की अनुभूति, कुरीतियों के उन्मूलन का आग्रह, राष्ट्रीय नेताओं द्वारा चलाए जा रहे राजनैतिक आंदोलनों को समर्थन, त्याग की भावना, वीरपूजा का भाव, क्रांति की आकांक्षा, भारत के उज्जवल भविष्य का स्वप्न आदि से जुड़ी भावनाओं को अभिव्यक्ति मिली है।

इस पुस्तक की कविताओं को पढ़ते हुए यह तथ्य भी अत्यंत मुखर रूप से सामने आता है कि राष्ट्रीय स्वतंत्रता का आंदोलन अप्रत्यक्ष रूप से हिंदी भाषा के विकास से भी जुड़ा है। तत्कालीन राष्ट्रीय नेताओं के मनों में यह बात साफ हो चुकी थी कि इस विशाल देश को एकता के सूत्र में बाँधने का काम हिंदी भाषा ही कर सकती है। गाँधी जी के नेतृत्व में हिंदी भाषा का प्रचार-प्रसार, बड़ी तेजी से हुआ, यह बात सर्वविदित ही है। लोचनप्रसाद पांडेय की कविता की ये दो पंक्तियाँ देखिए—

हिंदी भाषा है हिंद देश की भाषा।
इसकी उन्नति है देशोन्नति की आशा।।

इन राष्ट्रीय कविताओं में से अनेक कविताओं में गांधीजी के विचार स्फुलिंग की भाँति चमकते हैं। गाँधी जी द्वारा प्रतिपादित अहिंसा, सत्याग्रह खादी स्वावलंबन आदि से जुड़ी अनेक कविताएँ इस युग में लिखी गयी हैं। इन कविताओं के रचयिताओं के मनों में अपने मातृभूमि के प्रति गहरा प्रेम विद्यमान था। उन्हें किसी ने ऐसी कविताएँ लिखने के लिए उकसाया नहीं था, और न ही इनसे कोई विशेष आर्थिक लाभ ही उन्हें होने वाला था। उन्होंने अपने हृदय के उस ओज को ही वाणी दी है, जो अपनी मातृभूमि को विदेशी शासन से मुक्त कराने के स्वप्न से जुड़ा था। अत: उनकी भाषा में गहरी सहजता के दर्शन होते हैं। उन्हें कविता में किसी प्रकार के चमत्कार प्रदर्शन की चाह नहीं थी। उनकी अभिव्यक्ति बड़ी ही सीधी-सादी थी —

मेरी जां न रहे मेरा सर न रहे सामां न रहे न ये साज रहे।
फ़कत हिंद मेरा आज़ाद रहे और माता के सिर पर ताज रहे।। (माधव शुक्ल)

सन् १९२० से सन् १९३६ तक का समय हिंदी साहित्य के इतिहास में छायावाद के नाम से प्रसिद्ध है। इस काल की काव्य प्रवृत्ति पर अक्सर समाज-विमुख होने का आरोप लगता रहा है। प्रस्तुत पुस्तक के संपादकों का मत है कि यह आरोप ठीक नहीं है। 'अक्सर यह शिकायत की गयी है कि उन कठिन घड़ियों में छायावादी कवि समाज और राष्ट्र, से मुँह फेर कर सौंदर्य के कल्पनालोक में विचर रहे थे। गहराई से देखने पर यह आरोप उचित नहीं लगता। यह सही है कि छायांवादी कवियों का देश के राजनैतिक आंदोलनों से सीधा संबंध नहीं था ओर अपने पूर्ववर्ती और अनेक परवर्ती कवियों की तुलना में वे अधिक व्यक्तिवादी कल्पनाप्रिय और कलाधर्मी थे पर युगीन परिस्थितियों का इस पुस्तक में प्रसाद के नाटकों में आये गीत, निराला के 'भारती, जय विजय करे', पंत की 'भारतमाता ग्रामवासिनी' आदि कविताओं को भी सम्मिलित किया गया है, जिन्हें पढ़कर इन छायावादी कवियों के राष्ट्र-प्रेम का परिचय सहज ही पाया जा सकता है। वस्तुत: छायावादी कवियों की स्वप्निलता का एक

विशेष कारण था। स्वातंत्र्य-संग्राम उनका प्रत्यक्ष यथार्थ था और स्वतंत्रता संभाव्य स्वप्न। वस्तुतः यह संभाव्य स्वप्न ही उनमें कल्पना का आवेश भरता था जो उनकी सौंदर्य-दृष्टि से जुड़कर धीरे-धीरे वायवी होता चला गया।

एक तरह से देखा जाए तो इन राष्ट्रीय कविताओं में हमारी आज़ादी का इतिहास धड़कता है। आजादी के बाद में जन्म लेनेवाली आज की युवा पीढ़ी को आज यह समझाना आसान नहीं है कि देश की आजादी के लिए मर मिटने वाले शहीदों ने कैसे-कैसे त्याग और बलिदान किए हैं। ये कविताएँ अपनी भावात्मकता में उन्हें उस भव्य विरासत से परिचित करा सकेंगी, ऐसी आशा करना असंगत न होगा।

स्वातंत्र्य संग्राम के दिनों में इनमें से अनेक कविताएँ लोगों को कंठस्थ थीं तथा विभिन्न जलसों, समारोहों व प्रभातफेरियों में इन्हें सस्वर गाया जाता था। जन-जन के कंठों से उच्चरित होने वाली इन कविताओं में से अनेक कविताओं के लेखकों के बारे में कुछ भी जानकारी आज प्राप्त नहीं हो पाती है। ये कवि 'अज्ञात' हैं। आज ये कवि भले ही अज्ञात रह गये हों लेकिन उनकी कविताएँ अमर हो गयी हैं। वेदों की ऋचाएँ रचने वाले महान ऋषियों के बारे में भी कोई नहीं जानता हैं, लेकिन उनकी सृजनात्मक प्रतिभा ने जो ज्ञानराशि हमें विरासत के रूप में सौंपी है, वह अमर है। इस तरह राष्ट्रीय स्वातंत्र्य-संग्राम के दिनों में रचित ये अनेक कविताएँ जन-जन की स्मृतियों में बस गयी थीं। इन्हें गाने वालों को यह नहीं मालूम होता था कि उनके रचयिता कौन हैं लेकिन वह उनके अपने मन की बात थी, उनकी अपनी भावनाएँ ही उनमें शब्द-बद्ध थीं, अतः उनके कंठ से वे गीत सहज ही स्वर पा जाते थे।

इस संदर्भ में श्यामलाल गुप्त 'पार्षद' की कविता 'झण्डा ऊंचा रहे हमारा', जगदम्बा प्रसाद 'हितैषी' की 'शहीदों की चिताओं पर जुड़ेंगे हर बरस मेले', राम प्रसाद विस्मिल की 'सरफरोशी की तमन्ना अब हमारे दिल में हैं' आदि कविताओं का विशेष उल्लेख किया जा सकता है।

भारत की भावात्मक एकता की यह एक बड़ी मिसाल है। इन कविताओं ने पूरे एक युग में प्राणों का संचार किया है। कई पीढ़ियों को अंग्रेजों के विरुद्ध लड़ते रहने को तैयार किया। इन कविताओं में भारत की मुक्ति की कामना और स्वतंत्रता का स्वप्न छिपा है।

स्वप्न देखना मानव जाति का एक स्वाभाविक गुण है। स्वप्न के बिना वास्तविकता भी सम्भव नहीं हो पाती। कल का स्वप्न ही आज़ा की वास्तविकता बनता है। महान लेखकों की रचनाओं में जो स्वप्न उभरते हैं, वही आगामी युग की वास्तविकता होते हैं। वस्तुतः ये राष्ट्रीय कविताएँ आजादी के स्वप्न का मंगलाचरण हैं।

भाषा-शिल्प की दृष्टि से ये कविताएँ हिंदी भाषा के विकास के महत्वपूर्ण चरण हैं। ये कविताएँ खड़ी-बोली के विकास के विभिन्न सोपानों की प्रतीक हैं। भारतेंदु की कविता में प्रयुक्त भाषा से लेकर प्रसाद, निराला, पंत, नवीन, दिनकर आदि की भाषा में पर्याप्त अंतर दिखाई देता है पर एक बात तो इन सभी कविताओं में दिखाई देती है और वह है इनकी सादगी और सहजता। 'इन कविताओं में भावों की उठा-पटक नहीं है।' लाक्षाणिक वक्रता और व्यंजनात्मकता की ओर इन कवियों का ध्यान कम ही है। आज भले ही इन कविताओं का अभिधापरक होना हमें इनके काव्य-शिल्प की कमजोरी प्रतीत हो, लेकिन इन कविताओं में से अनेक ने अपने युग में एक क्रांतिकारी भूमिका निभायी थी, इसमें कोई संदेह नहीं है। स्वातंत्र्य संग्राम के लिए नैतिक और मानसिक तैयारी, सर्वधर्म समभाव, त्याग का उच्चादर्श, राष्ट्रीय अभियान और अभिमान के अनेक पक्षों को ये कविताएँ प्रस्तुत करती हैं।

इस पुस्तक की मूल आयोजना में इस बात की ओर अवश्य ही ध्यान जाता है कि पुस्तक के अंतिम कवि श्री रघुवीरशरण मित्र हैं तथा अधिकांश कविताएँ आजादी से पूर्व की हैं। अर्थात् इस संग्रह में सम्मिलित समस्त कविताएँ स्वातंत्र्य-संग्राम के दौर में लिखी गयी हैं। लेकिन राष्ट्रीयता का भाव मात्र स्वातंत्र्य-संग्राम तक ही तो सीमित नहीं रहा है। आजादी मिलने के बाद राष्ट्रीयता का भाव ही समाप्त हो गया हो ऐसी तो बात नहीं है। आजादी मिलने के बाद भी अनेक स्तरों पर हिंदी कवियों की राष्ट्रीय भावों से युक्त कविताएँ समय-समय पर सामने आती रही हैं। क्या ही अच्छा होता कि सन् १९४७ तक जो भी महत्वपूर्ण राष्ट्रीय कविताएँ लिखी गयीं, वे भी इस संकलन में आ गयी होतीं। यदि प्रगतिवाद, प्रयोगवाद और नयी कविता के कवियों की राष्ट्रीय भावों से जुड़ी कविताओं का भी एक संकलन अलग से तैयार किया जाये तो राष्ट्रीय कविताओं के प्रकाशन का यह महायज्ञ पूर्णता प्राप्त कर सकेगा।

पुस्तक प्रकाशन के लिए संपादक-द्वय निश्चय ही साधुवाद के अधिकारी हैं जिन्होंने अनथक परिश्रम करके इधर-उधर बिखरी इन कविताओं को एक सूत्र में पिरोकर प्रस्तुत किया है। वस्तुत: भारतीय स्वातंत्र्य-संग्राम का इतिहास इन कविताओं के बिना अधूरा ही है। क्योंकि तत्कालीन मानस को स्वातंत्र्य बोध से मण्डित करने का गुरु-कार्य संपन्न करने में इन कविताओं का महत्व निर्विवाद है। और, आज जब देश आतंकवाद, प्रांतीयतावाद, जातिवाद, भाषावाद आदि की भँवर में फँसा हुआ है तथा उसकी अखंडता और एकता पर संकट के गहरे बादल छा जाना चाहते हैं, तब इन कविताओं के व्यापक प्रचार-प्रसार से भावात्मक एकता का सुदृढ़ आधार तैयार करने में मदद मिल सकती है।

□

राष्ट्रीय कविताएँ/संपादक-नरेशचंद्र चतुर्वेदी एवं डॉ. उपेन्द्र/प्रकाशक-साहित्य निकेतन, कानपुर/प्रथम संस्करण-१९८६/मूल्य-१५० रूपये।

सूरीनाम में भारतीय सांस्कृतिक केंद्र के नए भवन का उद्घाटन

राग़िनी सिन्हा

युगों से भारतीय संस्कृति के प्रति प्रेम और आकर्षण संसार के प्राय: सभी देशों में देखा जाता है किंतु जिन मुल्कों में भारतवंशी निवास करते हैं उनका भारतीय संस्कृति के प्रति प्रेम बड़ा स्वाभाविक और निष्ठापूर्ण रहा है। सदियों पहले बिहार और पूर्वी उत्तर प्रदेश से जिन देशों में भारतीय जाकर विदेशों में बस गये उनमें प्रमुख हैं मारीशस, फीजी, सूरीनाम, गयाना, त्रिनिदाद और जैमेका आदि। भारतवंशियों के इस सच्चे प्रेम को देखते हुए भारत सरकार ने योजनाबद्ध ढंग से मारीशस, फीजी, गयाना और सूरीनाम आदि देशों में भारतीय सांस्कृतिक केंद्र की स्थापना की और ये केंद्र वर्षों से इस दिशा में कार्यरत हैं। सूरीनाम में भारतीय सांस्कृतिक केंद्र लगभग एक दशक से चल रहा है किंतु इस केंद्र के पास अब तक समुचित भवन नहीं था। इस अभाव की पूर्ति अभी हाल ही में होली के कुछ ही दिन बाद एक भवन के उद्घाटन से हुई। यह भवन सूरीनाम की राजधानी पारामारिबो के केंद्र में नया-नया बन कर तैयार हुआ है और इसमें ऐसे सभी प्रावधान किए गए जिससे कि संगीत, नृत्य, वाद्य, हिंदी शिक्षण की समुचित व्यवस्था के साथ-साथ एक अच्छा पुस्तकालय/वाचनालय चले और यहाँ केंद्र का अपना सभा-भवन भी है जो इन प्रवृत्तियों को पुष्ट करने में योगदान देता रहेगा।

इस भवन का उद्घाटन सूरीनाम के राष्ट्रपति महामहिम श्री रामदत्त मिश्र ने दीप जलाकर किया और सूरीनाम सरकार के शिक्षा मंत्री श्री लि फो शू ने इस अवसर पर भारत और भारतीय संस्कृति की प्रशंसा करते हुए कहा कि अन्य क्षेत्रों के अतिरिक्त संस्कृति के क्षेत्र में जो कार्य भारत ने किया है वह अनुकरणीय है। सूरीनाम अपनी सांस्कृतिक स्वाधीनता और संप्रभुता के लिए भारत से इस दिशा में प्रेरणा ग्रहण कर सकता है। सूरीनाम और भारत के बीच वर्षों से मैत्री के सुदृढ़ संबंध रहे हैं और सूरीनाम सरकार भारत के राजदूत को यह विश्वास दिलाती है कि हम इस आपसी मैत्री और सद्भाव के संबंधों को सुदृढ़ करने की सदैव चेष्टा करते रहेंगे।

दि. १९ मार्च १९८७ को इस नए भवन का भव्य उद्घाटन समारोह आयोजित किया गया। समारोह में भाग लेने के लिए सूरीनाम के राष्ट्रपति महामान्य श्री एल.एफ. रामदत्त मिसिर एवं उनकी धर्मपत्नी स्वयं पधारे। सूरीनाम के राष्ट्रपति भारत मूल के हैं और उन्हें भारतीय संगीत और ललित कलाओं से ही नहीं, संपूर्ण भारतीय संस्कृति से विशेष लगाव है। सूरीनाम के राष्ट्रपति ने दीप प्रज्जवलित कर इस समारोह का शुभारंभ किया। नए भवन का औपचारिक उद्घाटन सूरीनाम के शिक्षा एवं संस्कृति मंत्री द्वारा किया गया। सभागार सूरीनाम के विशिष्ट राजनेताओं, असेम्बली

सदस्यों, लेखकों, बुद्धिजीवियों, कला प्रेमियों तथा विशिष्ट राजनयिकों की अपार भीड़ से खचाखच भरा था।

भारतीय संगीत और कला के प्रेमी उपस्थित अतिथियों का हार्दिक स्वागत करते हुए भारत के राजदूत महामहिम श्री बच्चू प्रसाद सिंह ने भारतीय सांस्कृतिक केंद्र की गतिविधियों का उल्लेख किया और कहा कि पारामारिबो में पिछले लगभग एक दशक के अपने कार्यकाल में भारतीय सांस्कृतिक केंद्र ने सूरीनाम के संगीत प्रेमी छात्रों को ही नहीं यहाँ के गायकों, वादकों और नर्तकों की कला को सँवारने-सुधारने की दिशा में भी महत्वपूर्ण योगदान दिया है। उन्होंने आशा प्रकट की, कि नए भवन के नए परिवेश में नए जोश और उमंग के साथ से प्रयत्न और भी सार्थक होते जाएँगे।

भारतीय उपमहाद्वीप में हजारों वर्षों से चली आ रही भारतीय संस्कृति की सामासिकता की चर्चा करते हुए भारतीय राजदूत ने कहा कि उत्तर में पर्वतराज हिमालय की हिमाच्छादित धवल चोटियाँ और दक्षिण में हिंद-महासागर की अतल गहराई ऐसी है यह संस्कृति जो कठिन भौगोलिक, भाषाई, आकृति-मूलक, धार्मिक और सांप्रदायिक विभिन्नताओं वाले विस्तृत भू-भागों और जन समूहों को एक सूत्र में समेटते हुए पूर्व से पश्चिम तक फैली हुई है। दुनिया में आज तक जितने धर्म फैले, जितनी संस्कृतियाँ प्रस्फुटित हुई, भले ही वे कालक्रम में विलुप्त होते चले गए पर भारतीय संस्कृति ने खुलेमन से उनके सार तत्व को ग्रहण कर और उनको अपने में समाहित कर एक ऐसी संस्कृति का निर्माण किया जो कभी विलुप्त नहीं हुई। आज भी हमारी संस्कृति शोषण, साम्राज्यवाद, आक्रमण और रंगभेद का विरोध करती है और मानव कल्याण, दया, सहिष्णुता तथा आपसी सद्भाव के सिद्धांतों पर आगे बढ़ रही है। यही कारण है कि श्री ए.एल. बाशम जैसे समकालीन महान इतिहासकारों का कहना है कि चीन, भारत, भूमध्यसागरीय तथा ग्रीस और इटली जैसी विश्व को प्रभावित करने वाली महान प्राचीन संस्कृतियों से भारतीय संस्कृति का स्थान सर्वोच्च है क्योंकि इसने केवल दक्षिण-पूर्व एशिया के ही नहीं, विश्व के सभी भागों के जन-जीवन को प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से प्रभावित किया है। बाशम का निष्कर्ष है भारतीय संस्कृति पश्चिमी संस्कृति से बहुत ही ज्यादा प्राचीन है। 'इलियाड' की रचना से पूर्व संपूर्ण ॠग्वेद की रचना हो चुकी थी। ॠग्वेद के परवर्ती सूत्र भी 'ओल्ड-टेस्टमैंट' से भी बहुत पुराने हैं। कुछ हमारे विश्वास और मिथक जैसे पीपल वृक्ष और नंदी पूजा हड़प्पा संस्कृति से भी पहले से चली आ रही है। चार हजार से भी अधिक वर्षो के अब तक ज्ञात इतिहास के क्रम में भारत की लगभग हर पीढ़ी ने अपनी अपनी पीढ़ी के लिए संस्कृति के क्षेत्र में कुछ न कुछ विरासत छोड़ी है और भारतीय संस्कृति इसीलिए शाश्वत और जीवंत है।

ॠग्वेद की एक प्रसिद्ध ॠचा 'नो भद्रा कर्तावौ : यमतो विश्वस: का अर्थ ही है कि जो कुछ सत्य है, सुंदर है उसे ग्रहण करते चलो। अपने में आत्मसात करते रहो। यही कारण था कि हमारे राष्ट्रपिता महात्मा गांधी ने कहा था कि किसी जाति या संप्रदाय से हमें कोई विद्वेष नहीं है और हम ब्रिटिश साम्राज्यवाद के प्रति भी कोई कटुतापूर्ण दुर्भावना रखने में विश्वास नहीं रखते। हमारे घर की खिड़कियाँ हर नई रोशनी के लिए खुली हैं पर हम उनके बहाव में खो नहीं सकते। भारत की राष्ट्रीय भावना का यही मूल तत्व है।

भारतीय साहित्य, संगीत, ललित कलाओं और संपूर्ण संस्कृति ने सदा ही विचारशील विद्वानों को प्रभावित और आह्लादित किया है। अमरीका के महान कवि थोरे ने हिंदू विधिशास्त्र के निर्माता मनु का अध्ययन करने के बाद लिखा था : वेदों के किसी भी भाग के अध्ययन से उन्हें देवी प्रकाश की अनुभूति होती है। वेदों की शिक्षा में संकीर्णता का लेश-मात्र नहीं है यह सभी युगों, सभी राष्ट्रों और सभी स्तरों के लोगों के लिए परम् ज्ञान की प्राप्ति का साधन है।
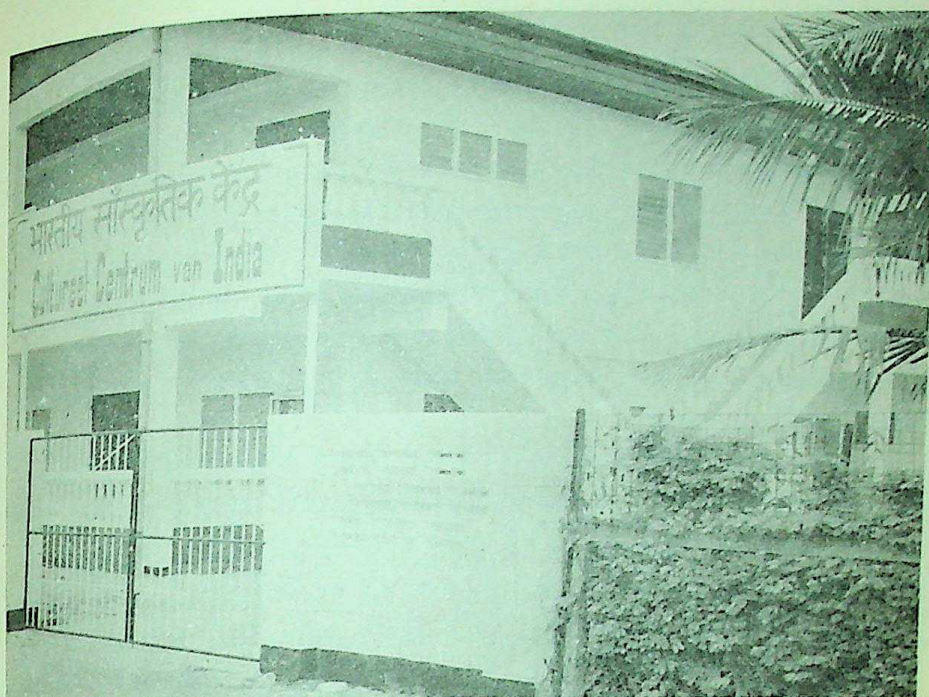
भारतीय सांस्कृतिक केंद्र

सूरीनाम गणतंत्र के राष्ट्रपति महामान्य श्री एल.एफ. रामदत्त मिसिर एवं उनकी धर्मपत्नी का स्वागत करते हुए भारत के राजदूत महामहिम श्री बच्चू प्रसाद सिंह

महाकवि टैगोर ने भी भारत की नई पीढ़ी के कलाकारों के सामने यही आदर्श रखा था कि वे खुले मन और मष्तिष्क से समस्त मानव मन के अध्ययन को अपना लक्ष्य बनायें। महामहिम ने कहा कि भारतीय संस्कृति के इसी आदर्श के अनुरूप आज लगभग सत्तर देशों के साथ हमारे सांस्कृतिक आदान-प्रदान के समझौते बड़ी सफलता के साथ चल रहे हैं। सूरीनाम के कलाकारों की लगन और मेहनत की प्रशंसा करते हुए महामहिम ने कहा कि उन्हें आशा है कि **नए भवन के परिवेश में सूरीनाम और भारत के कलाकार आपसी सहयोग और आदान-प्रदान से बहुत लाभ उठा सकेंगे और इससे हमारे दोनों देशों के बीच पारस्परिक मैत्री की भावना और मजबूत होगी।** महामहिम ने सूरीनाम के राष्ट्रपति और सरकार का सतत् सहयोग और प्रोत्साहन के लिए हार्दिक आभार व्यक्त किया।

सूरीनाम के शिक्षा मंत्री ने अपने वक्तव्य में कहा कि आज विभिन्न राजनीतिक विचारधाराओं वाले देशों के बीच सांस्कृतिक गतिविधियों का आदान-प्रदान एक ऐसा सामान्य मंच है जिसके माध्यम से हम एक दूसरे से बहुत कुछ सीख सकते हैं। भारत की संस्कृति बहुत पुरानी व बहुत महान है और हम जानते हैं कि इसे समृद्ध करने में भारत की जनता ने कितना संघर्ष किया है। अपनी सांस्कृतिक पहचान बनाने और स्वतंत्र प्रभुसत्ता स्थापित करने के लिए हमारा देश भारत से बहुत कुछ सीख सकता है। भारत और सूरीनाम के संबंध वर्षो पुराने हैं और सूरीनाम की सरकार और जनता इन संबंधों को और मजबूत बनाए रखने के लिए सब कुछ करेगी।

उद्घाटन के बाद सांस्कृतिक केंद्र की ओर से एक सुंदर सांस्कृतिक कार्यक्रम भी प्रस्तुत किया गया। केंद्र के छात्रों, अध्यापकों तथा सूरीनाम के कलाकारों ने अपने नृत्यों, गायन, सितार और तबला के अनेक सुंदर कार्यक्रमों को प्रस्तुत कर अतिथियों को आह्लादित किया। कार्यक्रम के अंत में सांस्कृतिक केंद्र के निदेशक श्री एम. जेसुदास ने सभी आगंतुकों, अभिभावकों, सूरीनाम की सांस्कृतिक संस्थाओं और कलाकारों को उनकी सतत् रुचि और सहयोग के लिए धन्यवाद दिया।सांस्कृतिक कार्यक्रम की समाप्ति के बाद सभी अतिथियों ने जलपान में हिस्सा लिया और सभी ने सुंदर नये भवन के निर्माण में दूतावास की मुक्त कंठ से प्रशंसा की। □

मारीशस-अंक पर विशिष्ट प्रतिक्रियाएँ

भारत एक महान देश है और उसकी संस्कृति काफी पुरानी और महान है। इस देश ने युग-युगों से अपनी दार्शनिक विचारधारा के माध्यम से बाहर जहाँ भी और जब भी भारत के लोग गये वे अपनी संस्कृति और अपने जीवन मूल्यों को अपने साथ ले गये और उनको सदैव अपनी वास्तविक धरोहर मानते रहे। यही कारण है कि अनेक देशों में बसे भारतवंशियों ने भाषा को अपनी संस्कृति और अपनी अस्मिता को बनाये रखने का मुख्य साधन स्वीकार किया और 'भाषा गयी सो सब कुछ गया' का उद्घोष करके अपनी समूची शक्ति को बटोरकर संध्या के अरुणिम प्रकाश में कुटिया के सामने खुले में या पेड़ के नीचे बैठकर भाषा-ज्ञान की महती साधना में प्रथम पाठ पढ़ा और तभी से शुरु हुई इन अनेक देशों में भाषा की अनंत यात्रा।

हिंदी-प्रचार के ऐसें ही विश्वव्यापी आयामों में मारीशस की हिंदी प्रचारिणी सभा समय की बालू पर अंकित एक अमिट चिह्न है। इस सभा ने पचास वर्ष पहले तिलक स्कूल के रूप में हिंदी प्रचार का जो बीज़-वपन किया था वह अब १३५ संस्थाओं के रूप में वट-वृक्ष का रूप धारण कर चुका है। गत वर्ष सभा की स्वर्ण जयंती पर उसके महान कार्यों को शाश्वत रूप देने के लिये इस अवसर पर **गगनांचल** का विशेषांक प्रकाशित करने की योजना बनायी गयी और सामग्री इकट्ठी करके **आई. सी. सी. आर.**, नई दिल्ली भेज दी गयी। कुछ लेख संपादक महोदय ने भारत और मारीशस के संगम को ध्यान में रखते हुए भारत के लेखकों से भी आमंमित्र किये। यह प्रयास अपने आप में स्तुत्य है। मारीशस में हिंदी-प्रचार का यह एक महत्वपूर्ण दस्तावेज है। सभी लेखों में हिंदी-प्रचार की महनीय साधना को मापने की खोज की गयी है। मारीशस हिंदी, नाटक, निबंध, कविता और कहानी लिखने वाले इसमें एक साथ स्थान पा सके हैं यह प्रसन्नता की बात है।

विज्ञान के इस युग में सब कुछ पाने की आपाधापी में इंन्सान छिटक कर दूर जा पड़ा है, उसकी अपनी पहचान खो गई है, कभी-कभार इसी तरह के विशेषांक उसे उसके इस रूप को याद करा देते हैं। अपनी पैनी दृष्टि से आपने ऐसे लेखों का चयन किया है जिन्होंने खोये अतीत को एक बार फिर शब्दों की कड़ियों में बाँधकर हमारे सामने उजागर किया है। इस ऐतिहासिक महत्वपूर्ण प्रकाशन के लिए बधाई।

डॉ. हर गुलाल गुप्त/प्रथम सचिव शिक्षा और हिंदी/भारत का हाईकमीशन/पोर्ट लुई।

मारीशस स्थित भारतीय उच्चायुक्त के सौजन्य से आपने **गगनांचल** पत्रिका के मारीशस विशेषांक में हिंदी प्रचारिणी सभा मारीशस के स्वर्ण जयंती महोत्सव के शुभावसर पर सभा के कार्य संबंधी जो लेख प्रकाशित किये हैं उसके लिए हिंदी प्रचारिणी सभा आपकी परिषद् को, आपकी सरकार को, भारतीय उच्चायुक्त तथा शिक्षा सचिव श्री हर गुलाल गुप्त जी को हार्दिक धन्यवाद करती है।

आपके इस विशेषांक से न केवल मारीशस की जनता वरन् अन्य देशों के लोग जहाँ-जहाँ यह पत्रिका पढ़ी जाती है, सभा की गति-विधि से अवगत होंगे। इसे पढ़ कर वे समझ सकेंगे कि भारत देश से दूर बसे हुए भारतीय मूल के लोग भारतीय भाषा तथा भारतीय संस्कृति को किस प्रकार विश्व में प्रसारित करने के लिए कार्य कर रहे हैं।

महान भारत की भाषा एवं संस्कृति ने ही विभिन्न देशों के भारतीय आप्रवासियों को कठिन से कठिन परिस्थितियों में कार्य करने की शक्ति दी है। जीवन यापन करने की सामर्थ्य दी है। आज यदि हम अपने पितृ देश भारत से इतनी दूर बस कर भी आनंद तथा सुख का अनुभव कर रहे हैं तो यह एक मात्र भारतीय महापुरुषों तथा उनके साहित्य का परिणाम है। जिन देशों में हम जी रहे हैं उन्हीं देशों का गुणगान करते हैं, उन्हीं के उत्थान में हम लगे हुए हैं, उन्हीं के वाशिंदों को हम अपने भाई समझते हैं, यह सब भारतीय आदर्शों का पालन करने से ही संभव हुआ है।'

रविशंकर कौलेशर/अध्यक्ष/हिंदी प्रचारिणी सभा/लोंग माउन्टेन/मारीशस।

विगत वर्ष मारीशस के प्रत्येक हिंदी प्रेमी का यह प्रश्न था, 'गगनांचल' का मारीशस-अंक कब मिलेगा?

वह मिला और आवरण पर दिया गया चित्र देखकर पाठक फूला नहीं समाता और उसे विश्वास हो जाता है कि यह अंक आशा को निराशा में परिणत कर ही न सकेगा।

विविधता स्पष्ट दिखाई देती है। मारीशस-अंक अन्य विशेषांकों की टक्कर का है। इसमें जरा भी संदेह नहीं है कि यह संग्रहणीय है। मेरी सम्मति में शोध कार्य करने वाले इसे पास रखना चाहेंगे।

मारीशस के कई हिंदी लेखकों को भुलाया जा रहा था। **स्व. व्रजनाथ माधव** के थोड़े ही नामलेवा रह गये थे। कुछ ही लोग याद करते हैं कि उन्होंने फ्रैंच साहित्य की अमर कृतियों का सुंदर **हिंदी में रूपांतर** किया है। **री अ.वा. फुन्दन बी.ए. (लंदन)** एक मात्र उर्दूभाषी हैं जिन्होंने हिंदी में एक पुस्तक लिखी है। मराठी होने पर भी स्व. आत्माराम ने अनेक पुस्तकें लिखीं जो अब अनुपलब्ध हैं। ऐसे महानुभावों की देन पर पूरा प्रकाश डाला गया है। अब तो हमें इतनी पुस्तकें प्राप्त हो गई हैं कि सब को पढ़ पाने की संभावना न रही। यह विशेषांक न होता तो क्या मॉरीशस में और क्या भारत में नयी पीढ़ी को मूलम न होता कि १९४१ में हिंदी प्रचारिणी सभा ने प्रथम हिंदी साहित्य सम्मेलन का आयोजन करने का साहस किया था।

उक्त सभा के जन्मकाल में उसके एक दो साहसी सदस्य भारत पहुँचे थे। उन्होंने १९३६ में **पं. मदन मोहन मालवीय** से संदेश लेकर ही दम लिया था। तब 'मारीशस नाम बिरले लोगों ने ही भारत में सुना था।

एक सुझाव और वह यह है कि हिंदी प्रचारिणी सभा स्थापना अर्द्धशती के अवसर पर जो श्रेष्ठ निबंध पुरस्कृत हुए थे उनके लिए आगामी अंकों में स्थान बनाया जाय।

विष्णुदयाल/मारीशस।

'गगनांचल' का बहुप्रतीक्षित 'मारीशस अंक' देखकर मारीशस के हिंदी भाषियों की प्रसन्नता की सीमा नहीं रही। इस अंक ने जहाँ एक ओर मारीशस के भारतीय मूल के लोगों की सांस्कृतिक और सामाजिक जीवन तथा स्वभाषा-प्रेम का उज्ज्वल परिचय दिया है वहीं, दूसरी ओर मारीशस के जाने-माने रचनाकारों के साथ-साथ भारत के लिए उन अज्ञात और साथ ही नवोदित लेखकों की रचनाओं को छापकर ऐसे उत्साही लेखकों को अपार प्रोत्साहन भी दिया है, इसमें संदेह की गुंजाइश नहीं रहेगी कि ये लेखक पहले की अपेक्षा अत्यधिक आत्मविश्वास और परिश्रम से लेखन में प्रवृत्त होने की प्रेरणा पायेंगे।

वैसे मारीशस का पहले से ही भारत से रक्त का संबंध रहा है। यही नहीं बल्कि सांस्कृतिक और धार्मिक रज्ज से मारीशस भारत से जुड़ा भी है। इसी से मारीशस के एक कवि ने कहा है कि 'मारीशस भारत-माता के हृदय का एक टुकड़ा है, जिसकी सांस्कृतिक और धार्मिक धड़कनें डेढ़ सदी के प्रतिकूल परिवेश में भी कभी धीमी नहीं पड़ी।'

मारीशस की स्वाधीनता के बाद हिंदी के माध्यम से साहित्यिक रूप से भी मारीशस-भारत के मधुर संबंधों को सुदृढ़ करने के लिए लालायित है, यह तथ्य ''गगनांचल'' के सुविज्ञ पाठकों के सामने उजागर हुए बिना न रहा होगा।

हिंदी प्रचारिणी सभा के संबंधित, प्रचुर सामग्री पढ़कर भारतीय पाठकों को इस बात की भी झलक मिली होगी कि अपनी अस्मिता को बनाये रखने और अपने पूर्वजों की विरासत की रक्षा के लिए मारीशस के प्रवासी भारतीयों ने कितना कुछ किया है। पत्रिका निश्चय ही महत्वपूर्ण बन पड़ी है। मेरी बधाई स्वीकार करें।

नारायणपत देसाई/हिंदी अध्यापक एवं नाटककार/१५, सुखदेव विष्णुदयाल गली/मारीशस।

हिन्दी प्रचारिणी सभा, मारीशस की स्वर्ण जयंती पर **आई. सी. सी. आर.** नई दिल्ली की **गगनांचल** पत्रिका का 'मारीशस अंक' विषय वस्तु और सज्जा दोनों ही दृष्टियों से संग्रहणीय है। इसमें मारीशस के लेखकों की कलम से भारतीय आप्रवासियों के दुख-दर्द और वेदना को सजीव अभिव्यक्ति मिली है। मारीशस के नये-पुराने हस्ताक्षर इसमें एक साथ अभिव्यक्ति पा सके हैं यह प्रसन्नता की बात है। इस सुंदर अंक के लिये मेरी बधाई स्वीकार करें।

डॉ. मुनीश्वर लाल चिंतामणि/अध्यक्ष, भाषा विभाग/महात्मा गांधी संस्थान/मोका।

हिंदी प्रचारिणी सभा की स्वर्णजयंती पर **'गगनांचल'** का मारीशस अंक देखकर बहुत प्रसन्नता हुई। कुछ लेख निश्चय ही वास्तविकता के फलक पर प्रशंसनीय हैं। डॉ. रामयाद का संस्मरण यदि हृदय को छूता है, तो डॉ. हरगुलाल गुप्त का लेख 'हिंदी का विश्वस्तरीय रूप और मारीशसीय हिंदी' मन में स्वाभिमान जगाता है, सुश्री विदवंती अजुध्या का लेख यदि मारीशसीय बालसाहित्य की झाँकी देता है, तो डॉ. मुनीश्वर लाल चिंतामणि के लेख में एक अपनापन झाँकता है। सारे लेख, कहानी और नाटक अतीत में ले जाते हैं और अतीत हमारी बहुत बड़ी धरोहर है। विशेषांक के लिये बधाई।

श्री मूलशंकर रामधनी/हिंदी प्रवक्ता/महात्मा गांधी संस्थान तथा/महासचिव, आर्यसभा/मारीशस।

हमारे बाप-दादे भारत से गन्ने के खेतों में काम करने के लिये यहाँ आये थे उनके पास उस समय केवल कुछ धार्मिक पुस्तकें थीं, उन्हीं पुस्तकों के माध्यम से उन्होंने अक्षर-ज्ञान प्राप्त किया और अपनी अस्मिता को बनाये रखा। आज मारीशस में हिंदी प्रचारिणी सभा तथा अन्य अनेक संस्थायें हिंदी-प्रचार में लगी हैं और इन्हीं के माध्यम से अपने प्रारंभिक दिनों में हमने अपनी पहचान बनायी थी। यह खुशी की बात है कि 'गगनांचल' का एक अंक हमें देकर न केवल हिंदी प्रचारिणी सभा का सम्मान किया है, बल्कि हम सब मारीशस के हिंदी प्रेमियों को अपना अतिम प्यार दिया है। हमारी बधाई स्वीकार करें।

श्री सुदामा गिरधारी/वरिष्ठ इन्स्पैक्टर ऑफ स्कूल्स तथा महासचिव/ब्राह्मण महासभा मारीशस।

गत वर्ष जब 'गगनांचल' का मारीशस अंक प्रकाशित होने वाला था मैं हिंदी प्रचारिणी सभा के साथ संलग्न था। हमें बड़ी प्रतीक्षा थी इस अंक के प्रकाशित होने की और जब अंक छपकर आया तब मन इसे देखकर पुलकित हो उठा। इसकी छपाई इसकी सज्जा, इसकी सामग्री सबकी प्रशंसा कैसे की जाय। ऐसे लगता है कि यह भारत की जनता का महान प्यार है जो मारीशस वासियों के लिये अनेक रंगों में छलक पड़ा है। हमारा प्यार और आदर स्वीकार करें।

श्री नूतन राजपोत/महासचिव/नीलकंठ शिवालय/लोग माउंटेन/मारीशस।

'गगनांचल' के 'मारीशस अंक' में डॉ. हर गुलाल गुप्त का 'हिंदी का विश्वस्तरीय रूप और मारीशस में हिंदी' लेख बहुत खोजपूर्ण है, इसे पढ़कर मैं बहुत प्रभावित हुआ। साथ-साथ हिंदी संबंधित जो पुस्तक में लिख रहा हूँ उसके लिये अच्छी सामग्री भी मिल गई।

यह अंक हर दृष्टि से सुंदर और संग्रहणीय बन पड़ा है।

इंद्र देव भोला इंद्रनाथ/सचिव/हिंदी लेखक संघ/मारीशस।

'गगनांचल' का 'मारीशस अंक' बहुत सुंदर और चित्ताकर्षक है। सामग्री की दृष्टि से यह अंक एकदम महत्वपूर्ण है। इसमें प्रकाशित लेख काफी खोजपूर्ण हैं और उन्हें मारीशस का सांस्कृतिक इतिहास कहा जा सकता है। हिंदी के प्रचार-प्रसार में जो नाम अब इतिहास बनते जा रहे हैं वह इस अंक के द्वारा एक बार फिर आँखों के सामने चलचित्र की तरह घूम जाते हैं। हमारी हार्दिक बधाई स्वीकार करें।

श्री हरिनारायण सीता/वरिष्ठ हिंदी अध्यापक/मारीशस।

इस अंक के लेखक

डॉ. जगदीश गुप्त
जन्म : १९२६ ई. शाहबाद हरदोई, उत्तरप्रदेश।
नयी कविता के सफल कवि और आलोचक, मनीषी साहित्यकार और चित्रकला की विभिन्न शैलियों तथा विधाओं से चित्र-रचना में रुचि।
संप्रति : प्रोफेसर, हिंदी विभाग, प्रयाग वि. वि.

प्रभाकर माचवे
जन्म : २६ दिसंबर, १९११, ग्वालियर, म. प्र.।
शिक्षा : दर्शनशास्त्र तथा अंग्रेजी में एम.ए., पी.-एच.डी. हिंदी की प्रयोगशील कविता के विशिष्ट हस्ताक्षर। मंत्री, मज़दूर संघ इंदौर। दर्शन के प्राध्यापक उज्जैन, आकाशवाणी, साहित्य अकादमी, संघ लोक सेवा आयोग में विशिष्ट पदों पर कार्य।
संपर्क : ई-१८०, ग्रेटर कैलाश पार्ट-II, नई दिल्ली।

डॉ. रणबीर रांग्रा
हिंदी के विद्वान। उपन्यासों पर विशेष कार्य।
प्रसिद्ध कवियों और लेखकों से साक्षात्कार की नई विधा का प्रतिमान स्थापित करने वाले लेखक। निवृत निदेशक, केंद्रीय हिंदी निदेशालय।
संपर्क : सी ७/१८०, नवीन निकेतन, नई दिल्ली।

डॉ. गोपाल शर्मा
प्रसिद्ध हिंदी भाषा विज्ञान के विद्वान, शिक्षाशास्त्री, कवि, आलोचक। केंद्रीय हिंदी निदेशालय के निवर्तमान निदेशक। अनेक राष्ट्रीय और अंतर्राष्ट्रीय भाषाविज्ञान की समितियों से संबद्ध। सदस्य (कार्यकारिणी) हिंदी अकादमी, दिल्ली।
संप्रति : सी-८ सी. डी.डी.ए. फ्लैट्स, मायापुरी, नई दिल्ली-११००६४.

प्रताप सहगल
कवि, कथाकार, समीक्षक। इन्होंने अपनी यथार्थपरक लंबी कविताओं और नाटकों से विशेष पहचान बनाई है। अनेक नाटकों का सफल मंचन हुआ है और वे लोकप्रिय हुए हैं। अनेक रचनाओं का अंग्रेजी, बंगला, गुजराती, पंजाबी, पश्तों, नेपाली आदि में अनुवाद।
संपर्क : प्राध्यापक, हिंदी-विभाग, दिल्ली कालेज।

डॉ. विजयेंद्र स्नातक	संस्कृत, हिंदी के प्रसिद्ध विद्वान। राधा-वल्लभ संप्रदाय के सिद्धांत और साहित्य पर विशेष शोध, जो इस भक्ति आंदोलन का स्रोत-ग्रंथ हो गया है। प्रसिद्ध समीक्षक, आलोचक। दिल्ली विश्वविद्यालय के निवृत हिंदी विभागाध्यक्ष। संपर्क : ई-५/३, राणाप्रताप बाग, नई दिल्ली।
कुबेरनाथ राय	हिंदी तथा अंग्रेजी के लेखन में समान गति। ललित निबंध के क्षेत्र में विशेष ख्याति प्राप्त रचनाकार, चिंतक, भारतीय संस्कृति एवं परंपरा के विद्वान संप्रति : प्राचार्य, गवर्नमेंट कालेज नलवारी, (असम)।
डॉ. नीलम गुप्त	एम.ए. (हिंदी, इतिहास), पी.एच.डी.। पत्र-पत्रिकाओं में रचनाएँ। संप्रति : मेरठ विश्वविद्यालय के हिंदी विभाग से संबद्ध इस्माइल नेशनल स्नातकोत्तर डिग्री कालेज के हिंदी प्रोजेक्ट के अंतर्गत उच्च स्तरीय शोध कार्य में संलग्न।
डॉ. उमादत्त शर्मा 'सतीश'	जन्म : ११ मई, १९३७। गाँव महड़ (मोहन नगर) जिला चमोली, गढ़वाल (उ. प्र.)। शिक्षा : एम.ए. (हिंदी और भाषा विज्ञान), पी.-एच.डी. कुछ वर्ष सूरीनाम में हिंदी प्राध्यापक। नीदरलैंड में हिंदी के प्रचार-प्रसार से संबद्ध। विदेशों में हिंदी पर किये जा रहे कार्यों के ऊपर कुछ विशिष्ट पुस्तकें।
हरदयाल	आधुनिक हिंदी कविता और साहित्य के विख्यात आलोचक। संपर्क : एच-५०, पश्चिमी ज्योतिनगर, शाहदरा, दिल्ली-११००३२.
यश मालवीय	उभरती हुई नयी पीढ़ी के कवि, गीतकार। अपने ताज़ा बिम्बों और नयी संवेदना भूमि से क्रमशः विकासशील प्रतिभा। संपर्क : 'रामेश्वरम्', ए-१११ मेहदोरी कालोनी, इलाहाबाद (उ.प्र.) २११११४.
डॉ. रामदरश मिश्र	जन्म : १५ अगस्त, १९२४, गोरखपुर के डुमरी गाँव में। शिक्षा : एम.ए., पी.-एच.डी. छह कविता संग्रह, दस उपन्यास, छह कहानी संग्रह। 'कितने बजे हैं' (ललित निबंध संग्रह) और 'यहाँ मैं खड़ा हूँ' (सफरनामा) प्रकाशित। संपर्क : आर-३८, वाणी विहार, उत्तम नगर, नई दिल्ली-११००५९.
शंकरदयाल सिंह	सुपरिचित लेखक एवं पत्रकार। देश की विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में निरंतर लेखन। अब तक विभिन्न विधाओं में १५ पुस्तकें प्रकाशित। भूतपूर्व सांसद (लोक सभा) एवं 'मुक्तकंठ' के संपादक रहे। देश की कई साहित्यिक-सांस्कृतिक संस्थाओं से संबद्ध।
डॉ. दिनेश चंद्र अग्रवाल	जन्म : मेरठ (उ. प्र.) १९४१ ई.। शिक्षा : एम.ए. (चित्रकला) पी.-एच.डी. हिंदी की शीर्षस्थ पत्र-पत्रिकाओं में शोध निबंध। पहाड़ी क्षेत्रीय राज्यों की पहाड़ी कला विषयक रिसर्च।

संपर्क : प्रवक्ता, चित्रकला-विभाग, जे. वी. जैन कालेज, सहारनपुर।

डॉ. गंगाप्रसाद विमल

अपने ही ढंग की अलग कहानियाँ लिखने के लिये विख्यात अपने समय के चर्चित एवं विवादास्पद लेखक। कथाकार, उपन्यासकार, आलोचक, अनुवादक होने के साथ-साथ उत्कृष्ट कवि भी। कई देशों की यात्रा व वहाँ के साहित्य पर अनुवाद कार्य। इनकी रचनाओं के अनुवाद अंग्रेजी, स्पेनी, रूसी, इतावली, पालिश, फ्रांसीसी, डेनिस, बल्गारियाई, लातवियन, इस्पहानी भाषाओं में हुए हैं।

ऑथर्स गिल्ड ऑफ इंडिया के उपाध्यक्ष।

संप्रति : रीडर, (हिंदी विभाग) जाकिर हुसैन कॉलेज, दिल्ली।

संपर्क : ई-ए/११ डब्लू इ ए, करौलबाग, नयी दिल्ली-११००५०।

डॉ. रणजीत साहा

हिंदी, संस्कृत, बंगला के विद्वान लेखक। कला, साहित्य, कविता के क्षेत्र में समीक्षात्मक कार्य। वेद, पुराण, मिथक तथा भारत की सांस्कृतिक परंपरा के समर्थ अध्येता एवं व्याख्याकार।

संप्रति : सहायक संपादक, साहित्य अकादमी रवींद्र भवन, फिरोजशाह रोड, नयी दिल्ली।

सुरेश ऋतुपर्ण

जन्म : १९४९, मथुरा (उ. प्र.)।

शिक्षा : एम.ए., एम. लिट्।

'अकेली गौरैया देख' (कविता-संग्रह) उत्तर प्रदेश हिंदी संस्थान द्वारा पुरस्कृत। साहित्य की विविध विधाओं पर कुछ पुस्तकें। फीजी और आस्ट्रेलिया की यात्रा व रचनात्मकता।

संप्रति : प्राध्यापक (हिंदी विभाग) हिंदू कालेज, दिल्ली। □

गगनाञ्चल

वर्ष १० अंक ३ १९८७

रेखाचित्र

हास्य-व्यंग्य

पुस्तक-समीक्षा

सांस्कृतिक गतिविधियाँ

साहित्यिक संगोष्ठी

पत्र-पत्रांश

श्रीकृष्ण जन्माष्टमी पर विशेष

आदमी की संपूर्णता का संदेश

डॉ. कैलाश वाजपेयी

शून्यता में सब कुछ समाया हुआ है। आधुनिकतम विज्ञान के अनुसार हम अब तक निर्भार, निर्वात को कोरा खालीपन समझते थे मगर वहाँ सभी कुछ घट रहा है। दूसरे शब्दों में कोरी शून्यता भी खाली नहीं, भरी हुई है। अगर हम निर्वात की गहराइयों में कूदें तो दशमलव बिंदु से आगे हमें नृत्य करते हुए न्यूट्रिनों नाम के ऊर्जाणु मिलेंगे और ये ऊर्जाणु भी तब झलकेंगे जब दशमलव बिंदु के आगे बत्तीस सिफ़र और लगाए जाएँ। न्यूट्रिनों का वर्णन बिंबों की भाषा में अगर किया जाए तो यह कुछ ऐसा होगा जैसे तोपों की गड़गड़ाहट के बीच छोटा बच्चा ताली बजाए।

इस संदर्भ में कृष्ण का यह कथन याद आता है जहाँ वे अर्जुन से कहते हैं : अर्जुन जहाँ-जहाँ तक मेरी आठ गुणों वाली प्रकृति है वह अपरा है। इसके आगे मेरी परा प्रकृति है। परा प्रकृति के रहस्यों को आज तक नहीं जाना जा सका। मगर कृष्ण के पास आकर जरूर ऐसा लगता है कि जैसे पूर्णता और शून्यता का एक अपरिमोषण समुद्र हहरा रहा है। विश्व के इतिहास में श्रीकृष्ण जैसा दूसरा विराट व्यक्तित्व खोजे नहीं मिलता। कृष्ण इस सृष्टि में शुभ और अशुभ दोनों को एक सी सहज़ता के साथ स्वीकार करते हैं। वे योगी-भोगी दोनों हैं। वे एक साथ नीतिज्ञ, संगीतज्ञ, जननेता; योद्धा, राजपुरुष और ग्वाले हैं। वे उत्कृष्ट प्रेमी और विकट निर्मोही हैं। शायद इन्हीं विविध वृत्तियों में कृष्ण की महानता छिपी है। वे सर्वगुण संपन्न महान प्रतिभा के पुत्र थे, ऐसा नहीं कि इतिहास ने दूसरे महापुरुष नहीं पैदा किए, मगर वहाँ न रस है, न उत्सव, न संगीत है, न प्रेम। बस दमन ही दमन है। ऐतिहासिक दृष्टि से लगता है मनुष्य जाति द्वैत की भाषा ही बोलती आई है। पाप है इसलिए पुण्य को, असुंदर है इसलिए सुंदर को अपनाना, उसे पाना जरूरी है। मगर हम यह भूल जाते हैं कि दमन भी एक तरह की आत्महत्या है। इसीलिए कृष्ण जीवन को, राग तत्त्व को उसी स्तर पर स्वीकार करते हैं जिस स्तर पर वे अर्जुन को युद्ध में उतरने के लिए कहते हैं। वे भीतर से अहिंसक हैं इसीलिए नितांत निर्विकार भाव से हिंसा में उतर जाते हैं। पुरुष हैं इसलिए सोलह हज़ार नारियों को अंगीकार करते हैं। दूसरे शब्दों में कृष्ण द्वंद्व की सीमा के उस पार हैं।

सामान्यतया यह कहा जाता है कि मनुष्य अगर संसार को छोड़ दे वनवासी हो जाय तो मन शांत हो जाता है, दु:ख मिट जाता है। लेकिन कृष्ण इसके ठीक विपरीत संसार और संघर्ष के बीच रहकर एक ऐसी मन:स्थिति की ओर इशारा करते हैं जहाँ व्यक्ति अधीर या अशांत नहीं है।

श्रीकृष्ण ने अर्जुन को उठकर युद्ध करने के लिए प्रेरित किया। मगर यदि पूरे घटनाचक्र को सही परिप्रेक्ष्य मे देखा-समझा जाए तो कृष्ण युद्धवादी नहीं ठहरते। युद्ध न हो, कृष्ण ने इसके लिए हर संभव उपाय किया। मगर जब कृष्ण ने देखा कि धर्म को बचाने का और कोई उपाय नहीं है तो उन्हें विवश होकर युद्ध की भूमिका बनानी पड़ी। जब शांति को रखने बचाने का कोई उपाय नहीं रह जाता तो हम लड़कर भी शांति लाने का प्रयत्न करते हैं। कृष्ण ने भी वही किया। पूरे प्रयत्नों के बावजूद जब कृष्ण ने देखा कि युद्ध अनिवार्य है तो फिर उन्होंने कहा कि युद्ध ही हो और जमकर हो, आनंद के साथ हो ताकि शुभ फलित हो।

कृष्ण के चिंतन को हमने सही ढंग पर नहीं समझा या फिर यह भी कहा जा सकता है कि कालांतर में श्रमण परंपरा के सिद्धांतों को अपनाने और बरतने की कोशिश में हम सामूहिक रूप से क्लीव होते गए। अहिंसा की अधपकी समझ ने हमें कायर बना दिया।

जीवन को परिभाषित करने के दो ही ढंग हैं, एक नकारवादी दूसरा सकारवादी। जो निषेध को लेकर चलता है वह 'मैं' को मिटाता है। जो विधेय को अपनाकर चलता है वह 'मैं' का विस्तार करता है, इतना कि उसमें 'तू' भी समा जाता है। इसीलिए अंत क्षणों में विधेयवादी अद्वैत में घुल जाता है मगर निषेधवादी अंत तक 'मैं' से ही लड़ता रहता है। और क्योंकि 'मैं' की मृत्यु मुश्किल है इसलिए निषेधवादी के लिए अंत तक 'तू' भी सामने मुँह खोले खड़ा रहता है। वह आख़ीर तक 'तू' की वजह से द्वैत का शिकार भी बना रहता है। कृष्ण का रास्ता स्वीकार का रास्ता है। वह शुरू से ही सिद्धि की तरफ ले जाता है। कृष्ण ने अर्जुन को सिर्फ याद भर दिलाया है कि कर्ता तू नहीं है। अगर तेरे भीतर से कर्ता होने का भाव गिर जाए, माध्यम होने का भाव आ जाए तो तू उस पीड़ा से छुटकारा पा जाएगा जो तुझे कर्तापन के कारण हो रही है। कृष्ण अर्जुन को झकझोरते हैं कि तू देख कि तू कौन है। तू दरअसल है क्षत्रिय, तेरा काम ही युद्ध करना है और तू बातें विद्वानों वाली कह रहा है, पंडितों वाली कह रहा है कि गुरुजन मर जाएँगे, संबंधी मर जाएँगे, यह मर जाएगा, वह मर जाएगा। जबकि कोई मरता नहीं सिर्फ तू विस्मरण का शिकार है और अपने कर्तव्य से पलायन करना चाह रहा है। जबकि श्रेयस्कर सिर्फ अपने ही कर्तव्य में मरना होता है।

साक्षी बनकर अपने द्वारा होने वाले कृत्यों को देखना कठिन कार्य है इसलिए कि अपना गवाह बनने में 'मैं' को अपने से दूर रखकर देखना होता है। मनुष्यता के इतिहास में यह तरकीब सबसे पहले कृष्ण ने सुझाई और वह भी जनसाधारण को नहीं अर्जुन जैसे विशिष्ट व्यक्ति को सुझाई। इसलिए रूपांतरण व्यक्ति का ही हो सकता है। सामान्यतया समाज को सुधारने वाले जो भी दर्शन हैं उनका कहना है कि मनुष्य दुखी इसलिए है क्योंकि समाज में बुराई है। समाज को बदल डालो तो मनुष्य सुखी हो जाएगा। जबकि कृष्ण का कहना है, "बदलाव जब भी आएगा व्यक्ति में आएगा। व्यक्ति बदलेगा तो समाज बदलेगा।" और व्यक्ति दबाव या दमन से नहीं बदलता, अपना दर्शक अपना साक्षी होकर बदलता है।"

दुनिया के इतिहास में कृष्ण अकेले महापुरुष हैं जिन्होंने युद्ध न लड़कर भी युद्ध किया। राज्य न करके भी शासन संभाला, भोग करके भी योग साधा। प्रेम करते हुए भी तटस्थ रहे। गृहस्थ होकर भी संयासी रहे। कृष्ण क्योंकि ढेरों विपरीत दिखने वाली घटनाओं का विराट संगम हैं इसलिए अक्सर कृष्ण को समझ पाना कठिन है। मगर यह विरोध ही कृष्ण को पूर्णता प्रदान करता है इसलिए कि सत्य भी अनेक पक्षों की मंजूषा होता है। जिस तरह हर बच्चा बुढ़ापे का छोर है या हर बूढ़ा जवानी की परिणति इसी तरह कृष्ण को भी परिभाषा में नहीं बाँधा जा सकता। इसलिए कि कृष्ण एक निरंतर विकसमान विराट की तरह हैं जिसमें अगर कई सूर्य मर रहे हैं तो सैकड़ों नक्षत्रों का जन्म भी हो रहा

है। जिसमें एक ओर अगर सब कुछ कृष्ण विवर में समा रहा है तो दूसरी ओर शुक्ल विवर से होकर बाहर भी आ रहा है।

कृष्ण ने गीता के रूप में अर्जुन से जो कहा है वह मूलत: आद्य मनोविज्ञान है। पता नहीं क्यों गीता को मात्र हिंदू जाति से जोड़ दिया गया जबकि सचमुच इसका संबंध संपूर्ण मानवीय जीवन और मनोविज्ञान से होना चाहिए। इसलिए कि कृष्ण आदमी को एक संभावना मानते हैं। उनका संदेश सिर्फ इतना भर है कि आदमी यह जाने कि वह कौन है और उसके भीतर छिपी रचनात्मक ऊर्जा क्या है, उसमें कितनी सर्जनात्मक संभावनाएँ हैं। आदमी सही समय पर अपनी सही संभावनाओं को जान जाए और जान ही नहीं जाए उन्हें बरतने में हिचकिचाए नहीं वरन् पूरी निष्ठा के साथ उन्हें चरितार्थ करने में लग जाए और ऐसा करने की प्रक्रिया में, 'महत्व बोध' से ग्रस्त न हो तो ऐसे आदमी को हारकर भी हारने की पीड़ा नहीं होती और जीतकर मिथ्याभिमान नहीं होता।

दुनिया में अधिकांश दुख नैतिक नियमों या नीतिशास्त्र को लेकर हैं। क्या करना चाहिए क्या न करना चाहिए। कृष्ण इससे अलग सिर्फ इतना भर पूछते हैं कि कुछ भी करते समय तुम्हारी मन:स्थिति क्या है सब कुछ इसी पर निर्भर है। इसलिए कृष्ण व्यक्ति और उसकी मन:स्थिति पर जोर देते हैं ताकि द्वंद्व मिट जाए। ऐसा तभी हो सकता है जब व्यक्ति गहन तन्मयता में डूबकर कुछ कर रहा हो खंडित न हो, अन्यमनस्क न हो।

दूसरे शब्दों में कृष्ण ने आदमी को संपूर्ण होने का मार्ग सुझाया है, इंद्रियों की गिरफ्त से बाहर जाने का मार्ग सुझाया है।

ऐसा लगता है कृष्ण से होकर विराट बोला था। पूर्णता ने खण्ड के आगे पहली बार अपना भेद खोला था।

□

अनुसंधान

कहाँ थी श्रीकृष्ण की द्वारिका?

गुणाकर मुले

महाभारत के श्रीकृष्ण मथुरा के नहीं, द्वारिका के श्रीकृष्ण हैं। द्वारिका में बस जाने के बाद ही महाभारत में पहली बार द्रौपदी के स्वयंवर में कृष्ण प्रकट होते हैं। द्वारिका में बस जाने के बाद कृष्ण फिर शायद मथुरा कभी नहीं गये। द्वारिका से नातिदूर प्रभास तीर्थ के पास ही उनका देहोत्सर्ग हुआ। इन्हीं सब कारणों से भारतीय पौराणिक साहित्य में द्वारिका की बड़ी ख्याति है। चार धामों और सप्तपुरियों में द्वारिका की गणना होती है।

द्वारिका की इतनी अधिक महिमा होने पर भी अनेक विद्वानों का मत रहा है कि आधुनिक द्वारिका कृष्ण की द्वारिका नहीं है, कि कृष्ण की द्वारिका समुद्र में डूब गई है। और, अब समुद्री पुरातत्व के अन्वेषणों से जानकारी मिल रही है कि कृष्ण की द्वारिका सचमुच ही समुद्र में डूब गई थी और महाभारत के उल्लेखों में सत्यता है। यह भी प्रमाणित हो रहा है कि द्वारिका और बेट-द्वारिका, दोनों ही स्थल, न केवल महाभारत-काल (लगभग १५०० ई.पू.) में आबाद थे, बल्कि उत्तर-हड़प्पा-काल (ईसा पूर्व १९वीं से १६वीं सदी) में भी यहाँ बस्तियाँ थीं, बंदरगाह (पत्तन) थे।

तो क्या श्रीकृष्ण की द्वारिका के स्थान पर ही आधुनिक द्वारिका बसी हुई है? सौराष्ट्र में द्वारिका या मूल-द्वारिका के नाम से और भी कई स्थल प्रसिद्ध हैं। कृष्ण और यादवों के कार्यकलापों से संबंधित कई घटनाएँ वर्तमान द्वारिका के असली द्वारिका होने के बारे में संशय पैदा करती हैं। परंतु इधर के कुछ वर्षों के समुद्री पुरातत्व के अन्वेषणों से ये संशय कुछ मिटते जा रहे हैं। महाभारत के कृष्ण की द्वारिका और वर्तमान द्वारिका के बारे में एक समीकरण-सा स्पष्ट होता जा रहा है। यहाँ हमें इसी समीकरण की चर्चा और जांच-पड़ताल करनी है।

सर्वविदित है कि मगधराज जरासंघ की महाशक्ति से आक्रांत होकर श्रीकृष्ण और यादवों ने मथुरा छोड़ दी थी। महाभारत के सभापर्व में कृष्ण युधिष्ठिर को जानकारी देते हैं:

वयं चैव महाराज जरासंधभयात्तदा।
मथुरां संपरित्यज्य गता द्वारवतीं पुरीम्।।

(महा. २.१३.६५)

अर्थात्, 'महाराज, जरासंघ की शक्ति से भयभीत होकर हमने मथुरा छोड़ दी और हम द्वारवती (द्वारिका) चले गये।'

पुराणों से जानकारी मिलती है कि जरासंघ ने अठारह बार मथुरा पर चढ़ाई की थी। अंतिम चढ़ाई में उसने एक विदेशी शासक **कालयवन** को भी मथुरा पर हमला करने के लिए प्रेरित किया था। तब कृष्ण-बलदेव ने मथुरा छोड़कर कहीं दूसरी जगह चले जाना ही बेहतर समझा।

हरिवंश में यादवों के मथुरा छोड़ने का एक और कारण बताया गया है। कृष्ण ब्रजवासियों से कहते हैं—'हम लोग यहाँ संख्या में भी बहुत बढ़ गये हैं, इसलिए भी हमारा इधर-उधर फैलना आवश्यक हो गया है!'

द्वारवती या द्वारिका को **कुशस्थली** भी कहते थे। कुशस्थली द्वीप के रूप में द्वारवती या द्वारिका पहले से आबाद थी, कृष्ण ने उसका जीर्णोद्धार किया। हरिवंश से जानकारी मिलती है कि विश्वकर्मा और अन्य शिल्पियों के सहयोग से उस प्राचीन नगरी का जीर्णोद्धार किया गया। **देवीभागवत** में भी यही सूचना है—**शिल्पिभिः कारयामास जीर्णोद्धारम्।**

बचपन में भागवत और महाभारत की कथाएँ सुनता, तो सोचता था—कृष्ण और यादव मथुरा छोड़कर इतनी दूर पश्चिमी समुद्र-तट के स्थल द्वारिका में जाकर क्यों बस गये? कारण अब समझ में आता है। दरअसल, उस समय मथुरा और द्वारिका, दोनों ही स्थल, यादव-शक्ति के महत्वपूर्ण केंद्र थे। यहाँ हम पुराणों की वंशावलियों में नहीं उलझेंगे। ययाति के एक पुत्र **यदु** से लेकर भीम-सात्वत तक की पौराणिक वंशावली में काफी उलझनें हैं (यदु से ही यादव वंश की स्थापना हुई है, **यदोस्तु यादवा** .... महाभारत)। भीम-सात्वत के पुत्र थे—अंधक और वृष्णि। अंधक मथुरा के अधिकारी हुए और वृष्णि द्वारिका के। जिस समय कंस के पिता उग्रसेन मथुरा के शासक थे, उस समय द्वारिका के वृष्णि वंश में शूर के पुत्र वसुदेव हुए। उग्रसेन के भाई देवक की बड़ी पुत्री देवकी का विवाह वसुदेव से हुआ। कृष्ण इन्हीं की संतान थे।

सारांश यह कि, यादव वंश के लोग न केवल मथुरा में, बल्कि अवंती, विदर्भ, महिष्मती, दशार्ण और द्वारिका आदि क्षेत्रों में भी बसे हुए थे। इनमें मथुरा और द्वारिका यादवों के प्रमुख केंद्र थे। दोनों ही समृद्ध नगर थे—मथुरा स्थलमार्गों का प्रमुख केंद्र होने के कारण और द्वारिका पश्चिमी समुद्र-तट का एक प्रसिद्ध पत्तन होने के कारण।

कृष्ण के पहले की कुशस्थली या द्वारवती या द्वारिका के बारे में भी पुराणों में थोड़ी-बहुत जानकारी मिलती है। शर्याति के पुत्र **आनर्त** के नाम पर उत्तरी गुजरात के इस प्रदेश को प्राचीन काल में **आनर्त** भी कहते थे। यह भी पता चलता है कि इसी वंश के शासक **रैवत** ने कुशस्थली की स्थापना की थी। रैवत ने समुद्र के मध्य की भूमि पर कुश बिछाकर यज्ञ किये थे, इससे इसे कुशस्थली कहा गया। कुश नामक एक राक्षस की कथा भी पुराणों में पढ़ने को मिलती हैं। वर्तमान द्वारिका के रणछोड़जी के मंदिर के पास कुशेश्वर-शिवलिंग मंदिर है, जिसके दर्शन किये बिना आज भी द्वारिका-यात्रा अधूरी मानी जाती है।

क्या इससे यह निष्कर्ष नहीं निकलता कि कुशस्थली हड़प्पा-संस्कृति का एक स्थल था, और वहाँ लिंग-पूजा का प्रचलन था? सौराष्ट्र में हड़प्पा-संस्कृति के अनेक स्थल मिले हैं। लोथल हड़प्पा-काल में एक प्रसिद्ध बंदरगाह था। द्वादश ज्योतिर्लिंगों में प्रभास या सोमनाथ का नाम सर्वप्रथम आता है। तात्पर्य यह है कि, द्वारकाधीश के सहयोग के बावजूद इस प्रदेश से लिंग-पूजा के प्रभाव को कम कर पाना संभव नहीं हुआ!

मथुरा से कृष्ण के महाभिनिष्क्रमण का विवरण जितना स्वाभाविक है, उतना ही स्वाभाविक व मानवीय है महाभारत के **मौषलपर्व** में यादवों के विनाश, श्रीकृष्ण के देहोत्सर्ग और द्वारिकापुरी के समुद्र में डूब जाने का विवरण। मौषल का अर्थ है मूसल। सर्वविदित है कि ऋषियों के शाप के कारण

यही मूसल मदोन्मत्त यादवों के विनाश का कारण बना। हमारे लिए महत्व की बात यह है कि यह विनाश वर्तमान द्वारिका से काफी दूर हुआ—प्रभासतीर्थ यानी सोमनाथ के समीप, जहाँ सरस्वती समुद्र में गिरती थी, वहाँ हुआ। कृष्ण, बलराम, प्रद्युम्न, अनिरुद्ध आदि सहित सभी यादव यहाँ जल-विहार के लिए आये थे।

यदि आप सौराष्ट्र के मानचित्र को देखें, तो स्पष्ट होगा कि वर्तमान द्वारिका और सोमनाथ के बीच काफी अंतर है। द्वारिका सौराष्ट्र के पश्चिमोत्तर तट पर स्थित है, तो सोमनाथ दक्षिणी-पश्चिमी तट पर। क्या सारे यादवों का, स्त्रियों को भी साथ लेकर, इतनी दूर जल-विहार के लिए जाना संभव था? इस महाविनाश में स्त्रियाँ बचीं, और वे द्वारिका पहुँचायी गईं। बाद में कृष्ण के आदेश के अनुसार अर्जुन द्वारिका आकर इन यादव स्त्रियों और बच्चों को हस्तिनापुर ले गये।

बलराम का देहांत प्रभासतीर्थ के पास हुआ। प्रभास के पास ही भालक तीर्थ में पीपल के एक पेड़ के नीचे बैठे श्रीकृष्ण के चरण में व्याध का बाण लगा था। प्रभास के पास ही हिरण्या, सरस्वती व कपिला नदियों का संगम-स्थल है। **प्राची-त्रिवेणी-संगम** के नाम से प्रसिद्ध इस स्थल पर कृष्ण का देहोत्सर्ग हुआ था।

प्रश्न उठता है—कहीं ऐसा तो नहीं है कि कृष्ण की द्वारिका प्रभास (सोमनाथ) के आसपास ही कहीं थी? पुराणों के उल्लेखों से जानकारी मिलती है कि प्रभास, रैवतक पर्वत और कृष्ण की द्वारिका एक-दूसरे के आसपास थे। रैवतक आज का गिर पर्वत है, जो वर्तमान द्वारिका से काफी दूर दक्षिण काठियावाड़ में है। इसलिए कई विद्वानों का मत रहा है कि कृष्ण की द्वारिका प्रभास के आसपास ही थी, और समुद्र में डूब गई है। गुजराती के समर्थ साहित्यकार कन्हैयालाल माणिकलाल मुंशी का भी यही मत था।

और, प्रभास से थोड़ी दूरी पर एक तीर्थस्थल **मूल-द्वारिका** के नाम से प्रसिद्ध भी है। प्रभास से कुछ दूरी पर कोडीनार नामक एक स्थान है। वहाँ से करीब पाँच किलोमीटर की दूरी पर मूल-द्वारिका है। सौराष्ट्र में दूसरी -मूल-द्वारिका पोरबंदर (सुदामापुरी) के पास है। यहाँ भी रणछोड़राय का मंदिर है।

आधुनिक द्वारिका ओखा-मंडल में है। रेलमार्ग से द्वारिका तक पहुँचा जा सकता है। द्वारिका को **गोमती-द्वारिका** भी कहते हैं। पर गोमती कोई नदी नहीं है। यह एक बहुत बड़ा खाल है जिसमें समुद्र का जल भर जाता है। आज से कोई सौ साल पहले यह गोमती-खाल अधिक चौड़ा था। बड़ोदरा के गायकवाड़ों द्वारा दक्षिण में बांध बंधवा देने से यह खाल काफी छोटा हो गया है। प्राचीन काल में इसी खाल में दूर-दूर के जहाज पहुँचकर लंगर डालते होंगे। इस गोमती-खाल के उत्तरी तट पर कई घाट बने हुए हैं। गोमती की ओर से ५३ सीढ़ियाँ चढ़ने पर करीब ४५ मीटर ऊँचा रणछोड़राय या द्वारकाधीश का भारत-प्रसिद्ध मंदिर है। मंदिर परकोटे के भीतर है। शारदापीठ भी यहीं है।

अनुश्रुति है कि मूल-द्वारिका के समुद्र में डूब जाने के बाद जहाँ कृष्ण का अपना भवन था, वहीं पर उनके पौत्र **वज्रनाभ** ने द्वारकाधीश के मंदिर की प्रतिष्ठा की थी। लेकिन मौजूदा मंदिर उतना पुराना नहीं है। पता चलता है कि वर्तमान मंदिर १५वीं सदी में बना है। मंदिर का अंतर्भाग, जो **जगमंदिर** कहलाता है, उससे दो-ढाई सौ साल पहले बना हो सकता है। स्वतंत्रता-प्राप्ति तक द्वारिका और ओखा पर गायकवाड़ों का अधिकार रहा है, और उन्होंने ही इस मंदिर का जीर्णोद्धार भी किया है। वर्तमान मंदिर आधुनिक काल का है, यह इस तथ्य से भी प्रमाणित होता है कि मंदिर के प्रांगण में खुदाई करने पर तीन अधिकाधिक प्राचीन मंदिरों के अवशेष मिले हैं। इनकी चर्चा हम आगे करेंगे।

द्वारिका के पूर्वोत्तर में करीब ३५ किलोमीटर की दूरी पर कच्छ की खाड़ी में **बेट-द्वारिका है।** मराठी और गुजराती में द्वीप को 'बेट' कहते हैं। द्वारिका से करीब ३० किलोमीटर की दूरी पर ओखा बंदरगाह है। यहाँ से नौकाओं द्वारा बेट-द्वारिका पहुँचा जा सकता है। यह द्वीप दक्षिण-पश्चिम से पूर्वोत्तर करीब बारह कि.मी. लंबा है। यहाँ श्रीकृष्ण महल और उसके आसपास अनेक मंदिर हैं। श्रीकृष्ण महल से करीब एक किलोमीटर की दूरी पर **शंखोद्वार** तीर्थ है। कहते हैं कि यहाँ पर कृष्ण ने शंखासुर को मारा था। हमें तो यही लगता है कि इस द्वीप में समुद्र से शंखों और सीपियों को निकालने का काम बड़े पैमाने पर होता था, इसीलिए इस स्थल का नाम **शंखोद्वार पड़ा।** जो भी हो, इतना निश्चित है कि बेट-द्वारिका भी कृष्ण के कार्य-कलापों का एक प्रमुख स्थल रहा है। यह भी संभव है कि कृष्ण के समय में द्वारिका और बेट-द्वारका जमीन से जुड़े रहे होंगे या दोनों के बीच बहुत कम समुद्र रहा होगा।

महाभारत के मौषल पर्व में कृष्ण अर्जुन को सूचित करते हैं कि जब वह द्वारिका पहुँचेंगे तो, नगरी धीरे-धीरे समुद्र में डूबने लग जाएगी। अर्जुन जब द्वारिकावासी स्त्रियों और बाल-बच्चों को हस्तिनापुर ले जाने लगे तब उन्हें यह देखकर बड़ा विस्मय हुआ कि उन लोगों के निकलते ही समुद्र द्वारिकापुरी को धीरे-धीरे डुबोने लगा है। यही विवरण स्कंद-पुराण में भी है।

अनेक सवाल पैदा होते हैं—क्या श्रीकृष्ण की मूल-द्वारिका के स्थान पर ही वर्तमान द्वारिका बसी हुई है? द्वारिका और बेट द्वारिका में क्या संबंध रहा है? प्राचीन कुशस्थली द्वीप किसे माने—द्वारिका को या बेट-द्वारिका को? महाभारत के समय में न केवल द्वारिका या बेट-द्वारिका के अनेक भवन या स्मारक समुद्र में डूब गये होंगे, बल्कि सौराष्ट्र के समुद्र-तट के अन्य अनेक स्थल भी अवश्य समुद्र में डूब गये होंगे। इसलिए भी मूल-द्वारिका के स्थान को निर्धारित करना एक जटिल समस्या बन जाती है।

यही कारण है कि अभी करीब एक दशक पहले तक श्रीकृष्ण की द्वारिका के बारे में पूरे यकीन के साथ कुछ नहीं कहा जा सकता था। वर्तमान द्वारिका को कृष्ण की द्वारिका स्वीकार करने में अनेक कठिनाइयाँ थीं। लेकिन अब पिछले कुछ वर्षों के समुद्री पुरातत्व के अन्वेषणों से कुछ कठिनाइयां दूर हो गई हैं। अब यह प्रमाणित हो गया है कि वर्तमान द्वारिका और बेट-द्वारिका का इतिहास ईसा पूर्व १५वीं-१६वीं सदी तक पीछे चला जाता है। यहाँ तक भी कहा जा सकता है कि द्वारिका में उत्तर-हड़प्पा काल में भी बस्ती रही है। अब यह भी स्पष्ट हो गया है कि द्वारिका और बेट-द्वारिका, दोनों ही स्थल, प्रभास (सोमनाथ) से कम प्राचीन नहीं हैं। पिछले कुछ वर्षों में नये साधनों से द्वारिका और बेट-द्वारिका से जिस प्रकार पुरावशेष खोज निकाले गये हैं वह भारतीय पुरातत्त्व की एक रोमांचक गाथा है।

वर्तमान द्वारिका का रणछोड़राय मंदिर भले ही अधिक प्राचीन न हो, पर द्वारिका से प्राचीन अवशेष यदा-कदा अवश्य प्राप्त होते रहे हैं। कुछ साल पहले डॉ. जयंतीलाल जमनादास ठाकर ने अनेक प्रमाण देकर सिद्ध किया था कि द्वारिका एक अतिप्राचीन स्थल है। १९४० से १९६५ के बीच की कालावधि में प्रभास और द्वारिका में डॉ. हीरानंद शास्त्री, माधोस्वरूप वत्स, बी.के. थापर और डॉ. हंसमुख धीरज सांकलिया ने पुरातात्विक उत्खनन किया था। परिणाम-स्वरूप इन दोनों ही स्थलों से ईसा पूर्व १७वीं से १३वीं सदीं तक के पुरावशेष प्राप्त हुए थे।

फिर १९७९ में प्रसिद्ध पुरातत्ववेत्ता डॉ. एस.आर. राव ने द्वारिकाधीश मंदिर के प्रांगण में खुदाई करने का काम हाथ में लिया। इस खुदाई में सतह से करीब दो मीटर नीचे उन्हें ईसा की नौवीं

सदी में बने एक अधिक प्राचीन मंदिर के अवशेष मिले। यह मंदिर संभवतः राष्ट्रकूटों के समय में बना होगा। अधिक गहराई में खुदाई करने पर ईसा की दूसरी सदी के मृत्भाण्ड मिले। उसके नीचे के स्तर में ऐसे चित्रित भाण्ड मिले जिन्हें चमकीले लाल मृत्भांड कहते हैं। मिट्टी के ऐसे बर्तन हड़प्पा-संस्कृति के परिचायक हैं। चमकीले लाल मृत्भांड, न केवल द्वारिका से, बल्कि प्रभास और बेट-द्वारिका से भी मिले हैं। अतः प्रमाणित हो गया कि इन स्थानों पर हड़प्पा-संस्कृति की भी बस्तियाँ रही हैं।

डॉ. एस.आर. राव सौराष्ट्र के पुरास्थलों से भलीभाँति परिचित हैं। हड़प्पा-संस्कृति के प्रसिद्ध स्थल लोथल का पुरातात्विक उत्खनन उन्हीं की देखरेख में हुआ है। डॉ. राव का यह भी दावा है कि उन्होंने सिंधु लिपि का उद्घाटन कर लिया है। उनकी मान्यता है कि सिंधु लिपि अक्षरात्मक है और सिंधु लेखों में प्राक्-वैदिक भाषा विद्यामान है। परंतु उनकी इन मान्यताओं को बहुत-से विद्वान स्वीकार नहीं करते।

लेकिन डॉ. राव अपनी धुन के एक निराले पुराविद हैं। द्वारिका और बेट-द्वारिका से करीब साढ़े तीन हजार साल पुराने अवशेष प्राप्त होने पर डॉ. राव का दृढ़ मत हो गया कि भारत में समुद्री पुरातत्वान्वेषण के साधन जुटाए जाने पर ही समुद्र में डूबे हुए पुराने बंदरगाहों की खोजबीन की जा रही है। अंत में उन्हीं के प्रयासों से गोवा के राष्ट्रीय सागर विज्ञान संस्थान के अंतर्गत समुद्रीय पुरातात्विक अध्ययन-केंद्र की स्थापना हुई। डॉ. राव इस अध्ययन-केंद्र के प्रमुख वैज्ञानिक हैं।

डॉ. राव के नेतृत्व में समुद्री पुरातत्व के साधनों से द्वारिका और बेट-द्वारिका की विधिवत् खोजबीन १९८३ से शुरू हुई। पहले ही अभियान में बेट-द्वारिका के तटीय समुद्र से महत्वपूर्ण पुरावशेष प्राप्त हुए। समुद्र के भीतर एक प्राचीन तटीय दीवार के बड़े-बड़े प्रस्तर-खंड मिले। इसके अलावा, तटीय समुद्र की गहराई से करीब साढ़े तीन हजार साल पहले के बर्तनों के ठीकरें और शंख-सीपी तथा धातु की चीजें भी मिलीं। प्रमाणित हो गया कि करीब साढ़े तीन हजार साल पहले बेट-द्वारिका में एक ऐसी बस्ती थी जो समुद्र में डूब गई है। द्वारिका के निचले स्तरों से प्राप्त पुरावशेष भी यही कहानी कहते हैं।

दूसरे अभियान में बेट-द्वारिका के तटीय समुद्र से जो अनेक पुरावशेष मिले उसमें सबसे महत्त्वपूर्ण है शंख की एक मुद्रा (सील), जिस पर तीन सिरों वाले एक कल्पित पशु की आकृति उकेरी गई हैं। सांड, एकश्रृंग और बकरे के सिरों वाले पशु की यह आकृति सिंधु सभ्यता की परिचायक है। इस प्रकार की मुद्राएँ फारस की खाड़ी के बहरीन द्वीप से भी मिली हैं। इस अभियान में बेट-द्वारिका के समुद्र से काले-लाल और चमकीले लाल मृत्भाण्ड भी मिले। ये सभी पुरावशेष बेट-द्वारिका का इतिहास कम-से-कम ईसा पूर्व १५वीं सदी तक पीछे ले जाते हैं।

बेट-द्वारिका में आयोजित समुद्री पुरातत्व के तीसरे अभियान में एक पूजा-कलश पर सात अक्षरों का एक महत्वपूर्ण लेख प्राप्त हुआ।

बेट-द्वारिका से प्राप्त एक पूजा-कलश पर अंकित सात अक्षरों का एक लेख (ईसा पूर्व १६वीं सदी)

इस लेख—जैसे अक्षर लोथल, रंगपुर और दाइमाबाद (महाराष्ट्र) की कालांतरीन हड़प्पा-संस्कृति के कुछ ठीकरों पर भी देखने को मिलते हैं। इसलिए बेट-द्वारिका से प्राप्त इस कलश-लेख को ईसा पूर्व १६वीं-१७वीं सदी का माना जा सकता है।

डॉ. राव ने इस लेख को पढ़ने का प्रयास किया हैं। उन्होंने सेमेटिक अक्षर-मानों के आधार पर इस लेख को बायीं ओर से दायीं ओर को इस प्रकार पढ़ा है : "महग ग (क) च शाह पा।" डॉ. राव का मत है कि सिंधु सभ्यता के लेख तो दायीं ओर से बायीं ओर को ही लिखे गये हैं, पर बेट-द्वारिका का यह लेख, ब्राह्मी लिपि की तरह, बायीं ओर से दायीं ओर को लिखा गया है। उनकी यह भी मान्यता है कि बाद में इन्हीं अक्षरों से ब्राह्मी का निर्माण हुआ है। स्पष्ट है कि डॉ. राव के अनुसार, वैदिक और महाभारत-कालीन लोगों को लिपि का ज्ञान था।

चूंकि डॉ. राव के अनुसार सात अक्षरों का यह लेख हैं—महाकच्छ शाह पा (महाकच्छ का रक्षक राजा), इसलिए वे यह भी मानते हैं कि उत्तर-हड़प्पा-काल में प्राक्-वैदिक भाषा का प्रचलन था। वस्तुत: उनकी यह दृढ़ मान्यता है कि हड़प्पा-संस्कृति की भाषा प्राक्वैदिक ही थी। महाकच्छ शब्द महाभारत में भी शायद आया है, और समुद्र या समुद्र-देवता (वरुण) का द्योतक है। पा का अर्थ है पालक या रक्षक, और शाह शब्द, जो अवेस्ता की भाषा में भी प्रयुक्त होता था, राजा या देवता का द्योतक है। अत: डॉ. राव का मत है कि यह अक्षरांकित पूजा-कलश वरुण देवता को भेंट चढ़ाया गया होगा। द्वारिका में समुद्र के तट पर आज भी वरुण देवता का मंदिर है। प्राचीन काल में यहाँ तक जलपोत पहुँचते होंगे।

द्वारिका के इसी वरुण मंदिर के समीप के समुद्र में चौथे अभियान (१९८६) के दौरान एक प्राचीन मंदिर के अवशेष, पत्थरों से निर्मित एक नौका-घाट और पत्थर के छिद्रयुक्त लंगर मिले हैं। मंदिर के अवशेषों में मिली चंद्रशिला से इसका काल ईसा पूर्व पहली सदी सुनिश्चित हो जाता है। मंदिर के अवशेषों के नीचे समलंबाकार पत्थरों के तीन छिद्रों वाले जो भारी लंगर मिले हैं वे ईसा पूर्व १४वीं-१३वीं सदी के प्रमाणित होते हैं। द्वारिका के समुद्र से प्राप्त इनं लंगरों का भार ७५ से २५० किलोग्राम तक है। द्वारिका के समुद्र से एक प्राचीन नौका के भी अवशेष मिले।

वरुण देवता के मंदिर से समुद्र में ८०० मीटर की दूरी तक पाँच से छह मीटर की गहराई में, भवनों के अनेक अवशेष मिले हैं। पत्थरों के लंगरों और नौका-घाट के मिलने से भी यह प्रमाणित होता है कि द्वारिका पश्चिमी-तट पर एक प्रमुख पत्तन था। द्वारिका का अर्थ ही है—द्वार—भारत का प्रवेश द्वार!

इस प्रकार, पिछले कुछ वर्षों के पुरातात्विक अन्वेषणों से यह प्रमाणित हो गया है कि द्वारिका और बेट-द्वारिका, दोनों ही स्थल, आज से करीब साढ़े तीन हजार साल पहले (अर्थात, ईसा पूर्व १६वीं-१५वीं सदियों में) आबाद थे। यह स्पष्ट हो गया है कि प्राचीन द्वारिका और बेट-द्वारिका के अनेक स्मारक समुद्र में डूब गये हैं। पिछले करीब साढ़े तीन हजार वर्षों में समुद्र की सतह करीब नौ मीटर ऊँची हो गई है। प्राप्त पुरावशेषों के अध्ययन से यह भी स्पष्ट हो जाता है कि द्वारिका और बेट-द्वारिका आज से करीब साढ़े तीन हजार साल पहले पश्चिमी-तट के प्रसिद्ध पत्तन थे और इसीलिए भारत के समुद्री प्रवेश-द्वार के रूप में जाने जाते थे।

लेकिन द्वारिका और बेट-द्वारिका से प्राप्त इन तमाम पुरावशेषों के आधार पर महाभारत के कृष्ण का संबंध इन स्थलों से कैसे जोड़ा जा सकता है? महाभारत, हरिवंश और पौराणिक साहित्य के आधार पर ही कृष्ण और यादवों का संबंध द्वारिका से जोड़ा जा सकता है। महाभारत-युद्ध के समय के बारे में भी विद्वान-एकमत नहीं हैं। ज्योतिष की गणनाओं के आधार पर कुछ विद्वानों ने महाभारत-युद्ध

का समय १४२४ ई. पू. निर्धारित किया है। डॉ. एस.आर. राव महाभारत की इस तिथि में विश्वास करते हैं। द्वारिका और बेट-द्वारिका से ईसा पूर्व १५वीं सदी के पुरावशेष मिले हैं और यह भी स्पष्ट हो गया है कि उस समय की द्वारिका के स्मारक समुद्र में डूब गये हैं, इसलिए डॉ. राव इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि वर्तमान द्वारिका ही महाभारत के कृष्ण और यादवों की द्वारिका है।

फिर भी कई प्रश्न अनुत्तरित रह जाते हैं। यकीन के साथ नहीं कहा जा सकता कि महाभारत का युद्ध ईसा पूर्व १५वीं सदी में ही हुआ था। हस्तिनापुर का पुरातात्विक अन्वेषण महाभारत-युद्ध को ईसा पूर्व नौवीं-दसवीं सदी में रखता है। दूसरी महत्व की बात यह है कि ईसा-पूर्व आठवीं से चौथी सदी तक गंगा-यमुना की द्रोणी के प्रदेश से जिस प्रकार के चित्रित धूसर भाण्ड मिलते हैं वैसे द्वारिका या बेट-द्वारिका से नहीं मिले हैं। द्वारिका और बेट-द्वारिका से मिले हुए चमकीले लाल भाण्ड हड़प्पा-संस्कृति के परिचायक हैं।

तो क्या कृष्ण और यादव हड़प्पा-संस्कृति से संबंधित थे? क्या द्वारिका और बेट-द्वारिका उत्तर-हड़प्पा-कालीन संस्कृति के पत्तन थे? क्या हड़प्पा-संस्कृति और वैदिक-संस्कृति में कोई बुनियादी फरक नहीं था?

डॉ. एस.आर. राव इन सवालों के उत्तर बड़ी सरलता से दे सकते हैं। उनकी मान्यता है कि हड़प्पा-संस्कृति द्रविड़-संस्कृति नहीं थी, बल्कि प्राक्-वैदिक संस्कृति थी। उनके मतानुसार सिंधु लेखों में प्राक्-वैदिक भाषा विद्यमान है। वे यह भी मानते हैं कि कालांतर की ब्राह्मी लिपि का उद्भव सिंधु अक्षरों से ही हुआ है। डॉ. राव के लिए यह सवाल कोई अर्थ नहीं रखता कि यादव लोग हड़प्पा-संस्कृति से संबंधित थे या कालांतर के आर्यभाषी थे। इसलिए द्वारिका और बेट-द्वारिका से प्राप्त उत्तर-हड़प्पा-कालीन अवशेषों से महाभारत के कृष्ण का संबंध जोड़ने में उन्हें कोई कठिनाई नहीं होती।

परंतु सचाई यही है कि द्वारिका या बेट-द्वारिका से अभी तक ऐसा कोई पुरावशेष नहीं मिला है जो कृष्ण की द्वारिका में मौजूदगी का पक्का सबूत देता हो। फिलहाल परंपरा के रूप में ही यह स्वीकार किया जा सकता है कि वर्तमान द्वारिका और बेट-द्वारिका कृष्ण तथा यादवों के क्रिया-कलापों के भी स्थल रहे हैं।

द्वारिका और श्रीकृष्ण के संबंध का समीकरण भले ही पूर्णतः सुस्पष्ट न हुआ हो, परंतु डॉ. एस.आर. राव के प्रयासों से देश में पहली बार समुद्री पुरातत्व का जो अन्वेषण-कार्य शुरू हुआ है उसका बड़ा महत्व है। केवल द्वारिका और बेट-द्वारिका के प्राचीन पत्तन ही नहीं, लंबे भारतीय समुद्र-तट के दर्जनों प्राचीन पत्तन समुद्र में डूब गये हैं। डॉ. राव ने ही पता लगाया है कि राजबंदर (एलिफेंटा) और कावेरीपट्टनम् (पुहार) के प्राचीन बंदरगाहों के नौका-घाट समुद्र में डूब गये हैं।

भारत के करीब ६००० किलोमीटर लंबे समुद्र-तट ने भारतीय इतिहास में बड़े महत्व की भूमिका अदा की है। उत्तर भारतीयों को भारतीय सागरों की इस भूमिका को समझने में कुछ कठिनाई होती है। कारण भी स्पष्ट हैं। जहाँ उत्तर-भारत के शासक अपने को समुद्र तक के प्रदेश के शासक (आसमुद्र-क्षितिशास्—कालिदास) ही मानते थे, वहाँ दक्षिण भारत के अनेक शासकों ने त्रि-समुद्राधिपति जैसी उपाधियाँ धारण की हैं। यूरोप में एजियन सागर में नौपरिवहन शुरू होने के काफी पहले भारतीय सागरों में, विशेषतः अरब सागर में, भारत की नौशक्ति स्थापित हो चुकी थी।

प्राचीन काल में गुजरात का सागर-तट अपने बड़े-बड़े बंदरगाहों के लिए प्रसिद्ध था। प्रभास, द्वारिका, बेट-द्वारिका आदि ऐसे ही पत्तन थे। इसी प्रकार, भरुकच्छ (भड़ौच) और शूर्पारक (सोपारा)

प्राचीन भारत के प्रसिद्ध बंदरगाह (पत्तन-ग्राम) थे। ईसा की पहली सदी में कल्याण भी एक प्रसिद्ध बंदरगाह था। ईसा की आरंभिक सदियों में दक्षिण भारत के पूर्वी तट पर अनेक बंदरगाह थे। रोम के जहाज इन बंदरगाहों में पहुँचते थे। पिछले ढाई-तीन हजार वर्षों में समुद्र की सतह में उठाव आने से अनेक प्राचीन बंदरगाह समुद्र में डूब गये हैं। द्वारिका और बेट-द्वारिका की तरह इन प्राचीन बंदरगाहों की छानबीन करने से भारतीय इतिहास के बारे में काफी नई जानकारी उपलब्ध हो सकती है।

समुद्र-तट के पास प्राचीन काल में डूबी हुई नौकाओं के अवशेष भी खोजे जा सकते हैं। समुद्री पुरातत्व के साधनों का उपयोग जलाशयों, कुंडों और बावड़ियों से पुरावशेष खोज निकालने के लिए भी हो सकता है। मैक्सिको के चिचेन-इत्जा स्थान के 'पवित्र कुएँ' से मय-सभ्यता के अत्यंत महत्वपूर्ण पुरावशेष प्राप्त हुए हैं। हमारे देश के धार्मिक स्थलों से संबंधित प्राचीन कुंडों और तालाबों से भी महत्व के पुरावशेष मिल सकते हैं। कुछ साल पहले उत्तराखंड के रूपकुंड से ऐसे ही अवशेष प्राप्त हुए थे, हालाँकि वे अधिक प्राचीन नहीं थे।

समुद्री पुरातत्व एक आधुनिक विज्ञान है। वर्तमान सदी के आरंभ से गोताखोरों की मदद से समुद्र से पुरावशेष खोज निकालने के प्रयास शुरु हुए। १९४३ में एक्वालंग की खोज हुई, तो समुद्री पुरातत्व की विधिवत् स्थापना हुई। एक्वालंग का उपयोग करके भूमध्यसागर से अनेक पुरावशेष खोज निकाले गये हैं।

भारत में समुद्री पुरातत्व का श्रीगणेश श्रीकृष्ण की द्वारिका की खोज के प्रयासों के साथ हुआ। ये प्रयास बड़े सफल रहे हैं। प्रमाणित हो गया है कि द्वारिका और बेट-द्वारिका में आज से करीब साढ़े तीन हजार साल पहले बस्तियाँ थीं और इन स्थानों के प्राचीन बंदरगाह समुद्र में डूब गये हैं। समुद्री पुरातत्व के साधनों से द्वारिका और बेट-द्वारिका का अन्वेषण आगे भी जारी रहेगा। आगे जाकर द्वारिका के साथ कृष्ण के स्पष्ट संबंध जोड़ने के लिए ठोस पुरातात्विक प्रमाण भी मिल सकते हैं। हड़प्पा-संस्कृति और महाभारत कालीन संस्कृति के संबंध स्पष्ट करने के लिए भी प्रमाण मिल सकते हैं। समुद्री पुरातत्व के प्रयास भारतीय इतिहास को निश्चय हीं एक नितांत नया स्वरूप प्रदान कर सकते हैं।

☐

एक ऐतिहासिक अनुशीलन

भारत एवं मिश्र की सांस्कृतिक समानताएँ

डॉ. ए. एल. श्रीवास्तव

वर्तमान ऐतिहासिक अध्ययन पुरातात्त्विक खोजों से सत्य के अधिक निकट जा पहुँचा है जो इसका एक आवश्यक तथ्य है। जहाँ एक ओर इन पुरातात्त्विक खोजों ने साहित्यिक साक्ष्यों की परिपुष्टि की है, वहीं दूसरी ओर इनसे ऐतिहासिक अध्ययन को नए-नए ज्ञानसूत्र भी उपलब्ध हुए हैं। हड़प्पा-संस्कृति के ध्वंसावशेषों के मिल जाने से भारतीय संस्कृति की प्राचीनता में अपरिमित वृद्धि हो चुकी है। कहना असंगत न होगा कि हड़प्पाकालीन संस्कृति संसार की प्रमुख प्राचीन संस्कृतियों से पूर्वापर संबंध स्थापित करती जान पड़ती है। आधुनिक इतिहासवेत्ताओं में शनैः शनैः हड़प्पाकालीन ध्वंसावशेषों को वैदिक संस्कृति के चिन्ह मानने की धारण भी बलवती होती जा रही है। डॉ. राखालदास बनर्जी की प्रारंभिक संभावनाओं को श्रीनीलकण्ठ शास्त्री द्वारा निर्देशित सिंधु तथा वैदिक सभ्यता में समानताओं से बड़ा बल मिला था। अब सिंधु लिपि की गवेषणा के साथ-साथ डॉ. फतेहसिंह तथा डॉ. कृष्णराव जैसे विद्वानों ने निश्चित रूप से सिंधु-संस्कृति को वैदिक संस्कृति कहने का साहस किया है। संसार के अन्य कई विद्वानों के द्वारा सिंधुलिपि के उद्वाचन से दिनों-दिन इस मान्यता की पुष्टि होती जा रही है।

ऐसी ही पुरातात्त्विक खोजों के परिणामस्वरूप उत्तरी अफ्रीका में अनवरत् प्रवहमान तथा भूमध्यसागर में विसर्जित होने वाली नील नदी की घाटी में प्राचीन मिस्र की संस्कृति के विभिन्न अंगों पर जो प्रकाश पड़ा है, उससे पुरातत्त्ववेत्ताओं एवं इतिहासवेत्ताओं का ध्यान बरबस वहाँ की संस्कृति में कई भारतीय सांस्कृतिक तत्त्वों की ओर आकृष्ट हुआ है। भारत एवं मिस्र की इन्हीं सांस्कृतिक समानताओं का संक्षिप्त विवरण प्रस्तुत करना यहाँ अभीष्ट है। धर्म के स्वरूप, उसके उद्भव और विकास, जगत की उत्त्पत्ति, जीवन की अमरता, स्वर्ग-नरक की भावना तथा आत्मा से संबंधित दार्शनिक जिज्ञासाएँ एवं कुछेक सामाजिक मान्यताओं में प्राचीन भारतीय तथा मिस्री संस्कृतियों में न्यूनाधिक समानताएँ दृष्टिगोचर होती हैं।

जिस प्रकार वैदिक धर्म का उद्भव प्रकृति की अनश्वर शक्ति के माध्यम से हुआ तथा प्रकृति के ही विभिन्न अंगों—मित्र, सूर्य, वरुण, जल एवं वनस्पति देव, द्यावा-पृथिवी–आकाश तथा पृथ्वी, अग्नि-उषस, मरुत, वायु, सोम, चंद्र, आदि—को वैदिक देवताओं के रूप में अभ्यर्चित किया गया, ठीक उसी प्रकार मिस्र का देव-समूह भी प्रकृति से ही उद्भूत माना गया जैसे एमनेरे-सूर्य, ओसिरिस-जल एवं वनस्पति देव, नूत-आकाश, केब-पृथ्वी, शू-वायु, सिन-चन्द्र, आदि। सूर्य अपने प्रकाश एवं

उष्णता के माध्यम से ज्ञान एवं प्राण का प्रदाता है, इसीलिए वह संसार की सभी संस्कृतियों में सर्वाधिक महत्वपूर्ण देव माना गया है। वैदिक मित्र, सविता, उषस, मिस्री, एमनरे, ऐटन तथा एतुम के रूप में समादृत थे।

दोनों संस्कृतियों में प्रारंभिक धर्म का कर्मकाण्ड केवल इन दैवी शक्तियों की स्तुतियों तक ही सीमित था। मध्यकाल तक आते-आते मंदिरों में स्थापित देवी-देवताओं के लिए विभिन्न स्वादिष्ट खाद्य तथा पेय पदार्थों, सुश्रुषा के लिए अगणित सेवकों, मनोरंजन के लिए विभिन्न वाद्यों, गायन तथा नृत्य के लिए देवदासियों का प्रचलन दोनों धर्मों में समान रूप से हुआ। किन्तु शनैः शनैः दोनों में क्रमशः यज्ञों और तंत्र-मंत्रों के प्रचलन से जटिल कर्मकाण्ड की रूपरेखा प्रस्तुत हुई जिसका संपादन जनसाधारण की सामर्थ्य से परे था। जहाँ वैदिक धर्म में यज्ञ जीवन के सर्वांगीण—दैहिक, दैविक और भौतिक—उद्देश्यों की पूर्ति का साधन बना और बाद में केवल धनी तथा राजाओं को ही लाभकारी सिद्ध हुआ, वहीं मिस्र में परलोकीय दुख से छुटकारा तथा सुखों की प्राप्ति के लिए साधन बने, शव-पेटिकाओं पर लिखाए जाने वाले अगणित मंत्र। दोनों धर्मों के संचालक पुरोहित थे जिन्हें उपर्युक्त कर्मकाण्डों के प्रतिफल में प्रभूत दान-दक्षिणा देना आवश्यक था।

वैदिक धर्म में जटिल कर्मकाण्ड, पुरोहितवाद तथा ऊँच-नीच की भावना के समावेश का ही परिणाम बौद्ध तथा जैन-जागरण में परिलक्षित हुआ। अमनहोतेप चतुर्थ (अखनाटन) के द्वारा भी बहुत कुछ ऐसी ही धार्मिक क्रांति के दर्शन हमें प्राचीन मिस्र में मिलते हैं, जब वह सभी मंत्र-तंत्रों पर आधारित कर्मकाण्ड को निरर्थक कहता है तथा संसार में सत्य, अहिंसा, दया और प्रेम से जीवनयापन करने का परामर्श देता है। वह जीवन एवं ज्ञान के प्रदाता एटन (सूर्य-शक्ति) का आभार स्वीकार करना ही देवोपासना मानता है जिसके लिए न किसी मंत्र-तंत्र की आवश्यकता है और न किसी मंदिर-पुरोहित की। बहुदेववाद के विपरीत केवल एक एटन में अपनी आस्था प्रदर्शित करके अखनाटन हमें जिस एकेश्वरवाद की झलक देता है वह भारतीय एकेश्वरवाद 'एकं सद् विप्रा बहुधा वदंति' तथा 'यो देवानां नामधा एक एव' का ही प्रतिरूप जान पड़ती है।

भारतीय कर्म-सिद्धांत 'जो जस करै सो तस फल चाखा' भी मिस्र के 'ओसिरिस-आख्यान' तथा 'ओसिरिस-न्यायालय' में स्पष्ट झलकता है। अपने दुष्ट भाई सेत द्वारा वध कर दिए जाने पर तथा अपनी पत्नी आइसिस की प्रार्थना पर अनुबिस देव द्वारा पुनर्जीवन प्राप्त करने में ओसिरिस को अपने सत्यनिष्ठ, दयालु तथा परोपकारी जीवन का सुफल प्राप्त करते दर्शाया गया है। यह आइसिस-ओसिरिस आख्यान भारत के सावित्री-सत्यवान आख्यान का स्मरण दिलाता है जिसमें सावित्री ने यमराज से अपने पति सत्यवान का जीवन वापस पा लिया था। इसी प्रकार मृतक आत्मा को संसार में किए गए उसके पुण्य एवं पाप कर्मों के आधार पर भोग-विलास का सुखी जीवन (यारूलोक-स्वर्ग) अथवा कष्टप्रद जीवन (नरक) व्यतीत करने का पुरस्कार अथवा दण्ड 'ओसिरिस-न्यायालय' प्रदान करता है। स्वर्ग और नरक की ऐसी मान्यता भारतीय जीवन में लोकप्रिय रही है।

यद्यपि जल एवं अग्नि से जगत की उत्पत्ति संबंधी भारतीय मान्यता एक वैज्ञानिक सत्य है, किंतु जल से सृष्टि के उद्‌भव की मान्यता अधिक लोकप्रिय रही है। प्रारंभ में केवल जल ही जल था, तदंतर मनु से मानव-सृष्टि हुई। प्राचीन मिस्र में भी जगत की उत्पत्ति जल से ही मानी गई थी। पहले केवल जल ही जल था जिसमें सभी जागतिक पदार्थों के उद्‌भव के तत्व अन्तर्निहित थे। उसमें से सर्वप्रथम एक अण्डा निकला जिससे सूर्य की उत्पत्ति हुई। सर्वप्रथम उत्पन्न होने के कारण ही उन्हें एतुम (आदिम अथवा आदि) कहा गया। एतुम से वायुदेव शू और उसकी पत्नी तेफ्नुत का जन्म हुआ जिनसे केब (पृथ्वी) तथा तूत (आकाश) उत्पन्न हुए। केब तथा तूत ने ओसिरिस तथा उसकी पत्नी आइसिस को

जन्म दिया और इस प्रकार सृष्टि का क्रम चलता रहा। प्रजापति द्वारा सृष्टि-रचना वाली भारतीय मान्यता की भी झलक प्राचीन मिस्र में पाई गई है जहाँ सभी प्रकार की कलाओं और निर्माण का ज्ञाता य: देव जगत का कारण तथा निर्माता माना गया है।

आत्मा की अमरता, जीवन की चिरंतनता तथा ऋतु के रूप में दैवी व्यवस्था जैसे भारतीय विश्वास भी मिस्र के प्राचीन निवासियों में पाए जाते थे। अहर्निशि, सूर्य-चंद्र, फल-फूल तथा अनवरत प्रवहमान नील के माध्यम से प्रकृति के शाश्वत स्वरूप की कल्पना में मिस्री मानव-जीवन को भी सम्मिलित कर लिया गया था। मृत्यु से भारतीय विश्वास आत्मा द्वारा शरीर-त्याग ग्रहण करता है, किंतु मिस्रियों ने जीवन के एक तत्व 'का' को अजर-अमर मान लिया था जो मृत्यु के बाद भी शरीर से चिपटा रहता है, उसे जीवित व्यक्ति के ही समान सुख-दुख का अनुभव होता है तथा वैसे ही भोजन, वस्त्र और निवास की आवश्यकता बनी रहती है। इसीलिए मिस्र में मृत शरीर को अधिक से अधिक दिनों तक सुरक्षित रखने की भावना प्रबल हुई और जिसके परिणामस्वरूप लघु समाधियों से विकसित होकर एक दिन विशाल पिरामिडों की रचना हुई जो निश्चयत: कराल काल का उपहास करते जान पड़ते हैं। इनकी गगनचुंबी ऊँचाई भारतीय गोपुरम् की समता करती है। ऐसे ही पिरामिडों से काष्ठ के मानवाकार बक्सों में वस्त्रों में लपेटे हुए हजारों वर्ष पुराने मृत मानव शरीर (ममी) प्राप्त हुए हैं जो संसार के विभिन्न संग्रहालयों में दर्शकों की जिज्ञासाओं को शान्त भी करते हैं और जगाते भी हैं।

भारतीय ऋतु एक दैवी व्यवस्था मानी गई है जिससे प्राकृतिक नियमों में स्थिरता स्थापित रहती है। सूर्य-चंद्र, रात-दिन तथा ऋतु-परिवर्तन आदि ऋतु से ही संचालित हैं। प्राचीन मिस्र में 'मात' की कल्पना भी एक दैवी विधान के रूप में की गयी थी जिससे सभी देवता नियंत्रित थे। भारतीय मूर्तिपूजा और मंदिरों में देव-प्रतिमाओं की स्थापना सदृश: प्राचीन मिस्र में प्रचलित थी। कारनाक का विशाल मंदिर तथा अबूसिम्बेल का गुहा-मंदिर आज भी मिस्र की तत्कालीन देव पूजा एवं देव-मंदिरों की लोकप्रियता की कहानी दोहराते हैं।

उपर्युक्त धर्म एवं दर्शन के गूढ़ सिद्धांतों और लोक-विश्वासों के अतिरिक्त ऐसी ही अनेक समानताएँ हैं जो प्राचीन भारतीय तथा मिस्री जीवन में हमें परिलक्षित होती हैं। मनुस्मृति की 'व्यवस्था' के बहुत पहले रक्त की शुद्धता के लिए सगोत्रीय विवाह की प्रथा शाक्यों में पाई जाती थी। इसी प्रकार की परंपरा मिस्र के राजकुलों में विद्यमान थी। इसके लिए भाई-बहन के विवाह की प्रथा थी। रक्त की शुद्धता के साथ ही साथ इस प्रथा का दूसरा कारण साम्राज्य का स्वामित्व ग्रहण करना भी था। मिस्र में मातृसत्तात्मक पारिवारिक संगठन के कारण गृहपति अथवा राजा की उत्तराधिकारिणी उसकी बेटी होती थी। इसीलिए राजकुमार को सम्राट बनने के लिए राजकुमारी से ही प्रणय-संबंध स्थापित करना पड़ता था। भाई-बहन के विवाह की प्रथा यद्यपि भारतीय हिंदुओं में कभी स्वीकृत न हुई, किंतु यम-यमी संवाद से वैदिक युग में इस प्रथा के अस्तित्व की झलक हमें अनायास मिल जाती है। ममेरे भाई-बहनों में विवाह की प्रथा दक्षिण प्रदेशों में अब भी पाई जाती है।

प्राचीन भारत की शिक्षा-प्रणाली गुरुकुल अथवा आश्रमों में सन्निहित थी जो कालांतर में मंदिरों की सीमाओं में आ गई थी। मिस्र में भी शिक्षा की व्यवस्था मंदिरों में ही थी जहाँ मंदिरों के पुजारी समाज के बालकों को विविधयक्षी व्यावहारिक ज्ञान की नि:शुल्क शिक्षा देते थे। वहाँ भी शिक्षार्जन में प्रेम एवं लगन आवश्यक समझी जाती थी। यह एक पेपिरस पर अंकित अध्यापक के उपदेश से भली-भाँति प्रकट हो जाता है जिसमें वह कहता है कि 'शिक्षार्जन में मन लगाओ और इससे अपनी माँ के समान स्नेह करो।'

भारतीय कुल के समान ही आदर्श मिस्री परिवार में एक पत्नी प्रथा थी। विवाह में कन्याओं की रुचि का ध्यान रखा जाता था। विवाहोपरांत वे भी पति के समान समादृत थीं तथा सार्वजनिक स्थानों पर आने-जाने के लिए स्वतंत्र थीं। मैक्समूलर का कथन 'मिस्रियों के समान स्त्रियों को उच्च वैधानिक सम्मान अन्य किसी जाति ने नहीं दिया' भारतीय स्त्री-सम्मान को प्रदर्शित करने वाली उक्ति 'यत्र नार्यस्तु, पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवता:' का समानार्थी जान पड़ता है।

संस्कृत और प्राचीन मिस्र की भाषागत समरूपता भी दोनों संस्कृतियों की समानता सिद्ध करने में सहायक जान पड़ती है। श्री चिरंजीलाल पाराशर ने अपनी पुस्तक 'विश्व सभ्यता का विकास' में ऐसे अनेक शब्दों की तालिका दी है जो अर्थ तथा ध्वनि-साम्य के कारण दोनों भाषाओं में समरूप जान पड़ते हैं। उन्हीं में से कुछ शब्द यहाँ प्रस्तुत हैं।

संस्कृत शब्द	मिस्री शब्द	अर्थ
आदिम	एतुम	आदि
अक	अक	मोड़ना
अक्ष	अख	आँख
आप	आव	जल
आरूह	अरू	चढ़ना
माता	त	माँ
मन्यु	मोन	मन
नत	नत	झुकना
इभ	इबु	नागदन्त
रसना	रस	जिह्वा
उषस्	उषा	प्रात: काल

भारतीय राम मिस्र के रामसेज़ तृतीय के कितना निकट हैं, यह कहने की आवश्यकता नहीं।

आधुनिक ऐतिहासिक ज्ञान की दृष्टि से मिस्र एवं भारत की प्राचीन संस्कृतियों के युगों में समय का अत्यल्प व्यवधान भले ही हो, किंतु उपरोक्त सांस्कृतिक समानताओं की आधारशिला पर हेरोडोटस, प्लेटो, पाइथागोरस तथा फ्लोस्ट्रैटस प्रभृति विद्वानों की वह धारणा अब विश्वास में बदलने को समुत्सुक है जिसमें वे मिस्र की संस्कृति का समानांतर उद्गम भारतीय संस्कृति में निहित पाते हैं।

□

यात्रा-विवरण

एक यात्रा : नालंदा और राजगीर की

सच्चिदानंद सिन्हा

भारत, चीन, मिस्र मानव इतिहास के विकास के कर्मस्थल रहे हैं। पूरा मानवीय वांग्मय इन देशों के अतीत से लिपटा हुआ है। भारत में उसी प्रकार बिहार का अपना स्थान है। पाटलिपुत्र, मगध, वैशाली, मिथिला, विक्रमशिला—सभी ने अपने-अपने रूप में योगदान दिया है भारतीय संस्कृति के उत्थान-पुनरुत्थान में। इसी क्रम में प्राय: देखा गया है कि इतिहास से जुड़े अनेक स्थल होते हैं, जहां एक पक्ष अतीत का उजागर होता है कला की संवेदना में, संगीत की स्मृति में, भाषा की हलचल में, वैभव के उत्कर्ष, अपकर्ष में परंतु कुछ स्थल इतिहास को जीते रहते हैं। उनसे कभी खुले-आम कभी एकांत में, बातचीत करते रहते हैं, उन्हीं कुछ स्थलों में बिहार राज्य में अवस्थित नालंदा है और है राजगीर।

पता नहीं यह यात्रा कब शुरु हुई। बचपन में पढ़े इतिहास की पुस्तकों के पन्नों में, इस यात्रा की तैयारी में, कल्पना की दस्तक पर दौड़ती-दौड़ाती पक्षियों की उड़ान में या नालंदा के अवशेष के स्पर्श में। इतना ही कह सकता हूँ, एक आत्मीय विश्वास के संरक्षण में, वह यात्रा अब भी चल रही है। कौन यात्रा कब समाप्त हुई है?

जिस बस से मैं चला था—मैं उसमें फिर चढ़ना चाहता हूँ। उस बस में मैं जब बैठा था, एक ओर पटना जंक्शन के सामने का हनुमान मंदिर का दिव्यालोक था और दूसरी ओर बगल की मस्जिद की नक्काशीदार बुलंद इमारत। दोनों आँखों के लिए एक उपहार, एक तोहफा।

जब तक बस में अपने को स्थिर कर पाता हूँ कंडक्टर महाशय कहते हैं—दाहिने देखिए कुम्हरार। इतिहास पढ़ाने लगता है—मौर्यकालीन एक विशालकाय शिला स्तंभ जो आज भी उस युग को एक स्वर्णिम आभा देता है। १९५१ से १९५५ तक लगातार कुम्हरार की खुदाई 'काशीप्रसाद जायसवाल संस्थान' के नेतृत्व में चलती रही और मौर्यकाल से ६०० ई. तक की सांस्कृतिक लड़ियाँ सामने आती गयीं। बार-बार सोचता हूँ घटना कितनी बड़ी संरक्षक है, अंगरक्षक है। धरती धरोहर की धरनी है, धरोहर बनाती है। १९१२-१९१४ में डॉ. स्पूनर ने जितने प्राचीन स्तंभों को खोज निकाला था, उसके अतिरिक्त एक भवन के आठ स्तंभों की जड़ें उसी समय प्रकाश में आयीं।

कुम्हरार के भग्नावशेष एक तालाबनुमा स्थल में सुरक्षित हैं और हैं सुरक्षित म्यूजियम में। दूब हरी-भरी है, पेड़ हरे-घने पत्तों में आत्मविभोर हैं। शांति प्रकृति के इन अवयवों में है, और एक शांति है उस शिलास्तंभ में, शिलालेख में। अतीत भी मन को शीतल करता है, वर्तमान भी।

कुम्हरार के लिए अलग से समय निकालना होगा। कुम्हरार को अलग से देखना होगा। कितनी परतें धरती की हैं? कितनी परतें पत्थरों पर हैं? एक माया सीखनी होगी। पाटलिपुत्र के सौष्ठव से परिचय अगली यात्रा में करूँगा— इस प्रकार अपने को समझाता हुआ निकल आता हूँ उस संगमस्थली से जहाँ आज के लगे हुए पेड़-पौधे एक स्मृति के किनारे से लटकते अतीत के एक सुनहरे पल को कभी ढाँकते हैं, कभी आँकते हैं। डर लगा, थोड़ी देर और रुका तो यहीं रुक जाऊँगा। इस यात्रा का आरंभ नालंदा से है, राजगीर से है। कुम्हरार एक दूसरा चित्र है जिसका अध्ययन कभी और होना ही उचित होगा।

थोड़ी ही दूर पर पटना सिटी में तख्त हरमंदिर साहिब हैं, जहाँ सिक्खों के दसवें गुरु श्री गोविन्द सिंह का जन्म हुआ था। मैं वहाँ जा चुका हूँ। नैतिक बल के साथ ही औदार्य, हृदय की विशालता का ऐसा उदाहरण कम व्यक्तित्वों में सम्मिश्रित मिलता है। भारत की एक तस्वीर यहाँ भी बुलंद होती है सर्वधर्म समभाव। सहिष्णुता का कमल इस देश में सदा खिलता रहा। प्राचीन पाटलिपुत्र और आज का पटना शहर इसके ज्वलंत नमूने हैं।

लगा 'बस' थोड़ी चढ़ाई तय कर रही है। उसी समय पुनः कंडक्टर महाशय कहते हैं—बायें देखिये, भारत का नहीं, नहीं एशिया का, नहीं विश्व का नदी पर सबसे बड़ा सेतु गंगा नदी पर महात्मा गांधी सेतु। बस रुकती है। थोड़ी दूर चलकर गंगा का दर्शन होता है। पतितपाविनी गंगा। बिहार में लगभग ३०० कि.मी. प्रवाहित होती है। इसी के तट पर पटना में लाखों नर-नारियाँ छठपर्व मनाते हैं। छठ पर्व सूर्य की पूजा। पहली पूजा डूबते हुए सूर्य की और दूसरे दिन दूसरी पूजा उगते हुए सूर्य की। हिंदू धर्म में संभवतः यही एक पर्व है जहाँ डूबते हुए सूर्य की पूजा की जाती है।

सेतु शब्द अपना सारा ऐश्वर्य और रोमांच लेकर मन को मथने लगता है। अब सागर से मानव याचना नहीं करेगा। वह अपनी प्रस्तावना देगा। सेतु का निर्माण करेगा। मन बहुत लोभी है, कहता है यहीं रुक जाओ। आज में ही रहो। आज को देखो, आज की सुनो। अर्थशास्त्र तब अपने पन्ने खोलने लगता है। उत्तर बिहार के कृषि उत्पादन में अधिक वृद्धि हो रही है, क्योंकि दक्षिण बिहार का विशाल बाजार उसे अब सहजता से उपलब्ध हो गया है। हाजीपुर के केलों का मूल्य किसानों को पर्याप्त मिलेगा—कृषक खुशहाल हैं। मुजफ्फरपुर की लीचियों की बिक्री बढ़ी—कृषक नए-नए बगीचे लगा रहे हैं। लीची भारत में बहुत कम जगह होती है। देहरादून में होती है, परंतु मुजफ्फरपुर की लीची का स्वाद निराला है।

परंतु कुम्हरार से किया गया वादा याद दिलाता है इस बार केंद्र बिंदु वह है जो कालजयी सा है, स्थल जो केंद्र की एक नयी परिभाषा रचता है। स्थल जिसने एक प्रभात को जन्म दिया जिससे विश्व को एक नया प्रभात मिला-स्थल, यानी नालंदा, स्थल यानी, राजगीर।

यात्रा सेतु के इस पार ही होती है। उस पार, दूसरी बार। यही होता है जीवन में एक प्रलोभन, एक वादा, एक मंजिल। और बस चल पड़ती है। सड़क के बायें-दायें सब्जी की खेती है। दूर तक सब्जी ही सब्जी, फिर दूर-दूर तक एक दूसरी हरियाली। शुक्र है, रेलवे क्रासिंग खुली मिलती है, वरना कंडक्टर बता रहा था कि यहाँ देर तक रुकना पड़ता है। नाम इसीलिए तो इसका है—बहादुरगंज।

थोड़ी देर बाद बस एकाएक धीरे होती है। दायीं तरफ एक मजार है—वहाँ सभी ड्राइवर कुछ

पैसा चढ़ाते हैं, सलाम करते हैं, ताकि यात्रा मंगलमय हो। मजार के ऊपर एक लाल चादर है। उस पर एक पत्ता तभी-तभी गिरा था। पता नहीं वह पत्ता कितनी देर तक वहाँ इबादत करता रहा होगा। पता नहीं वह पत्ता कहाँ होगा? ऐसा ख्याल क्यों आता है मुझे? ऐसा ख्याल बहुत देर तक आता रहा। कवि करता तो एक कविता कहानी उस पर और देखता उसमें उस पेड़ की आत्मा का स्थूल सौंदर्य, और पहचानता उसमें उपासना की एक विरासत। लेकिन वैसा कुछ नहीं हुआ। बस में और यात्री थे। एक ही यात्री आगे के स्टाप पर उतरा। क्या उसमें भी उस पत्ते के बारे में जानने की व्यग्रता थी?

और तब फतुहा का प्रखण्ड कार्यालय, सड़क के दोनों ओर पक्के मकान और वह देखिये, फतुहा औद्योगिक प्रांगण। जी हाँ, यहाँ स्कूटर फैक्टरी है। कंडक्टर कहता है मैंने अपने दामाद को इसी फैक्टरी का स्कूटर खरीद कर दिया है। अपनी चीज है न? हम नहीं खरीदेंगे तो हम दूसरों को कैसे कहेंगे? मैं उससे औद्योगिक नीति पर एक छोटी तकरीर की उम्मीद कर रहा था, परंतु तब तक आ पहुँचा सूर्य मंदिर बख्तियारपुर का। इस क्षेत्र का अकेला सूर्य मंदिर। बिहार का दूसरा सूर्य मंदिर। एक गया जिला के देव प्रखण्ड में है। मैं सहम गया। सूर्य के प्रति कृतज्ञता का एक सोपान है यह। सड़क के थोड़ी दूर पर ही करीब-करीब साथ-साथ बह रही है गंगा या कभी उसकी एक छोटी धारा। मन करता है, फिर रुक जाऊँ। गंगा में स्नान, सूर्य को नमस्कार, अपने अहंकार का परिष्कार करूँ। तब मन कहता है मन से ही नमस्कार कर लो, यही वास्तविक नमस्कार है। साथ तो मन का अनुगामी है। अंदर-अंदर अच्छा लगता है ऐसी भावनाओं के बीच बढ़ने में, रहने में।

सीधी सड़क मोकामा, बरौनी, पूर्णिया जाती है। हम दायें मुड़ते हैं। बिहार शरीफ होकर नालंदा जाना है। बिहार शरीफ अब जिला बन गया है। और जिले का नाम है—नालंदा। यद्यपि जिला का मुख्यालय बिहार शरीफ में ही है। हमारे कंडक्टर ही हमारे गाईड हैं अजमेर शरीफ के बाद बिहार शरीफ इस्लाम धर्म के अनुयायियों के लिए दूसरा पवित्र तीर्थ है। हम नतमस्तक होते हैं। और तभी दूर-दूर तक केवल आलू की खेती दीखती है और दिखते हैं 'किसान हाई स्कूल', 'किसान कालेज', 'किसान सिनेमा' जी हाँ, यह किसान की कर्म भूमि है। काश, कोई प्रेमचंद इस पर लिखता।

और अब नालंदा समीप आ रहा है। बीच में पावापुरी है। जल मंदिर जो भगवान महावीर की निर्वाण-स्थली है। श्वेत संगमरमर से निर्मित यह मंदिर कमल के जलाशय में अपनी झांकी देख पाता है। एक अद्वितीय शांति छायी हुई है। सूर्य की पहली किरण की तरह जैसे कमल के 'पत्तों' के आनत अधरों पर सो गया निखिल 'मन' का मर्मर'।

और मर्मर जाग पड़ता है तुरंत ही नालंदा में, जहां स्वयं युगों का मर्मर सो रहा है। जागकर, जगाकर! जी हाँ, यात्रा का प्रथम चरण-नालंदा। हेनसंग ही दूसरा पक्ष सामने आता है भगवान बुद्ध अपने पूर्व के एक बोधित्त्व के रूप में इस प्रदेश के राजा थे और उनकी विशाल दानशीलता के कारण इसका नाम नालंदा पड़ा। जिसका अर्थ होता था—बिना विराम के दान।

आ गए हम दान और शील के प्रदेश में। सम्राट अशोक ने नालंदा में सारिपुत्र के चैत्यी के लिए दान दिया और बिहार बन गया और इस प्रकार इसके संस्थापक हुए। तुरंत नागार्जुन का नाम आता है दूसरी सदी में वे यहाँ पढ़ते थे और बाद में यहीं के प्रधान गुरु हुए। फिर दूसरे ही क्षण सुनता हूँ कि नागार्जुन के एक समकालीन ब्राहमण, दुविष्णु ने एक सौ साठ भव्य मंदिर इस उद्देश्य से बनवायें कि हीनयान-महायान संप्रदाय का ह्रास नहीं हो। तो ऐसी है विरासत हमारी भारतीय संस्कृति की अपने कर्म में विश्वास और श्रद्धा दूसरे कर्मों के प्रति समान आदर दिखाकर ही अपनी निष्ठा का परिचय दे

सकती है।

भग्नावशेष ! इस भग्नावशेष का अवशेष भग्न नहीं है। ४५० ई. से ११९९ ई. तक के बौद्धधर्म के अध्ययन का यह अद्वितीय केंद्र था। महायान संप्रदाय का यह स्थल था, परंतु अध्ययन-अध्यापन होता था हीनयान का, वेदों का, दर्शन का। ह्वेन संग के अनुसार यहाँ १०,००० भिक्षुक एक साथ अध्ययन करते थे। यहाँ प्रवेश पाने का नियम निराला था। विश्वविद्यालय का अरयाल ही अन्तर्वीक्षा लेता था। उत्तीर्ण तो विश्वविद्यालय के अंदर, नहीं तो बाहर का बाहर। कहा जाता है कि प्रत्येक १० सफल विद्यार्थी के लिए ८ असफल होते थे।

जैसे-जैसे इस भग्नावशेष के निचले हिस्से में उतरता हूँ, लगता है प्राचीन संस्कृति की उत्कृष्टतम ज्ञानशाला में जा रहा हूँ। पुन: पुन: जो महापुरुष, महाज्ञाता, महाजना, इस स्थल पर आये थे, उनके नाम मुझे पवित्र करते हैं नागार्जुन, आर्यदेव, बसुबंधु।

पुरातत्व विभाग के मित्र बताते हैं—यह विद्यार्थी का अध्ययन कमरा था। जहाँ सूर्य का प्रकाश सहज स्वाभाविक रूप में मिलता था। यह स्नानागार है। और फिर मन, मस्तिष्क से बातें करने लगता है यहीं व्याकरण अथवा शब्दविद्या का अध्ययन होता होगा। यहीं शिल्पविद्या, चिकित्साविद्या, हेतुविद्या का अध्ययन होता होगा और तदोपरांत वह विद्या जिसके बाद ज्ञान-ज्योति चित्त में उतर जाती है—अध्यात्मविद्या।

ज्ञान की पिपासा उनकी कितनी तीव्र और निर्मल रही होगी जो दुर्गम मार्गों को तय करते हुए, अनजान लोगों के बीच, अनजान भाषा के साथ, एक नये बोध के लिए यहाँ आये चीन से, तिब्बत से, कोरिया से, पुरुषपुर (पेशावर) से। मैं अपने ज्ञान की पिपासा से बहुत प्रभावित नहीं था।

पात्रता की कैसी परख थी। ह्वेन सांग ऐसे जिज्ञासु पात्र के स्वागत के लिए विश्वविद्यालय के चार प्रमुख पंडित विश्वविद्यालय के क्षेत्र से करीब १० किलोमीटर पहले गए।

ऐसे अंतर्राष्ट्रीय स्तर के विश्वविद्यालय का ह्रास कैसे हुआ? इस प्रश्न का उत्तर जैसे मैं उन सीढ़ियों से पूछना चाहता हूँ जिन पर चरण रखने का अर्थ कभी था, दर्शन के घर में चरण रखना, ज्ञान से संबंध स्थापित करना और सारी सीमाओं को पार करना ज्ञान के माध्यम से। क्या उत्तर बौद्धधर्म के निराशावादी दृष्टिकोण में मिलेगा जहाँ सर्वम् दुखम्, सर्वम् अनित्यम्। सर्वम् अनात्मयम्? क्या उत्तर कुमारिन और शंकराचार्य के तर्क और सिद्धांत में उपलब्ध है? क्या उत्तर राजप्रसाद के अभाव में है? अशोक ने इसे राज्य धर्म बनाया। स्वयं अपनाया। तो यह दूर तक, देर तक फैला रहा परंतु अशोक के उत्तराधिकारी दुर्बल निकले और बौद्ध धर्म अपनी लोकग्राहकता खोने लगा और परिणामस्वरूप नालंदा विश्वविद्यालय भी। क्या उत्तर मिलेगा युद्ध तथा विध्वंस में? मैं कुछ उधेड़बुन में हूँ। परंतु सोचता हूँ, मैं एक साधारण यात्री हूँ कभी समय निकालकर अध्ययन करूँगा कि कैसे बौद्ध धर्म के उत्थान के साथ-साथ इस विश्वविद्यालय का उत्थान हुआ और बौद्ध धर्म के पतन के साथ-साथ इसका भी पतन हुआ।

नालंदा, राजगीर दोनों नाम एक साथ जुड़े से आते हैं। एक दूसरे के सहचर, सहधर्मी। राजगीर के तो अनेक नाम हैं, यात्रा के पहले सुना था। यात्रा में मेरी जिज्ञासा को बड़े अपनेपन से कहा जाता है। इसके कई प्रसिद्ध नाम हैं वासुमति, वृहदरथपुर, ग्रीवराज, कुशाग्रपुर और राजगृह। 'किसी नाम से गुलाब को पुकारो उसका सौरभ अक्षत रहेगा', शेक्सपियर की यह पंक्ति जानता हूँ। फिर भी जान ही लेता हूँ कि वासुमति का नाम पौराणिक राजा बासु पर पड़ा होगा जो ब्रह्मा का पुत्र था और जिसने इस नगर की आधारशिला रखी थी। वासुमति का उल्लेख रामायण में है। उस पर पड़ा होगा। जैसा स्पष्ट है, ग्रीवराज तो इसलिए नाम दिया गया कि इसके चारों और पहाड़ ही पहाड़ हैं। और कुशाग्रपुर

जिसको उल्लेख ह्वेन-सांग वृत्तांत में मिलता है? इसका अर्थ स्पष्ट है उत्तम कुश की नगरी अथवा राजा कुशाग्र के नाम पर ही हो। राजगृह तो स्वाभाविक लगता ही है, क्योंकि यह राजाओं का आवास तो रहा ही है।

राजगृह की एक विशेषता जो मुझे अनूठी लगी वह यह कि यह हिंदू, जैन तथा बौद्ध धर्म के अनुयायियों के लिए समान रूप से पवित्र है। यहाँ हिंदुओं के लिए पवित्र ब्रह्मकुण्ड हैं। जहाँ सर्वदा गरम जल झरने की तरह गिरता रहता है। इसी ब्रह्मकुण्ड के ऊपर हिंदुओं के लिए मंदिर भी हैं।जैनों के लिए यह पवित्र है क्योंकि उनके बीसवें तीर्थकंर मुनिश्रुता का जन्म यहीं हुआ था और भगवान महावीर ने यहाँ १४ वर्षा ऋृतु बितायी थीं। बौद्ध धर्म का तो यह एक प्रमुख तीर्थ स्थल है। भगवान बुद्ध इस नगर के विभिन्न स्थलों पर विश्राम किया करते थे। गृद्धकूट उनका सर्वप्रिय स्थल था। उसी गृद्धकूट पर्वत पर मैं भी खड़ा था उस दिन। चारों ओर छोटी-छोटी निरभिमान पहाड़ियाँ, छोटे परंतु हरे पेड़ों से लदी पहाड़ियाँ। यहीं बुद्ध चिंतन किया करते थे, मनन किया करते थे। और मैं? कहीं कुछ है अवश्य, कहीं कुछ है अभी भी गृद्धकूट के पास जो एक नयी कोटि की शांति प्रदान करता है। जिस शांति में ज्ञान भी है, ज्ञान से उत्पन्न त्याग भी है, जिस शांति में आकाश का नीलापन आकर कहता है मैं नीला नहीं हूँ और उसके बाद भी शांति भंग नहीं होती है। उस शांति की अनुभूति इस यात्रा को तब से अब तक जीवंत रखे हुए है।

राजगृह के गृद्धकूट पर्वत पर स्वत: रोमांच होता है तथागत का अंतिम उपदेश जो उन्होंने यहाँ से बहुत दूर, कुशीनगर, में दिया था। तथागत आनंद एवं अन्य भिक्षुओं को कहते हैं—अब मेरा महापरिनिर्वाण होने वाला है वही पूर्णिया जब जन्मोत्सव मनाया था करनी ने शिशु गौतम के जन्म का, दो शाल के पेड़ों के बीच। और यह भी पूर्णिया है वही मास और वैसा ही शालद्वय।

आनंद अलग जाकर रो पड़े।

भगवान ने बुलाया, पूछा—क्यों रो रहे हो, आनंद?

आप जा रहे हैं, भगवान। आपके जाने के बाद हमारा शास्ता कौन होगा?

भगवान ने समझाया, नाशवान शरीर के लिए क्या शोक करना? और हाँ, मेरे बाद तुम्हारा कोई शास्ता नहीं होगा। प्रमाद से नया और अपने मोक्ष के लिए आप ही उद्यम करो। यही थे भगवान के अंतिम शब्द। प्रत्येक व्यक्ति अपने भाग्य का निर्माता है, अपना मोक्ष उसे स्वयं अर्जित करना है प्रमाद रहित और अध्यवसाय से। कितना अत्याधुनिक और व्यक्ति परम है यह संदेश।

राजगीर में जहाँ जाओ वहीं अनुगूँज सुनायी पड़ती है। वेणुवन के पास संभवत: राहुल की कुटिया थी, जब भगवान एक बार उसके यहाँ आये थे और पूछा था—राहुल, दर्पण का क्या उपयोग होता है? 'राहुल ने उत्तर दिया—प्रत्यवेक्षण के लिए भदंत।' भगवान ने कहा—'इसी प्रकार, राहुल, पुन:-पुन: प्रत्यवेक्षण करके काया, वाचा, एवं मनसा कर्म करना चाहिए।' रोमांचित हो उठता हूँ इस प्रसंग को स्मरण कर। कैसा परिवेश रहा होगा उस समय यहाँ पर? और कितनी प्रासंगिकता है इस संवाद की हमारे युग में, हमारे अपने देश में। 'प्रत्यवेक्षण' के इस माहात्मय को कैसे पहुँचाया जाए जन-जन में, ताकि भौतिक विकास की गति तीव्र हो और साथ ही अंतर जगत का परिष्कार होता रहे।

मेरे एक मित्र याद दिलाते हैं कि यहीं वेणुवन में राहुल के पास एक दिन आये ये भगवान बुद्ध और पूछा था—राहुल, दर्पण का क्या सार्थक्य? राहुल ने तत्क्षण कहा कि उसमें हम बारम्बार अपने को परख सकते हैं। ठीक है, राहुल, भगवान ने कहा था—हमें अपने को बारम्बार प्रत्यक्षण करना चाहिए, बारम्बार। इसी संदर्भ में मेरे मन में कुछ पंक्तियाँ कविता रूप में जन्मने लगती हैं:

दर्पण दोनों हैं,
उनके प्रश्न, मेरे उत्तर।
हम दोनों का होता है प्रवेश
समग्रता के आलोकित संसार में।
सामर्थ्य अनुगामी है समग्रता का
सहचर उस व्यग्रता का
शांति-कमल में प्रतिष्ठापित रहता जो।
दर्पण हम दोनों हैं
एक दूसरे के।
प्रकृति के,
पुरुष के।

यहाँ आप 'रोपवे' से रत्नागिरि पर्वत पर जा सकते हैं। जहाँ १६० फुट ऊँचा विश्व शाँति स्तूप है। 'रोपवे' मुझे संतुलित करता है, धरती और आकाश के बीच अपने को सार्थक रूप में रखने का कौशल प्रदान करता है। एक थिरक होती है। एक रोमांच भी होता है। नीचे के चिकने, सखड़े पत्थर कई प्रकार के संवाद कहते दीखते हैं, तो कभी बगल के पेड़ पर एक बैठा हुआ पक्षी अधिक नियंत्रित, संतुलित, व्यवस्थित लगता है। तभी अपने भीतर के कई पक्षी जाग उठते हैं। कहते हैं नालंदा में फिर से रत्ननिधि पुस्तकालय बनावेंगे जिसको जला दिया गया था, गृद्धकूट से फिर विश्व को शांति देंगे, अपना लेंगे, क्योंकि शांति, आकाश की तरह, सर्वत्र है, कभी दृश्य है, कभी अदृश्य है। परंतु सदैव एक स्पर्श है, एक गंध है, एक कांति है।

□

महाभारत संदर्भ

आत्मबोध

नरेंद्र कोहली

पाडुं, कुंती और माद्री के पहुँचने से पहले ही कर्मचारियों ने शिविर स्थापित कर दिया था और सब कुछ व्यवस्थित-सा ही लग रहा था।

अपने लिए नियत मंडप में प्रवेश कर कुंती और माद्री अभी आसन पर बैठी ही थीं कि पांडु बोला, तुम लोग थोड़ा विश्राम करो। मैं शेष व्यवस्था देखकर आता हूँ।'

'व्यवस्था तो हो ही चुकी हैं।' माद्री जैसे इस उन्मुक्त वातावरण में अधिक चपल हो गई थी।

पांडु के भाल पर खीझ की रेखाएँ प्रकट हुईं, 'रथ से उतर कर मंच पर आसीन हो जाने से व्यवस्था नहीं हो जाती महारानी ! और यह रामप्रसाद भी नहीं है, जहाँ प्रबंध-पटु कर्मचारी और स्थापित प्रबंध परंपराएँ भी नहीं हैं।'

माद्री शायद कुछ और भी कहती, किंतु कुंती ने उसे मौन रहने का संकेत किया। माद्री ने जैसे बलात् स्वयं को रोका और अपने इस आत्मदमन को सह्य बनाने के लिए दूसरी ओर देखने लगी।

माद्री और कुंती की ओर से जब न कुछ कहा गया, न कोई प्रतिक्रिया प्रकट की गई तो पांडु के लिए जैसे वहाँ खड़े रहने का कोई कारण नहीं रह गया। वह व्यस्त-सा मंडप से निकल कर बाहर चला गया।

'जाने किस बात से खीझे रहते हैं।' माद्री ने अपने दमित क्रोध को वाणी दी, 'विवाह को अभी समय ही कितना हुआ है कि ये इस प्रकार व्यवहार कर रहे हैं। यहाँ हम वन-विहार के लिए आए हैं, न किसी तपस्वी के आश्रम में मौन साधना करने........मुख से शब्द निकला नहीं कि किसी पशु के समान झपट पड़ते हैं।

'माद्री !' कुंती अत्यंत शांत स्वर में बोली, 'मैं तुम्हारी पीड़ा समझती हूँ बहन !... मैं भी तो उसी स्थिति में जी रही हूँ, और उसी मन:स्थिति को झेल रही हूँ। मेरा परामर्श है कि कुछ धैर्य से काम लो। उन्हें समझने का प्रयत्न करो।'

'तुम्हें उन पर तनिक भी क्रोध नहीं आता? तुम्हारे मन में एकदम विरोध नहीं जागता?' माद्री बोली, 'कैसी नारी हो तुम ! मेरे भाई ने तो शुल्क लेकर मेरा दान कर दिया है। मैं स्वतंत्र नहीं हूँ, किंतु

तुमने तो स्वयंवर में उसका वरण किया है। अपने साथ यौतुक लेकर आई हो। तुम उनसे डरती क्यों हो?'

कुंती को स्मरण हो आया, अभी शायद पिछली ही भेंट में माद्री ने अपने कुलीन होने की बात कही थी—राजपुत्री ! और वही माद्री अपनी पराधीनता, अपनी असमर्थता और बाध्यता की चर्चा कर रही है।

किंतु यह सब कहने और सोचने का यह अवसर नहीं था।

'मुझे ऐसा लगता है माद्री ! कि आर्य पुत्र हम से नहीं, अपने-आप से लड़ रहे हैं। दुख तो दूसरों से लड़ने वालों को भी होता हैं, किंतु स्वयं अपने-आप से लड़ने वाला व्यक्ति जो यातना पा रहा होता है, हमें उसे भी समझना चाहिए।

'तुम को उनसे बहुत सहानुभूति हैं?' माद्री के स्वर में अब भी उग्रता और रोष का दंश था।

'बात सहानुभूति की नहीं है।' कुंती बोली, 'समस्या तो अपना जीवन जीने के लिए एक मार्ग निकालने की है।'

'क्या अभिप्राय है दीदी ! तुम्हारा?'

'माद्री !' कुंती बोली, 'हमारा विवाह आर्य पुत्र के साथ हुआ है। हमें अपना जीवन उनके साथ ही व्यतीत करना है। अब यह हमारी अपनी बुद्धि पर निर्भर करता है कि हम उसे कितने सरल, सहज, सुचारु और सुव्यवस्थित ढंग से जी सकती हैं। जैसै यह मंडप मृगया-काल तक के लिए हमारा आवास है.... पर हमारे अपने विवेक पर निर्भर है कि हम इसका उपयोग किस प्रकार अधिकतम सुविधाओं के लिए कर सकती हैं।'

'मुझे तो न वह समझ में आते हैं, न तुम! माद्री का मन अब भी शांत नहीं था।

'साँझ झुकने लगी थी, जब पांडु आए।

उसे देखते ही माद्री जैसे पुन: भड़क उठी, 'यह वन-विहार है या कारागार ! हमें जाकर यहाँ पटका और स्वयं कहीं विलीन हो गए।'

पांडु की भृकुटियाँ फिर से चढ़ गईं, 'यह मृगया है, वन-विहार नहीं। राज परिवार के उस रूप के लिए, जिसमें तुम जैसी सुकुमारी नारियाँ भी हों, शिविर स्थापित करना साधारण काम नहीं होता। आस-पास का प्रदेश न समतल है, न सुविधाजनक। आस-पास सभ्यजनों का कोई नगर, ग्राम अथवा जनपद भी नहीं है। यहाँ इस असुविधा जनक सघन वन में, तुम लोगों के लिए राजसी सुविधाएँ जुटानी हैं मुझे.......।'

'राजसी सुविधाओं का अभाव नहीं था हस्तिनापुर में। उन्हें जुटाने के लिए यहाँ आने की क्या आवश्यकता थी?'

पांडु कदाचित् कुछ और उग्र होकर उत्तर देते : किंतु उससे पहले ही कुंती ने स्थिति संभाल ली, 'चुप रहो माद्री।' वह पांडु की ओर मुड़ी, 'आर्य पुत्र। सचमुच आप सुविधाएँ जुटाने के लिए इस प्रकार उद्विग्न और व्याकुल न हों।' बात को और अधिक प्रभावकारी बनाने के लिए वह मुस्कराई, 'माद्री भी कुछ अनुचित तो नहीं कर रही। सुविधाओं की तो सचमुच हस्तिनापुर में कमी नहीं थी। हम तो आपकी संगति के चाव में आप के साथ आई हैं। यदि यहाँ भी हमें आपका सान्निध्य नहीं मिला, तो हमें यह मृगया रुचिकर कैसे लगेगी।'

कुंती की वाणी के माधुर्य और उसकी भंगिमा की कोमलता के सामने पांडु की उग्रता टिक नहीं पाई, किंतु उसने व्यवहार की कठोरता नहीं छोड़ी 'तुम्हें मृगया रुचिकर न लगे तो हस्तिनापुर लौट

जाओ।' वह रुका, 'मैं यह कहने आया था कि मैं पुनः जा रहा हूँ। भोजन के लिए भी नहीं आऊँगा। तुम लोग भोजन कर लेना। न मेरी प्रतीक्षा करना और न मुझे बुलाने का आग्रह।'

माद्री और कुंती दोनों ही अवाक्-सी जाते हुए पांडु को देखती रहीं।

'यह हमारा अपमान करने के लिए हमें साथ लाये हैं।' माद्री न अपने क्रोध को रोक पा रही थी, न कष्ट को।

'नहीं ! वह हमारा अपमान करने के लिए साथ नहीं लाये, हम साथ आई हैं, इसलिए हमारा अपमान कर रहे हैं या शायद स्वयं को अपमान से बचाने के लिए, हम से भाग रहे है।' कुंती धीरे से बोली।

'अपनी पत्नियों के साथ मधुर व्यवहार करना, उनके साथ सुख से समय व्यतीत करना—क्या यह अपमानजनक होता है?'

'यह तो समय ही बताएगा।' कुंती ने कहा।

माद्री को लगा, पांडु के विरुद्ध उसके मन में आक्रोश का एक अंश कुंती के विरुद्ध स्थानांतरित हो रहा है।

भोजन के समय तक पांडु नहीं लौटे। भोजन लाने वाली दासी तथा द्वार पर खड़े प्रहरियों को पता नहीं था कि सम्राट कहाँ हैं। और न कुंती में इतना साहस था, न माद्री में वे इस समय वन में, रात के इस अंधकार में, पांडु को खोजने के लिए निकल पड़तीं।

'यह तो सरासर अपमान है दीदी !'

कुंती कुछ नहीं बोली।

'बोलती क्यों नहीं दीदी?'

'क्या बोलूँ ! इस अपमान को आदर में परिवर्तित करने का कोई मार्ग दिखाई पड़े तो बोलूँ।'

'यदि ऐसा जीवन ही व्यतीत करना है, यदि इस प्रकार की यातनाएँ ही सहनी हैं', माद्री बोली, 'तो मैं आत्मघात कर लूँगी।'

कुंती इस स्थिति में भी मुस्कराई, 'वह तो कोई भी, कभी भी कर सकता है।'

'इसे परिहास मत समझना दीदी !' माद्री की वाणी किसी भी क्षण आक्रोश से विकृत हो सकती थी, अपनी पीड़ा से रूंध सकती थी, 'मैं जीवित रहूँगी तो अपने ढंग से, अन्यथा जीवन को समाप्त कर दूँगी।'

'मैं तुम्हारी बात को परिहास नहीं समझती माद्री।' कुंती बोली, 'किंतु मैं जीवन को समाप्त करने से श्रेष्ठ, उसे अपने अनुकूल करना समझती हूँ। और जीवन को अपने अनुकूल करने के लिए बहुत कुछ सहन करना पड़ता है, साहस करना पड़ता है।

''सह नहीं रही क्या मैं'' ?

'क्षमा करना।' कुंती का स्वर गंभीर था, 'यह सहना भी कोई सहना है। पति से मतभेद हो गया, कहा-सुनी हो गई।' उसने रुक कर माद्री को देखा, 'मेरा अभिप्राय कुछ और मत समझना बहन ! मैं तुम्हारी व्यथा को छोटा नहीं कर रही। उस पीड़ा को स्वयं भी सहन कर रही हूँ। किंतु पूरी निष्ठा से एक बात कहना चाहती हूँ। सुनोगी?'

लगता था, कुंती की शांति का प्रभाव माद्री पर भी पड़ा था। उसकी मुद्रा भी शांत हुई, कहो। सुनूँगी।'

'मैं यादव कन्या हूँ। यादवों ने अनेक असहय अत्याचार सहे हैं और अब भी सह रहे हैं। तुम्हें मालूम हैं मेरे भाई वसुदेव और भाभी देवकी को बंदी बनाकर कंस ने कारागार में डाल रखा है। उनकी

सद्यःजात संतानों की वह एक-एक कर हत्या कर रहा है। तुम्हारे पति द्वारा किया गया अपमान क्या उस पीड़ा से भी बड़ी यातना है?' वह रुकी और फिर बोली, 'हमने अपने सामाजिक और व्यक्तिगत अनुभवों से जाना है कि जीवन बहुत विराट है। उसके असंख्य पक्ष हैं। उसमें सब कुछ व्यक्ति के अनुकूल नहीं होता। उसका स्वाभिमान और सम्मान शाश्वत और अक्षत नहीं है। शाश्वत है उसका प्रयत्न, अनवरत उद्यम, अपराजेय आस्था, अविचलित बुद्धि और विवेक। 'माद्री को लगा कि कुंती ने अपने अश्रु पोंछे हैं, 'कई बार कोई तुम्हारा देय तुम्हें नहीं देता, अनेक बार तुम्हारा प्राप्य तुम्हें प्राप्त नहीं होता, किंतु अनेक बार तुम्हें प्राप्त हो चुकने के बाद तुम्हें उनसे वंचित कर दिया जाता है.... तुम्हें सब कुछ सहना पड़ता है, मौन-मूक...।'

'तुमने क्या यह सब सहा है बहन?' माद्री ने अबोध शिशु के समान पूछा।

''मैं जननी-जनक से दूर, भोजपुर में अपने पिता राजा कुंतिभोज की छत्रछाया में पली। भाई-भाई के विषय में बता चुकी हूँ। पति का व्यवहार तुम देख ही रही हो। और.... और...।'' कुंती की आँखें मूँद गईं। उसकी बंद आँखों के सम्मुख एक और कुंती थी, जो एक नन्हा-सा शिशु कुंतिभोज की गोद में डालती हुई अपने नयनों से टपकते हुए अश्रुओं से उसे नहला रही थी....

'तुम ने बहुत सहा है बहन!'

प्रायः आधी रात के लगभग पांडु लौटे।

माद्री और कुंती दोनों ही जाग रही थीं।

'तुम लोग थक गई होगी। मैं भी थक चुका हूँ।' पांडु बोले, 'प्रातः जल्दी ही आखेट के लिए जाना है। सो जाओ।'

न माद्री ने कोई उत्तर दिया, न कुंती ने। पांडु को उत्तर की कोई अपेक्षा थी भी नहीं। वह अपनी शैया पर लेट गया।

वे सोईं या नहीं, पांडु जान नहीं सका। वे अपने बिस्तरों पर इतनी निश्चल पड़ी हुई थीं कि कहना कठिन था कि वे निद्रा में अचेत हैं, या जाग रही हैं और सायास दम साधे पड़ी हैं। पांडु के लिए यह सब जानना आवश्यक भी नहीं था।

स्वयं पांडु को निद्रा नहीं आ रही थी। उसे पिछली कई रातों से या तो नींद आई ही नहीं थी, या बहुत कम आई थी। वह समझ रहा था कि वह भीषण रूप से थका हुआ है। उसने सायास स्वयं को थकाया था। वह चाहता था कि उसका मन और शरीर इतना थक जाए, इतना थक जाए कि वह अचेत होकर गिर पड़े और गहरी-निद्रा में खो जाए। उसे यह चेतना ही न रहे कि उसके आस-पास कौन है, उसका किससे क्या संबंध है, ओर उससे किस को क्या अपेक्षा है।

किंतु ऐसा हो नहीं रहा था। उसके शरीर और मस्तिष्क इतना-इतना थक जाते थे कि टूटने-टूटने को हो जाते थे। वह स्वयं को जितना अधिक थकाता था, उससे नींद उतनी ही दूर भाग जाती थी। उसे लगता था कि वह पागल हो जाएगा।

कुंती के स्वयंवर में जाने से पहले, वह अपने विषय में क्या जानता था? कुछ भी तो नहीं। भैया धृतराष्ट्र, जन्मांध होने पर भी स्त्री-प्रसंग में रुचि लिया करते थे और कदाचित् उन्हें किसी किशोरी या युवती के निकट आते ही जैसे उसकी गंध आ जाती थी। विदुर की रुचि गंभीर विषयों की ओर अधिक थी। पर शास्त्रों की बात करते थे। जीवन और जगत् के प्रश्नों की चर्चा करते थे। सृष्टि के विषय में कई शाश्वत प्रश्न थे उसके मन में। अवसर मिलते ही वह उनकी चर्चा करते थे। उनकी जिज्ञासाएँ अनंत थीं।

किंतु अपने विषय में पांडु इतना ही जानता था कि उसे राजा बनना था, और उसके लिए उसे योद्धा भी बनना था। शस्त्र-शिक्षा में उसे कोई विशेष कठिनाई नहीं हुई थी। शरीर में चाहे असाधारण राक्षसी बल न रहा हो, किंतु शस्त्र-परिचालन की दक्षता प्राप्त करना कठिन नहीं था। राज-कौशल के लिए शारीरिक-क्षमता के साथ जिस बुद्धि की आवश्यकता होती है, वह उसमें पर्याप्त थी। उसे कभी किसी प्रकार भी आभास नहीं हुआ कि उसके व्यक्तित्व में कहीं कोई न्यूनता है। वर्ण पीला होने के कारण, कई बार वैद्यो ने ऐसे संकेत किए थे कि पांडु-रोग के लक्षण हैं, किंतु वह रोग, पांडु के जीवन में अब तक कभी बाधा-स्वरूप उपस्थित नहीं हुआ था।

....और तभी उसने अपने मन में उठता काम-भाव पहचाना था। नर-नारी संबंधों के प्रति जिज्ञासा जागने लगी थी। नारी-सौंदर्य उसमें एक मद-सा भर देता था। आँखें नारी-रूप को देखना चाहती थीं, कान नारी-कंठ को सुनना चाहते थे..... और फिर उसमें स्पर्श की इच्छा जागी थी। कैसा मादक विचार था स्पर्श का। पांडु सोचता था, तो चकित रह जाता था.... नारी-तत्त्व का अभाव नहीं था, हस्तिनापुर के राज प्रासाद में चारों ओर दासियाँ, परिचारिकाएँ और प्रतिहारिणयाँ बिखरी पड़ी थीं। युवराज के रूप में वह उनके लिए कितना महत्त्वपूर्ण था। उसके एक संकेत पर अनेक-अनेक नारी शरीर उसके सम्मुख आत्म-समर्पण कर देते। किंतु उसने पाया कि युद्ध-क्षेत्र का साहसी और शूर पांडु काम-क्षेत्र में उतना साहसी नहीं था। जाने क्यों उसका मन किसी के सम्मुख अपने इस आकर्षण अपनी इस दुर्बलता को स्वीकार नहीं करना चाहता था। जैसे वह चाहता था कि उसे स्पर्श का वह सुख मिल भी जाए, और कोई यह जान भी न पाए, और न यह कह ही पाए कि पांडु किसी दासी, या परिचारिका के शरीर के आकर्षण में दुर्बल हो गया था। अब वह हस्तिनापुर का सम्राट था.... दासी और सम्राट का धरातल समान नहीं होता।

तभी कुंती के स्वयंवर का निमंत्रण मिला था। पितृव्य भीष्म की भी इच्छा थी कि पांडु उस स्वयंवर में सम्मिलित हो। कैसी विचित्र उत्तेजना थी वह! कैसी मादक! पांडु ने कुंती को देखा........संपूर्ण नारी थी वह सुंदर, आकर्षक, मधुर, विकसित नारी शरीर के संपूर्ण वैभव से आपादमस्तक संपन्न! ओह कुंती! उसके सम्मुख तो घुटने टेक कर भी कहना पड़े, 'कुंती! मैं तुम्हारा याचक हूँ।' तो पांडु को कोई आपत्ति नहीं होगी... पर क्या कुंती उसे स्वीकार करेगी?

और पांडु के हर्ष और आश्चर्य की कोई सीमा नहीं रही, जब उसने देखा कि कुंती ने द्वंद्वविहीन निष्कंप हाथों से वर-माला उसके कंठ में पहना दी.....

पांडु की आँखों के सम्मुख विवाहोपरांत कुंती से अपनी प्रथम भेंट का दृश्य घूम गया।

जब कुंती को पहली बार छुआ था पांडु ने... तो जैसे उसके रक्त के कण-कण में विद्युत की लहरें दौड़ गई थीं। सारा रक्त मस्तक की ओर दौड़ा था। पांडु जैसे काम-सुख से मस्त हो उठा था... किंतु तभी जैसे उसकी स्वास-प्रक्रिया बाधित होने लगी थी, वक्ष में शूल-सा उठा था और मस्तक फटने-फटने को हो गया था।

सागर तट पर जाकर भी तृषित ही लौट आया था पांडु। कुंती उसके लिए सचमुच अथाह सागर ही थी। नारी-सौंदर्य और नारी-सुख का अथाह सागर, जिसमें उत्ताल तरंगें उठ रही थीं। पांडु, तृषित पांडु उसकी ओर बढ़ता था। तरंगें उसे भिगोती थीं। वह उसमें डूबता जाता था आकंठ। किंतु जल का पहला बिंदु ही अधरों से लगता था और उसका लवण कष्ट देने लगता था.... पांडु समझ जाता था, यह उसके लिए निषिद्ध जल था... अपनी तृष्णा ओर निषिद्ध जल के मध्य मृग के समान दौड़ते-दौड़ते

वह हाँफ-हाँफ कर निर्जीव हो गया था

अगले ही दिन पांडु ने अपने राज वैद्य से एकांत में चर्चा की थी। वैद्य ने उसकी सारी बात सुन, और नाड़ी परीक्षण कर कहा था, 'सम्राट' ! कुछ समय औषधि लीजिए जिससे पांडु रोग से हुई दुर्बलता दूर हो जाय। तब तक उत्तेजना से दूर रहें। संयम नियम से रहें।

तभी पांडु ने दिग्विजय की योजना बनाई थी। उसने सोचा था कि वह इसी बहाने कुंती से दूर भी रहेगा और पूरी तरह स्वस्थ होने के लिए औषध का सेवन भी करता रहेगा। किंतु तभी पितृव्य भीष्म ने अपने अज्ञान में उसे माद्री की मृग-तृष्णा में फँसा दिया था।

पांडु की लालसा उसे बार-बार प्रयोग दुहराने के लिए जोर लगाती रही, और उसका विवेक ठंडे जल की वर्षा करता रहा।

किंतु पांडु का दर्प ! उसका दर्प पराजय स्वीकार नहीं कर रहा था। वह स्वयं को असमर्थ अक्षम, कुछ भी मानने को तैयार नहीं था। वह पुरुष था, युवा था, वीर था, हस्तिनापुर का सम्राट था... वह अपनी पत्नियों के सम्मुख, अपनी प्रजा के सम्मुख, परिवार के गुरुजनों के सम्मुख अपनी दुर्बलता कैसे स्वीकार कर ले।

उसने मृगया की योजना बनाई थी, और कुंती तथा माद्री ने उसे वन-विहार का रूप दे डाला था। किंतु पांडु के मन में इस समय हिंसा ही हिंसा थी। अपनी असमर्थता जैसे उसे हिंस्र से हिंस्रतर बनाती जा रही थी। उसका विवेक जैसे मदांध होता जा रहा था..... वह नाश कर देगा, ध्वस्त कर देगा.....पांडु को नींद नहीं आई और चारों ओर वन के पशु-पक्षियों और शिविर के मनुष्यों के जागने के प्रमाण मिलने लगे...।

पांडु ने दाँतों से अपने होंठ काट लिए। आखेट के लिए वन में आया हुआ पांडु, प्रातः सो नहीं पाएगा। वह तो रात को ही अपने कर्मचारियों को नियुक्त कर के आया था....

वह झल्ला कर उठ बैठा। उसकी दृष्टि कुंती और माद्री पर पड़ी। इस समय तो वे निश्चिंत रूप से सो रही थीं....

उसने निषंग कसा, धनुष उठाया और मंडप से बाहर निकल आया।

प्रतिहारी चौंक कर उठ बैठे। वे असावधानी में पकड़े गए थे। संभवतः राजा समझ गए हों कि वे लोग रात को सो भी गए थे।

किंतु पांडु का ध्यान उस ओर नहीं था। इस समय तो वह किसी हिंस्र सिंह से भिड़ जाना चाहता था। अपने मन की सारी हिंसा को वह पूर्णतः रिक्त कर देना चाहता था। मन होता था कि धनुष-बाण भी त्याग दें और सिंह से मल्ल-युद्ध करें। एक बार शरीर क्षत-विक्षत हो जाए, मन अपनी इच्छा भर हिंसा-कृत्य कर लें। शायद उसकी आत्मा कुछ हल्की हो जाए।

सहसा उसका ध्यान अपने कुछ कर्मचारियों और सैनिकों की ओर गया। वे उसके पीछे-पीछे आ रहे थे, कदाचित् उसकी रक्षा और सहयोग के विचार से।

'लौट जाओ।' पांडु ने आदेशात्मक स्वर में कहा, 'मुझे किसी की आवश्यकता नहीं है।'

वे किंकर्तव्य-विमूढ़ से खड़े रह गए पर राजा की आज्ञा का पालन करें, अथवा अपने कर्तव्य का? किंतु राजा ने निश्चित् शब्दों में उनके आने का निषेध किया है। वे कुछ क्षुब्ध भी दिखाई दे रहे थे।ऐसा न हो कि अपने कर्तव्य का पालन करते-करते, वे दंड के भागी बन जाएँ.....

पांडु ने पगडंडी छोड़ दी और सघन वन में घुस गया।

कल रात्रि को पांडु ने अपने सहयोगियों के साथ आखेट का जो स्वरूप निर्णीत किया था, उसे

वह भूल चुका था। इस समय तो वह अकेला ही किसी अत्यंत भयंकर तथा जोखम-पूर्ण संकट में कूद पड़ना चाहता था, जैसे मस्तक की पीड़ा से व्याकुल होकर कोई व्यक्ति अपना मस्तक शिला पर दे मारे.......

उसे लग रहा था कि उसके सारे शरीर में जैसे एक ज्वर व्याप्त था, जिसका ताप निरंतर बढ़ता ही जा रहा था। ओर वह ताप, सारा का सारा, उसके मस्तक में केंद्रित होता जा रहा था।

सहसा पांडु ठिठक गया.........

उसकी आँखों के सम्मुख, थोड़ी दूरी पर एक मृग-युगल, काम-क्रीड़ा में लीन था। या तो पांडु के पगों की इतनी आहट ही नहीं थी कि वन के इन सचेत प्राणियों को वह सुनाई पड़ती और वे वहाँ से भाग जाते, या शायद वे इतने समाधिस्थ थे, कि उन्हें अपने परिवेश की कोई चेतना ही नहीं रह गई थी।

मृगी कटाक्ष से मृग की ओर देख रही थी, और मृग जैसे उसकी दृष्टि के इंद्रजाल में बँधा हुआ, उसकी ओर खिंचता चला गया। दोनों ने एक-दूसरे को सूँघा, चाटा। किलोलें कीं। एक-दूसरे के आगे-पीछे भागे-दौड़े। और मृग ने जैसे अपनी भुजाओं में मृगी को समेटा।

पांडु का मस्तक फटने-फटने को हो गया। जो सुख वन के एक साधारण पशु को भी प्राप्त है महाराज पांडु उसके भी अधिकारी नहीं हैं। इतना असमर्थ है हस्तिनापुर का सम्राट। आक्रोश का भयंकर ज्वार जैसे पांडु की शिराओं से फूट कर बाहर निकलना चाहता था। सम्राट पांडु का राजसी दर्प यह कैसे स्वीकार कर लेगा। वह स्वयं को इन पशुओं से भी हीन और असमर्थ मान ले। किंतु यह कैसे संभव है। पांडु इतना असमर्थ नहीं है। जो सुख पांडु के लिए नहीं है, वह संसार में किसी के लिए नहीं रहेगा।

पांडु ने आवेश में तूणीर से बाण खींचा, प्रत्यंचा पर रखा, प्रत्यंचा खींची और अगले ही क्षण बाण मृग के वक्ष में धस गया। मृग ने एक चीत्कार किया और मृगी को छोड़ कर भूमि पर लोट गया। उसके शरीर की ऐंठन पांडु के नेत्रों से छुपी नहीं थी। पांडु ने किसी पशु या मनुष्य को आहत होकर मरते हुए कोई पहली बार नहीं देखा था। वीर क्षत्रियों के जीवन का तो वह सामान्य-सा क्रम था, किंतु यह मृग, जो अभी अपनी प्रिया के आस-पास क्रीड़ा कर रहा था, उसे मुग्ध कर रहा था, और उस पर मुग्ध हो रहा था, उसके शरीर को सुख दे रहा था, और उससे सुख पा रहा था, अब अपने ही रक्त के वृत्त में पड़ा इस प्रकार ऐंठ रहा था, जैसे उसकी एक-एक नाड़ी को कोई रस्सी के समान बँट रहा हो। उसकी आँखें पीड़ा से जैसे बाहर की ओर उबल पड़ी थीं।

मृगी को जैसे पहले तो कुछ समझ में ही नहीं आया कि मृग को हुआ क्या है। किंतु नहीं! और तब शायद मृगी यम का प्रत्यक्ष रूप देख और समझ सकी। उसने आकाश की ओर देखकर एक करुण चीत्कार किया जिसने पांडु का हृदय भी दहला दिया.... और उद्भ्रांत-सी वृक्षों के एक झुंड में विलीन हो गई। पांडु, मृग के पास आया। मृग गिरा पड़ा था। उसकी दो टाँगें धरती पर थीं, ओर दो ऐंठ कर वायु-मंडल में ही रह गई थीं। उसकी आँखें अपने कोटरों से बाहर निकल पड़ रही थीं...... उसके चेहरे पर मृत्यु की यातना थी... या काम-यातना?

पांडु को लगा, वह उस मृत मृग का नहीं, उसका अपना चेहरा है। यदि वह कुंती और माद्री से भागेगा नहीं, तो उसका चेहरा भी इतना ही पीड़ित और यातनापूर्ण होकर इसी प्रकार निर्जीव हो जाएगा। और पांडु मरना नहीं चाहता। जीवन के संपूर्ण सुखों को प्राप्त करने के प्रयत्न में मृत्यु को प्राप्त होना श्रेयस्कर है, या एक सुख को त्याग कर जीवित रहना? वह इस सुख की इच्छा छोड़ ही क्यों

नहीं देता? फिर यह व्यर्थ का रक्तपात क्यों? यह मृग-युगल अपने सुख में लीन था। पांडु ने अपनी प्रतिहिंसा में उनसे वह सुख तो छीन लिया किंतु पांडु को उससे क्या मिला? पांडु का लक्ष्य क्या है? अपने सुख की प्राप्ति या दूसरों को उस सुख से वंचित करना?

दूसरों को सुखी देखकर. पांडु का वंचित ह्रदय, अपनी प्रतिहिंसा से संचालित होकर संसार भर का सुख छीनने का प्रयत्न करेगा...... संसार में विरोध, कष्ट, दुख, क्लेश बढ़ेगा.... क्या पांडु उससे सुखी हो सकेगा? क्या अपने चारों ओर एक तामसिक नरक का निर्माण कर पांडु आनंदित होगा? वह तो और भी दुखी होगा। प्रतिहिंसा ने किसी को आज तक सुखी किया है क्या?

क्या ऐसा नहीं हो सकता कि व्यक्ति जो सुख स्वयं न पा सके, दूसरों को वही सुख प्राप्त करते देख उदारतापूर्वक प्रसन्न हो? यदि पांडु दूसरों को सुखी देखकर, उसमें ही अपना सुख मान सकता, उनके सुख में अपना दुख भुला सकता, तो शायद उसके मन को शांति मिलती, करुणा का विस्तार होता।

किंतु उसके लिए रजोगुण-परिचालित क्षत्रिय-वृत्ति नहीं, सतोगुण-नियंत्रित तापस-वृत्ति चाहिए। पितृव्य गांगेय भीष्म ने भी तो सब प्रकार से समर्थ होते हुए भी अपने पिता के सुख के लिए, अपना सुख सदा-सर्वदा के लिए त्याग दिया था। उससे उनको यश और सम्मान मिला। वे सुखी ही हुए। उन्होंने भी प्रतिहिंसा का मार्ग अपनाया होता, तो वे मात्र कुरुकुल के ही विनाश के कारण न बनते, संपूर्ण विश्व को श्मशान बना डालते। किंतु दूसरों को सुख से वंचित कर, वे कदापि सुखी न हो पाते। इसीलिए तो उन्होंने त्याग का मार्ग अपनाया। पांडु को भी, भीष्म के मार्ग पर चलना चाहिए। तपस्या और त्याग का मार्ग। शायद वह उससे सुखी हो सके।

पांडु मृग के पास और खड़ा नहीं रह सकता। किसी जीवित मृग ने उसे आजतक कभी कुछ नहीं कहा था, किंतु यह मृत मृग जाने, जीवन के कौन-कौन से भेद उसे समझाता जा रहा था।

पांडु भूल गया कि उसका शिविर किधर है। वह भूल गया कि उसके साथ कुंती और माद्री हैं। सैनिक और कर्मचारी हैं, दास और दासियाँ हैं। वह विक्षिप्त-सा आगे बढ़ता चला गया, जिधर उसके पग उठे।

और थोड़ी ही दूर जाकर उसने देखा। वनवासी तपस्वियों के कुछ कुटीर थे। तो यह कोई आश्रम होगा। हाँ! शायद किंदम ऋषि का आश्रम है, यहीं कहीं। वही होगा.... मंत्रों के उच्चारण का मधुर स्वर सुनाई पड़ने लगा था। कुटीरों के मध्य से कहीं यज्ञ का धुआँ भी उठ रहा था।

पांडु के हाथों ने जैसे स्वतः ही शस्त्र त्याग दिए और मंद गति से चलता हुआ वह जाकर आश्रम वासियों के पीछे बैठ गया।

प्रार्थना के पश्चात् कुलपति ने अपनी आँखें उठाईं, 'स्वागत महाराज' पांडु। मैं, किंदम, अपने आश्रम में आपका स्वागत करता हूँ।'

पांडु ने खड़े होकर प्रणाम किया, 'आपने मुझे पहचान लिया कुलपति!'

'हमें सूचना थी कि आप मृगया के लिए यहाँ आए हैं।' किंदम बोले, 'यह पता नहीं था कि आप हमारी उपासना में सम्मिलित होने के लिए प्रातः ही आ जाएँगे। आप सुखी तो हैं सम्राट?'

पाँडु को लगा कि ऋषि ने उसके घाव को ऐसे छील दिया है कि अब उसके लिए स्वयं को सँभालना बड़ा कठिन हो गया है। पांडु की मनःस्थिति ऐसी थी कि न वह माँ के कंधे से लग कर रो सकता था, न पत्नी के वक्ष से। क्या करें वह, किस से कहे।

वह आगे बढ़कर ऋषि के चरणों में गिर पड़ा। उसकी आँखों से अश्रु बह निकले, 'सुख कहाँ है ज्ञान धाम?'

ऋषि ने आश्चर्य से उसे देखा : सम्राट को क्या हो गया है?

'क्यों क्या मृगया में सुख नहीं है?' ऋषि किंदम मुस्करा रहे थे।

'मैं मृगया के लिए नहीं आया था।' पांडु अवरूद्ध कंठ से बोला, 'मैं तो अपनी यातना को भूलने के लिए आया था। अपने-आप से भाग कर आया था। आखेट तो एक बहाना मात्र था।

ऋषि के पीछे-पीछे पांडु उनकी कुटिया में आया। ऋषि अपने आसन पर बैठ गए। उन्होंने अपने सामने रखे मंच की ओर संकेत किया, बैठो! यह समय मेरी एकांत साधना का है। इस समय इस कुटिया में कोई नहीं आएगा। तुम्हारा रहस्य, रहस्य ही रहेगा। अपनी व्यथा कह डालो।'

पांडु ने अश्रु पोंछे और मंच पर बैठ गया, 'अब रहस्य को रहस्य रखने की भी इच्छा नहीं है ऋषिवर! मैं और घुट नहीं सकता। अपने यथार्थ को स्वीकार करना चाहता हूँ।'

'कहो!'

पांडु अपनी बात कह चुका तो ऋषि बोले, 'वह आश्रम का मृग रहा होगा, तभी वह तुम्हें देख कर भागा नहीं राजन! आश्रम के मृग, मनुष्य के सामीप्य के अभ्यस्त होते हैं। तुमने मृग का वध कर अच्छा नहीं किया। आश्रम के मृग आखेट के लिए नहीं होते।'

'मुझ से वह भूल हुई है,' पांडु बोला, 'मैं उसका प्रायश्चित करने को भी तैयार हूँ। किंतु ऋषिवर! मुझे इस कष्ट से मुक्ति कैसे मिलेगी?'

'जैसे उस मृग को मिली।'

'अर्थात्?'

'काल के द्वारा।'

'नहीं!' पांडु चौक उठा, 'नहीं! क्या काम-सुख की इच्छा इतना बड़ा अपराध है, जिसका दंड मात्र मृत्यु ही है?'

मैं न अपराध की बात कर रहा हूँ, न दंड की।' ऋषि बोले, 'मैं तो केवल इतना कह रहा हूँ राजन्! कि कामना दुख का द्वार है। और दुख का अंत मृत्यु के द्वारा ही होता है।'

'अर्थात् सुख कुछ नहीं है?' पांडु ने पूछा।

'सुख आत्मक्षय का तीव्रगामी माध्यम है।' ऋषि बोले, 'जिसे हम सुख कहते हैं, वह जीवनी-शक्ति का मात्र त्वरित क्षय है। सुख की कामना ही दुख का कारण है। दुख से छूटना है तो कामना को त्याग दो।' ऋषि ने रुक कर पांडु को देखा, 'वस्तुतः वह मृग तुम्हारा गुरु था, मार्ग-दर्शक था। उसने तुम्हें जीवन का एक रहस्य समझाने के लिए अपने प्राणों का मूल्य चुकाया है। उसने तुम्हें समझाया है : शांति का एक ही मार्ग है—कामना का त्याग! सुख और दुख—दोनों एक ही सत्य के दो पक्ष हैं। दोनों की जननी कामना है? और दोनों का परिणाम मानसिक अशांति है। शांति चाहते हो तो दुख के साथ सुख को भी छोड़ो। कामना का त्याग करो। त्याग में शांति है, आनंद है। कामना दुख है, वासना यातना है। काम-वासना तो मृत्यु ही है। काम में प्रवृत्त होगे तो यम के काल में समाओगे, काम से दूर रहोगे तो भीष्म के समान यशस्वी जीवन पाओगे।' ऋषि ने पांडु की ओर देखा, 'यद्यपि वह मृग हमारे आश्रम का था, तथापि अब वह तुम्हारा है। तुम चाहो तो उसे ले जा सकते हो। उसका मांस और चर्म प्राप्त कर सकते हो।'

पांडु ने उठकर ऋषि को प्रणाम किया। वह कुटीर से बाहर निकल आया। वह मृग की ओर नहीं गया। उसके मन में मृगया का आह्लाद नहीं था. न मृग के मांस की इच्छा थी, न उसका चर्म प्राप्त करने का उत्साह। उस मृग के मांस और चर्म की इच्छा वह कैसे करता, जिसने एक गुरु के समान उसे जीवन की समस्याओं का समाधान दिया था। वह न सामान्य मृग था, न साधारण पशु, वह तो उसको जीवन का मूल तत्त्व समझाने वाला तत्त्वदर्शी, सत्यद्रष्टा था।

□

भारतीय शिल्पकला में यक्षिणियाँ

डॉ. जगदीश सिंह मन्हास

भारत के धार्मिक क्षेत्र में अत्यंत प्राचीन काल से ही वैदिक देवी देवताओं के साथ-साथ कुछ ऐसी शक्तियों की सत्ता भी हिन्दू धर्म में स्वीकार की गई है, जो देवत्व की सीमाओं तक तो नहीं पहुँची है, किंतु फिर भी उनका अपना पृथक महत्त्वपूर्ण स्थान है। यक्ष-यक्षिणियों की गणना भारतीय धार्मिक क्षेत्र में इसी रूप में हुई है। विष्णुपुराण में इनकी गणना आठ प्रकार की देवयोनियों के अंतर्गत की गई है।

सिद्धगुह्यक गंधर्व यक्ष राक्षस पन्नगा:
विद्याधर पिशाचाश्च निर्दिष्टा देवयोनय:

आरंभ में इनकी उपासना-पूजा अनार्यो में प्रचलित थी; किंतु जब आर्यों की वैदिक और अनार्यों की लौकिक संस्कृतियों का समन्वय हुआ, तब वैदिक देवताओं में अवैदिक देवताओं को भी सम्मिलित कर लिया गया था। फिर भी इन अवैदिक देवताओं की उपासना-पूजा अधिकतर समाज के निम्न वर्ग में ही प्रचलित रही। कलांतर में वैदिक, जैन, बौद्ध और पौराणिक सभी धर्मों के साहित्य में इनके नामों का परिचय तथा उपासना का विभिन्न दृष्टिकोण से उल्लेख किया जाने लगा। वस्तुत: यक्ष-यक्षिणियाँ उस काल की लोकोपासना के प्रतीक हैं, जिस समय वैष्णव, शैव, बौद्ध, जैन आदि ऊँची दार्शनिक भूमिका वाले धर्म या तो अस्तित्व में ही नहीं आये थे, अथवा उनका प्रचार कुछ उच्च वर्गों तक ही सीमित था। जनसाधारण को अपनी गोद में लेने के लिए उनके मान्य देवी-देवताओं को स्वीकार करना सभी धर्मों के लिए आवश्यक हो गया था। परिणामस्वरूप ब्राह्मण, बौद्ध व जैन तीनों धर्मों ने यक्ष, नाग, पिशाच, किन्नर आदि लोक देवताओं को अपने उपप्रधान देवता के रूप में अपना लिया। तीनो धर्मों के ग्रंथ यक्ष-यक्षिणियों के उल्लेख से भरे पड़े हैं।

अपनी प्रारम्भिक अवस्था से ही यक्षिणियाँ दो रूपों में प्रचलित थी (१) कल्याणकारी (२) विनाशकारी, इनका सर्वांग सुन्दररूप लोकमंगलकारी और कल्याणकारी था तथा दूसरा बेडोल एवं तामसी रूप लोगों के लिए भयानक, कष्टप्रद और विनाशकारी था। कल्याणकारी रूप में यक्षिणियां सौदर्य देवी के रूप में हमारे सामने आती है। वे अपूर्व सुंदरियाँ होती थीं इनकी बेहद सुडौल पुष्ट शरीर यष्टि गोलाकार मुखमंडल, होठों पर हल्की मुस्कान, मांसल देह और पेट की सलवटें भारतीय शिल्पकला में स्पष्ट हैं। विनाशकारी रूप में यक्षिणियाँ मारककन्यायें थी। इस तरह ये अपनी इच्छा या वृत्ति के अनुरूप मनुष्य की सहायता करती या कष्ट देती थीं। इनसे संबंधित सभी दृष्टांतों में, इनके प्रति लोक जीवन में व्याप्त आस्थाएँ और विश्वास विरोधाभास से परिपूर्ण हैं। इनकी क्षमताएँ असीम

थीं, और लाभकारी एवं विनाशकारी रूपों में समान गति से प्रवाहित होती थी। समाज का कोई भी ऐसा वर्ग नहीं था जो कि इनमें आस्था न रखता था। राजा, ब्राह्मण, धनिक, सामान्य वर्ग, व्यापारी, पुरोहित आदि सभी इनके प्रभाव में थे और इनसे अपने कल्याण की अपेक्षा रखते थे, किंतु इनके द्वारा त्रस्त होने पर वे अन्य देवों की शरण में जाते थे।

भारतीय शिल्पकला में यक्षिणियों की प्रतिमायें भारतीय शिल्पकला के दो उद्देश्यों को लेकर हमारे सामने आती हैं। अतीत को जीवित रखने के लिए तथा अमूर्त को मूर्त रूप देने के लिए। ऐतिहासिक मूर्तियाँ किसी स्मृति को या अतीत को जीवित रखने के उद्देश्य से बनाई गई जबकि धार्मिक और कलात्मक मूर्तियाँ अमूर्त को मूर्त रूप देने के तथा भाव को आकार प्रदान करने के उद्देश्य से बनाई गई। चूंकि यक्षिणियों की पूजा तत्कालीन लोक धर्म का अभिन्न अंग थी, उर्वरता का कल्याणकारी प्रतीक थी इसलिए वे उक्त दोनों ही उद्देश्यों को लेकर भारतीय शिल्पकला में उत्कीर्ण हुई।

भारतीय शिल्पकला में ये प्रतिमायें सर्वप्रथम मौर्य युग (लगभग ई.पू. ३२२-ई.पू. १९०) से पूर्व उपलब्ध होती हैं लेकिन इस काल की प्रतिमाओं की बनावट अनुपात रहित हैं। वे सौंदर्य के नमूने नहीं माने जा सकते। वैदिक साहित्य में कथित (सुंदर) यक्ष तथा पूर्वमौर्य युगीन यक्ष-यक्षिणियों की प्रतिमाओं में पर्याप्त असमानता है।

आगे चलकर यक्षिणियों की प्रतिमायें शुंगों के शासनकाल (लगभग ई.पू. १८४-ई. पू. ५०) में उत्कीर्ण हुई। इस काल की कला के केंद्र श्रावस्ती, भीटा, कौशांबी, मथुरा, बोधगया, पाटलीपुत्र, भरहुत, सांची आदि थे। शुंगो का युग मौर्यकाल का ही विस्तार था परंतु इसकी मूर्तियों के प्रकार, भंगिमायें और प्रचुरता बदल जाती है। वैयक्तिकता सामाजिकता में बदल गई। जातक आदि कथाएँ भी पत्थरों पर उभर आई। यक्ष-यक्षिणियों की उभरी अकेली मूर्तियों के नीचे उनके निजी नाम लिखे होने पर भी वे अकेली न थी। उनका वाहन वामन पुरुष हुआ। उनके पदों के बीच शुंगकालीन धोती का त्रिकोणात्मक कोण भूमि को छूने लगा। हाथों पैरों में कड़े भर गये, ग्रैवेयक और तारहारों से वक्ष ढक गया, केश मोंती की लड़ियों से सज गये। दीदारगंज की प्रसिद्ध चंवर धारिणी यक्षिणी इस काल की प्रतिमा है, जो कि आजकल पटना के संग्रहालय में सुरक्षित है। उसकी पालिश या चमक देखकर लगता है कि मौर्यकालीन पालिश शुंगकाल में भी थी लेकिन इस काल के आरंभ में ही वह लुप्त हो गई। दीदारगंज की यक्षिणी प्रतिमा अपनी सुंदरता, आकर्षकता तथा प्रभावप्रेषण की दृष्टि से नितांत प्रसिद्ध है। चंवधारिणी यक्षिणी की ५½ फुट की यह मूर्ति एक चौकी को आधार बनाकर निर्मित की गई है। चौकी तथा मूर्ति दोनों ही एक प्रकार के बलुए प्रस्तर द्वारा निर्मित हैं जिन पर एक विशिष्ट चमक है। मूर्ति का गोलाकार मुख, संपुष्ट शरीर, ओष्ठ पर मुस्कान, पेट की नसें एवं देह में मांसलता की गुणवत्ता तथा उदर की सिलवटे स्पष्टतया अंकित है। मूर्ति के दाहिने हाथ में एक चंवर है, केश राशि गुम्फित है, हाथ की कलाई पर चूड़ियाँ एवं भारी कड़ा पहना हुआ है। मूर्ति का दूसरा हाथ खण्डितावस्था में प्राप्त हुआ है। मूर्ति की ग्रीवा एक मुक्ता माला द्वारा अलंकृत है जो वक्षस्थली के स्तनों के मध्य दोलायमान स्थिति में अंकित की गई है। नारी सौंदर्य की स्वाभाविक अभिव्यक्ति, आकर्षक तथा चिंताकर्षक रूप लावण्य, वक्रनयन-संयोजन, अंग प्रत्यंग में भराव, सौष्ठव तथा गोलाई और लज्जावनत चेष्टा करती यह मूर्ति शुंगकालीन कला का अनुपम उदाहरण है।

इसी काल में भरहुत तथा सांची स्तूपों के तोरणों और वेदिकाओं पर भी यक्षिणी प्रतिमायें उत्कीर्ण हुई। भरहुत तथा सांची के विशाल स्तूप प्राचीन भारतीय कला के दो तेजस्वी नेत्र हैं इन चक्षुओं की सहायता से संस्कृति की गहराईयों में जो अर्थ छिपा हुआ था, उसका देखना हमारे लिए

सुलभ बन गया। यक्षिणियों की प्रतिमायें इन स्तूपों पर भी अपनी सभी विशेषताओं पर क्रियाकलापों को लेकर स्पष्ट हुई। यद्यपि यह स्तूप निर्वाण मृत्यु के प्रतीक थे, पर उनको घेरने वाली रेलिंगों पर उल्लसित अनियंत्रित जीवन लहराता था। स्तूपों के वेदिका स्तंभों पर, सामने लंबायमान दण्डों पर तथा द्वार तोरणों पर जीवन उछल पड़ा, उनके हँसते प्रतीक उत्कीर्ण हो गए। वृक्ष की डाल को स्पर्श करती हुई आधी बैठी हुठ शालमंजिकाएँ, अल्हड़ नग्न यक्षिणियाँ अनंत रूपों में अभिव्यक्त हुई। कंदुक उछालती, स्नान करती, प्रसाधन करती नारी अपनी असंख्य मुद्राओं को लेकर इस प्रकार उभर आई मानो नारी देह की सुंदरता ने ही मूर्तिरूप ले लिया है। इस युग में सर्वाधिक यक्षिणी प्रतिमायें मिलती हैं जो कि नारी आकर्षण की समस्त वास्तविकताओं के साथ चित्रित हैं। सांची तथा भरहुत के कलाकार भारतीय लोकहृदय के अधिक निकट थे इसलिए इन स्थानों के वेदिका स्तंभों पर लोकधर्म की इन देवियों का अंकन सर्वाधिक पाया गया तभी तो कुछ कला मनीषियों ने यक्षिणी प्रतिमाओं को कला की लोकशैली का प्रतिनिधि माना है।

सांची तथा भरहुत की कला का प्रभाव आगे चलकर कुषाणकाल (ई.पू. प्रथम शती से तीसरी शती तक) की कला पर पड़ा। इस काल की कला के तीन प्रधान केंद्र मथुरा, सारनाथ और अमरावती थे। इनमें मथुरा यक्षिणी प्रतिमाओं का सबसे बड़ा केंद्र बना। शचीरानी गुर्टू ने भी मथुरा कला शैली की विशेषताओं को उद्घाटित करते हुए लिखा है 'मथुरा और अमरावती की कला परंपरा में नारी मूर्तियों का विशेष प्रसार हुआ। अर्थपूर्ण मुद्राएँ, शारीरिक अवयवों के मोड़-तोड़ और उच्चतम अभिव्यक्ति में कलाकारों ने नारी के सहज सौंदर्य और कोमलता को नहीं दर्शाया अपितु उनके मनोगत अंतर्भावों को भी प्रत्यक्ष किया।'

मथुरा की कला में नारी सौंदर्य और शारीरिक अवयवों का निरावरण कर उन्हें सहज प्रकृत रूप में प्रस्तुत करने वाली यक्षिणी प्रतिमाएँ तथा शारीरिक बल और सामर्थ्य की अभिव्यंजक यक्ष प्रतिमाएँ केवल लोककला का ही उदाहरण नहीं बनी, अपितु उत्तरकाल में निर्मित अन्य देवी देवताओं की प्रतिमाओं के निर्माण की प्रेरिकाएँ भी बनी। इस तरह मथुरा की कला पर कलावंतों ने अनंत कलानिधि बिखेर दी। मथुरा की यक्षिणी प्रतिमायें सांची तथा भरहुत की अपेक्षा अधिक विकसित एवं परिपक्व हैं। भगवतशरण उपाध्याय मथुरा की यक्षिणी प्रतिमाओं को भरहुत की यक्षिणियों का प्रसार मानते हुए लिखते हैं—'हैं तो वे भरहुत की यक्षिणियों का ही प्रसार परंतु उनकी भावभंगी अब सर्वथा बदल गई है। भरहुत की मूकता से दूर प्रसन्न जीवन की हिलोर इनके मानस और अंगांग में उठ रही है। उद्दीपन के सारे साधन लिए ये वेदिका स्तम्भों पर उतर आई है। आप जैसे इनमें से अनेक को पहचान लेते हैं, इतने सजीव सामाजिक चित्र हैं ये, उस काल का विलास जैसे इनमें छलक पड़ता है।'

कतिपय कलाचिंतक मथुरा की यक्षिणी प्रतिमाओं को भरहुत तथा सांची की अपेक्षा इंद्रियपरकता से परिपूर्ण मानते हैं। इनके अनुसार सांची और भरहुत की कलाशैली में उन्नत उरोजों को देखकर प्रकृति की उर्वरता का आभास होता है तथा इन कलाकारों का जीवन के प्रति नकारात्मक दृष्टिकोण न होकर प्रकृति तथा मानव-शरीर के प्रति दृढ़ अनुराग स्पष्ट होता है। उनकी सौंदर्य दृष्टि और अभिव्यक्ति मानसिक है; शारीरिक नहीं। मनुष्य के इहलोकपरक जीवन का चित्रण करते हुए भी वे दर्शकों को मानसिक और आध्यात्मिक अनुभूति प्रदान करते हैं। पूर्ण विकसित पुष्प की भाँति अपने को संतुलित रखते हुए वह उद्दीपक नहीं है। वासुदेव शरण अग्रवाल के शब्दों में अगर कहें तो 'मथुरा के कलाकारों ने अपने आपको रुढ़ियों के बंधन से नितांत मुक्त कर लिया था और वे धार्मिक एवं सांस्कृतिक दृश्यों को पूरी स्वतंत्रता के साथ अलंकृत कर रहे थे।' सुख समृद्धि की प्रतिनिधि तथा

आनंद रूप की द्योतक ये यक्षिणी प्रतिमायें, जिन्हें देखकर तत्कालीन लोक के सरस जीवन का सहज ही अनुमान लगाया जा सकता है, सफेद चित्तियों वाले लाल पत्थर से निर्मित हैं। यह पत्थर रूपबास, तांतापुर और बयाना की पहाड़ियों से निकला हुआ है। इन पत्थरों के माध्यम से ही मथुरा के कुशल शिल्पियों ने यक्षिणियों की सुंदर मूर्तियाँ गढ़ने में विशेष रुचि दिखलाई। उनके रूप और आकृतियों में बहुत लालित्य है और साथ ही सामाजिक संस्कृति का स्फुट अंकन भी है। जितने भी कुषाणकालीन नमूने मथुरा संग्रहालय में प्रदर्शित हैं, वे सभी बड़े मोहक और आकर्षक हैं। कहीं कोई सुंदरी स्नान कर रही है तो कोई स्नान के उपरांत वस्त्र धारण कर रही है, कोई नवयुवती अपने केशों को निचोड़ रही है, जिससे टपके हुए जल की बूदों को एक हंस मोती समझ कर अपनी चोंच में लेने को आतुर है। कहीं कोई सुंदरी शुक का पिंजरा लिए हुए है तो कोई कंदुक उछालती हुई दिखलाई पड़ती है। कोई शुक को कंधे पर बैठाकर दाना चुगाती हुई दिखाई गई है तो कोई पुष्प चयन करती हुई दिखाई गई है। स्नान या सलिल क्रीड़ा के उपरांत स्त्री पुरुष अपने शरीर पर विलेपन लगाते और आभूषण पहनते थे। उनके भी कई दृश्य वेदिका स्तंभों पर मिले हैं। एक स्तंभ पर स्त्री दर्पण में मुख देखती हुई अपने दाहिने कान का कुण्डल ठीक कर रही है। इसके अतिरिक्त दोहद क्रीडायें करती हुई यक्षिणी प्रतिमायें भी अंकित हैं। इस तरह मथुरा के शिल्पकारों ने वेदिका स्तंभों को अनेक नवीन विषयों से सजाया और उसे जनता के बहुत निकट ले आये। उन्होंने कला अथवा स्थापत्य के औपचारिक परिवेश के अतिरिक्त भी इनमें जीवन की अनेक तरंगों का समावेश किया जो कि इसके महत्त्व को और भी स्पष्ट करता है।प्रतिमाओं के बाहय रूप निर्माण और भीतरी भावों में इन्होंने जो समन्वय स्थापित किया, उसकी तुलना अन्यत्र नहीं है।

यक्षिणियों का स्वरूप

शिल्पकला में यक्षिणियाँ सौष्ठव तथा सौंदर्य के प्रतीक रूप में उत्कीर्ण हैं। अपने शरीर सौष्ठव तथा भाव प्रदर्शन में ये बेजोड़ हैं। इनके शरीर गठन तथा बनावट को देखकर आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी उन्हें पहाड़ी जाति की स्त्रियाँ मानते हैं। कला की जो ललित गरिमा और सौंदर्य के प्रति जो निष्ठा इन यक्षिणियों की प्रतिमाओं में उकेरी गई, वह सराहनीय है। भारतीय कला में नारी सौंदर्य के जो रूढ़ विषय बने हुए थे, वे सभी शिल्पकला में दिखाई दिए। नारी सौंदर्य की स्वाभाविक अभिव्यक्ति, आकर्षण रूप, तिरछी आँखें, अंग प्रत्यंग के भराव तथा गोलाईयों के साथ ये प्रतिमायें सजीव लगती हैं। इन प्रतिमाओं का नग्न विलास उनकी काया को अप्रतिम शक्ति और लावण्य प्रदान करता है जो तत्कालीन प्रमोदी समाज का परिचायक है। इनकी मुख मुद्रा अत्यंत सौम्य और आकर्षक है। भरे हुए चेहरे पर अनोखी मुस्कान है जो होठों से बिखरकर आँखों के कोनों से झलकती है। इनकी केशसज्जा भी विशिष्ट थी। ये केशों को आगे की ओर विविध प्रकार से सजाकर बाँधती थी या फिर पीछे की ओर खुले भी छोड़ देती थी। यक्षिणी प्रतिमाओं में शरीर का नग्न प्रदर्शन है। शरीर के प्रत्येक उभार को मूर्त किया गया है। रमेश कुंतल मेघ के शब्दों में—'आदि कबीलाई जातियों के इस उभार में आदिम शक्ति और काम, मांसलता और उन्मुक्तता परिलक्षित है।' इनका अंग प्रत्यंग अत्यंत सौष्ठवमय है, ऐसा लगता है मानो मोम की ढली पुत्तलिकायें हों। रमानाथ मिश्र इन प्रतिमाओं में सांसारिकता का उद्दाम भाव देखते हैं। इस तरह स्पष्ट है कि भारतीय शिल्पकारों ने न केवल यक्षिणी प्रतिमाओं के बाहय रूप निर्माण पर ही बल दिया अपितु उन्होंने बाह्य रूप निर्माण और भीतरी भावों में भी समन्वय स्थापित किया है। इनके हाथों में शिल्पकला सचमुच ललितकला बन गई तथा

उसकी शोभा का मापदण्ड बहुत ऊँचा उठ गया।

प्राचीनकाल से ही हमें नारी के अनेक कलात्मक विधियों तथा विविध उपकरणों के सहारे शरीर को सजाने तथा सँवारने का परिचय मिलता है। जहाँ वेशभूषा के द्वारा हमें सांस्कृतिक जीवन का एक पहलू स्पष्ट होता है, वहाँ आभूषण धारण करने के मूल में नारी की शरीर सज्जा तथा अपनी विशिष्टता के प्रदर्शन की प्रवृत्ति दिखाई देती है। आज वस्त्र धारण करना मनुष्य का स्वभाव बन गया है। बचपन से ही वह उनके उपयोग का इतना अभ्यस्त हो जाता है कि अपने से अलग उन पर सोचने विचारने की आवश्यकता का अनुभव नहीं करता। लेकिन यक्षिणियों की प्रतिमाओं में हमें यह विचित्रता मिलती है कि वह बिना वस्त्रों के उत्कीर्ण की गई है। कुषाणकालीन यक्षिणी प्रतिमाओं में हमें स्त्री के पहनावे के संबंध में कोई जानकारी नहीं मिलती है। गहनों की वे अवश्य ही बहुत शौकीन थी, किंतु वस्त्र बहुत ही कम पहनती थी। ऊपर का भाग तो प्रायः अनावृत ही रहता था। नीचे के शरीरांगों पर भी इतने कम वस्त्र पहनती थी कि नग्नता का भ्रम होने लगता है।

भरहुत तथा सांची कला में उत्कीर्ण यक्षिणियों में कुछ संयम था, उनकी नग्नता सर्वथा निरावृत नहीं थी। केवल कटि के ऊपर का भाग ही नग्न मिलता है, नीचे एक उमेठा हुआ सा दुपट्टा है जो कमर में लिपटा हुआ दिखाई देता है।

इसके अतिरिक्त यक्षिणियाँ सिर पर कोई कपड़ा नहीं लेती थी। संभवतः वे सुंदर केश रचना को दिखाने के लिए ही ऐसा करती होगी। वे केशों को सजाने सँवारने उन्हें मोती की लड़ियों और फूल-मालाओं से सुसज्जित करने में विशेष रुचि रखती थी। इनमें केश सज्जा के बहुसंख्यक नमूने मिलते हैं, जो कि विशेष रूप से दर्शनीय हैं। इस तरह हम ये देखते हैं कि लगभग सभी यक्षिणी प्रतिमायें नग्न उत्कीर्ण की गई है। वे केवल कटि में एक चौड़ी मेखला तथा कुछ आभूषण पहने हुए हैं अतः उनके वस्त्रों संबंधी कोई बात नहीं कही जा सकती।

आभूषणों की दृष्टि से अगर हम देखें तो सभी यक्षिणी प्रतिमायें आभूषणों से सुशोभित हैं। कोई भी प्रतिमा बिना आभूषणों के उत्कीर्ण नहीं गई है। स्नान अथवा सलिल क्रीड़ा के उपरांत स्त्री पुरुष अपने शरीर पर विलेपन लगाते थे तथा भिन्न प्रकार के आभूषण पहनते थे। ऐसे कई दृश्य वेदिका स्तंभों पर मिले हैं, जिनमें यक्षिणियाँ दर्पण में मुख देखती हुई तथा अपने आभूषणों को ठीक करती हुई उत्कीर्ण की गई हैं। भारत में नाक के आभूषणों की प्राचीन परंपरा नहीं थी। ये आभूषण मुसलमानी संस्कृति की देन हैं। इसलिए इन प्रतिमाओं में नाक के आभूषण नहीं मिलते हैं। पुरुष और नारी दोनों के कानों में कुंडल मिलते हैं। ग्रीवा में ग्रैवयक अथवा कष्ठाभरण के अतिरिक्त वक्ष पर मोतियों की मालायें भी स्पष्ट होती हैं। भुजाओं में अंगद और केयूर भुजबंद हैं जो सोने या रत्न जड़े सोने के बनते थे। हाथों में कंगन और कुहनियों तक की चूड़ियाँ हैं। चूड़ियाँ सबसे पुरानां गहना है। चूड़ियों का कुहनी तक पहनने का विशेष रिवाज मिलता है। उंगलियों में किसी भी प्रकार के गहने स्पष्ट नहीं होते हैं। कटि में करधनी अथवा मेखला की अनेक किस्में मिलती हैं। करधनी चार या पाँच लड़ियों की हुआ करती थी। पैरों में मोटे-मोटे तथा पादवलय मिलते हैं। दोहद क्रिया में यक्षिणियां सभी प्रकार के आभूषण पहन कर तथा नूपुर धारण करके बायें चरण से अशोक वृक्ष पर आघात करती थी।

शिल्पकला में यक्षिणियों के माध्यम से समाज के कई मनोरंजक क्रीड़ाओं का भी परिचय मिलता है। मनोरंजक कलाओं में विविध प्रकार के क्रीड़ा-विनोदों का प्रचलन भारत में अत्यंत प्राचीन काल से ही था। कंदुक-क्रीड़ा अर्थात गेंद का खेल नर-नारी तथा बालक-बालिकाएँ सब में प्रचलित था स्त्रियाँ और बालिकाएँ प्रायः अंतपुर में कंदुक-क्रीड़ा करती थीं। यक्षिणियों की प्रतिमाओं में भी हमें

इनका अंकन मिलता है। एक वेदिका स्तम्भ पर यक्षिणी द्वारा कंदुक-क्रीड़ा किये जाने का दृश्य उत्कीर्ण है जो कि गेंद को ऊपर उछाल कर सीधे हाथ की कोहनी पर रोकती दिखलाई गई है।

पशु पक्षी सदा से ही मनुष्य के लिए उपयोगी रहे हैं। उन्हें बंदी अथवा पालतू बनाकर कई प्रकार से उनका उपयोग किया जाता था, इनमें हँस, शुक, मयूर आदि प्रमुख थे। यक्षिणियों को शिल्पकला में इन पक्षियों के साथ क्रीड़ा करते हुए दिखलाया गया है जिससे यह अनुमान लगाया जा सकता है कि यक्षिणियाँ मनोरंजन के लिए इनका पालन करती थी। मथुरा के एक वेदिका स्तंभ पर यक्षिणी को स्नानोपरांत अपने केशों को निचोड़ते हुए दिखलाया गया है। उसके दायीं ओर नीचे की तरफ एक हँस है, जो उसके केशों से टपकने वाले जल बिंदुओं को मोती समझकर अपनी चोंच में लेने को आतुर है। एक अन्य प्रतिमा शुक को फल खिलाती हुई दिखाई गई है, जो प्रेम के देवता का वाहन और गणिका का परंपरागत सहचर है। मथुरा से प्राप्त लखनऊ संग्रहालय में प्रदर्शित एक वेदिका स्तम्भ पर शुक के साथ सुंदरी की उत्कृष्ट प्रतिमा है। यह माना जाता है कि यह शुक कदाचित उस प्रणय-विभोर नायिका के प्रियतम का संदेश लाया है, और उसकी करधनी की गाँठ को अपनी चोंच से छू रहा है।

इन कार्यों के अतिरिक्त शिल्पकला में यक्षिणियों के जिन कार्यों का उल्लेख मिलता है उनमें सुरपान करना तथा रानियों के प्रसाधन की सामग्री लिए हुए उनकी सेवा में उपस्थित रहना आदि भी प्रमुख है। इन बातोंका अनुमान भी मथुरा की कुछ यक्षिणी प्रतिमाओं को देखने के उपरांत लगाया जा सकता है। एक वेदिका स्तंभ पर यक्षिणी बाएँ हाथ में सामग्री की पिटारी लिए हुए खड़ी है तथा लटके हुए दायें हाथ में सुगंधित जल का पात्र लिए हुए दिखाई देती है। पिटारी का ढक्कन खुला होने के कारण एक ओर को झुका है तथा खुले अंश में पुष्पमाला का कुछ अंश बाहर दिखाई देता है। ऐसी पिटारियों में राजमहिषियों के सिंगार की सामग्री रखी जाती थी। मूर्ति के हाथों में इन वस्तुओं के होने के कारण यह प्रसाधिका कहलाती है जिसका कार्य प्राचीन काल की रानियों के प्रसाधन अर्थात श्रृंगार की सामग्री लिए हुए, उनकी सेवा में उपस्थित रहना होता था।

यक्षिणियों का समाज और मनोविज्ञान

कलाकार अपनी प्रतिभा के द्वारा छेनी, तूलिका, शब्द आदि के माध्यम से प्रकृति की समृद्धि को कला के रूप में अभिव्यक्त करने में सफल हो जाता है। फिर भी कलाकार की वास्तविक सफलता यह है कि वह अपनी कला में और प्राकृतिक पदार्थों तथा अपने आंतरिक आवेगों की तीव्रता में मार्मिक संबंध स्थापित कर दे। प्रकृति सदैव ही कलाकार की क्रियात्मक और रचनात्मक प्रतिभा का आदि स्रोत रही है और रहेगी। किंतु प्रकृति की नकल ही सच्ची कला नहीं है। कलाकार की भावनाओं पर तत्कालीन सामाजिक परंपरा और सांस्कृतिक विरासत का भी प्रभाव पड़ता है। इस कारण कलाकार की कृतियों में हम प्रकृति की समृद्धि के साथ-साथ मानव की आंतरिक प्रवृत्तियों के सामाजिक अनुभवों को भी सांस्कृतिक परंपराओं के साथ देखते हैं। समय के परिवर्तन के साथ सामाजिक तथा आर्थिक व्यवस्था एवं संस्कृति के रूप सभी बदल जाते हैं, पर उस काल की कला में हम उस सभ्यता की अमूल्य निधियों का संचय और सांस्कृतिक तत्व अवश्य पाते हैं। सामाजिक धारणाओं और मान्यताओं को, जो किसी भी समाज की विशिष्ट और सुसंस्कृत रेखायें रही हैं, हम उस काल की कला में स्पष्ट और सजीव देखते हैं। यही कारण है कि यक्षिणी प्रतिमाओं को देखने के उपरांत हम उनके विशिष्ट भावों तथा सामाजिक वातावरण को प्रकाश में ला सकते हैं। □

लोक-संस्कृति से लोक-गाथा-गीत तक

डॉ. नरेंद्र मोहन

लोक-संस्कृति, लोक-वार्ता, लोक-साहित्य और लोक-गाथा-गीत एक क्रम में बँधे हुए हैं। इस क्रम को तोड़ा नहीं जा सकता। यह मौखिक परंपरा का अटूट क्रम है— मौखिक साहित्य का आधार जिसमें जाति की मूल संस्कृति रची होती है, सदियां बीत जाने पर भी जो बीज रूप में स्थित रहती है। मूल प्रवृत्तियाँ कमोबेश वही रहती हैं पर सामाजिक संरचना में, सांस्कृतिक स्तरों में परिवर्तन के साथ-साथ, सामाजिक और सांस्कृतिक धरातल पर उनकी व्याख्याओं में अंतर आता जाता है। मूल संस्कृति के स्तर को और लोक संस्कृति के निरन्तर संक्रमित और विकसित होते हुए चक्रों को दृष्टि-पथ में रखने से लोक-संस्कृति से लोक साहित्य से लोक-गाथा-गीत तक की यात्रा सही और प्रामाणिक ढंग से की जा सकती है।

लोक संस्कृति में धुरी शब्द 'लोक' है। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने 'लोक' को समूची जनता से जोड़ा है : ''लोक शब्द का अर्थ 'जनपद' या 'ग्राम्य' नहीं है बल्कि नगरों और गाँवों में फैली हुई वह समूची जनता है जिन के व्यावहारिक ज्ञान का आधार पोथियाँ नहीं है। ये लोग नगर में परिष्कृत, रुचि-संपन्न तथा सुसंस्कृत समझे जाने वाले लोगों की अपेक्षा अधिक सरल और अकृत्रिम जीवन के अभ्यस्त होते हैं और परिष्कृत रुचि वाले लोगों की समूची विलासिता और सुकुमारता को जीवित रखने के लिए जो भी वस्तुएँ आवश्यक होती हैं, उनको उत्पन्न करते हैं। वास्तव में, ''लोक हमारे जीवन का महासमुद्र है; उसमें भूत, भविष्य, वर्तमान सभी कुछ संचित रहता है।''

लोक संस्कृति और सामाजिक संरचना का एक दूसरे से गहरा संबंध है। वे एक दूसरे को प्रभावित करते रहते हैं। जो समाज जितना पुराना होगा, उसकी सांस्कृतिक जड़ें भी उतनी गहरी होंगी। उनके पारस्परिक संबंध भी उतने घनिष्ठ होंगे। भारतीय समाज के बारे में यह बात पूरी तरह से लागू होती है। वर्गों, वर्णों, कबीलों, समूहों, जातियों और जटिल पारिवारिक रिश्तों में बँधा हुआ, भारतीय समाज अनेक प्रकार के मिथकों, दंत-कथाओं, धार्मिक कथाओं, लोक कथाओं और परि-कथाओं से नियंत्रित और परिचालित रहा है। लोक संस्कृति के आसंगों, प्रतीकों और बिम्बों से वह लगातार प्रभावित होता रहा है और आज भी भारतीय मानसिकता की बनावट में इस कौम के, उससे जुड़े कबीलों, जातियों और वर्गों के साँझे और समूचे अनुभवों की सक्रियता लक्षित की जा सकती है। इसमें संदेह नहीं कि संस्कृति के मुकाबले में लोक-संस्कृति ने भारतीय समाज को अलग तरह की पहचान दी है।

लोक संस्कृति से लोक-वार्त्ता (Folk-lore) जन्म लेती है, उसे व्यापक धरातल पर विभिन्न संदर्भों में उजागर करती है। इसके अंतर्गत लोक अनुष्ठान, लोक-मार्ग, लोककलाएं और लोक-साहित्य

आता है। जे. एल. मिश के अनुसार लोक-वार्त्ता को इस प्रकार परिभाषित किया जा सकता है : "ऐसे सभी प्राचीन विश्वासों, प्रथाओं और परंपराओं का संपूर्ण योग जो सभ्य समाज के अल्प शिक्षित लोगों के बीच आज तक प्रचलित है, 'फोकलोर' है। इसकी परिधि में परियों की कहानियाँ, लोकानुभूतियां, पुराण गाथाएं, अंध विश्वास, उत्सव रीतियां, परंपरागत खेल, या मनोरंजन, लोक-गीत, प्रचलित कहावतें, कला-कौशल, लोकनृत्य और ऐसी अन्य सभी बातें सम्मिलित की जा सकती हैं" इस ढंग से पारिभाषित कर लें या न भी करें, मुख्य बात यह है कि लोक-वार्ता उस मौखिक सामग्री का अध्ययन है जो किसी भी विधा में जन-समुदाय में पायी जाती है। वह लोगों की चीज़ है, लोगों के बीच से जन्म लेती है और लोगों के लिए है, जो उसे अपनी ज़बानी पीढ़ी-दर-पीढ़ी आगे ले जाते हैं। लोक-वार्त्ता, "एक जीवित शास्त्र है—लोक का जितना जीवन है, उतना ही लोक-वार्त्ता का विस्तार है। लोक में बसने वाला जन, जन की भूमि और मौलिक जीवन तथा तीसरे स्थान में उस जन की संस्कृति—इन तीन क्षेत्रों में लोक के पूरे ज्ञान का अंतर्भाव होता है और लोकवार्त्ता का संबंध भी उन्हीं के साथ है।" निस्संदेह लोक वार्ता का क्षेत्र जीवन जैसा विस्तार और व्यापकत्व लिए हुए है। "इसमें सदा नयी ऋतु के फल की ताजगी और महक है।" इसके घेरे को "विशाल और समुद्र की तरह गहरा" कहा गया है।

लोक-वार्त्ता के अंतर्गत जन संस्कृति के उन सभी पक्षों को शामिल किया जा सकता है जो शास्त्रीय धर्म और स्थापित इतिहास का हिस्सा नहीं बने हैं लेकिन जो लगातार स्वत: विकसित हो रहे हैं। वास्तविक लोक-मानस की झलक इन्हीं से मिलती है और लोक-मनोविज्ञान की पहचान भी। लोक-साहित्य जन-संस्कृति के इन्हीं स्रोतों से जुड़ा है।

लोक साहित्य लोक-वार्त्ता से सीधा-सीधा जुड़ा हुआ है और लोक संस्कृति की प्रवहमान नदी की एक धारा है, उसका एक भाग और अंश है : "यदि लोक-संस्कृति की उपमा किसी विशाल वट-वृक्ष से दी जाए तो लोक साहित्य को उसकी एक शाखा मात्र समझना चाहिए। यदि लोक संस्कृति शरीर है तो लोक साहित्य उस का एक अवयव है। लोक संस्कृति की व्यापकता जनजीवन के समस्त व्यापारों में उपलब्ध होती है परंतु लोक साहित्य जनता के गीतों, कथाओं, गाथाओं, मुहावरों तथा कहावतों तक ही सीमित है। लोक साहित्य अंग है तो लोक संस्कृति अंगी है। लोक संस्कृति में लोक साहित्य का अंतर्भाव होता है परंतु लोक-साहित्य में लोक संस्कृति का समावेश होना संभव नहीं है।"

लोक साहित्य को अपौरूषेय माना गया है। "जिस तरह वेद अपौरूषेय माने जाते हैं, उसी तरह ग्राम गीत भी अपौरूषेय है।" ग्राम गीत या लोकगीत ही नहीं, संपूर्ण लोक साहित्य अपौरूषेय है।

लोक साहित्य में लोक चेतना, जन जीवन और लोक संस्कृति की आदिम चेतना के स्रोतों की पहचान की जा सकती है। किसी प्रदेश की सांस्कृतिक विरासत की जड़ों—प्रतीकों और बिम्बों तक पहुँचने के लिए लोक साहित्य की मदद ज़रूरी है। इतिहास और संस्कृति को समझने के लिए जैसे पुरातत्व की खुदाईयों का महत्व है उसी तरह बल्कि उससे कहीं अधिक लोक जीवन के इतिहास और संस्कृति की भीतरी प्रेरणाओं, प्रवृत्तियों और शक्तियों को हृदयंगम करने के लिए लोक साहित्य का अध्ययन जरूरी है। यह ठीक ही कहा गया है कि "लोक साहित्य तो दर्पणों के समान है जिसमें किसी जाति की समूची जीवन पद्धति भाव भंगिमा और रूप के साथ उसके अंतर्मन तक की हर भावना देखी जा सकती है।

लोक साहित्य की वस्तु और रूप में मनुष्य के आदिम संस्कारों के अवशेष निहित रहते हैं और उनकी अनुगूँजें सुनी जा सकती हैं। स्पिनोजा ने सही कहा है कि लोक वार्त्ता और लोक साहित्य में आदिम मानव के हृदय का सत्य एवं प्रत्याक्षानुभूति दर्ज़ रहती है। लोक साहित्य मौखिक परंपरा की देन है। वर्ष-दर-वर्ष, सदी-दर-सदी, यह लोगों की ज़बानी फलता-फूलता रहता है और संस्कृति और साहित्य को

प्रभावित करता रहता है। वास्तव में, संवेग और भावनाएँ एक लंबे अरसे से मौलिक रूप में लोक सांस्कृतिक मानस का हिस्सा बनी रहती हैं। शायद इसीलिए बॉटकिन ने लोक साहित्य में लोक की मौलिक भावाभिव्यक्ति को आवश्यक तत्व के रूप में रेखांकित किया है।''

लोक साहित्य लोक मानस की पहचान कराता है और लोक मनोविज्ञान को समझने में सहायक होता है। लोकगीतों या लोक-गाथा गीतों में जो अवशेष या सांस्कृतिक तत्व एक लंबे समय तक, स्मृति के सहारे बने रहते हैं, उसका कारण है लोक मानस में दूर तक उनकी जड़ों का होना। ''वस्तुत: जब तक मानस में उस अवशेष के लिए आग्रह नहीं हो तब तक कोई वस्तु अवशेष की भाँति परंपरा से परंपरा में जा नहीं सकती। फलत: ये मानस की मूल वृत्तियाँ हैं जो मानव के आदिम से आदिम रूप को अपने अंदर बचाए हुए है। लोक मानस से पुष्टि या समर्थन के अभाव में उनका अस्तित्व नहीं रह सकता। ऐतिहासिक दृष्टि से हम भले ही बदलाव महसूस करें पर मनोवैज्ञानिक दृष्टि से हम अतीत की स्मृतियों से मुक्त नहीं हो सकते। मैरट महोदय ने सही लिखा है कि ऐतिहासिक परिस्थितियाँ बदलती हैं जबकि मनोवैज्ञानिक स्थितियाँ अपेक्षाकृत स्थायी होती हैं।''

लोक-गीत हो या लोक-कथा गीत, वे जंगल के उन पेड़ों के समान हैं जिनकी जड़ें अतीत में अवस्थित हैं। वहीं से जीवन पाकर उसकी शाखाएँ, कोंपलें एवं फल आदि प्रस्फुटित होते हैं और वर्तमान को एक नयी शक्ति और चेतना प्रदान करते हैं जिस से वह सजीव हो उठता है और उसके सांस्कृतिक अध्याय में एक नया परिच्छेद जुड़ जाता है।

भारतवर्ष के विभिन्न प्रदेशों में वहाँ की लोक संस्कृति के अनुरूप लोक-गीत प्रचलित हैं। गुजरात में इन्हें ''कथागीत'' कह कर पुकारा जाता है, महाराष्ट्र में 'पंवाडा' और राजस्थान में इन्हें 'गीत-कथा' कहा जाता है। उत्तर भारत की लोक-साहित्य परंपरा में, खास तौर पर लोक-गाथा-गीतों के नाम-करण करने में गाथा-गीतों के मुख्य पात्र को केंद्रीय महत्व दिया जाता है जैसे 'आल्हा', 'विजयमल', 'लौरिकी', 'कुंवरसिंह', 'गोपीचंद', 'हीर रांझा', 'लैला मजनूं', 'सोहणी महिवाल' आदि।

लोक-वार्ता, लोक-साहित्य और लोक-गाथा-गीत के सांस्कृतिक और सामाजिक महत्व को भला कौन नहीं मानेगा? पर इस संबंध में विवाद है कि आधुनिक और समकालीन परिस्थितियों में इस ढंग का साहित्य कहाँ तक उपयोगी और प्रासंगिक है? ऐसे विद्वानों और कृतिकारों की कमी नहीं है जो लोक-वार्ता और लोक-साहित्य पर नाक-भौं सिकोड़ते हैं, इस के अध्ययन को पिछड़ेपन की निशानी मानते हैं और यह कहने में फ़ख्र महसूस करते हैं कि इस ढंग का साहित्य हमारे लिए आज किसी काम का नहीं है। इसका संबंध हमारी आज की परिस्थितियों और समस्याओं से नहीं है। लोक-साहित्य के प्रति हमें इस ढंग का रवैया त्रुटिपूर्ण लगता है। अतीत के कला-रूपों और लोक-रूपों को समझे बिना आज को भी सही तौर पर नहीं समझा जा सकता। गोर्की ने एक स्थल पर कहा है : ''शब्द कला का प्रारंभ लोक वार्ता है। अपनी लोक-वार्ता का संकलन करो, इसका अध्ययन करो। लोक-वार्ता से हमें पर्याप्त सामग्री प्राप्त होगी। अतीत को जितने अच्छे तरीके से हम समझेंगे उतनी ही आसानी से गहनता और आनंद से हम वर्तमान की सार्थकता को समझ सकेंगे, जिसका सृजन हम सब कर रहे हैं।'' आज के संदर्भ में सृजन करते हुए लोक-वार्ता और उसके साथ जुड़े सांस्कृतिक प्रतीक और बिम्बों की जड़ों तक पहुँचने के लिए हर अच्छा लेखक सचेष्ट रहता है। कविता की संप्रेषण शक्ति को बढ़ाने के लिए यह जरूरी है कि हम लोक-संदर्भों, लोक-गीतों, लोक-गाथा-गीतों और लोक-भाषा को अपनी अभिव्यक्ति का हिस्सा बनाएँ और उनका सृजनात्मक लाभ उठाएँ। □

उन्नीसवीं सदी की हिंदी पाठ्य पुस्तकों का भाषिक योगदान

सुरेंद्रमोहन मिश्र

सन् १८०२ में रुहेलखंड पर ईस्ट इंडिया कंपनी का अधिकार हो जाने से लेकर उन्नीसवीं सदी में ईसाई मिशनरियों तथा अन्य सर्वेक्षणों से पता लगता है कि नागरी अक्षरों में लिखी जाने वाली हिंदी जिसे बाद में खड़ी बोली कहा गया इस देश में अधिक प्रचलित थी। सन् १८५७ की क्रांति से पूर्व शिक्षा संबंधी अनेक कार्यों में शुद्ध हिंदी का प्रयोग होने लगा था। तत्कालीन पुस्तकों के प्रकाशनों और सन् १८५४ की एक पुस्तक के विज्ञापन से इस संबंध में कई महत्वपूर्ण सूचनाएँ प्राप्त होती हैं।

'रेखागणित' का तीसरा भाग ''श्री मन्महाराजाधिराज पश्चिम देशाधिकारी श्रीयुत् लेफ्टिनेन्ट गवर्नर बहादुर की आज्ञानुसार पश्चिम देशीय चटशालों के वज़ीटर जनरल बहादुर के सरिश्ते में पंडित मोहनलाल ने अंग्रेजी से उल्था किया।'' इसे आगरा सिकंदरे के छापाखाने में सन १८५४ में छापा गया था। लीथो पद्धति से छपे इस ग्रंथ में १३६ पृष्ठ थे और इसका प्रथम संस्करण २००० प्रतियों का छपा था। एक प्रति का मूल्य सात आना था।

इसी पुस्तक के अंतिम दो पृष्ठों में कतिपय हिंदी पुस्तकों का विज्ञापन दिया हुआ है। इसमें कुल ३२ पुस्तकों की चर्चा है। इसमें अधिकांश गणित से संबंधित हैं। शिक्षा देने वाली चार पुस्तकें 'शिक्षामंजरी' 'शाला पद्धति', 'धर्मसिंह का वृतांत' और 'विद्यांकुर' हैं।

'भाषा चंद्रोदय' नाम से हिंदी व्याकरण के भी एक ग्रंथ के प्रकाशन की सूचना इसी विज्ञापन से प्राप्त होती है। चित्रकला पर छपा 'चित्रकारी सार' ग्रंथ अपने विषय का प्रथम प्रकाशित ग्रंथ है। एक कोश भी इस समय 'तसली सुल्लुग्रात' नाम से छापा गया। आजीविका के विविध प्रकारों को लेकर छापा गया 'जीविका परिपाटी' ग्रंथ और छंद शास्त्र पर 'छंदो मंजरी' ग्रंथ उस काल में अभूतपूर्व रहे होंगे। सृष्टि की रचना, विज्ञान, पदार्थ और सत्य निरूपण जैसे विषयों पर ग्रंथों का प्रकाशन एक नई जागृति का संदेश उस समय था। इसकी भाषा यह बताती है कि इस काल तक शुद्ध हिंदी शब्दों का प्रयोग आरंभ हो चुका था।

'त्रैराशिक', 'परिभाषा', 'पुस्तकावलोकन', 'साधुत्व', कल्पद्रुम', 'समीकरण' और निरूपण' जैसे शब्दों का प्रयोग स्पष्ट कर रहा है कि शिव प्रसाद सितारे हिंद और सर सैयद अहमद खाँ के प्रकाश में आने से पूर्व अच्छी प्रांजल हिंदी का प्रयोग अनुवाद तथा पाठ्य पुस्तकों में हो रहा था।

'रेखागणित' में पं. मोहन लाल ने जिस सुस्पष्ट हिंदी का प्रयोग किया है उसका एक उदाहरण इस बात को अधिक स्पष्ट कर सकेगा—

''वृत के चाप-क्षेत्र के तुल्य खंड किये जायें और परिधि के किसी एक बिंदु तक चाप-क्षेत्र के आधार के दोनों छोर से और खंड-बिंदु से रेखा खींची जाय तो आधार के छोरों से जो रेखा खिचेंगी उनके

योग और खंड बिंदु से रेखा खींची है उसमें वही संबंध होगा जो संपूर्ण चाप-क्षेत्र के आधार में होगा।''

सन १८५९ में बनारस के मेडिकल हॉल के छापाखाने में 'त्रिकोणामिति' छापी गई। इसको संस्कृत कालिज बनारस के गणित अध्यापक पं. बापूदेव ने संस्कृत में रचा था। इसका अनुवाद इन्हीं के एक शिष्य वेणी शंकर ने किया। इस अनुवाद की वही भाषा है जो विद्रोह से पूर्व प्रचलित थी और जिसका उपयोग पाठ्य पुस्तकों में किया जाता था।

सन १८५६ में रुड़की के मदरसा छापाखाने ने 'गोल विनोद' ग्रंथ छापा। इसे पं. कुंज बिहारी ने अंग्रेजी से हिंदी में उल्था किया। २२२ पृष्ठों के इस ग्रंथ की तीन हजार प्रतियाँ प्रथम संस्करण में छपी थी। इसका मूल्य एक रूपया था। इस ग्रंथ का एक उदाहरण १८५७ की क्रांति से एक वर्ष पूर्व की हिंदी भाषा का प्रामाणिक परिचय दे रहा है–

''यहाँ तक उसी बात का खोज विचार हुआ है जैसा बहुधा किसी की मति और बुद्धि में आता है, जिसे पूर्व से खगोल का कुछ भी ज्ञान नहीं किंतु जो केवल सूर्य की क्रिया ही से विचार करता है। परंतु वह सुनहरा बिंब आकाश का अकेला ही वासी नहीं देखा जाता क्योंकि देखने वाले की दृष्टि में और भी दीप्तिमान और देखने में सूर्य ही के लगभग आकाश का एक पदार्थ आता है जो पूर्व से उदय होता है।ऊँचा चढ़ता है और फिर पशिचम में अस्त हो जाता है। थोड़े घंटों के पीछे वह फिर पूर्व से दिखाई देवेगा ऊँचा उठेगा वहाँ से फिर उतरेगा और पूर्ववत् पशिचम में अस्त होवेगा।''

इस 'गोल विनोद' ग्रंथ के अंतिम पृष्ठ पर कुछ इंजीनियरिंग ग्रंथों के अनुवादों का विज्ञापन है। इस विज्ञापन से एक अनुवादक मन्नूलाल का भी पता लगता है जो थामसन कालिज रुड़की में मास्टर थे। हिंदी खड़ी बोली के जन्मदाता श्री लल्लू जी 'लालकवि' के भाई के पौत्र भी मन्नू लाल थे, जिन्होंने 'जानकी राम चरित्र' नाम से एक लोककाव्य रचा। यदि यह दोनों नाम एक ही व्यक्ति के हैं तो इस अल्प ज्ञात कवि के जीवन और रचना कौशल पर इस विज्ञापन से नया प्रकाश पड़ता है–

सन १८५८ में पं. श्रीलाल का गणित प्रकाश सातवीं बार छपा। इलाहाबाद के गवर्नमेंट के छापेखाने में इसे छापा गया था। यह संस्करण बीस हजार पुस्तकों का था। ग्रंथ की भाषा प्रांजल हिंदी है–

''प्रभागजाति में पूर्ण संख्या हो वा भागानुबंध का रूप हो तो उसे दूसरे प्रकार की रीति से बिषम भिन्न कर लो फिर सब अंशों को आपस में गुणा करके एक संख्याकार उसको अंध मानो इसी प्रकार एब हरों के घात की संख्या को हर मानो और अंश के नीचे हर को रखने से जो होगा वही साधारण भिन्न का रूप होगा।''

कवर पृष्ठ की भाषा में कुछ नये उर्दू शब्दों का प्रयोग का भी पता लगता है। जैसे गवर्नर बहादुर से पूर्व नवाब शब्द का प्रयोग किया गया है। पशिचम देशाधिकारी के स्थान पर मुमालिक मगरबी शब्द का प्रयोग किया गया है।

सन १८७७ में राजा शिवप्रसाद सितारेहिंद का हिंदी का व्याकरण इलाहाबाद के सरकारी प्रेस में प्रथम बार छपा। यह संस्करण २० हजार प्रतियों का छपा था। १२६ पृष्ठों की इस पुस्तक का मूल्य साढ़े चार आना था। कवर पृष्ठ की भाषा एकदम बदल गयी थी। 'श्री मन्महाराजाधिराज' पश्चिम देशाधिकारी की आज्ञानुसार के स्थान पर 'बमूजिब हुकम जनाब नवाब अनरबल लेफ्टिनेंट गवर्नर बहादुर मुमालिक शिमाली व मगरिब व चीफ कमीश्नर अवध'' छपने लगा। 'सितारे हिंद' की हिंदी इस प्रकार फारसीनुमा उर्दू की ओर अधिक उन्मुख हो गई थी। उनके हिंदी व्याकरण की 'हिंदी' या उर्दू-मिश्रित 'हिंदुस्तानी' कैसी थी इसका एक उदाहरण देखें–

"हिंदुस्तान बहुत बड़ा देश है। पहले रेल और सड़कों का ऐसा बंदोबस्त न था। एक एक सूबा बल्कि जिला एक एक 'देस' गिना जाता था। एक का रहने वाला बहुत कम दूसरे के रहने वाले से मिलता जुलता था। पर दिल्ली बहुत दिन हिंदुस्तान की राजधानी रही इसलिये वहाँ की दर्बारी और बाजारी बोली यानी उर्दू-इ-मुअल्ला के आगे और सब जगह ठेठ बोलियाँ अब तक गँवारी गिनी जाती हैं। और सर्कारी दफ्तरों में फारसी हर्फजारी रहने के सबब वह उन्हीं फारसी पढ़े हुओं के बोलने बमूजिब सुधरने में आती है। ब्रज की बोली बड़ी मीठी और नर्म है इसीलिए यहाँ के कवियों ने अकसर उसी में छंद बनाये हैं और अपने ग्रंथ रचे बाबा तुलसीदास राजापुर के रहने वाले थे इससे उनकी बेजोड़ बेमिसाल रामायण में बहुत से शब्द बुंदेलखंडी आ गये। एक दिन था कि नवाब सआदत अली खाँ के मुंशी इशां अल्लाह खाँ ने कहानी बनायी। एक शब्द भी उसमें अरबी फारसी का आने न दिया। अब वह दिन है कि लखनऊ वालों की लिखावट से जो कोई एक क्रिया और उपसर्ग हिंदी से निकाल कर फारसी के लिख दो सब का सब उर्दू से फारसी बन जाये। सच्च है कोई बोली कभी एक ढंग पर नहीं रहती है। सदा गिर्गट की तरह रंग बदला करती है।"

सन १८६५ में प्रकाशित पं. श्रीलाल का 'भाषा चंद्रोदय' व्याकरण का लोकप्रिय प्रकाशन था। इसका चौथा संस्करण पाँच हजार पुस्तकों का था। चार आने मूल्य की यह पुस्तक ८२ पृष्ठों की थी और इलाहाबाद के गवर्नमेंट छापाखाने में इसे छापा गया। व्याकरण के संबंध में पं. श्रीलाल ने अंत में कुछ पद्य की पंक्तियाँ कही हैं–

भाषा चंद्रोदय भयो जग के बीच अनूप
ता प्रकाश मुफ पर परें छोटे मोटे रूप।
बिना पढ़े व्याकरण के हुओ चहे परवीन
पंडित मंडल बीच जो, सो नर हो छवि छीन।
शाब्दिक के मुख वचन कों कैसे कोउ डुलाय
जस दृढ़ जड़ तरूना हले पवन झकोरे पाय।
यह मैं निश्चय करि कहो सुनो जु तुम दे कर्ण
विद्या वारिधि तरन को लखो नाव व्याकर्ण।

उपरोक्त विवरण यह बताता है कि तत्कालीन पाठ्य पुस्तकों में सन १८६० तक शुद्ध हिंदी का प्रयोग हो रहा था। इसके बाद धीरे-धीरे दस वर्षों में ही शुद्ध हिंदी विदा होने लगती है। उसके स्थान पर उर्दू-फारसी के कठिन शब्दों का प्रयोग दिखाई देने लगता है। उर्दू का अदालतों में प्रयोग हो जाता है। इसी काल में हिंदी संस्कृत के धार्मिक ग्रंथों को भी भारी मात्रा में उर्दूलिपि में लीथो प्रेसों में छापा गया। किंतु शीघ्र ही भारतेंदु हरिश्चंद्र भाषा, साहित्य, संस्कृति और पत्रकारिता के मंच पर अवतरित हुए। बनारस से आरंभ होकर उत्तरी भारत के नगर-नगर में भारतेंदु हरिश्चंद्र द्वारा प्रेरित होकर अनेक हिंदी साहित्य सभाएँ स्थापित हो गई। कोई जागृत नगर ऐसा न था जहाँ हिंदी के नाम पर एक दो पुस्तकालय और संस्थाएँ न स्थापित की गई हों। हिंदी लेखन में नई रचनात्मकता से लेकर अयोध्याप्रसाद खत्री के खड़ी बोली अभियान तक हिंदी की प्रतिभा का आलोक फूट पड़ा। उन्नीसवीं सदी के अंत होते-होते खड़ी बोली गद्य का मानक स्वरूप सामने आ गया। इस सारे ज्वार की शीर्ष चूड़ा पर कविता के मंच पर श्रीधरपाठक और मैथिलीशरण गुप्त आए और खड़ी बोली आधुनिक चेतना की संवाहक नई काव्यभाषा बनी। साहित्य से लेकर जनमानस में भारतीय सांस्कृतिक उत्स की वाणी हिंदी आसीन हो गई।

□

रूसी कहानी

भूमि के भीतर-वह भयावह दुर्ग *

सर्गेई स्मिर्नोव
अनुवादक–डॉ. सुरेंद्रकुमार शर्मा

सन उन्नीस सौ तैतालीस का दिसंबर आरंभ हो गया था। सेवास्तोपोल के भीषण संग्राम के लगभग डेढ़ वर्ष पश्चात् रूसी सेनाओं ने पुन: क्रीमिया की धरती पर पाँव रखा। वे तमान से केर्च की खाड़ी में प्रविष्ट हुई और अपने आक्रमण को विस्तीर्ण बनाते हुए उन्होंने केर्च नगर को मुक्त किया और उसके पश्चात वहाँ से पश्चिम की ओर कुछ किलोमीटर की दूरी पर अवस्थित एक विशाल खंडहर में प्रवेश किया जिसके नीचे बड़े बड़े तहखाने और लंबी लंबी सुरंगों का जाल बिछा हुआ था। इस भूगर्भ में—जैसा कि नक्शों से पता चला—पत्थरों की एक विशाल खान थी। इस खान में कई सुरंगें थीं जो कि भूमि के भीतर कई किलोमीटर तक फैली हुई थी। जब सैनिक मशाल एवं लालटेनें जलाकर इनमें प्रविष्ट हुए तो एक भयानक दृश्य आँखों के आगे उपस्थित हुआ। ये दीर्घिकाएँ और सुरंगें एक बड़े भयानक और दीर्घकालीन युद्ध की साक्षी थीं। प्राय: सभी सुरंगों में सैनिक सामग्री मिली—कार्तूसों की पेटियाँ, जंग लगी राइफलें, बंदूकें, हथगोले, केटलियाँ, बोतलें, टेलीफोन के केबिल, खोदने के उपकरण जैसे फावड़े गैतियाँ इत्यादि। दीवारों पर संसार से बिदा लेते समय की बड़ी ही ओजपूर्ण और कहीं कहीं अत्यंत मार्मिक और करुणा-व्यंजक उक्तियां उत्कीर्ण थीं। उक्तियों के नीचे सन् बयालीस की शरद ऋतु की तारीखें पड़ी थीं। सबसे भयानक बात तो यह थी कि यह नगराकार भूमिगत विशाल तहखाना विपर्यस्त अस्थि समूह और कहीं कहीं साबुत अस्थि पिंजरों से भरा हुआ था। कहीं कहीं ऐसा प्रतीत होता था कि इन अस्थि पिंजरों को किसी ने मरोड़ कर रख दिया है। इनसे मरण कालीन निदारुण यंत्रणा का अनुमान लगता था। संभवत: ये घुट कर मरे हुए लोगों के अस्थि पिंजर थे। किन्हीं नर कंकालों पर पट्टियों के अवशेष मिले। इनसे पता लगता था कि ये लोग घावों से मरे हैं एक जगह दो नर कंकाल दीवार के सहारे बैठे मिले और दोनों के बीच एक लंबा सा डंडा दीवार से टिका हुआ था। शायद यह झंडे का डंडा था। इस पर तार-तार हुआ एक कपड़ा भी बँधा था। हो सकता है ये दोनों नर कंकाल प्रहरियों के हों। एक चौड़ी सी सुरंग में जो दृश्य देखा उसे देखकर सभी स्तब्ध रह गये। कदाचित् यह

---

* द्वितीय महायुद्ध-एक अत्यंत संहारक विभीषिका से पूर्ण संपूर्ण युद्ध था। नाजी जर्मनी के युद्धोन्माद की अकल्पनीय पाशविकता और अमानुषी कुकृत्यों की एक मर्मांतक सत्य घटना का विवरण ही केवल इस शब्दचित्र में नहीं है बल्कि निश्चित मृत्यु के सम्मुख भी भूमि-तल में घिरे लोगों की जिजीविषा व बलिदान की गाथा भी इसमें अंकित है।

उस गैरिजन का अस्पताल था जो कि इस तहखाने में रहकर लड़ा था। यह स्थान शायद चूने के बड़े बड़े पत्थरों के निकलने से बना था। इस स्थान की हवा में आर्द्रता बहुत थी जिससे यहाँ की प्रत्येक वस्तु चूने की एक तह से ढकी हुई थी। यहाँ पर दसियों चारपाइयाँ पड़ी हुई थीं। इन चारपाइयों पर और जमीन पर अनेक शव थे जो चूने की पर्त चढ़ने के कारण मिस्र के 'ममियों' जैसे लग रहे थे। ये कदाचित भूख और घावों से मरे लोगों के शव थे। प्रकृति ने मानो उनके लिए एक विचित्र चूने का ताबूत बना दिया था। इन शवों पर जमी चूने की पर्त को कुरेद कर देखने से इन मृत व्यक्तियों की आकृति तक का अनुमान लग सकता था जैसे कि उनकी नाक की ऊँचाई, आँखों के गढ़ों का आकार इत्यादि। इस दृश्य को देखने वाले लोगों का हृदय बैठा जा रहा था। वे सब जड़ी भूत हो रहे थे। हवा फर्श पर पड़े कुछ पीले कागजों को इधर उधर उड़ा रही थी। निरीक्षण करने पर पता चला कि वे इस गैरिजन के स्टाफ के कागज थे। उसमें सैनिकों और कमाण्डरों की सूची, जारी किये गये आदेश इत्यादि लिखे हुए थे। कुछ डायरियाँ भी मिलीं। इनमें से एक डायरी नौ सेना के राजनीतिक कार्यकर्ता सारिकोव की डायरी थी। प्रलेखों डायरियों के अध्ययन से इस खण्डहर की जो कि अजीमुश्काई पत्थर की खान के नाम से प्रसिद्ध है–शौर्यगाथा प्रकाश में आई। ये डायरियाँ और प्रलेख मास्को के पुरालेख ग्रंथागार में सुरक्षित हैं। सारिकोव की डायरी के कुछ अंश रूसी पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित भी हो चुके हैं। सन् चवालीस में अजीमुश्काई के वीरों के विषय में मार्क कोलोसोव ने एक छोटा सा लेख लिखा। रूसी के प्रसिद्ध कवि सेलविन्स्कीने जो कि केर्च की मुक्ति के बाद ही उन खण्डहरों में गये थे— अपनी एक बड़ी ही मार्मिक कविता इन वीरों के नाम लिखी हैं। अस्तु लड़ाई तो सन तैंतालीस के बाद भी अपनी वर्द्धमान भीषणता से चलती रही। नये-नये वीर सामने आये जिन्होंने नयी नयी शौर्यगाथाएं अपने रक्त से लिखीं।

इस धधकते हुए घटना समूह में अजीमुश्काई के वीरों की कथा विस्मृत सी हो गयी। इस वृतांत को प्रथम बार लेफ्टीनेंट निकोलाई येफ्रेमोव ने सर्गेई सर्गेइविच स्मिरनोव को सुनाया। लेफ्टीनेंट येफ्रेमोव इस तहखाने में घिरे हुए गैरिज़न के साथ पाँच महीने तक रहे थे और लड़े थे। वे उन अनाम लोगों के शौर्य के प्रत्यक्ष साक्षी थे जो तिल-तिल करके मिट गये किंतु जिनकी क्षीयमान शारीरिक शक्ति के साथ-साथ आत्मबल और देश प्रेम की शिखा निरंतर उर्ध्वमुखी होती गयी। पाँच महीने तक भूखे प्यासे अँधेरे में विषैली गैसों द्वारा घोटे गये निकोलाई येफ्रेमोव अंततः जर्मनों के हाथ पड़ गये और अनेक यातना शिविरों में रहने के पश्चात् भी प्राण बचाने में सफल रहे।

जो लोग कभी क्रीमिया गये होंगे तो उन्हें याद होगा कि वहाँ के मकान एक विशेष प्रकार के चूने के पत्थर से बने हैं। इसे कुछ लोग सीप पत्थर भी कहते हैं। यह पत्थर काले सागर के एक छोटे से प्रायःद्वीप केर्च में पाया जाता है। केर्च में इस पत्थर की कई खानें हैं जिनमें अजीमुश्काई की खान सबसे बड़ी और सबसे प्रसिद्ध है। अनेकों वर्ष से इस खान से पत्थर निकालने के कारण यह खान दिन-दिन गहरी होती चली गयी और इसके फलस्वरूप कई किलोमीटर तक फैला हुआ और कई मंजिलों वाला एक विशाल तहखाना बन गया। इसको भूमि के भीतर एक नगर ही समझिये जिसमें कि कई-कई किलोमीटर लंबी सुरंगों और दीर्घिकाओं की भूल भुलैया है। इनमें से कुछ सुरंगें तो इतनी बड़ी हैं कि जिनमें भीमकाय ट्रक भी सरलता से जा सकते हैं, कुछ में घोड़ा गाड़ी भी जा सकती है और कुछ में केवल घुटनों के बल ही धँसा जा सकता है।

सन् बयालीस की अप्रैल के अंत में जर्मनों ने टैंकों और हवाई जहाज सहित अपनी विशाल सेना को अवसमाइस्की फ्रंट पर झोंक कर रूसी रक्षा पंक्ति को चीर दिया। काले सागर के तट पर जमा हुए हजारों स्त्रियों, बच्चों और नागरिकों को केर्च की खाड़ी के उस पार काकेशस के तट पर पहुँचाया जाने लगा। खाड़ी के ऊपर अप्रतिहत रूप से गोलों की वर्षा और गोलियों की बौछार हो रही थी। जिसको जो

मिल रहा था फट्टा, नाव, डोंगी, ट्यूब से या फिर तैर कर ही खाड़ी को पार कर रहा था। पानी पर तैरने वाली प्रत्येक जीवित या निर्जीव वस्तु पर जर्मन जहाज बिल्कुल पानी सतह के समीप आकर मशीन गनों से लोगों को भून कर जल समाधि दिला रहे थे। लोग सहस्रों की संख्या में मर रहे थे। यह द्वितीय महासमर की बहुत बड़ी त्रासद घटनाओं में से थी। लोग सहस्रों की संख्या में मर रहे थे। सारा पानी रूसियों के रक्त से लाल था। गोलों की बौछारों से एक बाड़ सी खड़ी कर दी गयी थी। मई के बढ़िया और प्रकाश पूर्ण दिनों में एक करुण तम घटना घट रही थी। काले सागर के बेड़े के नौसैनिक फिर भी लोगों को केर्च के अग्निकुंड से निकाल रहे थे। अनेकों खाड़ी को तैर कर पार कर रहे थे जो कि असंभव था और बमों गोलियों के शिकार हो रहे थे। पानी में कूदने पर मृत्यु तो अनिवार्य थी ही किंतु प्रज्वलित नारकीय अग्नि, जो कि केर्च के तट पर धधक रही थी उससे त्रस्त होकर लोग पानी में कूदे जा रहे थे। सारी केर्च की खाड़ी चीत्कारों और हाहाकारों से भर-भर गयी थी। जब किनारे पर यह घटना घट रही थी उस समय आग में जलते हुए केर्च शहर में रूसी सेनाएँ अब भी शत्रु का मुकाबला कर रहीं थी। सेना की एक बड़ी टुकड़ी अजीमुश्काई के पत्थरों की खान के पास लड़ रही थी। इधर-उधर बिखरी हुई सैनिक टुकड़ियाँ भी उसमें आकर मिलती जा रही थीं। एक और टुकड़ी बोगेरोव्स्की की खान के पास लड़ रही थी किंतु शीघ्र ही जर्मनों ने उसे पूरी तरह कुचल दिया। जो बड़ी टुकड़ी अजीमुश्काई के पास लड़ रही थी उसने उस खान में अपनी मजबूत मोर्चा बंदी कर ली। एक भयंकर युद्ध बोइकोव फेक्टरी के पास हो रहा था। वे पाँच दिनों तक लगातार जर्मनों के जबरदस्त आक्रमण झेलते रहे और जब प्रतिरोध उनके बूते के बाहर हो गया तो रात्रि को शत्रु के घेरे को चीरते हुए अजीमुश्काई खान के पास लड़ने वाली टुकड़ी से जा मिले। अजीमुश्काई खान के भीतर जाने वाले रास्तों पर कई दिन से भयानक युद्ध चल रहा था। यहाँ पर रूसी सैनिक टुकड़ियों ने काफी मजबूत मोर्चा बंदी कर रखी थी। रूसियों की ओर से इस युद्ध का नेतृत्व लेफ्टीनेण्ट निकोलाई बेलोव कर रहे थे। निकोलाई बेलोव एक बड़े वीर और अनुभवी अफसर थे। युद्ध से पूर्व वे एक पाउल्ट्री फार्म पर विशेषज्ञ की हैसियत से काम करते थे और अण्डों की पैदावार बढ़ाने के लिए उनको स्वर्ण-पदक मिला था जिसको कि वे शौर्य के लिये मिले हुए स्वर्ण पदक के गर्व से अपनी छाती पर धारण किये रहते थे। उनके कुशल नेतृत्व में अजीमुश्काई की टुकड़ी बड़े ही आत्म विश्वास से शत्रु की गोलों, मशीन गनों और ग्रेनेडों की बढ़ को रोक रही थी। किंतु ऐसा वे कितने दिनों तक कर सकते थे? शत्रु उनसे चौगुनी पाँच गुनी संख्या में थे और तीव्र से तीव्रतर आक्रमण करते जा रहे थे। कर्च के किनारे पर जो दुखांत घटना घटी उसकी इति रूसी सैनिक टुकड़ियों के बिल्कुल ही कुचल जाने में या उनके बंदी बनाने में हुई। शत्रु ने बची खुची सभी रूसी टुकड़ियों का सफाया कर दिया। बोगोरोव्स्की खान और बोइकोव फेक्टरी का प्रतिरोध पूरी तरह से कुचल दिया गया।

अजीमुश्काई का लगभग सारा शहर इस खान में जा समाया। वास्तव में इस तहखाने में प्राण रक्षा के लिए लोग कई दिन पहले से इकट्ठे होने लगे थे। इसकी अँधेरी सुरंगे और कॉरीडरें लोगों से उफनी पड़ रही थीं। दस हजार, पंद्रह हजार कितने हजार आदमी इस भूगर्भ में होंगे, कोई कह नहीं सकता। और यहाँ कौन नहीं था? सैनिक, नौसैनिक, तोपची, डॉक्टर, इंजीनियर सभी स्तरों के और सभी प्रकार के लोग इनमें थे किंतु इनका बहुलांश नागरिक जनता थी जिनमें कि स्त्रियाँ और बच्चे अधिक थे।

जैसे ही केर्च के शहर पर जर्मन गोलों और बमों की वर्षा आरंभ हुई केर्च निवासी हजारों की संख्या में अजीमुश्काई की इस विशाल पत्थर की खान में भरना शुरू हो गये। वे समझे कि थोड़े ही दिन यहाँ रहना पड़ेगा। रूसी सेनाएँ फिर केर्च को जीत लेंगी और तब वे बाहर आ जायेंगे। किंतु उनकी यह आशा केवल एक छलना मात्र सिद्ध हुई। रूसी सेना का निकट भविष्य में लौटना असंभव था। उनके

सिरों पर अब जर्मन टैंक और सिपाही घूम रहे थे और वे नीचे इन तहखानों में इधर से उधर भड़भड़ाते घूम रहे थे। वे अब इस अंधेरी भूल भुलैय्या में बंदी थे और उनका भाग्य कालिमा से ढँका हुआ था। वे रह-रह कर चौंक उठते थे और सिर पर घटने वाली घटनाओं की प्रतिध्वनि भय-शंकित होकर सुनते थे। यह जन समूह अपनी घबराहट में अजस्र रूप से बेचैन और गतिशील था। ये लोग अपने साथ अपना सामान, अटैचियाँ, पोटलियाँ, डलियाँ इत्यादि और थोड़ा बहुत खाने का सामान भी लाये थे। लगभग सभी लोग इधर-उधर अंधेरे में भटक रहे थे और अपने संबंधियों परिजनों और प्रियजनों को ढूंढ़ रहे थे जो कि बार बार अंधेरे में खो जाते थे। कभी-कभी इनके बीच में बिजली की तरह कोई अफवाह फैल जाती थी और तब चारों ओर एक संत्रास की अवस्था होती थी। माताएँ अपने शिशुओं को छाती से चिपका कर और पोटली बगल में दबाकर किसी तंग और अंधेरी सुरंग में दुबक जाती थीं। अजीब वातावरण था। चारों ओर बच्चे रो रहे थे। स्त्रियाँ चीत्कार कर रही थीं। सैनिकों को ऊपर जर्मनों से लड़ने के साथ-साथ इन लोगों को सम्हालना भी था। बड़ी ही कठिनाइयों से कमांडरों ने इस घबराए हुए जन समूह को सम्हाला उन्हें सांत्वना दी और व्यवस्था स्थापित की। उन्होंने एक संचालन केंद्र स्टाफ गठित किया। युद्ध एवं आंतरिक व्यवस्था का नेतृत्व कर्नल यागूनोव ने सम्हाला। इन्होंने सन् सत्रह की क्रांति में भाग लिया था और लाल सेना के रेगुलर ऑफीसर थे। चालीस वर्षीय पराखिन बटालियन के कमीसार थे। कप्तान लेविस्की स्टाफ ऑफीसर थे। झोलोतोव्स्की ने रसद का प्रबंध सम्हाला। इसके साथ-साथ लड़ाई पर एक मोर्चा भी सम्हाला। भीतर आने के प्रत्येक रास्ते पर प्रेक्षक दूरबीन लिये बैठे थे और शत्रु की प्रत्येक गतिविधि का निरीक्षण करते थे और अफसरों को उसकी सूचना देते थे। उनकी सही निशाने बाजी के कारण शत्रु पास आने का साहस नहीं कर रहा था। यद्यपि उसके पास विपुल शक्ति, साधन और उपकरण थे। प्रारंभिक दिनों में तो जैसे-तैसे खाने पीने का प्रबंध हो पाया। सामान भी पर्याप्त था। दस बारह घोड़े भी थे। उनको काटा गया और मांस पकाकर बाँटा गया। कुछ दिनों तक तो भूमि के भीतर गर्म खाना भी मिलना संभव हो सका। प्रश्न केवल सैनिकों को खिलाने का ही नहीं था। यहाँ हजारों की संख्या में फँसे हुए बच्चों, बूढ़ों, औरतों और नागरिकों का पेट भी भरना था। इतने सारे लोगों का पेट भरने के लिए कोई भी भंडार पर्याप्त नहीं हो सकता। भोजन सामग्री बड़ी ही शीघ्रता से खत्म होती जा रही थी। सभी इस चिंता में पड़े थे कि भविष्य में क्या होगा? पानी का एक मात्र साधन एक सुरंग में दबी एक टंकी थी। वह कुछ दिन ही चल सकती थी। इसलिये पानी की समस्या भोजन से विकट थी। इतने विशाल जन समूह के लिए यह स्रोत नगण्य था। एक कुआँ था किंतु वह बाहर था। इस पर गोलियों की निरंतर बौछार हो रही थी। पहिले तो रात्रि को सभी लोग पानी के लिए उस पर जाते थे किंतु शत्रु ने शीघ्र ही इसका पता लगा लिया और कुएँ पर रात को तेज रोशनी फेंक कर फायरिंग शुरू कर दी। रोज काफी लोगों ने अपनी जान गँवाई। कमांडरों को बाहर से पानी लाने पर रोक लगानी पड़ी। जैसे-तैसे हथेली पर जान रखकर सैनिक पानी की टंकी रात को भरते। फिर भी पानी पूरा नहीं पड़ता। अतएव कमांडरों को पानी के राशन की व्यवस्था करनी पड़ी।

इधर जर्मन भी इन लोगों को भूमि के भीतर घुसेड़ कर चुप नहीं बैठे थे। वे उनकी समाप्ति की प्रतीक्षा नहीं करना चाहते थे। उन्हें तो झटपट इन लोगों से निबट कर दूसरे फ्रण्टों पर लड़ना था। मई की बीस तारीख के पश्चात इस खंडहर पर सैकड़ों रूसी युद्ध बंदी लाये गये। उनसे खान के भीतर जाने वाले सभी रास्तों को मलवा भरवा कर बंद करवाया गया। वास्तव में शत्रु भीतर हवा जाने के सभी मार्ग बंद करना चाहता था किंतु भीतर वाले भी नीचे रोज नये-नये छेद करके अपनी सांस लेने का प्रबंध कर ही लेते थे। जर्मन चाहे जितना प्रयास करते किंतु भू गर्भ वासी ऐसी अप्रत्याशित जगह पर छेद बनाते कि जिसका जर्मनों को गुमान भी नहीं होता। लोगों का दम घोंटने में जर्मन असफल रहे किंतु जर्मनों का

इरादा कुछ और ही था। वह इतना भयानक था कि उसकी कल्पना यह भूमिगत समूह कर ही नहीं सकता था। पच्चीस मई की रात को जो भी नीचे जाने के रास्ते खुले रह गये थे वहाँ पर बड़ी बड़ी मशीनें लाई गयीं। पौ फटते ही उन मशीनों ने चलना आरंभ कर दिया और शनैः शनैः उस भूगर्भ में एक विषैला पीला और कड़वा धुआँ बैठने लगा। इस धुएँ से एक विचित्र प्रकार की तलछट सी जमने लगी। धीरे-धीरे इस धुएँ का बादल बन गया और यह सुरंगों में जहाँ पर पहले ही हजारों की संख्या में व्यक्ति स्वच्छ हवा से वंचित थे घुमड़ने लगा। यह धुआँ जैसे-जैसे सुरंगों में फैलने लगा लोगों की हाँफनी बढ़ती गयी। थोड़ी देर में अनेकों लोग बुरी तरह से छटपटाने लगे। बच्चों, स्त्रियों और वृद्धों की जो दशा हुई उसका वर्णन असंभव है। सैनिकों की संख्या तो नागरिक संख्या का दसवाँ भाग भी नहीं थी। मानवता के विरुद्ध इस भयंकर पाप के शिकार ये असहाय लोग ही बने। इस अंधेरे भूल भुलैय्या वाले तहखाने में बड़े ही हृदय विदारक दृश्य देखने को मिले। चारों और स्त्रियों की चीत्कारें और बालकों का करुण क्रंदन सुनाई पड़ रहा था। लोग कराह रहे थे। उनके गले में एक विचित्र प्रकार की घरघराहट की आवाज निकल रही थी। वे अंधेरी सुरंगों में भड़भड़ाते फिर रहे थे। एक दूसरे से टकरा रहे थे एक दूसरे को कुचलते हुए दौड़ रहे थे। लोगों का वह तड़पना देखा नहीं जाता था। लोग प्रयास कर रहे थे कि वे वायु के छिद्रों के पास खड़े हों। इसलिये इन छिद्रों के पास काफी भीड़ जमा होने लगी। जर्मनों ने इन छिद्रों से हथगोले फेंकना शुरू कर दिया। इससे समूह के समूह लोग मर-मर कर और घायल हो कर गिरने लगे। लोग अपंग बन रहे थे, मर रहे थे और उधर फासिस्टों का मनोरंजन हो रहा था और वे ऊपर से ठठा कर हँस रहे थे। नीचे लोग घुटकर, दबकर, जलकर और कट कर मर रहे थे। जिन लोगों ने घबरा कर या विक्षिप्त हो कर साँस लेने के लिए ज्योंही मुँह निकाला त्यों ही या तो संगीन से काट दिये गये या बंदी बना लिये गये। सैनिकों की हालत अच्छी नहीं थी। उनमें से कुछ ही लोगों के पास गैस मास्क थे। वे स्त्रियों और बच्चों के बचा रहे थे उनको साँस दिलाने के लिये मशीनगनों के फायरिंग पाइण्ट के पास ले जा रहे थे। यहाँ सुरक्षा थी और लोग साँस भी ले सकते थे। वे नये-नये छेद भी बना रहे थे जिससे कि लोग साँस ले सकें और लोगों की नाक पर गीला कपड़ा रख रहे थे। कुछ लोगों की गीली जमीन में नाक लगा कर सांस लेने की शिक्षा दे रहे थे। कई लोगों ने तो प्राण रक्षा का कोई उपाय न पाकर आत्म हत्या कर ली। जर्मनों के बंदी बनने की अपेक्षा उन्होंने यही श्रेयस्कर समझा। एलेक्जेण्डर सारिकोव ने अपनी डायरी में लिखा है—'रात बड़ी बेचैनी से कटी। शत्रु बिल्कुल बर्बर हो उठा है। सुरंगों की छतों में गड्ढा करके उसमें बारूद भरकर उड़ा रहा है। बाहर निकलने के सभी रास्ते मलवा ठूँस कर बंद कर दिये हैं। मोर्टर और आर्टिलरी से लगातार गोले दागे जा रहे हैं। पर चाहे जो करें हमें इसकी परवाह नहीं। सिर्फ पानी की समस्या बड़ी विकट है। कहीं से सिर्फ सौ ग्राम पानी मिल जाता तो जी जाते। बालक रात-दिन रोते रहते हैं एक क्षण के लिए चुप नहीं होते। जीभ सूज गयी है सूखकर तालू से चिपक गयी है। ग्रास नहीं निगला जाता। जो कुछ भी जिसके पास है आपस में बाँट देता है।

आज रात मेरी किस्मत में सोना नहीं बदा था। कप्तान पानोव, कमीसार बेरखूतिन, स्टाफ ऑफीसर फोमिन के साथ पहरे पर खड़ा रहा। जब नहीं रहा गया तो थोड़ी सी झपकी लेने की अनुमति लेकर लौट रहा था। मेरी ऐसी आदत है कि सोने से पहले मैं अपने गाँव को याद करता हूँ जहाँ पर मेरा जन्म हुआ था। अचानक मेरे गले में कोई चीज अटक जाती है। साँस लेने के लाले पड़ जाते हैं। चीत्कार और क्रंदन सुनाई पड़ता है। मैं दौड़ता हूँ किंतु हंत। देर हो जाती है। ओ धरती पर बसने वाले लोगों। संसार के देशों के निवासियों। क्या तुमने ऐसा पाशविक प्रतिशोध देखा है जैसा कि ये जर्मनी के फासिस्ट इन निरीहों से ले रहे हैं! नहीं! मैं दावे के साथ कह सकता हूँ कि इस बर्बरता की संसार के इतिहास में कोई सानी नहीं। इसके मुकाबले का कोई कुकर्म नहीं। यह तो नीचता की पराकाष्ठा है। नर पिशाचों ने

जहरीली गैस से सारी सुरंगे भर दी हैं। बच्चे विलख रहे हैं—किंतु कौन बहलाये? उनकी माताओं ने तो तड़प-तड़प कर प्राण दे दिये हैं। निदारूण यंत्रणा से छटपटाते हुए उन्होंने अपने ब्लाउज फाड़कर चिथड़े कर डाले हैं। उनके मुँह से खून की धारा निकल रही है। चारों ओर से 'हाय मरे ! बचाओ ! की पुकार मची हुई है। विषैली गैस के धुएँ में देखना दूभर हो गया है। मेरे पास और कोल्या के पास गैस मास्क नहीं है। हम चार बच्चों को गोदी में उठाकर खुली हवा के लिए दरवाजों के पास लाए किंतु सब व्यर्थ। वे हमारी गोदी में ही मर चुके थे। मुझे अनुभव हुआ कि मैं बुरी तरह हाँफ रहा हूँ। मेरी चेतना लुप्त होती जा रही है। जमीन पर गिरा—अब गिरा। किसी ने मुझे उठाया और बाहर द्वार की ओर लाया। थोड़ी देर बाद होश में आता हूँ। मुझे गैस मास्क दिया जाता है। मैं अस्पताल की ओर दौड़ता हूँ। वहाँ घायल हैं। अस्पताल के भयंकर दृश्य के चित्रण की शक्ति मुझमें नहीं है। इस सुरंग की मोटी दीवारें ही हमारी कथा बताएँगी। ये हमारी असहय वेदना की साक्षी हैं। प्राणांतक चीत्कारें ! हृदय विदारक कराहें ! जो चल सकता था चल रहा था, जो नहीं चल सकता था रेंग रहा था। कोई धड़ाम् से खाट पर से जमीन पर गिर पड़ता था। कोई चिल्ला रहा था—'मेरे प्यारो। मुझे बचाओ। मैं मर रहा हूँ।'

एक सुंदर भूरे बालों वाली युवती चित्त लेटी हुई है। उम्र लगभग तेइस चौबीस वर्ष—उसकी नब्ज पर हाथ रखता हूँ। व्यर्थ—पाँच मिनट बाद ही मर गयी। डॉक्टरनी थी। अंतिम साँस तक मरीजों को बचाती रही। अब स्वयं ही चल बसी। जननी जन्म भूमे ! मातेश्वरी ! इन नरभक्षियों के इस पैशाचिक कृत्य को हम कभी न भूलेंगे। जिंदा रहे तो इन दम घोट कर मारे गये लोगों की जान का बदला जरूर लेंगे। नाक पर गीला जालीदार कपड़ा रखने के लिए पानी की जरूरत है। किंतु पानी ! पानी की तो एक बूँद भी दुर्लभ नहीं है। सांस लेने के लिये जो छत में छेद किये हैं वहाँ जाना मूर्खता है उनमें से वे हथगोले फेंक रहे हैं। खान के मुख्य निकास की ओर जाता हूँ। सोचता हूँ वहाँ गैस कम होगी किंतु व्यर्थ। यह अनुमान गलत है—डूबता हुआ तिनके को पकड़ने का प्रयत्न करता है। यहाँ तो और भी अधिक गैस है क्योंकि यहाँ के बड़े छेदों से मशीनें धड़ाधड़ धुआँ फेंके जा रही हैं। यह क्या। यह 'इंटरनेशनल' कौन लोग गा रहे हैं? मेरी नजर में चार युवा लेफ्टीनेण्ट पड़ते हैं। वे एक दूसरे का आलिंगन करते हैं और फिर 'धाँय' चार बार बंदूक के धमाके गूँज जाते हैं और चार लाशें तड़पने लगती हैं। फिर निस्पंद हो जाती है। पिशाच ! हिटलरी राक्षस ! जरा इन मरने वाली स्त्रियों, सैनिकों, कमांडरों की शक्ल तो देख ! ये तुझसे दया की भीख नहीं माँगते तुम जैसे डाकुओं के आगे अपने घुटने नहीं टेकते। ये शक्लें अपनी मातृभूमि के लिए हँसते हुए प्राणों की बलि चढ़ाने वालों की है।'

सारे दिन विषाक्त धुआँ फेंकने वाली मशीनें चलती रहीं। वे धुआँ उगले जा रही थीं जो कि सुरंगों में बुरी तरह से भर गया था। धुआँ जब कम हुआ तो मशाल जलाना संभव हुआ। बड़ा भयानक दृश्य था। मुर्दों का ढेर लगा हुआ था लोग घुट कर या आत्म हत्या कर दूह के दूहों में मरे पड़े थे। मृतकों की संख्या सहस्रों में होगी। जो इस यंत्रणा को सहन नहीं कर पाये वे जर्मनों के चंगुल में फँस गये। नागरिक जनता या तो कैद हो गयी थी या जहरीली गैस से मर गयी थी। केवल सैनिक जिनकी संख्या लगभग डेढ़ हजार होगी इस भयंकर गैस के आक्रमण को सहकर भी खान में डटे रहे। वे सब कुछ सहने को, सब कुछ करने को तैयार थे।

दूसरे दिन सैनिक सभा हुई और भावी संघर्ष का कार्यक्रम तैयार किया गया। इनके आगे अब केवल दो विकल्प थे। प्रथम तो यह था कि जब तक रूसी सेनाएँ पुनः केर्च को नहीं जीतती तब तक इसी भूगर्भ में रह कर शत्रु से लोहा लिया जाय। दूसरा यह विकल्प था कि रात्रि के समय शत्रु पंक्तियों को चीरते हुए पारिपार्श्विक वनों में क्रियाशील पार्टीजनों से मिला जाय। दोनों ही परिस्थितियाँ बड़ी विकट थीं। भूगर्भ के चारों ओर जर्मन फौजों का भारी जमाव था। उन्हें भय था कि रूसी गैरिजन निराशोन्मत

होकर भयानक आक्रमण न कर दें। अन्न, पानी प्रकाश और स्वच्छ वायु से वंचित रूसी गैरिजन कब तक इस विशाल और संपन्न जर्मन सेना से लोहा ले सकता था? जहाँ तक जंगलों में सक्रिय गुरिल्लों से जा मिलने का प्रश्न है वह भी बड़ी टेढ़ी खीर था।

भूगर्भ और जंगलों के मध्य कई किलोमीटरों तक फैला हुआ विशाल और वृक्षहीन मैदान था। मई के महीने में रातें भी छोटी होती हैं। अंधेरा बहुत थोड़े से समय के लिए बाहर निकलने वाले सैनिकों को छिपा सकता था। जहाँ उन पर जर्मनों की नजर पड़ी वे टैंक और आर्मर्ड कारों से पीछा करके एक को भी जिंदा नहीं छोड़ेंगे। अंततः यही भूगर्भ में रहकर शत्रु से लोहा लेने का निश्चय किया गया। यहाँ पर मुकाबला काफी दिन तक चल सकता था। एक और बात थी। भूगर्भ में रहकर बाहर से आक्रमण करने वाली रूसी सेनाओं की मदद भी हो सकती थी। बाहर से वे गोलाबारी करेंगे और भीतर से ये।

सबसे महत्वपूर्ण प्रश्न था विषैली गैस से प्राण बचाने का। हजारों शवों को दूर सुरंगों में दफनाना था। बचे हुए लोगों का हिसाब लगाना था और उनको उनकी योग्यता के अनुसार काम सौंपने थे। भोजन और उससे भी अधिक पानी की समस्या विषम थी। दिन चर्या को कठोर अनुशासन में ढालना था। युद्ध शैली का भी निर्णय करना था। यह तो निश्चित था कि कठिनाइयाँ दिन पर दिन भयंकर होती जायेंगी। सबसे पहिले गैस से बचने का उपाय निकाला गया। मरे हुए व्यक्तियों के ओवर कोट, कंबल, बरसातियाँ और तंबुओं की केनवास को फाड़कर बड़े-बड़े पर्दे बनाये गये। इनको निकासों और दरवाजों पर टाँगा गया जिससे कि उन स्थानों पर गैस न आ सके। एक सबसे चौड़ी सुरंग छाँटी गयी। यहाँ अस्पताल बनाया गया। इसके चारों ओर गैस के प्रवेश को रोकने के लिए पर्दे टाँगे गये। कमांडरों को गैस मारक दिये गये। बड़ी ही कौशलपूर्ण मोर्चा बंदी की गयी। मुर्दो को इकट्ठा किया गया और दूर सुरंग में दफनाया गया। कई टोलियाँ बनाई गयीं जिनको कि एक-एक विशिष्ट काम सौंपा गया। एक टोली को बाहर से पानी लाने का काम सौंपा गया। केर्च निवासी दानचेंको और उसका चौदह वर्षीय पुत्र कोल्या इस भूगर्भ की सुरंगों से भली-भाँति परिचित थे। सन् इकतालीस अर्थात् अब से कोई एक वर्ष पहले जब जर्मन सेनाओं ने पहली बार केर्च को जीता था तब वह और उसका पुत्र कोल्या पाटीजानों के साथ इसी केर्च की खान में रहकर तब तक लड़ते रहे जब तक कि रूसी सेनाओं न केर्च पर पुनः अधिकार नहीं कर लिया। अब जब केर्च से दूसरी बार रूसी सेनाएँ हटीं तब भी उन्होंने इसी खान में शरण ली। वे यहाँ की चप्पा-चप्पा जमीन से परिचित थे। इस बार दानचेन्कों के साथ उसकी चौदह वर्षीय पुत्र कोल्या, उसकी पत्नी और नन्हीं बच्ची भी थी। जर्मनों ने जब भूगर्भ में विषैली गैस भरना आरंभ किया तो दानचेन्कों की पत्नी और बच्ची जैसे ही साँस लेने को बाहर निकलीं वैसे ही जर्मनों के चंगुल में फंस गयीं। दानचेन्कों और उसका पुत्र अंतिम समय तक इस खान में ही रहे। ये दोनों ही भूगर्भ के सभी स्थानों से परिचित थे और समय-समय पर उनका पथ प्रदर्शन करते थे। रात्रि के समय जब सैनिक बाहर निकल कर जर्मनों पर आक्रमण करते तब भी ये उन्हें आस-पास के स्थानों के संबंध में जानकारी देते। ये दोनों बड़े ही बहुमूल्य परामर्शदाता थे जो कि कुछ महीनों के युद्ध के पश्चात् कहीं मारे गये और उनका कोई भी चिह्न नहीं मिला।

दूसरे दिन सबेरे से ही गैस की मशीनों ने तलघरों में गैस भरना शुरू कर दिया। सुरंगों, तहखानों, तलघरों, दीर्घिकाओं सभी जगह वह विषाक्त प्राणघाती धुआँ घुमड़ने लगा। दूसरे दिन का धुआँ कहीं अधिक दम घोंटने वाला और प्राणांतक था। आदेशानुसार सभी लोग सुरक्षित स्थलों पर जिनका कि पिछले दिन निर्माण किया था— पहुँच गये। ये सुरक्षित स्थल कहाँ तक लोगों की रक्षा कर पायेंगे इसकी चिंता सभी को थी। थोड़ा बहुत धुआँ पर्दों में से और संधों में से आया तो किंतु लोग उसको

सह गये। थोड़ी बहुत खाँसी तो आई-किंतु जैसे तैसे साँस तो ले ही सके। हाँ जिनके फेफड़े कमजोर थे वे नहीं बच पाये। डेढ़ महीने तक लगातार जर्मन इस भू गर्भ में यह विषाक्त धुआँ भरते रहे। वे लोग तड़के ही यह काम शुरू कर रहे थे दोपहर को अपना 'लंच' और थोड़ा सा विश्राम करने के पश्चात् फिर संध्या का 'शो' शुरू हो जाता। केवल रात को यह पैशाचिक कृत्य रुक पाता। रोज धुआँ भरने के कारण रात को पूरी तरह से धुआँ निकल नहीं पाता। वह धीरे-धीरे संचित होता रहता था। कभी-कभी सुरक्षित स्थानों से जो लोग दूर होते और उसी मध्य मशीनें धुआँ भरना आरंभ कर देतीं तो आते-आते ही अनेक लोग मर जाते। वे घुमड़ते धुएँ में भटकते रहते और मर जाते। इस परिस्थिति से पार पाने के लिए एक उपाय सोचा गया। इस तहखाने में बहुत से टेलिफोन के केबिल पड़े थे। इस केबिल को सभी सुरंगों में ले जाया गया। अब यदि कोई व्यक्ति गैस भरने के समय किसी सुरंग में सुरक्षित स्थान से दूर होता तो वह केबिल के बार के सहारे-सहारे सुरक्षित स्थान पर पहुँच सकता था। यह केबिल का तार एक और काम आया। इसके टुकड़े काट कर उनको मोमबत्ती की तरह जलाया जा सकता था। इस प्रकार प्रकाश की व्यवस्था भी हो गयी। यहाँ कंजूसी करने की भी जरूरत नहीं थी। केबिल पर्याप्त मात्रा में था। किंतु एक और बात थी। इस केबिल के जलने से काजल बहुत निकलता था। इन धुंधआती हुई छोटी मशालों ने प्रत्येक व्यक्ति को काजल की एक तह से ढक दिया। और कोई उपाय भी नहीं था इसलिये इस परिस्थिति से समझौता करना पड़ा। पानी और भोजन की समस्या विकटतर होती जा रही थी। घोड़ों का माँस तो बहुत पहिले ही समाप्त हो गया था। केवल चीनी और चाय थी किंतु पानी नहीं था। कमांडरों की पानी संबंधी चिंता बढ़ती जा रही थी। बाहर के कुएँ से पानी लाना काल का कवल बनना था। कुएँ पर जर्मनों ने मशीन गनें फिट कर रखी थी। न जाने कितने लोगों ने यहाँ से पानी लाने के प्रयास में अपने प्राण गँवाये। फिर कुएँ तक नीचे से एक सुरंग खोदने की योजना बनाई गयी। यह कार्य दु:साध्य था। लोग कई दिनों से भूखे और प्यासे थे। बहरहाल प्रकाश स्वच्छ वायु भोजन और पानी से वंचित कुछ और सैनिक कुएँ तक सुरंग खोदते ही ले गये। दुर्भाग्य से जर्मन सैनिकों के कान में नीचे होती हुई खुदाई की आवाज पड़ गई। उन्होंने सुरंग के ऊपर एक गढ़ढा किया और उसमें बारूद भर कर बनी बनाई सुरंग को ध्वस्त कर दिया। अनेक लोग मलवे में दब कर मर गये। प्यास निदानुदिन असह्य होती जा रही थी। अजीमुश्काई में भूमिगत जल बड़ी ही गहराई पर है। जहाँ कम गहराई पर है वहाँ पर छत और दीवरों में सीलन आ जाती है। कभी-कभी इनमें बूंद-बूंद पानी रिसने लगता है। मुश्किल से एक दिन में तीन चाय की केटली पानी भर सकता था और भी सुरंगों में जहाँ कहीं भी थोड़ी सी सीलन होती लोग वहाँ असह्य प्यास व्याकुल होकर पानी चूसने का प्रयास करते। अंत में एक योजना बनाई गयी। इन गीले स्थानों में छेद किये गये और उनमें ट्यूब डाल कर मुँह से पानी खींचा गया। ऐसे पानी खींचने वालों की एक टोली बनाई गयी। ये लोग घंटों सिर झुकाकर पूरा दम लगा कर पानी खींचते रहते। बड़ी मुश्किल से एक बूँद पानी खींच पाते। यह घूँट भी वह नहीं पीते अपितु केटलियों में संचित करते। किंतु इस प्रकार दीवारों से पानी खींचने में उनके स्वास्थ्य पर घातक प्रभाव पड़ता। खीचने में चूने और मिट्टी के कण भी उनके फेफड़ों में चले जाते जिससे कि भयानक खाँसी उठती। ऐसा करने से कई लोगों को फेफड़ो के भयंकर रोग हो गये। पानी जो प्राप्त होता था इस भयंकर परिश्रम के पश्चात् क्या वह डेढ़ हजार व्यक्तियों के लिए काफी था? कई-कई दिनों तक लोगों के गले में एक घूँट पानी भी नहीं उतरता था। पर किसी ने कोई शिकायत नहीं की। सबको पता था कि पानी किस कठिनाई से प्राप्त होता है। जो प्राप्त होता है वह सबसे पहिले घायलों को चाहिए। भूगर्भ का अस्पताल सभी की चिंता और देख-रेख का विषय था। बिना पर्याप्त औषधियों के और ड्रेसिंग के उपकरणों के इन अंधेरी सीली सुरंगों में डॉक्टर और सर्जन केबिल की धुंधआती रोशनी और उबड़खाबड़ मेजों पर जटिल से जटिल ऑपरेशन कर रहे थे। वे केवल उनकी

जान ही नहीं बचा रहे थे अपितु उनको इस काबिल भी बना रहे थे कि वे हथियार लेकर मोर्चों पर लड़ सकें।

बस केवल एक ही आशा इन भूखे, प्यासे, घुटे और सीली अंधकारमयी सुरंगों में भटकते लोगों के जिलाए जा रही थी—और वह थी कि कब पूर्व की ओर रूसी तोपों की गरज सुनाई दे— कब वे शत्रु से बाहर निकल अपना पुराना हिसाब चुकता करें। और—एक दिन वास्तव में रूसी तोपों की गड़गड़ाहट सुनायी दी। एक ही क्षण में सारा गैरिजन सक्रिय हो गया। सबने अपने मोर्चे सम्हाल लिए। उत्कंठा से काँपते हाथों से वे उधर से केवल एक संकेत प्रतीक्षा में थे जिसको पाते ही वे शत्रु पर भूखे नाहर के समान टूट पड़ते। किंतु थोड़ी देर बाद गोला-बारी रुक गयी और उनका स्वप्न भंग हो गया। फिर भी उनका यह अविचल विश्वास था कि एक न एक दिन उनके साथी उन्हें मुक्त करने अवश्य आयेंगे। सेवास्तोपोल का शौर्यपूर्ण युद्ध उनको आशा का बल दे रहा था। इसके समाचार उनको ट्रांजिस्टर द्वारा मिलते थे। यही एक क्षीण सूत्र था जिसके द्वारा वे बाह्य जगत से जुड़े थे। इंजीनियर कोर के कुछ लोगों ने केबिल एवं अन्य उपकरणों से एक डायनोमा बना लिया था। इसी के द्वारा मॉस्को रेडियो की खबरें पकड़ी जाती थीं। इसी के माध्यम से रेडियोग्राम भेजने के प्रयास किये जाते। शत्रु से घिरने के पूर्व और उसके बाद भी अनेकों संदेश भेजे गये किंतु कोई उत्तर नहीं मिल पाया। या तो रेडियो लहरों की प्रसार परिधि अत्यन्त छोटी थी या तहखाने की पत्थरों की मोटी-मोटी दीवारों के कारण वे उन्हें पार नहीं कर पाती थी। फिर भी वे 'ईथर' में अपने संदेश निरंतर प्रसारित करते ही रहे। कहते हैं कि जर्मनों ने जिस दिन तहखानों में प्राणघाती गैस भरी उस दिन यानी पच्चीस मई सन् उन्नीस सौ बयालीस को यहाँ से अनेक घबराये हुए-बौखलाहट से भरे-संदेश भेजे गये। इन संदेशों का आरंभ इस प्रकार था— ''सोवियत संघ की समस्त जनता के नाम। संसार के सभी नागरिकों के नाम हम एक अत्यंत जघन्य कुकृत्य का संदेश भेज रहे हैं—सुनिए—''किंतु ये बहादुर आवाज मातृभूमि के कानों तक नहीं पहुँच पायी, हाँ, मातृभूमि की शक्तिशाली आवाज इन तक पहुँच रही थी। वह इस तहखाने की मोटी-मोटी दीवारों को भेदती साफ इनके कानों में पड़ती थी।

तहखाने के ऊपर प्रकृति का वसंत फूला हुआ था। प्यार भरा काला सागर अपनी लहरें तट पर छहरा रहा था। तट की सिकता पर गेरुए रंग के जर्मन सूर्य स्नान कर रहे थे। तट की प्राणदायिनी वायु अपने फेफड़ों में भर रहे थे। लता तृण वीरूध सभी का रंग गहराया हुआ था। वायु दूर कहीं फूले हुए कुसुमों की गंध और समुद्र से आर्द्रता ला रही थी। और यहाँ इस भूगर्भ में अविछिन्न अंधकार, सील और सर्दी का साम्राज्य था। मातृभूमि के प्यारे सपूत तहखानों में सड़ रहे थे। जहरीली गैस में साँस ले रहे थे। भूख और प्यासे मर रहे थे। पाषाण युग के मानव की भयानक आकृति वाले बढ़ी हुई दाढ़ी मूछों वाले केबिल जलाने से उत्पन्न काजल से भयंकर रूप से काले अंधी सुरंगों में मंड़रा रहे थे। उनके कदम थकान, भूख, और प्यास से लड़खड़ा रहे थे। उनके शरीर पशुओं से भी अधिक गंदे थे किंतु हथियार उन्होंने हमेशा साफ और चमकदार रखे। उनकी वर्दियाँ चिथड़े-चिथड़े हो गयी थीं। आंखें गैस के कारण अंगार बनी हुई थी। इनका निकट से निकटतम संबंधी भी इनको पहिचानने में असमर्थ होता। इनकी आवाज न सुनी जाती तो पहचानना असंभव हो जाता। इनको देखकर संदेह हो सकता था कि इनमें अब आंतरिक मानवीय व्यक्तित्व भी अवशिष्ट है अथवा नहीं। किंतु ऐसी बात नहीं। ये सहृदय मानवता से परिपूर्ण पूरी तरह से सोवियत नागरिक थे। निर्धारित नैतिक आदर्शों के पालन करने वाले उदार और बलिदानी ! आज इन्हें जब तीन दशकों के कांच से देखते हैं तो पता चलता है कि जैसे जैसे इनकी शारीरिक यंत्रणाएँ और कष्ट बढ़ते जाते थे वैसे-वैसे इनकी आत्माएँ तेजस्वी और गुण उज्जवल होते जाते।

वे केवल सोवियत नागरिक नहीं थे अपितु अपार युद्ध क्षमता लिए अनुशासित सोवियत सेना के एक अंग थे। अनुभवी कमांडर समझते थे कि इन दु:सह परिस्थितियों में गैरिजन का सबसे भयानक शत्रु उनकी नैतिक दुर्बलता और संगठन का अभाव हो सकता है। कमांडरों ने पूरा प्रयास किया कि सैनिक अपने को बाहर लड़ने वाली सेना से विच्छिन्न न समझें। सबेरे सबसे पहले मास्को से प्रसारित होने वाली खबरें सुनाई जाती जिन्हें कि 'वायरलैस मैन' रात भर ग्रहण करता और सबेरे टाइप करता। उसके पश्चात् सैनिक शिक्षण दिया जाता। फिर मोर्चे सम्हाले जाते और शत्रु के आक्रमण झेले जाते। संध्या को थोड़े बहुत मनोरंजन की व्यवस्था भी थी। लोग अपने प्रिय गीतों को गाते और नाचते। सारिकोव ने अपनी डायरी में लिखा—'वह सब कुछ जो कि मनुष्य की शारीरिक और मानसिक संभावनाओं के अंतर्गत आता है उन सभी का उपयोग किया जाता है। जीवन की परिस्थितियाँ चाहे जितनी विषम और भयानक हों किंतु सारे काम चल रहे हैं। सैनिकों की युयुत्सा और जिजीविषा यथावत् थी। प्रसिद्ध लेखक औस्रोव्स्की की पंक्तियाँ मुझे स्मरण हो आती हैं—'अपने प्राण लेना सहज है किंतु जीवित रहकर देश के लिए उपयोगी सिद्ध होना एक साधक का कर्तव्य कर्म हैं'—बस यह बात एक बोल्शेविक के प्राणों को आसानी से निकलने नहीं देती।

ये लोग जमीन के भीतर कबर बिज्जुओं की तरह जी रहे थे और उनकी युद्ध चर्या उन्हें जिलाए जा रही थी। बड़े-बड़े वीर और युद्ध कला निष्णात जर्मन उस भूगर्भ की ओर आने से घबराते थे। शत्रु पर अत्यंत अप्रत्याशित स्थलों से आक्रमण किया जाता था। एक बार एक सायबान में निरीक्षण स्थल बनाया गया जो शत्रु शिविर के बिल्कुल ही बीच में था। इस सायबान तक नीचे-नीचे एक सुरंग आती थी। सैनिकों ने इस सुरंग की छत में उस स्थल पर एक बड़ा सा छेद किया जो कि सायबान के फर्श पर निकला। इस छेद को भुस और तख्तों से ढक दिया गया। यहाँ से शत्रु के विषय में बड़ी ही महत्व-पूर्ण सूचनाएँ मिलती रहती थीं। इनके अनुसार रात्रि में आक्रमण किये जाते। शत्रु को संगीनों से लड़ने के लिए बाध्य किया जाता। इन आक्रमणों में बहुत से अस्त्र शस्त्र और खाद्य सामग्री हाथ लगती। शत्रु ने इन आक्रमणों से बचने के लिए चारों ओर 'माइन' बिछा रखीं थी और काँटे के तार लगवा दिये थे। फिर भी इस भूगर्भीय गैरिजन के आक्रमण अप्रतिहित रूप से होते रहे। ऐसे ही एक सफल आक्रमण के पश्चात् दक दु:खांत घटना घटी। कर्नल यागूनोव इन आक्रमणों में प्राप्त एक हथगोले का निरीक्षण कर रहे थे जिसका हत्था ठीक प्रकार से लगा नहीं था। अचानक बड़े जोर का धड़ाका हुआ जिसमें यागूनोव की तत्काल मृत्यु हो गयी और आस-पास के कई लोग घायल हो गये। यह एक अत्यंत ही अपूरणीय क्षति थी। यागूनोव आरंभ से ही इस गैरिजन की मूल प्रेरणा थे।

इसी बीच खराब खबरें सुनने में आने लगीं। सर्दी की पराजय के पश्चात् जर्मन फिर सम्हल गये। पांच जून सन् बयालीस को रूसी सेनाओं को सेवास्तोपोल छोड़ना पड़ा। इस समाचार से तहखाने में विषाद छा गया। सारा क्रीमिया शत्रु के अधिकार में था। फिर भी मुट्ठी भर भूखे प्यासे और प्रकाश वायु से वंचित गैरिजन के सिपाही लड़े जा रहे थे। शीघ्र ही जर्मन सेनाएँ केर्च खाड़ी के काकेशस वाले तट पर भी जा पहुँची और सारे टापुओं पर जर्मनों का अधिकार हो गया। रोस्तोव फिर से शत्रु के हाथ में चला गया। तमान पर भी शत्रु का अधिकार हो गया। गैरिजन ने बड़ी ही निराशा से देखा कि किस आजादी से जर्मन जहाज और स्टीमर काले सागर पर घूम रहे हैं।

इधर तहखानों में खाने पीने का सामान बिल्कुल ही समाप्त हो गया था। अचानक मलवे में दबी थोड़ी सी खाद्य सामग्री प्राप्त हो गई। सबसे कष्टप्रद तो प्यास थी पानी का कोई भी स्रोत नहीं था। एक गहरी सुरंग में कुँआ खोदना तो कभी का आरंभ कर दिया था किंतु उन परिस्थितियों में कार्य करना अत्यंत ही कठिन था। लोग महीनों से भूखे और प्यासे थे। महीनों से वे विषैली गैस में साँस ले रहे थे।

इस पर सत्ताइस मीटर गहरा कुँआ खोदकर पानी निकालना एक बड़ा ही भयानक कार्य था। अचानक एक उपाय सफल हो गया। बाहर प्रमुख द्वार के पास जो कुँआ था उस तक फिर से सुरंग खोदने का प्रयास किया गया। जर्मनों ने उधर से अपना ध्यान हटा लिया था। सारिकोव ने अपनी डायरी में लिखा—'लोग भयंकर छायाओं की तरह तलघरों में मंड़रा रहे थे। कई बार इच्छा होती कि इस यंत्रण को भोगने से तो अच्छा है अपना प्राणांत कर दिया जाय। किंतु घर की याद आ जाती है। प्रियतमा पत्नी को एक बार देखने का मन करता है। प्यारे बच्चों को गोद में लेकर पुचकारने की हूक उठती है। मेरी बीमारी जोर पकड़ती जा रही है। बुखार चालीस डिग्री सेण्टीग्रेड तक पहुँच जाता है। हाथ उठाने की शक्ति नहीं है। शाम को त्रबिन दौड़ता हुआ आया और बोला—'पानी का प्रबंध तो हो गया। परमात्मा की बड़ी कृपा हुई।' कैसा पानी। मैं समझा नहीं। पता चला त्रूबिन या त्रूबिलिन मुझे याद नहीं कई दिनों से अकेला उस भरी हुई सुरंग को जो कि बाहर तक के कुँए तक खोदी गयी थी और जिसे जर्मनों ने ध्वस्त कर दिया था खोदता जा रहा था और कई दिनों के बाद कुँए तक पहुंच ही गया। जर्मनों ने इस कुँए को ऊपर से तो मलवा डाल कर भर दिया था किंतु नीचे उसमें पानी था। पानी पर्याप्त था। बाल्टियाँ भरी गयीं। खूब पानी पिया। फिर बाल्टियाँ भर-भर कर स्टाफरूम और अस्पताल में ले गये। कप्तान ने पूरा मग भर कर मुझे शीतल जल दिया और कान में फुसफसाया-पियो! यह तो अपना ही पानी है। मैं पीता गया किंतु मुझे ऐसा लगा कि मैंने पानी पिया ही नहीं। सबेरे तक पानी अस्पताल में आ गया था। कुँए में पानी लाना किंतु सहज कार्य नहीं था। कुँए तक जानो वाली सुरंग में घुटनों के बल रेंगना पड़ता था।' सारिकोव की डायरी का यह अंतिम पृष्ठ था। कुछ दिनों बाद ही वह बीमारी से मर गया। जर्मनों को पता चला गया कि गैरिजन कुँए का उपयोग कर रहा है। उन्होंने इस बार कुँए को सडी ह्ई घोड़ों की लाशों से भर दिया। अब पानी पीना असंभव हो गया। गीली दीवारों को चूसने के सिवा और कोई चारा न रहा। फिर से गहरी सुरंग में कुँआ खोदने का कार्य आरंभ हुआ। प्रति दिन लोग मरते थे और मरते समय अपने अंतिम संदेश सुरंगों की दीवारों पर उत्कीर्ण कर जाते थे। उन संदेशों में एक अनिर्वचनीय आत्मगौरव का भाव व्यंजित हो रहा है।

वास्तव में गैरिजन को नष्ट करने के लिये क्रूरतम उपायों का प्रयोग किया गया। भूगर्भ के ऊपर गड्ढ़ा खोद कर उसमें कई बम्ब रखकर उनमें आग लगा दी जाती इतना भयानक धड़ाका होता कि मीलों की दूरी पर बने हुए मकानों के शीशे उड़ जाते। शुरू में इन धड़ाकों से गैरिजन के अनेक सैनिक मारे गये। इससे भी बचने का उपाय सोचा गया और आवाज सुनने वालों का एक दस्ता बनाया गया जिसका नेतृत्व ले. निकोलाई बेलोव ने किया। जैसे ही सिर के ऊपर खोदने की आवाज सुनाई देती लोगों को तुरंत वहां से हटा दिया जाता। जर्मनों ने शतरंज की चौपड़ के हिसाब से चप्पे-चप्पे पर गड़्ढ़ा खोदकर बम्ब फोड़े। यह काम इस तरह से किया गया जिससे कि तहखाने के लोग एक स्थान पर इकट्ठे हो जायँ और एक आखिरी धड़ाका करके उन सब को समाप्त कर दिया जाय।

इधर लोग कुँआ खोदते खोदते आखिर तक पानी तक पहुँच ही गये। इसमें अनेक लोगों के प्राण गये। कुँआ खोदने में विस्फोटक पदार्थों का प्रयोग किया गया। हाथ पैरों में इतनी जान नहीं बची थी कि खुदाई हो सके। इन विस्फोटों में सावधानी नहीं हो पाती थी। अस्तु अब प्यासे मरने से लोग बच गये। किंतु दूसरी ओर भूख से मृत्यु अपना मुंह बाये खड़ी थी। प्राण बचाने के लिए केवल चीनी और चाय थी। इसी के तरह-तरह के पकवान बनाये गये। अधिक चीनी से लोग बीमार पड़ने लगे और मृत्यु संख्या दिन ब दिन बढ़नो लगी। कभी-कभी स्काउट हथेली पर जान लेकर बाहर से एक प्रकार की घास ले आते। लोग इसे खाने के लिए ऐसे टूटते मानो कोई स्वादिष्ट व्यंजन हो। किसी को याद आया कि कहीं घोड़ों के खुर दबे पड़े हैं। उनको निकाला गया और उसका सूप बनाया गया। जब वे खत्म हो

गये तब चूहों की बारी आई। थोड़े दिन में वह भी समाप्त हो गये। अगस्त बीत गया। फिर सितंबर भी। बाहर शरद ऋतु हँस रही थी। रात को सर्दी हो जाती थी। काले सागर को तूफान झकझोर रहा था। दिन को अब भी थोड़ी बहुत सूरज की गर्मी तहखाने में पहुँच जाती थी। भूख प्यास से गैरिजन की शक्ति क्षीण होती जा रही थी। कुछ दिनों के पश्चात् वीर सेना नायक ले. निकोलाई बेलोव भी मारा गया। कई कमाण्डर और सैनिक युद्ध में खेत रहे। रात के समय आक्रमण करना असंभव हो गया। मरे हुए लोगों को दफनाने की शक्ति भी नहीं बची थी। लोग घावों और भूख से मर रहे थे। पाँच अक्तूबर सन् उन्नीस सौ बयालीस तक पाँच महीनों के सतत संग्राम और प्राणांतक संघर्ष के पश्चात ले. निकोलाई येफ्रेमोव को भी बंदी बना लिया गया। उसके कानों के पर्दे फट गए थे वह अपने साथियों के साथ मलवे में दबा पाया गया। मुक्त होने के पश्चात् यह वृतांत ले. निकोलाई येफ्रेमोव ने लेखक सर्गेइ स्मिर्नोव को सुनाया।

रेखाचित्र

धूल जमा चेहरा

कमला प्रसाद सिंह

देवराज से मेरी पुरानी घनिष्ठता है—ठीक साबुन और उसके रैपर की तरह। एक दूसरे की गुणज्ञता से वाकिफ और कायल। हम वर्षों साथ पढ़े हैं, साथ रहे हैं। कॉलेज के दिनों में उसकी गिनती क्लासिक किस्म के नौजवानों में थी, आम छात्रों से बिल्कुल अलग, आम की डाली में बॉझी की तरह। चुहलबाजी, सिनेमा हॉल के आगे चक्कर, रेस्तरां में अड्डाबाजी, छात्राओं के कॉमनरूम के आगे चक्कर आदि की सामान्य छात्र जन्य विशेषताओं से बिल्कुल अलग, कटे हुए, छँटे हुए। अध्ययन की गंभीरता का कंबल ओढ़कर, कलात्मक रुचि का घी पीना उसका स्वभाव था। गोया पढ़ाई को वह अपना कर्त्तव्य, तथा कला की पूजा को आत्मा की रोशनी मानता था। हर संगीत समारोह में उसकी मौजूदगी को लोग ट्रेन में गार्ड की तरह अनिवार्य मानते थे। तबला वादन में हालाँकि तीन ताल और कहरवा से आगे नहीं बढ़ पाया था, मगर उसका सपना, गोदई महाराज को छूने का था। उसका रूप विन्यास भी उसको पैदाइशी कलाकार घोषित करता था। चूड़ीदार पाजामा, गले पर जरी का काम किया हुआ रेशमी कुर्ता, एक काश्मीरी शाल जो बगल से लपेटा देकर एक कांधे की शोभा बढ़ाता, लंबे बाल जो कंधे पर झूलता होता, आँखों में सुर्मा, और अंगूठा को छोड़कर शेष उंगलियों में अंगूठियाँ कुल मिलाकार उसके व्यक्तित्व में लखनऊ और बनारस की मिश्रित अदाकारी की झलक पहली नजर में मिलती थी। कॉलेज और शहर के किसी भी सांस्कृतिक मंच पर उसका रहना उतना ही जरुरी था, जितना कि सामियाने का। हर गाने वाले एवं वालियों के तालिया या बेतालिया फिल्मी संगीत से लेकर भजन-गजल और लोक गीतों के साथ तोड़ जोड़कर वह संगत कर लेता था। वैसे कई बार कुछ बड़े गायकों के बगल में भी बैठने का उसने साहस किया था। यह बात दूसरी है कि उनके साथ खुद का तबलची होता था। अन्यथा वह उनको भी देख लेने का साहस रखता था। एक बार तो कॉलेज के मंच पर कुमारी रेवा मुखर्जी के लोकनृत्य और कत्थक के मिश्रित टाँग फेंकने वाला नृत्य पर संगत करके उसने अखबार में अपना फोटो सहित समाचार का भी अधिकारी बना था, जिसकी कटिंग बहुत दिनों तक उसके मनी बैग में विजिटिंग कार्ड की जगह रही थी।

वह मुझसे बराबर कहा करता था—'यार पढ़ाई तो इसलिए कर रहा हूँ, कि पिता जी ऐसा चाहते थे। मेरी आत्मा तो कला के साथ जुड़ गई है। इससे मुझे एक आत्मिक सुख मिलता है। मन सांसारिक गंदगियों से ऊपर, एक उज्ज्वल लोक का बासी बन जाता है। फिर वह संस्कृत का एक पुराना श्लोक दुहरा देता था—'साहित्य संगीत कला.......।'

कॉलेज से बी.ए. करने के बाद, कोई नौकरी नहीं मिलने के कारण मैं आलू बेचने का काम करने लगा। सोचा कोई ऐसा धंधा करूं, जिसमें टैक्स वगैरह का झमेला न रहे। साग सब्जी बेचने का धंधा मुझे निरापद लगा था। देवराज अपने पिता के दबाब में आकर किसी अन्य शहर में आगे पढ़ने चला गया था। वैसे उसकी इच्छा बनारस जाकर पं. गोदई महाराज के शिष्य बनने की थी। मगर पिता इच्छा परम् बलम' के आगे उसे घुटने टेकना पड़ा था। शुरू शुरू में एकाध वेदना मिश्रित पत्र भी मुझे मिला था, जिसमें किसी वैष्णव को सामिष भोजन करने की मजबूरी जैसी बातें होती थी।

चार-पाँच वर्षों में मेरा आलू का धंधा फलने-फूलने लगा था। अब मैं दूसरे शहरों से थोड़ा बहुत माल भी मँगाने लगा था। धन्नू राम आलूवाले, के नाम से लोग मेरे फर्म को जाननें लगे थे। इस साल में लगभग दस हजार का फायदा भी हुआ था। मगर सरकार से किसी ने मेरे बारे में चुगली कर दी या क्या, कि उसने राज्य के बाहर से आने वाले आलू पर टैक्स लागू कर दिया कर दिया था। यह दुर्घटना तब हुई थी, जब एक फर्म से मैंने तीन डब्बा आलू मँगाने का ऑडर्र और अपनी कमाई की सारी पूंजी उसे अग्रिम दे चुका था।

इसी समय रेगिस्तान में ओएसिस की तरह एक दिन पता चला, कि मेरा यार देवराज इसी शहर में टैक्स का अफसर होकर आ गया है। पहले तो मुझे आश्चर्य हुआ कि पं. रविशंकर के साथ तबले पर संगत करने की आकांक्षा रखने वाला मेरा यार इस धंधे में कैसे आ गया? वह खेसारी दाल का बोरा गिनने से लेकर साहूकार के बहीखाता से आना पाई जोड़ने की जहमत क्यों कर उठा पायेगा? फिर मुझे खुशी भी हुई कि इस रुखड़ा पद पर एक सही माने में कलात्मक आत्मा वाला आदमी तो आ गया है। सोचा थोड़ा आलू की सौगात लेकर यार से मिलने उसके डेरे पर कभी जाऊँगा।

सौभाग्य से उसी दिन सड़क पर वह मिल गया। सरकारी जीप पर सवार था। तीन चपरासी पीछे बैठे थे। मुझे देखकर उसने गाड़ी रोक दी। एक औपचारिक सर्द भाषा में मुझसे पूछा—'कहो कैसे हो? क्या करते हो?' मैं उसको देखने लगा। वहाँ कलाकार वाले लंबे बालों की जगह छोटा छँटा हुआ बाल था। रेशमी कुर्ता पाजायमा की जगह पूरा सूट बूट में फिट था। चेहरे पर हँसी, मासूमियत आँखों में स्वप्निल गंभीरता कुछ भी नहीं थी। चेहरे पर एक तनाव, आँखों में गर्व एवं चिंता का मिश्रित भाव, बहुत जल्दीबाजी का एहसास मुझे ऐसा लगा, कि इसने अपने चेहरे की प्लास्टिक सर्जरी करा ली है, शायद। मैंने मुस्कुराते हुए उसे हल्का करने के लिए कहा—'मैं तो आलू बेचने का धंधा करता हूँ। तुम सोलह मात्रा से आगे बढ़े या नहीं? मगर उसने इस मजाक का कोई उत्तर नहीं दिया। सिर्फ इतना ही कहा—'आलू अब टैक्सेबिल हो गया है। डेरा पर आओ।' और उसने गाड़ी बढ़ा दी। मैं बहुत देर तक सोचता रह गया कि यह कौन आदमी था, जिससे मैं देवराज समझ बैठा था। मगर आँखों को इतना धोखा तो नहीं हो सकता था।

वैसे मेरा कारोबार कुछ ऐसा था कि दो चार घंटे बैठने के बाद फुरसत ही फुरसत रहती थी। सो अगले दिन थोड़ा भागलपुरी लाल आलू सौगात के रूप में लेकर मैं उसके डेरे पर सुबह आठ बजे पहुँचा। डेरा के सामने तीन भरी ट्रकें खड़ी थी। दरवाजे पर पाँच-छः व्यापारी किस्म के लोग करबद्ध मुद्रा में कुछ बैठे और कुछ खड़े थे उसने मेरी ओर देखा और आँखों से कुर्सी की ओर इंगित किया। बोला कुछ नहीं, क्योंकि वह दूसरों से उलझा था। इंगित समझकर मैं चुपचाप बैठ गया। एक व्यापारी गिड़गिड़ा रहा था—'हुजूर, भेजने वाले की गलती हो गई।' देवराज ने डाँटा—'चुप रहो। तुम सारे लोग चोर हो। सादा परमिट पर माल मँगाकर टैक्स मारना चाहते हो? टेक्स के अलावे फी ट्रक पाँच हजार करके जुरमाना देना होगा। जितनी बार बोलोगे जुरमाना एक हजार की दर से बढ़ता जायगा।' व्यापारी

चुप हो गया था। चक्रवृद्धि के झंझट में कौन पड़े।

इसके बाद वह दूसरे व्यापारी का कागज देखने लगा। इसके बाद उसका चपरासी ट्रेजरी में जमा करने हेतु लगभग पचास बैंक ड्राफ्ट और रजिस्टर लेकर पहुँच गया। उसने सबों पर कई कई जगह दस्तखत किये। इस व्यस्तता के बीच उसने चार बार टेलीफोन पर भी बातें की। मुझे उस पर दया आने लगी थी। एक भला सा आदमी पूरा-पूरा मशीन बना दीख रहा था। कहाँ गए उसके जजबात, कहाँ रह गया उसका दिल-उसके पूरे शरीर में मुझे सिर्फ उसकी खोपड़ी नजर आई। एक पखेरू का पंख कतर दिया गया हो जैसे—कर्तव्य के पिंजड़े का कैदी।

इस ताम झाम में दस बज गए थे। उसे नहा खाकर दफ्तर भी जाना था। इसलिए उन सबों को मुक्त करके वह मेरी ओर मुखातिब हुआ। मैंने पूछा—'दो मिनट बात कर सकते हो?' उसने थोड़ा मजबूर होते हुए कहा—'देखते हो, चाय तक पीने की फुरसत नहीं है। अब जाकर तुरंत खाना है और दफ्तर के ढेर सारे काम है। पाँच बजे के बाद शहर में चैकिंग करनी होती है, वरना सारा टैक्स गोल हो जायगा। रात में बिछावन पर सोने की जगह ऑर्डर लिखना पड़ता है। चार बजे सुबह से ही सड़कों पर जाकर ट्रकों को चैक करना पड़ता है। इस छोटें से कस्बे से दो करोड़ का सालाना कर निर्धारित है। जैसे हो इतना वसूलना है। उस पर भी ऊपर से रोजाना पत्र आता है, कि काम से वे संतुष्ट नहीं हैं। अब क्या लोगों की चमड़ी उधेड़ दूँ?'

मैंने देखा उसकी शिकायत किसी ऐसी अज्ञात शक्ति के विरुद्ध थी, जिसके बारे में वह कहीं-कहीं कुछ बोलकर या अपने से लड़कर, मन को सांत्वना दे लेता था। मैंने उसे हल्का करने के लिए कहा—'यार, अब तो तुम्हारे पास किसी चीज की कमी नहीं है तब.........।' उसने मुझे रोककर कहा—इन सारी चीजों के बदले मुझे एक चीज दे देनी पड़ी है—अपने मन की शांति। अब देखो. परसों मुख्यालय से जॉच दल आ रहा हे। जाँच तो खाक करेंगे। मगर चार बार टेलीफोन आ चुका है, कि सर्किट हाउस में जगह, खाने-पीने का अच्छा इंतजाम, घूमने के लिए गाड़ियों की व्यवस्था ठीक होनी चाहिए। जाँच अधिकारी अपनी पत्नी के साथ आ रहे हैं। वे काली के भक्त है, उन्हें यहाँ से पचास मील दूर महाकाली के प्राचीन मंदिर में दर्शन करने जाना है। उनके साथ जो बड़े बाबू आ रहें हैं, उनकी पुत्री की शादी निकट ही है। सो कुछ खरीददारी की भी समस्या है। अब फाइलों को दुरुस्त रखने से लेकर ये सारे प्रबंध मेरे सिर पर है।'

मैंने पुन: विषय बदलना चाहा—'संगीत के प्रति तुम्हारी रुचि तो जीवित है?' उसने दुखी स्वर में कहा—'संगीत तो मुक्त आत्मा की खुराक है। मेरे जैसा बंदी संगीत से कब और कैसे ताल्लुक रख सकता है। अब देखो इस महीने में अठारह लाख संग्रह करना है, जिसमें आज पच्चीस तारीख तक सिर्फ दस लाख हो सका है। अब कैसे क्या होगा, इसी में दिमाग का पुर्जा ढीला हो रहा है।

इसी समय नौकर ने आकर खाना खाने की सूचना दी। उसने घड़ी देखकर नौकर से कहा—'देखो, साढ़े दस बज गए हैं। मेरा खाना ऑफिस में ही पहुँचा देना।' और वह बिना नहाये धोये, उसी पोशाक में जीप पर बैठ गया।

इस व्यक्ति की स्थिति देखकर मुझे नबाबों के हरम की कहानी याद आ गई। किसी सुंदर गरीब लड़की पर जब नबाबों का मन आ जाता था, तो वह उसे अपने हरम में मँगवा लेता था। लड़की के माँ-बाप समझते थे, कि उसकी लड़की रानी बनकर राज महल में जा रही है। मगर वहाँ वह लड़की सारा जीवन बंदिनी बन कर रहती थी। जेवरों, कपड़ो से सजी एक लाश की तरह, जिसे जीवन में बाहर झाँकने तक की अनुमति नहीं होती थी। सुविधा से स्वतंत्रता का पुराना बैर है। धन और पद सुविधा दे सकता है—सुख नहीं। यह आदमी, कार, बंगला, पद, पैसा पाकर भी बहुत दुखी है—कंगाल।

लगभग पंद्रह दिनों तक मैं चंद कार्यों में मशगूल रहा। देवराज से मिलने का समय नहीं निकाल सका था। वैसे जब कभी मुझे फुरसत होती थी तो मैं उससे मिलने की सोचता था। मगर तभी याद आ जाता कि वह डेरे पर मिले कि न मिले। इसी बीच मेरे साथ एक दुखद घटना हो गई। मेरा आलू जिस मालगाड़ी के डब्बे में लादा गया था—शायद उस डब्बा से गंधक या सोडा वहाँ उतारा गया था। उसकी सफाई किये बिना ही कुलियों ने उस में मेरा आलू लाद दिया था। फिर रेलवे हड़ताल के कारण मेरा आलू किसी स्टेशन पर एक महीना तक पड़ा रह गया था। और जब वह वैगन हमारे स्टेशन पर पहुँचा तो माल गाड़ी के डब्बे से पानी चू रहा था और उससे सड़ाँध बदबू आ रही थी। गोया कि सारे आलू सड़ चुके थे।

उसे देखते ही मेरा हाथ पैर सर्द हो गया था। मुनाफा के लिए व्यापार किया जाता है, यहाँ मूलधन भी गायब हो गया था। रेलवे वालों से पूछा, तो उसका सही जवाब किसी ने भी नहीं दिया। सही उत्तरदायी को ढूँढ़ने के लिए, फिर उस आलू के बराबर ही पैसा चाहिए था। सो एक विरोध पत्र देकर, मैं हताश होकर बैठ गया था। एक दो दिन किसी काम में मन नहीं लगा। सुख में चांहे लोग अपनों से अलग रहें, मगर दुख में मित्रों की सहानुभूति की आवश्यकता हो जाती है। सो दूसरे दिन शाम को देवराज के डेरे पर पहुँचा था। सौभाग्य से वह घर पर ही था। उसे कुछ जुकाम सा हो गया था। इसलिए चादर ओढ़कर बैठा था। मुझे देखते ही उसने अपने बैठक खाने में आने को कहा था। भीतर जाकर देखा तो आलीशान गद्दादार सोफा, खूबसूरत कालीन, कई अच्छे चित्र, कोने में टी.वी. बगल में लकड़ी के शीशादार शो केस में कई खूबसूरत, बेश कीमती मूर्तियाँ एवं खिलौने इन सारी चीजों से उस बैठक खाने की रईसी झलक रही थी। एक कोना में गोदरेज की एक आलमारी पड़ी थी। उसके ऊपर तबला और बॉया औंधा पड़ा था। उस पर धूल तो जमी ही थी, मकड़े की कुछ जालियाँ भी लगी थी। मुझे लगा, कि इस तबला के साथ देवराज की कलात्मक भावना पर भी मकड़ी की जाली लग चुकी है। यह काठ और चमड़ा का निर्जीव पदार्थ, कभी देवराज की उंगलियों में कैसी बिजली भर देता था और उसकी रोशनी उसकी आत्मा को किस प्रकार नहला देती थी? आज वह आलमारी के ऊपर बेबस उपेक्षित पड़ी हुई है। मुझे तबले की ओर निहारते हुए देखकर, देवराज कुछ उदास-सा हो गया था। मुझे वह बड़ा गरीब जैसा आदमी लगा। मैंने उसके संबंध में कोई बात करना उचित नहीं समझा। सोचा, यह पूरा कारोबारी आदमी हो गया है। इसलिए इससे कारोबार के संबंध में ही कुछ बातें करके अपना जी हल्का करूँ।

मैंने अपना पूरा दुखड़ा उसे सुनाया—'भाई देवराज मैं तो बिल्कुल लुट गया हूँ। पूरा तीन डब्बा आलू रास्ते में सड़ गया। स्टेशन पर पड़ा महक रहा है। कहाँ से क्या करूँ। किस पर 'क्लेम' करूँ? कब तक मिलेगा, कितना मिलेगा—मिलेगा या नहीं, कुछ समझ में नहीं आ रहा है। इतना मन आलू था।

जब मैं उससे बातें कह रहा था, तो सोच रहा था कि यार से कुछ सांत्वना, कुछ मार्गदर्शन मिलेगा। दुःख बँटा कर मन कुछ हल्का होगा। मगर मेरे बात करने के बीच में वह कागज पर कुछ-कुछ लिखता भी जा रहा था। अंत में मैंने उदास होकर कहा—'भाई मैं तो बिल्कुल लुट गया हूँ। बर्बाद हो गया हूँ। कुछ रास्ता बताओ।' लेकिन उसने बेहद ठंढी आवाज में जो कुछ कहा उससे मुझे लगा कि मैं भीतर से भी लुट गया हूँ, बिल्कुल दिवालिया। उसने कहा—'तुम्हें अपना रोना सूझ रहा है। माल तो आखिर बाहर से चला था, और एक राज्य से दूसरे राज्य में आ भी गया था। कानूनन इस पर सरकार का लगभग छः हजार का टैक्स होता है, इसका क्या होगा?'

मैं उसका मुँह देखने लगा था। तबले पर ऊपर से नीचे तक धूल जमी थी।

पुराने बाजों की दूकान

केशव कालीधर

पुराने बाजों की उस दूकान में
सुरीले और बेसुरे वाद्यों का
अजीब जमघट था
कोई नहीं जानता था
कौन सी रासलीला सँजोए
यह मुरली
धूमिल शीशे वाली अलमारी में
कब से बंद है?
किस दर्द को आलापों में भरे
यह वायोलिन
कब से इस लोहे के काँटे पर टँगा है?
किनारे पड़ा रहने वाला प्यानो
किस अधूरी कथा को
हर आघात पर बार-बार दुहराता है?
अपनी खींचतान और झटकों से निरपेक्ष
मटमैले फर्श पर सारंगी और सितार
किस महफिल को याद करते पड़े हैं?
कील से लटकी तुरही
अन्याय के प्रति किए हुए अपने किस उद्घोष को
खोखलेपन में आज बिसूरती है?
चटखे तूंबों वाली वीणा
किस अभ्यास-भग्ना सरस्वती की
उँगलियों की याद करती है?
सड़ी खाल का मुर्दा नगाड़ा

किन बढ़ते कदमों के साथ
बजाए हुए धौंसे की
धमक अब भी सुनता है?
आँधियाँ आतीं
और बाजों पर रोज़-बरोज़
बढ़ती हुई धूल
उस ब्रज रज को निर्मित करती
जो इन सुरीले पौधों को
बाँधती थी लय में
जहाँ कृष्ण का रास
और कुरुक्षेत्र के धौंसे
झनझनाते थे पूरी दूकान को।
सुर के इस मेले की चर्चा
ज्यों-ज्यों फैली
नए ग्राहक दूकान पर आए
बाजों के नए मूल्य घोषित हुए :

अन्यायों के प्रति उद्घोष करने वाली तुरही को
कुंभ मेलों के अखाड़ों के लिए मंडलाधीश ले गए;
अधूरी कथा को हर कबाड़ी के सामने
दुहराने वाले प्यानों को
लंबा चोगा पहने एक मिशनरी ने
अपने नए सेंटर के लिए उठवा लिया;
एक ज़नाना म्यूज़िक-टयूटर
उस दुकान में घुसा
और अपनी शिष्याओं को सिखाने समझाने
रंगीन सपनों वाले सितार को
सीने से लगा, ले गया;
बंगाली-काट का कुरता पहने जो आया
वीणा को
उसने अपने ड्राइंगरुम के लिए उठाया;
नगाड़े का धौंसा
नीलामी बोलियों को
आकर्षित करने के काम आया;
बाजों से लिपटी ब्रजरज
मट्टी होती जा रही थी
और नए ग्राहकों के हाथों
अभ्यस्त होता बाजा
अपने ही जादू से
मुक्त होता जा रहा था

एक अपना राग अलापती
ढपली वहीं पड़ी रही
निरगुनियाँ हाथों की तलाश में
और लोहे के काँटे पर टँगा वायोलिन....
जब-जब युवा शीरी-फरहाद आए
कंपनी के बंबइया डाइरेक्टर आए
उसके सुर का 'ब्रिज' टुकड़ों में मिला !

उतरी खूँटियों को
वे बार-बार कस कर
अपनी तरह मिलाना चाहते
फिर कसते-हाँफते
और फिर कसते....
और फिर मोटे हरफों में उस दूकान पर
लिख जाते —
'ढपली चुक गई है
और वायोलिन मर चुका है—
और हमने इस दूकान का पर्दाफाश कर दिया है।।'

जनपद की बेटी

विजेंद्र

जहाँ-जहाँ तक आँखें जाती
देख रहा
सरसों है फूली
हट्टी कट्टी पहन घाघरा
चुन्नी धानी
अचरज पीली।
धूल घूसरित तन है उसका
आई हो जैसे
डांगों से चल कर
गढ़ लीकें
फिर भी बदन सलोना पावन
लंबा कद है
लगती है
मुझ से भी ऊँची।

बहुत बार देखा है
मैंने
हम सबने
चेहरे पर ऐसा अपनापन है।

फूली सरसों
दूर दूर तक ऐसी फूली
मन करता है
गौरी कह कर
उसे बुलाऊँ
बहुत पास से
उसको देखूँ
कथा राम की उसे सुनाऊँ।

वहीं-वहीं होकर पथ मेरा
एक तरफ
वह खिली खड़ी है
हाथ किए अपने पीले
तरफ दूसरी सूखी खाई
काँटेदार कटैरी कीकर
खटमीठी झरबेरी ठाड़ी
पास उसी के
खसे गिरे
गंजे टीले हैं।
आज लगी वह उदास मुझको
सोच रही है
गया पूस भी
बूँद नहीं है
पाले का डर सता रहा है
मन ही मन अकुलाती
कैसे होगा
पानी का तल खसक रहा है
नहीं पता रात या दिन है।
काका, ताऊ
बापू, भैया
धाय पाय के लगे हुए हैं
खड़ी सोचती
क्या कर लेंगे
जब नहीं रहेगा
जल धरती में।

हार दिखाई पड़ता पीला
नीचे तक
गुँथी हुई है चोटी चिकनी
अँग अँग कसा हुआ है
चुल बुल ब्रज की बोली
भली अनोखी दिखने में भोली
जैसे हरी डाल पे
बैठी श्यामा
देख रही है बिखरी रोली।
आँखों में
अंजन लगा हुआ है।

देख रहा हूँ
चेहरे पर दाग धूप के
मेहनत का उजास गालों पर
जब जब हँसती ठिठ्ठा देकर
घने कौल से दिख आती
बत्तीसी पूरी
एक हाथ में लेकर हँसिया
काट रही है
छौंकर की टहनी।

जब-जब देखा
उसको मैंने
बोली, क्या घूर रहा है
मैं हूँ किसान की दुहिता
नहीं गठाना मुझको उसने
होगा कोई
मन चला, समझ रहा है
तितली मुझको।
बार-बार मेरे मन का
कालापन टूटा।

जहाँ-जहाँ तक आँखें जातीं
फूली सरसों
हँसती गाती
लाड़ लड़ाती
जैसे हो
पूरे जनपद की बेटी

□

दो कविताएँ

एल.एल. मेहरोत्रा

(एक)

तूफान

कैसा है यह घमासान तूफान
इसके पँख
मौत से भी बड़े कुछ पाँच हाथ
छूते ही कर देते नेस्तोनाबूद
जिंदगी का नामों निशान
चेहरे के गुलाब की तो बात ही क्या!
सदियों से सोये कफन
छोड़ धरती की छाती
आज रहे खोज
सागर की थाती
या सीमाएँ अतीत की
वर्तमान के इस अविवर्त्य विध्वंस के पश्चात्

जिसमें नर नारी आबाल वृद्ध
पशु, वृक्ष, सभी
छोड़ एक दूसरे का साथ
हो चुके हैं समर्पित
सागर की कालाग्नि को
जिसकी मँडराती हुई लहरें
सहस्रों जिह्वाओं की भाँति
कर चुकी हैं भस्म
क्षणमात्र में
उनके सर्वस्व को
समस्त अस्तित्व को
जो क्षणभर पूर्व

लगता था अक्षुण्ण
अब उस ग्रस्त क्षण की कब्र पर
न कोई आँसू बहाने वाला बचा है
न कोई फूल चढ़ाने वाला
और फूल तो फूल
पत्थर भी
छोड़कर अपने अविचल आधार
कर चुके हैं प्रयाण
जलनिधि के अंतराल में
और तमाल की झुग्गी झोपड़ियों का
शताब्दियों का इतिहास
केवल उनका सहचर
जो अभिलेख बन
उनकी देह पर तो न हो सका अंकित
पर है कहीं संचित
उनके मूक हृदयों में
जिसे अनपढ़ नर
सदा ही
आने वाली सदियों में भी
समझेगा केवल
हृदय हीन चट्टान सुन्न
अचेत
जीवन की संज्ञाओं से अछूत।
कैसा महान यह तूफान
हा, कैसा विध्वंस
प्रलय काल
कैसा युगांत
किंवा जन्मेगा आज
नवयुग प्रशांत!

□

(दो)
कविता

यह कविता प्रस्फुटित हुई है
आकाश के तारों से नहीं
हृदय के उद्गारों से।
इसके ये लाल पीले नीले गुलाबी
जामुनी रँग
किसी इंद्रधनुष के नहीं
मानस में चिरंतन
वासनाओं कल्पनाओं
परितापों उल्लासों की
होली के रंग हैं
जिनसे भीगा तन
नख शिख
भीगे पद चिन्ह
कविता पद।
इस कविता का स्वर
वसंत की कोकिल का गान नहीं
न है वह ग्रीष्म के बबण्डर का निनाद
मन वीणा के उदात्त अनुदात्त स्वरित
का वह ताना बाना है
जो रातभर गुनगुनाता रहता है
मन ही मन
कि कब हो सुबह
कविता नयन खोले
उन नयनों से निकलें बैन
अतीत की अभिलाषा के
वर्तमान के आक्रोश
भविष्य की आशा के
सबके सब समाए हुए
एक ही पद में
जो आदि भी है अंत भी
अनादि भी अनंत भी। □

दो कविताएँ

मधुर शास्त्री

(एक)

शब्दों के सौदागर से.

सुन ओ शब्दों के सौदागर,
जन गाहक है,
गुमराह न कर

जितना मँहगा बाजार हुआ,
उतना ही सस्ता प्यार हुआ,
जिसमें कीमत ही कीमत हो
वह भी कोई व्यापार हुआ,

तू भाव चढ़ा दे भावों के,
कुछ शब्दों की,
परवाह न कर,

आँसू की भाषा अनजानी,
आँखों का सूख गया पानी,
सब जीवन जीने के भूखे
जीवन का कौन यहाँ दानी?

इस मन की दिशा बदल दे तू,
यूँ देख दशा को आह न भर,

माना मन तेरा है प्यासा,
पर तेरी रचना है आशा,
तू केवल देख रहा खुद को
दिखता संसार उदासा-सा

चिंतन का दामन थाम जरा
कुंठित के साथ
सलाह न कर,

सुन ओ शब्दों के सौदागर
जन गाहक है,
गुमराह न कर

□

(दो)
कब याद करूँ...

व्यस्त दिवस है,
चिन्तित रजनी,
और फिर उदास हैं सब शाम,
जिंदगी, तुझे कब याद करूँ ?

खुलते ही आँख सवेरे की,
अखबार दिखाता हत्याएँ,
सूरज के चढ़ते घिर आतीं-
रोटी पानी की चिंताएँ,
तन थका हुआ,
मन है कुंठित,
क्षण भर के लिए नहीं विराम,
जिंदगी, तुझे कब याद करूँ ?

ये आँखें जान नहीं पाईं
कैसा होता आकाश खुला,
दिन भर की राम कहानी को
संध्या देती हर रोज भुला.
भूखा प्यासा,
कौन सोचता,
सूनापन या कि मचे कुहराम,
जिंदगी, तुझे कब याद करूँ?

यह सच है आँखों वालों को
है अंधा कर देती माया,
मानव अपने ही हाथों से-
रचता बारूद भरी काया.
जिसको देखो,
समझाता है,
अपनी नई नीतियां अनाम,
जिंदगी, तुझे कब याद करूँ?

☐

दो कविताएँ

दिविक रमेश

(एक)

होना तो है ही

राख राख
ठंडी, ढेर
कहीं-कहीं चमकता है जुगनू
मेरी आँखों से ओझल
निष्कासित कल्पना,
मैं
कुरेदता रहा हूँ
लगातार लगातार
लक्ष्यबद्ध हीन अब तक...
जाने कब तक जाने कब तक.......
उलझा रहूँगा अमुक्त
करता रहूँगा
अथाह जंगल की यात्रा
असंख्य असंख्य भावना पुरुष सजोते
देह की हर धड़कन में,
जाने कब तक
होना होगा सहयात्री
काँपते हुए जल का !

□

(दो)

हरा, हरा, हरा

क्षितिज तक
सिर्फ हरा और हरा
दादा की अनथक कहानियों सा,
कितना साफ है
समूचा
कहीं भी तो
कोई रमक नहीं,
हाइवे पर चले जा रहे राही सा
डूबा अपने में
सुनाता है
अपनी कहानी अपने आप को.
कहाँ है घटाटोप
बहुत तंग किया है जिसने
सदियों से इस हरेपन को,
लगातार
अलगाता रहा है जो।
ठोकता रहा है पाबंदियाँ
जगह जगह
झूमती हरियाली पर
जाने कहाँ हो गया है गायब !
मूक
मेरे सवालों पर
हँसना ही था ओक-वृक्षों को

हरा, हरा, हरा
सिर हिलाता हुआ
हज़ारों हज़ार
साथ साथ !

□

पिछले दिनों पूर्वी जर्मनी की यात्रा के दौरान सहकारी खेती का भव्य दृश्य देखकर लिखी गयी कविता

तीन कविताएँ

शिवकुटी लाल वर्मा

(एक)

ज़िंदगी और आकाश

ज़िंदगी और आकाश
आकाश और ज़िंदगी
क्या दोनों किसी तल पर मिलते हैं?
ज़िंदगी जब आकाश पहन कर
धरती के चारों ओर नृत्य करती है
या आकाशीय ज़िंदगी
फुदकती हुई नीचे उतर
किसी जड़ित दृश्य की मेंड़ें लाँघ कर
कोई मर्म-सत्य चुगती है
क्या वहीं
वहीं तब
किसी नक्षत्रीय छंद-सम
और फूटते हुए अँकुवे के अर्थ-राग में
ज़िंदगी और आकाश
दोनों एक दूसरे में जुड़ते
अपनी उपस्थिति को एक दूसरे में गतिमान करते
एक दूसरे में विलीन हो जाते हैं?

(दो)

समय आने दो

ओ शिशिर की रात की शत वर्जनाओ
यह तुम्हारा तारिकाओं सा चमकना साक्षी हो
सच है यद्यपि

अभी सारी
थकी-हारी
सर्जना की शक्तियाँ सोई पड़ी हैं
उन्हीं को उष्ण नूतन आस्थायें सब उढ़ा देंगे
भले ही ठिठुरें पुरानी शरद-मुद्रायें लपेटे हुए
आकृतियाँ हमारी

समय आने दो
सृजन की शक्तियों को जाग जाने दो
उन्हीं से
एक उज्ज्वल सवेरा
हम फिर दुहेंगे।

(तीन)

तुमने कहा तथागत

जब तक मैंने निज को गाया
बना रहा अभ्यागत
जब मैंने तुम सब को गाया
रचा गया ज्यों आगत

जब-जब मैं अपने पर रोया
तब-तब हुआ विगत
जब-जब मैं रोया तुम सब पर
तुमने कहा तथागत !

□

दो कविताएँ

राम जैसवाल

(एक)

गंध का टूटना

इसीलिये मैं
स्वयं को तुम पर
व्यक्त नहीं करना चाहता था,
जानता था कि यदि
तुमने कहीं मुझे
अस्वीकार कर दिया
तो कितना अकेला
छुटूँगा मैं,

और अब नितांत
अकेला रह गया मैं
बस, यह भर जान पाया
कि कितना असंगत
होता है
अपना मन कहीं भी
व्यक्त करना,
और कितना कठिन होता है
किसी को अपनाना,
यों तो अकेले ही सभी
जीते हैं,
मैं भी कितना अकेला छूटा
मात्र
मन को व्यक्त करने के कारण।

(दो)

वही सब शेष रह गया

मेरे मन में
तुमसे जो कहने को था
वही तुम्हारी
आँखों में भी था,
पर
मैं अपने मन के
उन शब्दों को
भावना के रंग देने
से पूर्व
संरक्षण जुटा लेना
चाहता था,
और, तुम शायद
स्वयं को और सँवार
लेना चाहती थीं,
पर मेरा पौरुष
उस संरक्षण को
जुटाने में थक गया
और सँवरने के उपक्रम
जुटाती चुक गईं तुम,
और जो कहना था
वही शेष रह गया,
जीवन की कैसी नियति हुई
कि जो साधन था
वही साध्य हो गया,
जो दिन थे वही सपने हो गये
और सपने सच करने में
चुक गये दिन सब,
सब शेष रह गया
वही
जो कहना था...।

□

दो गीत

सुधेश

(एक)

जिंदगी की भाषा

अब नया लिखना पड़ेगा ज़िंदगी का व्याकरण।

आदमी क्या आज भाषा हुई संज्ञाहीन है,
क्या करेगी वह क्रिया संदर्भ से जो हीन है,

विशेषण जितने बड़े छोटा हुआ अंत:करण।
अब नया लिखना पड़ेगा जिंदगी का व्याकरण।

शब्द अपने अर्थ से ही कट गये हैं आजकल,
वाक्य के अभिप्राय कितने बँट गये हैं आजकल,

हो गया स्वच्छंद कितना लेखनी का आचरण।
अब नया लिखना पड़ेगा जिंदगी का व्याकरण।

आज चिंतन का ज़माना वर्तनी की बात क्या,
जहाँ कथनी ही बहुत हो कर्म की फिर बात क्या,

आज भाषा माँगती है मौन का वातावरण।
अब नया लिखना पड़ेगा जिंदगी का व्याकरण।

अनुच्छेदों में विरामों की जरुरत अब कहाँ,
ज़िंदगी देती किसे आराम की मोहलत यहाँ,

कठिन होता जा रहा है जिंदगी का व्याकरण।

(दो)

मौसम प्यार का !

आया है मौसम प्यार का।

काले बादल घिर घिर आये,
झोंपड़ियों वाले घबराये,
देखो किस का घर डूबेगा
किसका बचे उधार का।

आया है मौसम प्यार का।

पुरवैया भी चली रसीली,
कितनी आँखें फिर भी गीली,
इसकी उड़ी झुपड़िया, उसका
तो सब कुछ घरबार का।

आया है मौसम प्यार का।

बादल गरजा, बिजली चमकी,
कितने दिल, की ज्वाला भड़की,
जिस पर वज्र गिरा, उस आँगन
में स्वर हाहाकार का।

आया है मौसम प्यार का।

रिमझिम रिमझिम का स्वर प्यारा,
कितनों को वर्षा ने मारा,
जिनका जीवन क्रंदन, वे क्या
गायें गीत मल्हार का।

आया है मौसम प्यार का।

□

दो गीत

विनोद शर्मा

(एक)

साँझ का गीत

बरसों से बंद पड़े
सुधियों के द्वार,
खोल गयी संदली हवा।

कोहरिल पोशाक पहनकर,
निकली है साँझ टहलने,
देहरी पर नीरवता की,
कोलाहल लगा पिघलने,
वीतराग प्राणों में,
गंध-अंग-राग
घोल गई संदली हवा।

चेहरे पर आसमान के,
मलता है राख धुँधलका,
जाने क्यों मन हुआ उचाट,
अनमने उदास क्षितिज का

शंकाकुल कानों में,
प्रीत-पगी बात
बोल गई संदली हवा।

(दो)

भुवन सुंदरी जब से रूठीं
तेरी मुस्कानों की कलियाँ
सपनों का उपवन रोता है

तेरे घूंघट की अनुमति ले
आँखों ने अभिसार किया था
तेरी चितवन के इंगित पर
अधरों ने व्यापार किया था

योजनगंधा, जब से रूठा
तेरी सांसों का मलयानिल
मन का चंदनवन रोता है

सागर कन्या जब से रूठा
तेरी तरूणाई का बादल
सुधियों का सावन रोता है

यदि मैं होता कवि विद्यापति
लिखता तेरे सम्मोहन पर
रच देता श्रृंगार काव्य मैं
तेरे प्रिय अक्षय यौवन पर

रूपगर्विता जब से रूठी
तेरी पायल की मधु रुनझुन
कविता का आँगन रोता है।

दो कविताएँ

सुरेश विमल

गुलमोहर की संस्कृति

(एक)

यह जो
पंक्ति-बद्ध पक्षी समूह
अपने उत्साही डैनों से
मरुस्थली हवाओं के
आग्नेयास्त्रों को काटते हुए
चला आ रहा है
तुम्हारे रेशमी आँचल की ओर.
तुम्हारी संस्कृति का
ध्वज-वाहक है !
मनोरम, सदानीरा नदियाँ
और उनके तटों पर
महकती अमराइयां
सिर्फ पड़ाव रहे
इनके लिए.

अपने तमाम सम्मोहन के बावजूद
रोक नहीं पाये इन्हें
तुम्हारे पास आने से.

तुम
जो स्वयं
रेत के धोरों से घिरे हो
और अपनी प्यास

किसी से कह नहीं सकते
सिर्फ मुस्कराते हो.
दरअसल

तुम्हारी यह मुस्कान ही
मानसरोवर है
इन पक्षियों के लिए.

ऐसे में
जब मौसम का महाभारत
अपने यौवन पर होता है
तुम वही
अपने भीष्म पितामह वाले
चरित्र पर अडिग
जिजीविषा का अनवरत
शंखनाद करते हो.

जब तक जारी है
यह महाभारत
और जब तक
मरुस्थली यातनाओं का
यह सिलसिला है
तुम्हारी मुस्कान का जादू
भरता रहेगा
जीवन का उल्लास
इन प्यासे
यायावर पक्षियों के
डैनों में.

□

(दो)
लौटना होगा हमें

नहीं मालूम था
कि इस तरह
दिशाहीन हो जायेंगी
ये स्वप्निल नौकायें.

स्याह पड़ते हुए आकाश में
क्षीण होती जायेंगी निरंतर
भोर की आशायें
भयावह झंझावातों में
फँस जाने की आशंका
आतंकित करेगी पल-पल.

कौन जाने कहाँ होगा
शाश्वत वसंत से सुवासित
कल्पना का वह अद्‌भुत
आलोकमय द्वीप
जिसकी खोज में
जारी हुआ था
अंतहीन यात्रा का
यह सिलसिला.

छलनामयी इस यात्रा से
लौट जाना ही बेहतर है अब
ओ नौकाओ.

लौटना
खुरदरी और रेतीली जमीन के
उस हिस्से पर
जिसे गर्व से हम
अपनी मातृभूति कहते हैं।

दिशाओं को अब
भोर के मंगलमय प्रकाश में
नहाते हुए
देखना चाहते हैं हम.
चिड़ियों का कलरव
और गायों का रंभाना सुने
एक अरसा बीत गया है
बहुत दिनों से नहीं देखा है
अपनी धरती के
फूलों का खिलना.

वसंत
वहाँ पिघलाने लगा होगा
पहाड़ों की बर्फ
गुनगुनाने लगी होंगी
जवान होती हुई नदियाँ.
चीड़-वनों को चीरती हुई
पवन की बाँसुरी
सम्मोहित करने लगी होगी
समग्र वातावरण को.

स्वप्नों की छलना में
बहुत जिये
अब और प्रवंचना नहीं
लौटना ही होगा हमें
ओ नौकाओ.

हिंदी का मस्तमौला शब्द-शिल्पी : बेनीपुरी

नरेंद्र सिन्हा

उत्तर बिहार के मुजफ्फरपुर जिले में बागमती के किनारे बसा बेनीपुर गाँव। नदी के किनारे पर पक्का मकान, हिंदी जगत के एक बेजोड़ शब्द-शिल्पी रामवृक्ष बेनीपुरी का आवास। मकान पर गेहूं और गुलाब की कलात्मक प्रतिकृति-भौतिक सुख-समृद्धि का प्रतीक गेहूं तथा उच्चतर सांस्कृतिक जीवन का प्रतीक गुलाब।

शब्द-शिल्पी को अपनी जन्मभूमि मिथिला की मिट्टी से अगाध स्नेह था। मिथिला की मिट्टी जिससे उसने अनगिनत मूरतें बनाकर लोगों को चकाचौंध कर दिया। उन्हें आजीवन दुख रहा इस बात का कि भारत के साहित्यकार, हिंदी के साहित्यकार, मृत्यु के बाद शीघ्र ही भुला दिये जाते हैं, उनके स्मारक नहीं बनते, यूरोप के साहित्यकारों की तरह उनके स्मारकों पर मेले नहीं लगते। कहा करते हिंदी वालों को जब 'भारतेंदु', महावीर प्रसाद द्विवेदी, प्रसाद और प्रेमचंद्र को भूलते देर नहीं लगी, तो कैसे कहूँ कि वे 'बेनीपुरी' को याद करेंगे। मृत्यु के सात-आठ वर्ष पहले उन पर पक्षाघात का आक्रमण हुआ, जिसने उन्हें नाकारा बना कर छोड़ा। उसके बाद अधिकांश समय उसकी स्मृति लुप्त रही, वाणी अवरुद्ध रही। वाणी के वरद पुत्र के साथ नियति का ऐसा कठोर व्यंग्य। परंतु अत्यधिक संवेदनशील व्यक्तियों के साथ ऐसा अक्सर हो जाता है। मृत्यु से सात दिन पूर्व उन्होंने अपने पुत्र से अंतिम इच्छा प्रकट की—मेरा शवदाह मकान के अहाते में मौलसिरी वृक्ष के नीचे किया जाये। वह मौलसिरी वृक्ष जिसे तपस्वी साहित्यकार शिवपूजन सहाय ने रोपा था। कलाकार की इच्छा बाकायदा पूरी की गयी।

जब मकान बन रहा था सन् १९४९-५० में, वह अद्वितीय रेखा चित्रकार कहा करते—मैं अपनी समाधि बनवा रहा हूँ।

बेनीपुरी जिंदादिल थे, मस्तमौला। १७ सितंबर, १९६८ को ६६ वर्ष पूरे कर उनका पार्थिव शरीर हमारे बीच से उठा। लेकिन जीवन के अंतिम कुछ वर्षों को छोड़कर वह हमेशा जवानों की नाक काटते रहे। जिसने उन्हें देखा नहीं, उनके संपर्क में नहीं आया, वह नहीं समझ सकता उनकी मस्ती, उनकी जिंदादिली को। 'जिंदगी ज़िंदादिली का नाम है, मुर्दादिल खाक जिया, करते हैं' इस शेर को

सार्थक करने वाला वह कलाकार। उसके छतफोड़ ठहाके, उसका 'प्यारे भाइयो' कभी नहीं भूल सकते। ठहाके, जिनमें बला क़ी बेफिक्री, गजब की मस्ती, जवानों को पानी पानी कर देने वाला अल्हड़पन। और उसका 'प्यारे भाइयों'। जहाँ चाहें, जब चाहें फिट हो जाए। बिहार, हिंदी साहित्य सम्मेलन में बैठा-बैठा वहाँ के कर्मचारियों से एकाएक कह उठता, भाई, अब थोड़ा 'प्यारे भाइयो' करो। कर्मचारियों के लिए समझना कठिन होता कि फरमायश पान की हो रही है, सिगरेट की या चाय की। एक मित्र के अनुसार उसके ठहाकों में कोई अव्यक्त पीड़ा छिपी थी। कौन जाने। वैसे, रंज से खूंगर हुआ इंसां तो मिट जाता है रंज!

और वही मस्ती, वहीं अल्हड़पन उनकी विशिष्ट शैली में भी। हिंदी का अद्वितीय शैलीकार था बागमती का वह पुत्र। उनकी लेखनी लेखनी नहीं 'जादू की छड़ी' थी। जिससे वह पाठकों पर मोहनमंत्र फूँक देता था। बेजोड़ शब्द-शिल्पी थे बेनीपुरी, उनके कौमा और फुलस्टाप तक बोलते थे।' अपनी लेखनी से बेनीपुरी ने ऐसी ऐसी मूरतें गढ़ीं कि लोग दंग रह गये। मिथिला की मिट्टी की बनी मदेस मूरतें और उनका अपरूप अनायास सौंदर्य, माटी की मूरतें" की मदेस मूरतों का अनगढ़ सौंदर्य, नागर 'अम्बपाली' का सम्मोहक चारित्रिक सौंदर्य, गेहूं और गुलाब की सांस्कृतिक छवियां। गेहूं और गुलाब के दो प्रतीकों से अनुपम सौंदर्य का सृजन किया बेनीपुरी ने, भारत के अपने सपने को रूपायित किया।

युवकों में प्राण बसते थे बेनीपुरी के। बड़ी आस्था थी उनकी युवा वर्ग में, नयी पीढ़ी में, चाहे वह साहित्य के क्षेत्र में हो या राजनीति के क्षेत्र में। हर तरह से प्रोत्साहन दिया नई पीढ़ी को, सजाया-सँवारा 'मांटी की मस्तें" की अनगढ़ मूरतों की तरह। बेनीपुरी ने कितने अनगढ़ युवक लेखकों को गढ़ा तराशा होगा, इसका अंदाज कौन लगा सकता है। वह गरीब परिवार में पैदा हुआ, गरीबी उसके हिस्से पड़ी, लेकिन उसमें किसी प्रकार की कुंठा नहीं ला सकी। ५०-५५ वर्ष की उम्र में भी वह बेझिझक युवा साहित्यकारों के कंधे पर झूल जाता, उनकी पीठ थपथपाता। स्वयं अपना रास्ता बनाया और उन्हें प्रोत्साहित करता रहा—बहादुरों आगे बढ़ो। बढ़ते जाओ प्यारे, मैदान तुम्हारा है। दिनकर स्वीकार करते हैं, बेनीपुरी ने मुझे प्रकाशित किया, उद्भासित किया।

बेनीपुरी 'सौंदर्य के लिए सौंदर्य, कला के लिए कला' के सिद्धांत में विश्वास नहीं करते थे। उनकी कला जीवन के लिए, जीवन के उच्चतर मूल्यों के लिए थी। परतंत्र भारत में पैदा हुआ वह अद्वितीय कलाकार स्वतंत्र भारत के सपने देखता था, समाजवादी समाज में विश्वास करता था। वे विश्वास मात्र नहीं करते थे, अपने सपनों को साकार करने, अपने आदर्शों को मूर्त रूप देने के लिए आजीवन लड़ते भी रहे। देश को आजाद कराने के लिए वह गांधी की आंधी में शामिल हुए, समाजवाद लाने के लिए जयप्रकाश के नेतृत्व में सक्रिय सहयोग किया। कई बार जेल गये, यातनाएं सहीं। अन्ततः देश स्वतंत्र हुआ, लेकिन उनके सपने पूरे नहीं हुए। इसीलिए, अपरूप सौंदर्य की सृष्टि करने के साथ-साथ उनकी लेखनी आजादी के बाद भी लावा उगलती रही। देखना है कि किसी को बेनीपुरी की आग्नेय लेखनी का कमाल तो 'योगी 'युवक' जनता के संपादकीय लेखों का अवलोकन करने की तकलीफ गवारा करें। नीरस राजनीति में भी जान ला देती थी बेनीपुरी की लेखनी।

बेनीपुरी की प्रतिमा बहुक्षेत्री, बहुरंगी थी। साहित्यिक कृतित्व के साथ-साथ संपादन के क्षेत्र में भी उन्होंने नये कीर्तिमान स्थापित किये। साहित्यिक पत्रिकाओं के संपादन में, 'हिमालय' (१९४६) और नयी धारा' (१९५०) के द्वारा नये कीर्तिस्तंभ गाड़े। 'हिमालय' के संपादन में बेनीपुरी को द्विवेदी युग की अंतिम कड़ी के रूप में शिवपूजन सहाय का सहयोग प्राप्त था। इन दोनों के सहयोग और सद्भाव ने 'हिमालय' की कीर्ति में चार चाँद लगा दिये। 'हिमालय' का प्रकाशन हिंदी पत्र-पत्रिकाओं

के इतिहास में एक घटना थी, और 'नयी धारा' के माध्यम से बेनीपुरी ने अपनी लेखनी तथा संपादन-कला का वह कमाल दिखाया कि 'नयी धारा' नयी पीढ़ी का कंठहार बन कर रही। नयी पीढ़ी का ही नहीं, पुरानी पीढ़ी का भी। इस पत्रिका को नये पुरानें सबका हार्दिक सहयोग मिला। मैं सौभाग्य मानता हूँ अपना, संपादक शिरोमणि बेनीपुरी ने मेरी रचना मांग कर 'नयी धारा' में प्रकाशित की।

बड़े विनोदी थे वे, जिनका नाम बेनीपुरी था। घर बाहर सभी जगह, विनोद का कोई मौका चूकने नहीं देते। मित्रों से विनोद, छुटभैयों से विनोद, बेटा-पतोहू घर के भीतर आपस में चुहल कर रहे थे, शायद कुछ नोंकझोंक हो रही थी। भनक पड़ी तो बेटे को बुला कर सज़ा दी—आपने बहू से झगड़ कर बड़ा बुरा किया है। आज से आपका बिस्तर बाहर लगेगा। बेटा, देवेंद्र हँसी रोकते भीतर चला गया। दूसरे ही क्षण मुझसे कहा—क्या समझते हो बहू इस सजा से खुश होगी? इस तरह तो मैंने उसको भी दंडित कर दिया है.... और दूसरे ही क्षण बेटे की सजा माफ। बनावटी, गूढ़-गंभीर शब्दों में—आपकी सज़ा माफ की जाती है।

हाँ, सदा बहार बेनीपुरी के मन में भी एक पीड़ा थी। लेकिन वह पीड़ा अव्यक्त नहीं, व्यक्त थी जिसे छोटे-बड़े सभी जानते थे और जिसे बेनीपुरी ने कभी छिपाया भी नहीं। खरी, बेलाग बातें करने वाले बेनीपुरी स्वभाव वश कोई चीज छिपा ही नहीं सकते थे। उन्हें दुख होता था यह देख कर कि हिंदी के लेखकों-कवियों को अपनी कृतियाँ प्रकाशकों के हाथ कौड़ी के मौल बेचनी पड़ती है। 'निराला की मिसाल थी उनके सामने, शिवपूजन सहाय की मिसाल थी उनके सामने।

मध्यवर्गोय किसान परिवार में जन्मा-हिंदी का यह शब्द शिल्पी। पूरा नाम, रामवृक्ष बेनीपुरी। अपनी राह स्वयं गढ़ी, दूसरों को प्रेरणा देकर आगे बढ़ाया। बेनीपुरी का जीवट, जिंदादिली, बेफिक्री, बेलागपन, उनका शिशु सरल स्वभाव, निर्दोष निश्छल विनोद, उनकी शैली, उनका साहित्य, उनकी संपादन कला, उनका समर्पित जीवन सब अपने आप में विशिष्ट, बेजोड़, मौलिक है। □

हास्य-व्यंग्य

दास्तान एक दुखदाई निमंत्रण की

शांति मेहरोत्रा

मिसेज़ गुप्ता बेटी की शादी का निमंत्रण देने आईं और गाज गिराकर चली गईं। वह प्रगति कॉलेज की प्रिंसिपल हैं, मेरी बॉस हैं, इसलिए मैं खुलकर आह भी नहीं भर पाई। वह तन्मय होकर अपने आई.ए.एस. दामाद का बखान करती रहीं और शादी में दिए जा रहे सामान गिनाती रहीं। बोलीं, हमारी एक ही तो लड़की है, ऐसी धूम से शादी करेंगे कि देखने वालों की आंखें खुली की खुली रह जायेंगी। आप तो तनुजा की फेवरेट आंटी है, शादी में शामिल होने के लिए लखनऊ आ रही हैं न?' 'अरे ज़रूर! न आने का कोई सवाल ही नहीं है।' यद्यपि 'फेवरेट आंटी' का कड़कड़ाते जाड़े में यात्रा करने का कोई इरादा नहीं था। सहसा उन्होंने पूछा, 'अच्छा एक बात बताइये, आप तो कविता वगैरह लिखती हैं न?'

अपराध स्वीकार करते हुए मैं चौंकी कि चलते-चलाते बीच में यह कविता कहाँ से आ टपकी?

वह मुस्कराईं। बड़े आत्मीय भाव से बोलीं, 'देखिये, दो काम आपके ज़िम्मे हैं। पहला तो यह कि एक बढ़िया सी जयमाल और एक बारात का स्वागत-गान लिख दीजिए। यह देखिये मैंने ख़ास-ख़ास संबंधियों के नाम नोट करवा कर मँगवा लिए हैं। ऐसी जमकर तारीफ करियेगा कि सारे बराती फ्लैट हो जायें।'

मैं हक्का-बक्का रह गई। किसी तरह इतना ही कह पाई कि, '—'जी ऐसा है कि—यह सब तो मैंने कभी लिखा नहीं।'

उन्होंने उत्साह बढ़ाया, 'कभी नहीं लिखा तो क्या हुआ? अब लिखिये। यह तो एक तरह की समाज-सेवा है! आप मेरा कहना मानिये और घोड़ी, बन्ने, बन्नी, सुहाग-गीत, जयमाल, स्वागत-गान और विदाई गीत लिख-लिखकर एक संग्रह छपवा लीजिए। हाथों हाथ न बिक जाए तो कहिएगा।'

'जी, और दूसरा काम?' मैंने काँपते स्वर में प्रश्न किया।

'दूसरा काम यह कि आते समय आप मंदिर के पास वाले श्याम हलवाई से बीस किलो केसरिया बरफी बनवा कर लेते आइयेगा। आप तो एक दिन पहले ही पहुंचेंगी न?'

जैसे इस सवाल का जवाब 'जी हां' के अतिरिक्त भी कुछ हो सकता था।

वह तो मुझे इस चक्कर में फँसाकर चली गईं लेकिन मेरी नींद हराम कर गईं। बहुत कोशिश की पर कलम ने ऐसा सत्याग्रह ठाना कि जयमाल की एक लाइन तक न बन पाई। हारकर अपनी एक सहेली को पकड़ा जिसने विवाह गीतों पर रिसर्च की थी। एक कम प्रचलित जयमाल को सुधार कर मौलिक बनाया और एक स्वागत-गान, जिसमें सब सम्बन्धियों की जयजयकार थी, उतारकर उसमें जितने नाम फिट हो सकते थे, कर दिये। अब रह गई बीस किलो बरफ़ी। मुझे आशा थी कि वह मुझे दाम भिजवा देंगी या हलवाई को एडवांस दे जायगी लेकिन उन्होंने ऐसा कुछ नहीं किया था। मैंने एडवांस देकर दूसरे दिन आर्डर बुक करवा दिया, समय दिया था सुबह ग्यारह बजे का लेकिन उसने जाने वाले दिन 'बस डिब्बे बंध रहे हैं, करते-करते दो बजा दिये।

घर आकर मैंने एक अटैची में अपना सामान रखा और एक हलके से सूटकेस में बरफी के डिब्बे, जयमाल और स्वागत-गान तथा भेंट देने के लिए दो खूबसूरत से पीतल के फूलदान एक साथ रख लिये। तैयारी करके बाहर निकली तो दूर-दूर तक कोई रिक्शा नहीं। सड़क पर खड़े-खड़े आधा घंटा हो गया तो मैं घबराई कि कहीं गाड़ी छूट न जाय। तभी मेहता जी ने देवदूत स्टाइल में कार रोकर पूछा, 'एनी प्रब्लम? कहीं जाना हो तो छोड़ दूँ।'

अंधा क्या चाहे दो आंखें। मैंने लपककर डिकी में सामान रखवाया और उनको धन्यवाद देकर चैन की सांस ली। लेकिन चैन की सांस शायद कुछ जल्दी ही ले ली। कार जब दायें-बायें, ऊपर-नीचे, आगे-पीछे एक साथ झूम-झूम कर चलने लगी तो मेरा माथा ठनका। मेहता साहब बोले, जानतीं हैं ड्राइविंग का सबसे बड़ा गुर क्या है? अपने ऊपर भरोसा। मैं तो जब भी गाड़ी चलाता हूँ....सहसा मेरे मुँह से चीख निकल गई। स्त्रियाँ सचमुच बहुत जल्दी घबड़ा जाती हैं। साइकिल सवार दबा नहीं था, सिर्फ गिरा भर था और गाड़ी वहाँ से भगा ले जाने के चक्कर में दो-तीन सवारियों से टक्कर होते-होते बच गई थी।

मैंने साँस रोककर पूछा, 'मेहता साहब, आप नया-नया गाड़ी चलाना सीख रहे हैं क्या?'

'नहीं जी, 'उन्होंने पूरे आत्मविश्वास के साथ उत्तर दिया', अब तो हमें गाड़ी चलाते पंद्रह-बीस दिन हो गये! बस एक हमारी श्रीमती जी को अभी तक हम पर भरोसा नहीं है। वह बच्चों को लेकर रिक्शे पर ही आती-जाती हैं।'

भाग्य अच्छा था जो उस दिन अस्पताल जाने की नौबत नहीं आई। स्टेशन पर टिकटघर के आगे लंबे-लंबे क्यू लगे थे। 'आपकी रेल यात्रा शुभ हो' का बैनर सर्दी में कुड़कुड़ाते यात्रियों को मुंह चिढ़ा रहा था। दूसरे दर्जे के बुकिंग आफिस की दीवार पर किसी भुक्तभोगी यात्री ने लिख दिया था—'ईश्वर इन्हें क्षमा करना। ये नहीं जानते कि ये क्या करने जा रहे हैं।'

मैं क्यू को अनदेखा करके महिला होने के नाते अधिकारपूर्वक आगे बढ़ने लगी। स्त्री-विरोधी लोकमत ने मुझे क्यू के अंत तक पहुँचा दिया। लेकिन जाको राखे सांइयां। बीस-इक्कीस वर्ष के एक युवक ने मुझसे कहा, 'आपको कहां जाना है आंटी जी, मैं टिकट ला देता हूँ। मेरा एक दोस्त लाइन में आगे खड़ा है।'

मुझे दुविधा में पड़ा देखकर उसने मुस्कराकर कहा, 'आपने शायद मुझे पहचाना नहीं।' 'नहीं।' मैंने उत्तर दिया। वैसे भी मुझे अपनी स्मृति पर कम ही भरोसा रहता है।

'मैं आपके बेटे के साथ पढ़ता था।'

'किसके? बबलू के साथ?'

'जी हाँ।'

'तुम भी जी.आई.सी. में पढ़े हो?'

'जी हाँ, और आपके हाथ की बनी पकौड़ियाँ भी खूब खाई हैं।'

मैंने प्रसन्न होकर पूछा, 'तुम भी लखनऊ चल रहे हो?'

उसने सिर हिलाया।

मैंने प्रसन्न होकर कहा, 'यह बहुत अच्छा हुआ। क्या नाम है तुम्हारा?'

'नंदू ! आप तो किसी आफिस में हैं न?'

'नहीं, मैं प्रगति कॉलेज में पढ़ाती हूँ। हमारी प्रिंसिपल की लड़की की शादी कल लखनऊ में है। उन्हीं का कुछ माल पहुँचाना है।'

'कुछ कीमती सामान छूट गया क्या?'

'बहुत कीमती। उन्हें यह बक्सा समय से सही-सलामत मिल न गया तो वह मेरी खटिया खड़ी कर देंगी।'

बेटे का दोस्त बेटे से भी बढ़कर निकला। टिकट ले आया। इतनी भीड़ में जगह बनाकर मुझे आराम से बैठा दिया, और रास्ते भर कभी चाय, कभी समोसे, कभी पान, कुछ न कुछ लाता ही रहा। कई बार तो मुझे दाम तक नहीं देने दिये। मैं बैठी-बैठी ऊंघने लगी तो उसने उठकर दरी बिछा दी और खुद सामने की वर्थ के कोने में टिक गया। बोला, 'लेट जाइये। आप तो बैठी-बैठी सो रही हैं।'

मैं पैर सिकोड़कर शाल ओढ़कर निश्चिंत सो गई। मोहनलाल गंज के आसपास आँख खुली तो नन्दू सामने नहीं था। सामने बैठे एक सज्जन बोले, 'आपका लड़का तो एकदम सतजुगी है। रायबरेली में उतरने लगा तो मैंने कहा अपनी माँ को जगा दो। बोला—अरे नहीं, सोने दीजिए। बेचारी थकी हैं। इन्हें लखनऊ तक जाना है। सामान उतारने में जरा इनकी मदद कर दीजिएगा।

मैंने चौककर अपने सामान पर नजर डाली। जिस सूटकेस में रुपये और मेरा सामान था वह मैंने सिरहाने लगा रखा था, दूसरे सेटकेस का, जिसमें मिसेज गुप्ता वाला सारा सामान था, कहीं पता न था। मुझे काटो तो खून नहीं। अब क्या होगा?

लखनऊ स्टेशन पर उतरने के बाद सबसे पहले मैं जी.आर.पी. का दफ्तर खोजती हुई वहाँ पहुँची। जो सज्जन ड्यूटी पर थे वह रायबरेली का नाम सुनते ही बोले, 'चोरी आपके सूटकेस की रायबरेली स्टेशन पर हुई और रिपोर्ट लखनऊ में लिखवाना चाहती हैं?'

मैंने कहा, 'यह सही है, लेकिन जब मैं सो रही थी तब वहाँ रिपोर्ट लिखवाती कैसे?'

'सरेआम इतनी बेख़बर सोयेंगी तो चोरी होगी ही ! देखिये, मेरी मानिये तो आप एक गाड़ी से रायबरेली चली जाइये और वहाँ रिपोर्ट लिखवा कर आराम से लौट आइये। चोरी वहाँ हुई, चोर वहाँ उतरा, चोर का पता वहीं पर लगाया जाना है; फिर अपनी ज़रा-सी सुविधा के लिए आप लखनऊ को क्यों चक्कर में फँसाना चाहती हैं?'

'मैं इतने से काम के लिए वापस रायबरेली तो जाने से रही।'

'हूँ, इसका मतलब उस सामान की आपको चिंता नहीं है। तो फिर यहाँ एफ.आई.आर. लाज करने के लिए इतना आग्रह क्यों कर रही हैं? 'इन्श्योरेंस कंपनी से पैसा वसूल करना है क्या?'

'देखिये जले पर नमक तो छिड़किये मत। मेरे पास से दूसरे का माल चोरी हो गया तो क्या मैं एफ.आई.आर. भी न लिखवाऊँ?'

'दूसरे का माल? आपके पास से चोरी हो गया? तो फिर जिनका सामान चोरी हुआ है उनको भी तो साथ लेकर आइये। वैसे उस संदूक में था क्या-क्या?'

'बीस किलो बरफी, दो ज़रुरी कागज और दो पीतल के फूलदान।'

'जरुरी कागज़ कैसे? कुछ प्रापर्टी वगैरह के कागज?'

'जी नहीं। शादी में गाये जाने के लिए जयमाला और स्वागत-गान।'

जी.आर.पी. वाले सज्जन भरपूर अविश्वास के साथ बोले, 'आपकी रिपोर्ट में जरुर कोई चक्कर है। यह रिपोर्ट तो आप रायबरेली में ही लिखाइये।'

वहाँ से मुँह लटकाये हुए मैं मिसेज़ गुप्ता के घर पहुँची। उन्होंने बहुत चहकते हुए मेरा स्वागत किया लेकिन सामान के चोरी चले जाने की बात सुनकर उनकी भावभंगिमा बिल्कुल बदल गई। मुँह बनाकर इतना ही कहा, 'हम तो पहले ही इनसे मना कर रहे थे कि किसी पर इस काम का बोझ मत डालो, लखनऊ में मिठाई की कमी थोड़े ही है, लेकिन गुप्ता जी माने ही नहीं। ख़ैर मिठाई नहीं आई तो न सही आप स्वागत-गान और जयमाल तो उतार कर संगीत वाली टीचर को दे ही दीजिये।'

लेकिन देती तो मैं तब जब उनकी नकल मेरे पास होती! दो-एक बार औरों की उपस्थिति में सारी घटना दोहराई तो लगा कि मेरी सहयोगी भी मेरी बात पर विश्वास नहीं कर पा रहीं हैं। एक ने तो मुस्करा कर कह भी दिया कि जब आपने सारी जानकारी एक अनजान युवक को खुद ही दे दी, तब चोरी तो होनी ही थी।

सूटकेस गया, सामान गया, मिठाई के रूपये डूबे और सबसे मुश्किल की बात यह कि मिसेज गुप्ता समझ रही हैं कि मैं झूठ बोल रही हूँ। अब इनके कार्यकाल में तो मेरा प्रमोशन होने से रहा। □

कम बोलना भी एक कला है

रमाशंकर श्रीवास्तव

कुछ लोगों का विचार है कि आदमी को कम बोलना चाहिए। लेकिन मुश्किल यह है कि वह जन्म लेते ही बोलना शुरु कर देता है। जीवन भर बोलता रहता है। यह तो शक्ति का भारी अपव्यय है। आज ऊर्जा बचाने के लिए कितनी अंतर्राष्ट्रीय बैठकें हो रही हैं। किंतु किसी को यह नहीं सूझता कि लोगों को समझाए कि भाइयो, ज्यादा बोलकर आप अपनी ऊर्जा यों नष्ट न कीजिए। आप कहेंगे, इस दुनिया में जैसे और चीजें बर्बाद होती हैं इसे भी बर्बाद होने दो। ऐसे ही वैरागियों में मास्टर जाति का भी आदमी है। क्लास में घुसते ही बोलना शुरु कर देता है। तभी तो लोग कहते हैं कि मास्टर आदमी ज्यादा दिन नहीं जीता। जब भीतर शक्ति ही नहीं रहेगी तो यमराज से कौन लड़ेगा।

बोलने पर बात आई तो यह भी ध्यान में आया कि लोग चाहे कुछ भी कहें, बोलना भी एक कला है। यह विषय विवाद का है कि ज्यादा बोलना कला है या कम बोलना। आप तो कहते हैं कि सौ वक्ता को एक चुप्पा हराता है। दूसरी ओर लोग यह भी कहते हैं कि भगवान ने मुँह चुप रहने के लिए नहीं दिया है। इसकी पीड़ा गूंगों से पूछिए। वैसे महत्वपूर्ण यह नहीं है कि हम कितना बोलते हैं। महत्वपूर्ण है हम बोलते क्या हैं। एक आदमी घंटों आपके सामने बड़ाबड़ाता रहता है घर-परिवार, बाजार-दूकान से लेकर देश-विदेश, अंतर्राष्ट्रीय मुद्राकोष तक की बातें बोल जाता है। और आप हैं कि अपने एक ही वाक्य में उसकी सारी बातों का जवाब देकर छुट्टी कर देते हैं— क्या कीजिएगा महँगाई का ज़माना है।

सच पूछिए तो ज्यादा बोलने वालों से जी ऊबता है और कम बोलने वालों से डर लगता है। सोचते हैं, कौन घंटों सुनेगा इस बड़बोले को। उधर, कम बोलने वाला सबकी सुनता-सुनाता रहेगा और एक बात बोलकर सांप की तरह डँस कर चल देगा। बोलने का असर हर हालत में पड़ता है। देश-विदेश घूम आइए। सब जगह बोलने के ही आयोजन हो रहे हैं। कोई ऐसी सभा आपने नहीं देखी होगी जहाँ श्रोता-वक्ता सभी चुप्पी साधे बैठे हों। यहाँ तक कि शोक-सभाओं में भी बोलना जरुरी होता है। ध्यान-योग की सभाओं में भी पहले कुछ बोला-बताया जाता है और फिर ध्यान की मुद्रा बनती है। बोलने पर ही व्यक्ति के गुण प्रकट होते हैं। नहीं तो कौआ-कोयल एक ही हैं। अमुक जी अच्छे वक्ता हैं। विषय को गहराई से पकड़कर सबकुछ साफ-साफ बता देते हैं। अमुक जी तत्व कम कहते हैं, बोलते ज्यादा है। अमुक जी घंटे भर क्या बोल गए, कुछ समझ में नहीं आया। अमुक जी जब बोलने लगते हैं तो तालियों की गड़गड़ाहट से उन्हें ही चुप हो जाना पड़ता है।

कुछ वक्ता हूटिंग से डरते हैं। इस अर्थ में नेता नाम का जीव थोड़ा निडर है। लाज-शरम गँवाकर, वोट बटोर कर जिसने कुर्सी हथियाई हो उसे हूटिंग की क्या चिंता। वह बोलेगा, बोलता रहेगा, हर विषय पर बोलेगा, बाढ़ पर बोलेगा, सूखा पर बोलेगा, बहरों पर बोलेगा, अंधों पर बोलेगा, बेईमानी पर बोलेगा, ईमानदारी पर बोलेगा। बस बोलने का कोई मौका चाहिए। लेकिन उन्हीं नेताओं में कुछ ऐसे भी हैं जो मात्र एक वाक्य, एक शब्द बोलकर पचासों की बोलती बंद कर देते हैं। समाचार संवाददाताओं के प्रश्नों की बौछार हो रही है और वह बस एक शब्द बोलता है—देखिए, शायद—यह मामला विचारधीन है। कभी कहेगा, 'नो कमेंट'। उनका नो कमेंट ही भोली जनता के लिए समाचार बन जाता है। मंत्री ने कहा—नो कमेंट। और पब्लिक है कि 'नो कमेंट' पर कमेंट कर रही है। पता नहीं चलता कि किसको बोलना चाहिए और किसको नहीं। कोई अबोले रहकर सब कुछ पा जाता है और कोई बोलकर भी कुछ नहीं पाता। मूक सन्यासी बारहों व्यंजन पा जाता है और गली-गली अपना गला फाड़ने वाला फेरीवाला मुश्किल से दो जून की रोटियाँ जुटा पाता है।

सुनते हैं कि बोलने के नाम पर औरतें भी बदनाम हैं। यह जाति ज्यादा बोलती है। जहाँ दो चार जुटेंगी, चिड़िया की तरह चूं-चूं करती रहेगी। पास में एक पुरुष बैठा है हाँड़ी जैसा मुंह लटकाए। वह एक शब्द भी नहीं बोल पाता। बोले भी तो वहाँ सुनेगा कौन। सच पूछिए तो कुछ चेहरे बोलते चेहरे होते हैं। उनसे हर क्षण बात झरती रहती है। जिन चेहरों पर चुप्पी का साइनबोर्ड लटका है वे कसमसाकर भी कुछ नहीं बोल पाते। बोलने से दिल का हाल मालूम होता है। जो बोलता ही नहीं उसका हाल शायद परमात्मा भी नहीं जानता। पिता गंभीर बेटे से पूछता है—तुम्हारी क्या इच्छा है? कुछ बोलो तो ! बेटा मुँह लटकाए, गाल फुलाए बैठा है और कभी-कभी अपने पिता को देख लेताहै। असंतुष्ट बेटा आँखों से बोल रहा है। पर सचाई है कि अबोले को देखकर मन चिढ़ता है लेकिन जो बिना बात-विषय के पचर-पचर करते रहते हैं उनसे भी तबीयत कम नहीं घबराती है। कितने बोलतुओं से डरकर लोग अपना रास्ता बदल देते हैं। कितने लोग टेलिफोन इसलिए नहीं उठाते हैं कि अमुक जी जब बोलना शुरू कर देंगे तो एक घंटा खा जाएंगे। मैं एक सज्जन को नमस्कार करने से इसलिए कतराता हूँ कि मेरे बोलते ही वे बोलने लगेंगे। आप हम तो गाजर-मूली खाते हैं लेकिन ऐसे वक्ता समय को खा जाते हैं।

बोलने के बाद ही किसी कंठ की विशेषता मालूम हो जाती है। कोई कंठ-स्वर ऐसा होता है कि जी करता है उसे रोज-रोज, रात-दिन चौबीस घंटे सुनते रहे। अहा ! कितनी मिठास है, कितनी शीतलता है। श्रवणेंद्रिय का कटोरा लबालब भर लेने का जी करता है। और यह मन क्या-क्या नहीं करता है। वे सामने रहें तो हँसें-बोलें बतियाएं। बिछुड़ें तो रोएं, सिर पीटें और कभी-कभी आँसुओं की स्याही से खत तक लिख डालें। परंतु इसी संसार में कुछ कंठ ऐसे भी हैं कि सुनते ही मन मिचलाने लगता है और जी घबराने लगता है। प्रभु भी कितना बड़ा कलाकार है। कौवा-कोयल दोनों बना डाले।

हमारे एक मित्र हैं। बिल्कुल स्वस्थ हैं परंतु एक रोग है बोलने का। उनसे किसी भी विषय पर बोलवा लीजिए। प्याज से लेकर प्यार या करेले से लेकर कनाडा तक, वे बोलेंगे धारा प्रवाह। कई सभाओं में एक्स्ट्रा चेयरमैन के रूप में उन्हें आमंत्रित किया जाता है। संयोगवश असली चेयरमैन नहीं आए तो उन्हें खड़ा कर दिया जाता है।

बोलना आदमी का स्वभाव है लेकिन बोलते रहना उसका दुर्गुण है। वैसे बिना बोले नहीं मानता। कोई प्रसंग नहीं फिर भी दो के बीच अपनी टांग अड़ा देने का मज़ा ही कुछ और है। कितने लोगों को परिवार की या समाज की खामोशी अच्छी नहीं लगती। वह भी कोई समाज है जहाँ नित नूतन

विषय पर कोई चर्चा न चले। पिछले महीने किसी ने कह दिया तीन डी.ए. एक साथ मिलने जा रहे हैं। वह जनाब तो बोलकर अपने घर गए लेकिन कई घरों में रतजगा हो गया। देखो, कल सुबह रेडियो न्यूज क्या आता है। बोलचाल बंद हो जाती है तो लगता है कुछ खो गया। एक सज्जन को जब कोई बात करने वाला नहीं मिलता है तो वे अपनी छत पर जा बैठते हैं और सड़क से आते-जाते लोगों को नमस्कार-प्रणाम कर टोकते रहते हैं। इसी टोका-टोकी में बातचीत करने का कोई मुद्दा निकल आता है। वे बोलने लगते हैं। एक दूसरे मित्र हैं, वे कम नहीं बोलते लेकिन उनका भ्रम बना रहता है कि वे बहुत कम बोलते हैं।

कुछ लोग ग्रामोफोन रिकार्ड या टेप के समान होते हैं। जब चाहें उन्हें बजा लीजिए। उनकी बातें सेट हैं। कोई अवसर हो उन्हीं बातों को किंचित घुमा फिराकर वे कहते रहेंगे। जन्म पर वही बातें, मृत्यु पर भी वही बातें। मुखमुद्रा में कोई फर्क नहीं। कभी-कभी हमें ज्यादा सुनने की भी सजा भोगनी पड़ती है क्योंकि वक्ता दम नहीं लेता। पता नहीं वक्ताओं को सिर दर्द होता है या नहीं लेकिन मैंने श्रोता रूप में सिर दर्द कम नहीं झेला है।

जब कोई नहीं मिलता तो लोग अपने से ही बात करते हैं। प्रश्न पूछते हैं और जवाब देते हैं। राह चलते ऐसे कई लोग दिख जाएँगे। इससे साबित होता है कि आदमी बात करने में रुचि रखता है देर तक न कुछ बोले तो मन उदास हो जाता है। और पति-पत्नी के रिश्ते में तो खामोशी जहर बन जाती है। लेकिन वहाँ पति की गति कभी-कभी सांप छछूंदर जैसी हो जाती है। बोले तो भी खतरा, न बोले तब भी आफत। क्योंकि आप चाहें जो कह लीजिए, अर्थ लगाने की जिम्मेदारी तो श्रीमती जी की ही है। एक रात को अपनी श्रीमती जी से मेरा थोड़ा वाद-विवाद हो गया। मैं अपने को उनसे ज्यादा समझदार मानता हूँ। समझदार होने के कारण मैं उनसे प्यार कर पाता हूँ। मैके से जब वे पहली बार मेरे घर आई थीं तो उनकी कल्पना में मूर्ख पति को सुधार देने का संकल्प था। वह क्रेडिट उन्हें मिला नहीं। मूर्ख अनाड़ी पति को पत्नियाँ अधिक प्यार करती हैं। हाय, मेरा भोला पति इतना भी नहीं जानता। इस चिंतन में उन्हें ज्यादा मज़ा आता है। इसलिए अपनी समझदारी का परिचय देते हुए मैंने पहले से ही फैसला कर लिया था कि जिन बातों पर उनसे मेरा मतभेद होगा उन पर मैं बहस करने के बजाय किसी सधे नेता की तरह मौन ही रहूँगा। चुप रहना ज्यादा उचित है। उस दिन भी किसी बात पर मतभेद था इसलिए मैं शाम से ही चुप था। बिस्तर पर हम दोनों चुपचाप लेटे थे। सांसें खींच खींचकर हम करवट फेरते थे लेकिन बात नहीं करते थे। आधी रात हो गई। अब उनसे नहीं रहा गया। बोलने लगी। सारी बातें मुझे ही सुना-सुनाकर कहीं जा रही थीं। उधर करवट फेरूँ तो उनकी आवाज ऊँची हो जाती थी। इधर फेरूँ तो वाल्यूम थोड़ा कम हो जाता था। मेरे धैर्य को विस्फोटक स्थिति में लाने की चुनौती देते हुए उन्होंने अपनी बड़े नाखून वाली उंगली से मेरी पीठ में कोंचा और बोली—सुनते हो?

—ऊँ।

—ऊँ-आँ से काम नहीं चलेगा। साफ बोलो।

मन में मैं सोच रहा था कि साफ बोलूँगा तो बहस छिड़ जाएगी। कहीं ज्यादा बोल गया तो संभव है उनकी आंखों में बरसात उमड़ पड़े। वैसे भी औरत जब बोलने पर उतारू हो तो पुरुष को मौन साध लेना चाहिए। लेकिन उनके नाखून के तीसरी बार चुभने से मुझे बोलना पड़ा :

—कहो।

—मैं मैके जाऊँगी।

—जाओ।

—तो चली जाऊं?

—चली जाओ।

—अच्छा, तो ठीक है चली जाती हूँ। सुबह होते ही चली जाऊँगी।

—अभी जाओ।

—अभी तो नहीं जाऊंगी। तुम सिर पीट के रह जाओ तब भी नहीं जाऊंगी। तुम तो चाहते ही हो कि मैं चली जाऊं। बला टले। चक्रवर्ती सम्राट बनकर एकछत्र राज्य करो। मेरे जाते ही मिसेज सक्सेना को बुलाया जाएगा—भाभी जी। मेरे दिन तो अब अकेले नहीं कट रहे हैं। और वह मुटल्ली, जिसका मुँह देख उल्टी आती है, कूड़ेदान में पड़े सड़े आम जैसा मुंह लिए कैसी मुस्कुराती है। मेरे सामने तो भीगी बिल्ली बन जाती है। जब भी उसे देखती हूँ, जी करता है उसका मुँह नोंच लूँ। बिन बुलाए चली आती है। मेरे जाते ही वह आ बैठेगी इस घर में। गुलछर्रे उड़ेंगे। इधर दोस्तों से कहा जाएगा—मैं क्या करूँ। मिसेज आजकल मैके गई हैं। इन मर्दों में कोई नासपीटा इतना समझदार नहीं मिलता जो इनसे यह पूछे कि तुम्हारी मिसेज मैके गई तो आखिर क्यों गई। कोई स्त्री क्या मैके जाने के लिए ही अपने पति गृह आती है? कइयों को देखा है। शादी में डोली पर आती हैं और अर्थी के साथ ही घर से जाती हैं। यहाँ तो रोज मनाया जाता है कि मैं मैके चली जाऊँ। तो सच सच बताओ, मैं जाऊँ?

—जाओ।

—जाओ। उन्होंने उस अंधेरे में मेरे उच्चारण की नकल कर मुझे मुँह चिढ़ाया।

—क्या लगता है जाओ कहने में। इज्जत तो मेरी जाएगी। मैके में लोग पूछेंगे—अरी शोभा। तू इतनी जल्दी कैसे लौट आई? जीजा जी के साथ अभी पिछले हफ्ते ही तो गई है। जी में तो आता है कि कह दूँगी—तुम्हारे जीजा जी एक दिन सोते-सोते मर गए। खबर उड़ेगी तब समझना। होश ठिकाने लग जाएंगे। और तब मेरे जाने के बाद ही समझोगे, मैं क्या चीज थी। मेरी इम्पार्टेंस क्या थी। मैं कोई मूर्ख नहीं हूँ। तुम्हारी सारी चाल समझती हूँ। तीन दिनों से मुंह बनाए हुए हो। जिस शाम शर्मा जी की साली मेरे घर चाय पीने आई थी उसी शाम से तुम बदले-बदले से लगते हो। बगल में बैठकर किस तरह हँस-हँसकर बातें कर रहे थे। मैं तनिक मुँह खोलूँ तो नींद आने लगती है।

इस उम्र में मजनू बनने की सूझी है। बन लो मेरा क्या ! जब ठोकर खाओगे तब समझोगे। फिर मेरे पास से आकर गिड़गिड़ाओगे।

—तो मैं जाऊँ?

—जाओ।

—कब जाऊँ?

—जब मर्जी।

—कल जाऊँ या अभी।

—अभी।

—इतनी रात में?

—सोच लो।

—सोच लो ! निष्ठुर कहीं के। शादी के इतने साल हो गए। मन तरसता रहा कि कभी तो मेरे लिए तड़पोगे। वह सुख कभी नहीं जाना। बस जाओ। तो सुन लो, कान खोलकर सुन लो ! तुम्हारे कह देने से मैं चली नहीं जाऊँगी। कल से दूसरे कमरे में सोना, मेरी ओर मुड़के भी नहीं देखना। बच्चों की देखभाल तुम्हारे जिम्मे !

मैंने फिर करवट फेर ली। तब भी वे न मालूम क्या-क्या बोलती रहीं। साढ़े तीन महीने बीत गए, वे मैके नहीं गई। उधर कई दिनों तक बोल-चाल बंद रही। मैं चुप रहा और वे बोलती रही। सामान्य स्थिति जब कायम हुई तो मैंने उन्हें पास बुलाकर समझाया—प्रिये, कम बोला करो। ज्यादा बोलने से शक्ति नष्ट होती है। वे फिर भभकी—तुम्हारी शक्ति नष्ट होती होगी। इधर तो कभी लगा ही नहीं कि शक्ति भी नष्ट होती है। बड़ा डर है तो तुम चुप रहो। होल्डाल की तरह मुँह बांधे बैठे रहो। इससे तो अच्छा है, भगवान आदमी को गूंगा ही पैदा करे। दिन भर इतने लोग बोलते हैं, बाजार, मेला, मंदिर, स्टेशन, दफ्तर, कारखाना, स्कूल-कॉलेज, जलसा-तमाशा कहाँ-कहाँ कहते फिरोगे आप लोग कम बोलिए। पापड़वाला, कबाड़ीवाला, मीटिंग हर जगह लोग बेतहाशा बोल रहे हैं। क्यों नहीं उन्हें चुप करा देते? शांत खामोश आदमी भी एक दिन ज्वालामुखी के लावे की तरह भड़क उठता है। बिना बोले कौन जी सकता है भला इस दुनिया में?

उनकी चुनौतियों ने मुझे और मूक बना दिया है। तभी से सोच रहा हूँ, जब मैं अपनी श्रीमती जी को ही चुप नहीं करा सका तो फिर मैं कौन होता हूँ उपदेश देने वाला कि आप कम बोलिए।

□

बहस

बदलते संदर्भ, चुनौतियाँ और समाचार पत्र

डॉ. राममोहन पाठक

सिर्फ बदलना ही प्रगति नहीं है पर परिवर्तन नियम है। पत्रकारिता या पत्र संचालन जब 'मिशन' यानी जीवन के उद्देश्य से 'उद्योग या व्यवसाय' की ओर उन्मुख हुआ तो अनेक प्रश्न उठाये गये और उठाये भी जा रहे हैं। इस 'समूचे' परिवर्तन से पत्रकारिता को अछूता रखने की किसी कोशिश का कोई अर्थ नहीं रह जाता। लेकिन इसका अर्थ यह भी नहीं कि समाज में चतुर्दिक गिरावट की जो स्थिति है, उसे हम पत्रकारिता में भी स्वीकार कर लें और पत्रकारिता के पेशे को 'मिशन' के बहुत नजदीक रखने के अपने प्रयास ही बंद कर दें। आज की पत्रकारिता निस्संदेह व्यवसाय है और इसका व्यावसायिक स्वरूप बना भी रहेगा पर आज इस बात की आवश्यकता है पुराने मूल्यों की दुहाई देने के बजाय नये संदर्भों में इसके मूल्यों को नयी संकल्पना दी जाय।

प्रश्न अनेक हैं। यहाँ ऐसे ही कुछ प्रश्नों की चर्चा भर की जा रही है जो बदलते संदर्भों में पत्र उद्योग और पत्रकारिता को प्रभावित करते हैं। पश्चिम के प्रभाव, मशीनीकरण और ऐसे अनेक प्रभावों के कारण भारत की पत्रकारिता भी बदली है, उसका तेवर बदला है। भाषा के नये-नये प्रयोगों से भाषा के मानक टूटे हैं। भाषा में नया पैनापन दिखायी पड़ रहा है। पत्रों की साज-सज्जा, कलेवर में भी क्रांतिवादी परिवर्तन हुए हैं, जिसका श्रेय नयी आफसैट 'मुद्रणपद्धति' को जाना चाहिये। इसका विकास हुआ है। साथ ही भाषा में मनमानपन भी बढ़ा है। विशेषीकृत खोजी और विश्लेषणात्मक पत्रकारिता ने तमाम नये सवाल पैदा किये हैं। निजी स्वतंत्रता,गोपनीयता और ऐसे ही दूसरे प्रश्न उठ रहे हैं। इन सभी संदर्भों में यह कहा जा सकता है कि हिंदी और भाषाई पत्रकारिता में स्वतंत्रता के बाद के वर्षों में उल्लेखनीय परिवर्तन हुए हैं। पत्रकारिता का ग्लैमर और साधनों का संकट बरकरार है फिर भी बहु संस्करणीय क्षेत्रीय पत्रों की संख्या निरंतर बढ़ती जा रही है। इसके साथ ही पत्र संचालन और संपादन के क्षेत्र में कठिनाइयां बढ़ी हैं। कम्प्यूटरीकरण ने सरलीकरण के साथ-साथ संपादन और प्रकाशन की सूक्ष्म जटिलताएँ बढ़ा दी हैं। यही नहीं संपादन पर भी इसका गहरा प्रभाव पड़ा। कहानीनुमा सामग्रियों के प्रकाशन, कही-सुनी, बातों अफवाहों के प्रकाशन की ललक न रोक पाने के कारण इस संचार माध्यम की विश्वसनीयता ही खतरे में पड़ गयी है। पत्रकारों के लिए सुविधाएँ बढ़ी हैं तो उनसे अपेक्षाएँ भी बढ़ गयी हैं और जोखिम बढ़ा ही है।

आज हमारे समाचार पत्रों के मामले में मुख्य रूप से प्रकाशक या संपादक का यह दृष्टिकोण स्पष्ट परिलक्षित हो रहा है कि पाठक वर्ग को जो कुछ भी दिया जाय, उसे वह स्वीकार्य ही होगा। क्षेत्रीय जरूरतों, विभिन्न वर्गों, प्रवृत्तियों और रुचियों का भाषाई पत्र बहुधा ध्यान ही रखते हैं किंतु एक बहुत

बड़े क्षेत्र में बिखरे पाठक वर्ग की अपेक्षाओं से पत्रों का सामंजस्य नहीं के बराबर है। इसके लिए दोष सिर्फ समाचारपत्र या संपादक–प्रकाशक नहीं, उस पाठक वर्ग को भी दिया जाना चाहिए, जो अपनी अपेक्षाओं से अवगत नहीं करा पाता और तमाम कारणों से कराना नहीं चाहता। आज कम से कम हिंदी पाठकों के बारे में मैं इतना जरूर कह सकता हूँ कि पाठकीय-प्रतिक्रिया का अभाव-सा है। बहुत कम लोग ही हैं जो प्रकाशित सामग्री पर सहज ढंग से अपनी प्रतिक्रिया संपादक तक पहुँचाते हों, यहाँ तक कि समाचार पत्रों-पत्रिकाओं के कार्यालयों से प्राप्त जानकारी के अनुसार कार्यालयों में संपादक के नाम पत्रों की संख्या भी निरंतर कम होती जाती रही है। पाठक की समाचार पत्र से अपेक्षा की बजाय जब किसी क्षेत्र या, रुचि-समूह को अपने स्वार्थ की दृष्टि से कोई प्रकाशित सामग्री अरुचिकर लगती है या यदि वे अपने उद्देश्यों की पूर्ति के लिए कोई बात लोगों तक पहुँचाना चाहते हैं, तभी संपादक को पत्र लिखकर स्मरण करते हैं। इस एकतरफा प्रणाली के लिए बहुत कुछ उत्तरदायी हमारे समाचार पत्र भी हैं। प्रकाशित सामग्री का प्रभाव जाँचने-परखने की कोई व्यवस्था नहीं है और पाठक वर्ग तथा समाचार पत्र संगठन के बीच विचारों के आदान-प्रदान की कोई पद्धति नहीं है। यदि ऐसा हो सके तो संभवतः समाचार पत्र और भी विस्तृत संदर्भों में विभिन्न प्रवृत्तियों, परंपराओं, नये विचारों और दूसरे महत्व-पूर्ण विषयों को समाहित कर सकते हैं।

इस समूची दृष्टि के आधार पर यह भ्रांति होती है कि समाचारपत्र एक शक्तिशाली अस्त्र है। जब तोप मुकाबिल हो अखबार निकालो, को भारतीय स्वतंत्रता संग्राम में चरितार्थ होते हुए हम देख चुके हैं पर बदलते संदर्भों में समाचार पत्र शक्तिशाली अवश्य हैं किंतु अलग से नहीं। अब सिर्फ अपने ही प्रभाव से ये समाचार पत्र जीवन और समाज की वास्तविकताओं को बदल पाने के मामले में लिखकर कमजोर सिद्ध होते जा रहे हैं। समाचारपत्रों का यह छीजता हुआ प्रभाव हमारी चिंता का मूल और सबसे बड़ा कारण होना चाहिए। हमें इस बात पर गंभीरता से विचार करना होगा कि पहले अखबार में छपी सिर्फ कुछ लाइनें बहुत कुछ बदलने में सक्षम थीं, पर अब कॉलम के कॉलम रंगे जाते हैं और बहुधा कुछ भी बदल नहीं पाता। सामाजिक परिवर्तन का हमारा यह अस्त्र इतना कमजोर क्यों होता जा रहा है? इसके कारण क्या हैं? सब अलग-अलग बतायेंगे पर जहाँ तक समाचार पत्र के उद्योग बनने और इसमें व्यावसायिकता का प्रश्न है वहीं यह सवाल भी मौजूद है कि यदि हमारे समाचार पत्रों का प्रभाव कमजोर होता ही रहा तो आगे क्या होगा, इसे हम आसानी से समझ सकते हैं। प्रश्न बहुत विस्तृत है और अधिक विस्तार में न जाएँ तो इतना अवश्य ही कहा जा सकता है कि–इसके लिए दूसरे पर दोषारोपण करने की बजाय पत्रकारिता जगत को स्वयं आत्म-निरीक्षण करना होगा। कारण और निदान ढूँढ़ पाना कठिन कार्य है पर संभव अवश्य है। आज नहीं तो कल इस विषय पर विचार करना ही पड़ेगा। कहीं न कहीं, किसी न किसी बिंदु पर शुरूआत होनी ही चाहिए।

पत्रों की संख्या में वृद्धि और पत्र उद्योग के विकास के साथ-साथ पत्रों का स्वरूप व्यावसायिक हो जाना स्वाभाविक था। अधिक प्रतियाँ बेचने की होड़ में पत्रकारिता के पुराने मूल्य पीछे रह गये और अखबारों में हिंसा तथा सनसनी-भरी घटनाओं और अनेक ऐसे विषयों का 'कवरेज' बढ़ता गया जो पहले अछूते थे। लेकिन ऐसा सिर्फ समाचार पत्रों में हुआ हो, ऐसा नहीं है। सार्वजनिक जीवन और नागरिक जीवन में दिनों दिन बढ़ रही हिंसा 'समाज का दर्पण' माने जाने वाले इस जनसंचार माध्यमों से अछूती ही रहे ऐसा कैसे संभव है। वास्तव में यह सामाजिक मनोविज्ञान से जुड़ा प्रश्न है, जिसे केवल भौतिक, धार्मिक, आर्थिक या राजनीतिक दृष्टियों से अलग-अलग देखकर समझ पाना कठिन होगा। इन सबसे अलग एक प्रश्न है पत्रों का अस्तित्व इस अर्थप्रधान युग में बना रहे, जिसके लिए सबसे जरूरी माना जा रहा है उसकी अधिक से अधिक प्रतियाँ बिक पाने की क्षमता। अब सिर्फ 'मिशनरी' भाव से

पत्र-पत्रिकाओं का प्रकाशन बिल्कुल असंभव है। इसलिए इस संभावना को बिल्कुल नकार कर चलना ही ठीक होगा।

आज जब समाज में हिंसा-प्रतिहिंसा की तेज लहर उठी है, तब अखबार या जनसंचार के दूसरे माध्यमों से इससे अछूते रहने की अपेक्षा कैसे की जा सकती है। 'मृत्यु' एक ऐसा विषय बन चुका है कि उसके किसी भी रूप का वर्णन पाठकों के लिए आवश्यक सा प्रतीत होने लगा है। पत्रकारिता में यह फार्मूला बनता जा रहा है। घटनाओं की सीधी रिपोर्टिंग के बजाय मृत्यु की घटनाओं में नमक मिर्च लगाकर या दहेज जैसे कारणों से जोड़कर रोचक बनाने की प्रथा-सी चल पड़ी है। खोजी पत्रकारिता ने तो इसे और भी बढ़ावा दिया है। सामूहिक हत्या, डकैती, बलात्कार, मृत्यु जैसी घटनाओं के भयावने शब्द और छाया चित्रों की प्रस्तुति सफल पत्रकारिता का मापदण्ड बन चुका है। ऐसी स्थिति में पुराने आदर्शों की बात करना इसलिए बेमानी-सा लगता है कि फिर इनके बिना हमारे अखबार खरीदेगा कौन? समाचार पत्रों की संख्या में अप्रत्याशित वृद्धि और इनमें 'गलाकाट' प्रतिस्पर्धा ने इसे और भी बल प्रदान किया है। साथ ही अब यहाँ से पीछे लौटना भी संभव नहीं प्रतीत होता। किंतु इसके साथ ही मानवीय संवेदना तथा समाज के प्रति नैतिक उत्तरदायित्व का प्रश्न भी उठता है।

सर्वाधिक दु:खद स्थिति यह है कि भले ही हिंदी या भाषाई पत्र-पत्रिकाओं की प्रसार संख्या लाखों में हो परंतु जहाँ तक अपनी श्रेष्ठता को सर्वमान्य रूप से सिद्ध करने का प्रश्न है, इनको एक लंबा संघर्ष-पूर्ण रास्ता तय करना पड़ेगा। और तब तक इन्हें 'न्यूजपेपर' नहीं बल्कि 'लेंग्वेज पेपर्स' की एक अलग निचली श्रेणी में ही गिना जाता रहेगा। देश के नीति निर्माण राजनीतिज्ञ और बड़े अफसर दोनों ही अंग्रेजी समाचार-पत्र पढ़ते हैं। एक बात अच्छी हुई है कि हिंदी समाचार समितियों की अच्छी स्थिति बन गयी है। फिर भी अंग्रेजी के बोलबाले के कारण पत्रकारिता की भाषा अनुवाद की भाषा बनकर रह गयी है। आज भी अंग्रेजी पत्रों की तुलना में हिंदी पत्रों की विश्वसनीयता बहुत कम है और इसका सबसे बड़ा उदाहरण यह भी है कि हिंदी के पत्रकार और संपादक अंग्रेजी पत्र-पत्रिकाओं की कसौटी पर अपने प्रकाशन की परख करते हैं और अंग्रेजी पत्रों की व्यग्रता से प्रतिदिन प्रतीक्षा करते रहते हैं। ऐसा क्यों?

स्वतंत्रता पूर्व के अखबारों की बात ही कुछ और थी। परिस्थितियाँ भी भिन्न थीं। अनेक अखबार खूब बिकते थे और पत्रकारिता के उच्च आदर्शों का पालन करते थे। सिर्फ पैसे के लिए विज्ञापनों में स्त्री-शरीर के नग्न प्रदर्शन जैसे समाज से जुड़े विविध प्रश्नों पर भी उच्च आदर्शों का पालन करते थे। परंतु पश्चिमी पत्रकारिता की ही यह देन कही जायेगी कि सभी चीजें जितना खोलकर उघाड़कर बता सको, दिखा सको, दिखाओ। बच्चों को भी दिखाओ क्योंकि वे एक न एक दिन जरूर ही सारी बातें जान लेंगे या फिर अपनी आँखों से देख लेंगे। फिर यह कैसी रोक टोक? लेकिन इसे अपनाने से पहले यह नहीं सोचा गया कि हमारे समाज में इसकी प्रतिक्रिया अथवा बच्चों और युवाओं के कच्चे मन पर इसका प्रभाव क्या होगा?

उत्तेजना पैदा करने वाली तस्वीरों और हिंसा का चित्रण करने वाली रिपोर्टें, लेख, कहानियाँ, चर्चित लोगों के निजी जीवन से संबंधित चटखारे लेकर पढ़ी जा सकने वाली सामग्री या फिर फिल्मी पन्नों पर 'स्कैण्डल' छापकर पत्रों की बिक्री बढ़ाना आम नुस्खा बन चुका है। अभी हिंदी और दूसरे भाषाई पत्र एवं पत्रिकाएँ इस मामले में थोड़ी 'पिछड़ी' मानी जाती हैं। यह मानने में संकोच नहीं होना चाहिये कि आज की तमाम सामाजिक विकृतियों के लिए काफी सीमा तक जिम्मेदार हमारे समाचारपत्र या अन्य संचार माध्यम भी हैं।

बहुधा प्रश्न उठाया जाता है विज्ञापनों की भरमार और अखबारों की कीमत अधिक होने का।

लेकिन यह सवाल जितना आसान है, उतना ही जटिल। समाचार पत्र का प्रकाशन और संपादन संभवत: सर्वाधिक जटिल और कठिन कार्य है।

संपादक और पत्रकार की स्थिति हमेशा परीक्षार्थी की ही तरह होती है। हर सुबह अन्तर्राष्ट्रीय, राष्ट्रीय, आर्थिक, सामाजिक अनेक पहलुओं से जुड़े प्रश्नों का उसे समाधान ढूँढना पड़ता है, जिसका उत्तर जानने के लिए लाखों पाठक समाचार-पत्र की प्रतीक्षा में रहते हैं, ऐसी स्थिति में प्रकाशक का भी दायित्व है कि वह समय पर अच्छे ढंग से मुद्रित समाचार-पत्र उपलब्ध कराये, जिसके लिए साधन एकत्र करना जरूरी है। आधुनिकीकरण, महँगाई और अन्य कारणों से विज्ञापनों तथा समाचार पत्रों के मूल्य के प्रश्न पर बाध्य होकर प्रकाशक को कभी-कभी अप्रिय निर्णय लेने पड़ते हैं। जो अंग्रेजी के पत्रों के पाठक हैं, प्राय: वे ही हिंदी और भाषाई पत्रों के बारे में ऐसे प्रश्न उठाते हैं। विज्ञापन दरों में भारी अंतर और साधनों की प्रचुर उपलब्धता उनके लिए जहाँ वरदान हैं, वहीं इसकी कमी भाषाई पत्रों के विकास में बाधक और विज्ञापन तथा मूल्य संबंधी मामलों में बहुत बड़ी बाध्यता है। इस संबंध में एक संतुलित दृष्टिकोण की आवश्यकता है कि व्यावसायिकता और पत्रकारिता के मूल्यों में समन्वय का कोई बिंदु जरूर ढूंढ़ा जाय ताकि समाज के व्यापक, मानवीय हितों की रक्षा के साथ-साथ पत्र-व्यवसाय की गति भी न रुके। □

विश्व समाज की अत्याधुनिक अवधारणाएँ

शशिधर खां

द्वितीय विश्व युद्ध के बाद एशिया, अफ्रीका और दक्षिण अमेरिका में बहुत से नये राज्यों के उत्थान, और उनकी राजनीतिक संस्थाओं और प्रक्रियाओं के अध्ययन की आवश्यकताओं ने राजनीति शास्त्र में नये आयाम खोल दिये। समाजशास्त्रियों और इतिहासकारों के द्वारा इन देशों का पहले भी अध्ययन किया जा रहा था, परंतु वह राज्यों का अध्ययन उतना नहीं था, जितना समाजों का। जब इनमें से बहुत से समाजों ने नये राज्यों का रूप ग्रहण करना प्रारंभ किया तो राजनीतिशास्त्रियों का ध्यान उस ओर खिंचना स्वाभाविक था। पाश्चात्य राजनीति विज्ञान उस समय 'व्यवस्था-सिद्धांत' के प्रतिपादकों के गहरे प्रभाव में था, जिन्होंने यह जानने की चेष्टा की थी कि राजनीतिक व्यवस्था सामाजिक व्यवस्था की एक उप-व्यवस्था मात्र थी, जिसे सामाजिक व्यवस्था की ओर से चुनौतियाँ और समर्थन दोनों ही मिलते थे। ये सब राजनीतिक व्यवस्था में आगत तत्वों के रूप में थे, और वैधानिक, 'कार्यकारी तथा न्यायिक कार्यवाही के रूप में, जिन्हें अब नियम-निर्माण, नियम-प्रयोग और नियम-अधिनियम के नाम दे दिए गए, निर्गत तत्वों की सृष्टि होती थी, जो एक ऐसी प्रक्रिया के माध्यम से जिसे प्रतिसंचरण कहा जा सकता था, सामाजिक व्यवस्था में पुनः प्रवेश करते थे। तथा उसके चुनौतियाँ और समर्थन देने वाले तत्वों को कमजोर अथवा मजबूत बनाते थे। यह मानते हुए भी कि गैर-पश्चिमी राजनीतिक प्रक्रियाएँ पश्चिमी राजनीतिक प्रक्रियाओं से भिन्न थीं, उनके अध्ययन के लिए व्यवस्था-सिद्धांत का आदर्श स्वीकार कर लिया गया था। १९५० के दशक में और १९६० के दशक के प्रारंभिक वर्षों में जिन पाश्चात्य राजनीतिशास्त्रियों ने इनके बारे में लिखा उनकी मान्यता यह प्रतीत होती है कि वे इन गैर-पश्चिमी राजनीतिक प्रक्रियाओं का अध्ययन अपनी उस सामाजिक आर्थिक व राजनीतिक पृष्ठभूमि के आधार पर, जिसका विकास पश्चिमी देशों ने पिछली कुछ सदियों में किया था, और जिनसे वे स्वयं प्रभावित थे, सफलता से कर सकेंगे। इस तथ्य ने कि उनमें और पश्चिमी राजनीतिक प्रक्रियाओं में अंतर था और उनकी जड़ें भिन्न प्रकार की सांस्कृतिक पृष्ठभूमियों से अपना भरण-पोषण प्राप्त कर रही थीं, उन्हें इस बात के लिए अवश्य प्रेरित किया कि वे इन समाजों का अध्ययन उनके अपने सांस्कृतिक ओर ऐतिहासिक संदर्भ में करें। इसका परिणाम यह हुआ कि तुलनात्मक राजनीति के अध्ययन में जो नया उपागम विकसित किया जा रहा था उसे अब इतना व्यापक रूप दे दिया गया कि उसमें राजनीतिक संस्थाओं और संरचनाओं के अतिरिक्त उन पारिस्थितिक, सांस्कृतिक और ऐतिहासिक शक्तियों का अध्ययन किया जाने लगा जो उन समाजों को प्रभावित करती थीं। एक अन्तः शास्त्रीय संयोजना के अंतर्गत विकसित की गई अध्ययन की इस नई पद्धति का नाम 'क्षेत्रीय अध्ययन'

पड़ा और कई अमेरिकी विश्वविद्यालयों ने विश्व के कुछ चुने हुए क्षेत्रों की जानकारी प्राप्त करने के लिए क्षेत्रीय अध्ययन केंद्रों की स्थापना की, जहाँ इस प्रकार के अध्ययन को प्रोत्साहन मिला।

१९६० के आसपास के वर्षों में अनेक प्रमुख विद्वानों ने विकासशील देशों का गहराई से अध्ययन किया, जिनसे इन देशों में काम करने वाले सामाजिक आर्थिक शक्तियों और राजनीतिक व्यवस्थाओं को निर्धारित करने वाली राजनीतिक संस्कृतियों को समझने की उनकी अंतर्दृष्टि का पता चलता है। जेम्स एस. कोलमैन, डब्ल्यु. हावर्ड रिगिन्स, लिओनार्ड बाइन्डर, हर्बर्टन्फीथ, लुशियनपाई मायरॉनवीनर, डेविड एप्टर और अन्य लेखकों ने नाइजीरिया, श्रीलंका, पाकिस्तान, इन्डोनेशिया, बर्मा, भारत, घाना और अन्य विकासशील देशों के संबंध में गवेषणात्मक पुस्तकें लिखीं। उन्होंने राष्ट्रीयता के उन विभिन्न रूपों का जो इन देशों में विकसित हो रहे थे, राजनीतिक आर्थिक व सांस्कृतिक स्तरों पर उठने वाली उन दुविधाओं का, जिनका सामना इन देशों को करना पड़ रहा था, उनके राजनीतिक विकास में लोक सेवा, सेना अथवा धर्म की भूमिकाओं का, वैज्ञानिक जनतंत्र की अवनति के कारणों का, राष्ट्र-निर्माण की प्रक्रियाओं में राजनीतिक अभिवृत्तियों और व्यक्तिगत व्यवहारों के योगदान का और इस बात का, कि आर्थिक पिछड़ापन राजनीति के स्वरूप को किस प्रकार प्रभावित करता है, गहराई के साथ अध्ययन किया। यद्यपि ये सभी अध्ययन संरचनात्मक - प्रकार्यात्मक प्रारूप के इस संदर्भ में किए गए थे, जिसका निर्धारण गेब्रियल आमंड ने किया था, इन रचनाओं ने इन देशों के संबंध में हमारे ज्ञान और समझ-बूझ के दायरे को अधिक व्यापक बनाया और अन्य विकासशील देशों के अध्ययन के लिए उत्कृष्ट प्रकार के उपकरण प्रस्तुत किए।

इस बीच नए देशों के संबंध में सांख्यिकी और परिमाणात्मक शोध-सामग्री का एक बड़ा अंबार इकट्ठा किया जा रहा था। राजनीति शास्त्र में सर्वेक्षण की पद्धति का प्रयोग एक लंबे समय से किया जा रहा था और जनमत तथा चुनाव प्रवृत्तियों को समझने के लिए किए जाने वाले अध्ययन का पर्याप्त विकास हो चुका था। अमेरिका के बड़े-बड़े विश्वविद्यालयों येल, मिशीगन, बर्कले, लॉस एंजील्स, स्टैनफोर्ड, पेन्सिलवेनिया आदि अनेक और शोध संस्थानों ने राजनीतिक घटनाओं और उनसे संबंधित अन्य घटनाओं के अंतर्राष्ट्रीय आधार पर किए जाने वाले तुलनात्मक अध्ययनों के लिए आवश्यक सर्वेक्षण संबंधी और अन्य प्रकार की सांख्यिकी सामग्री एकत्रित कर ली थी। न्यूयॉर्क में स्थापित समाज-विज्ञान आधार-सामग्री अभिलेखागार परिषद ने संयुक्त राज्य अमेरिका में एक दर्जन से अधिक विश्वविद्यालयों के आधार-सामग्री अभिलेखागारों को सुदृढ़ बनाने में बहुत अधिक सहायता की। उन राजनीतिशास्त्रियों के सामने जो विकासशील देशों के अध्ययन में लगे हुए थे, इस समय सबसे बड़ा प्रश्न यह था कि इस अपार सांख्यिकी और परिमाणात्मक सामग्री को सिद्धांत-निर्माण के अपने लक्ष्य के साथ वे कैसे जोड़ सकते थे। सांख्यिकी आधार-सामग्री के आधार पर यह बताना तो संभव था कि किसी एक देश के विकास स्तर का उसके राजनीतिक आर्थिक सांस्कृतिक आदि रूपों में परिमापन किस-किस प्रकार से किया जा सकता था, परंतु यह नहीं बताया जा सकता था कि राजनीतिक विकास किन शक्तियों से प्रेरणा पाकर और किन मंजिलों से होता हुआ, क्यों और कैसे आगे बढ़ता है। पर अब यह आशा की जाने लगी थी कि विकासशील देशों के अध्ययन के आधार पर यदि राजनीतिक विकास के किसी सिद्धांत का निर्माण किया जा सका तो, आनुभविक राजनीति के सिद्धांत और मानवीय राजनीति दर्शन के सम्मिश्रण के आधार पर उन समस्त वैज्ञानिक दृष्टिकोण को, जिसका विकास पाश्चात्य राजनीतिशास्त्री नए देशों के अपने अध्ययन के लिए कर रहे थे, बहुत अधिक समृद्ध बनाया जा सकेगा।

राजनीतिक विकास की समस्त प्रक्रिया में अभिजनों की प्रकृति और भूमिका बहुत अधिक महत्वपूर्ण है। जिन समाजों में कृत्यात्मक अभिजन होते हैं वे कम समय में अधिक प्रगति कर सकते हैं, जबकि अन्य समाजों के लिए, जो इतने भाग्यशाली नहीं है, विकास की दिशा में आगे बढ़ना कठिन हो जाता है। इस कारण यह आवश्यक हो जाता है कि राजनीतिक विकास की समस्त प्रक्रिया में हम यह देखने का प्रयत्न करें कि जिस समाज का हम अध्ययन कर रहे हैं, उसके अभिजन कृत्यात्मक है अथवा अपकृत्यात्मक। इन दो प्रकार के अभिजनों में भेद करने के लिए यह आवश्यक नहीं है, कि हम उनमें केवल योग्यता, कुशलता, कुशाग्रता और राजनीतिक कौशल की खोज करें। नैतिक मूल्यों को भी ध्यान में रखना आवश्यक है।

राष्ट्रीय जीवन-क्षमता को राजनीतिक विकास की आधारभूत आवश्यकता माना जाना चाहिए। राजनीतिक विकास के साहित्य में राष्ट्रीय जीवन-क्षमता पर अधिक चर्चा न होने का कारण शायद यह रहा है कि साम्यवादी और नव उदारवादी दोनों ही विचारधाराएं, आचरण में उस पर कट्टरता के साथ व्यवहार करते हुए भी, सैद्धांतिक दृष्टि से, राष्ट्रवादी संकल्पना को गौण मानती है। साम्यवादी 'अंतर्राष्ट्रीय' को अधिक महत्व देते हैं और नव उदारवादी राष्ट्र की आर्थिक व भौतिक समृद्धि को। जहाँ तक राष्ट्रीय जीवन-क्षमता का प्रश्न है, साम्यवादी और पश्चिमी दोनों ही समाज उसे पर्याप्त मात्रा में प्राप्त कर चुके हैं। परंतु विकासोन्मुख राज्यों के राजनीतिक विकास के लिए वह एक महत्वपूर्ण अनिवार्यता है। राष्ट्रीयता की भावनाके प्रति पश्चिमी लेखक चाहे कितनी ही उपेक्षा की भावना की अभिव्यक्ति क्यों न करें, यह एक अकाट्य तथ्य है कि विकासोन्मुख औरं विकसित दोनों समाजों के लिए राष्ट्र समाज की एक आधारभूत इकाई रहा है और भविष्य में भी एक लंबे समय तक रहेगा। इस विवाद में पड़ना आवश्यक नहीं है कि 'राष्ट्र' का अर्थ क्या है। इस संबंध में कार्ल फ्राइड्रिश द्वारा दी गई राष्ट्र की परिभाषा को एक अच्छी कार्यकारी परिभाषा माना जा सकता है। फ्राइड्रिश लिखता है, 'राष्ट्र एक ऐसा संसक्त समूह है जो संयुक्त राष्ट्र संघ के द्वारा निर्धारित अंतर्राष्ट्रीय व्यवस्था की सीमाओं में स्वतंत्रता का उपयोग करता है, जो इस प्रकार के समूह पर प्रभावशाली ढंग से प्रशासन करने के लिए एक निश्चित प्रादेशिक भू-भाग की व्यवस्था करता है और जो प्रशासन,को वह समर्थन प्रदान करता है, जिसके द्वारा उसे विश्व-व्यवस्था के एक भाग के रूप में वैधता प्राप्त होती है।' दूसरे शब्दों में, जीवन-क्षमता प्राप्त राष्ट्रीय-व्यवस्था से किसी समाज में एक ऐसे राष्ट्रीय-राज्य का बोध होता है, जिसकी सीमाओं में विभिन्न समूह, कम अथवा अधिक, मेल-जोल की भावना से रहते हैं, इस अर्थ में कि अभिजन, उप-अभिजन और जन-साधारणके संबंध मैत्रीपूर्ण हैं और राजनीतिक अभिजन, समाज से अपना नैतिक और भौतिक समर्थन प्राप्त करते हुए, उपलब्ध मानवी और प्राकृतिक साधनों का उपयोग प्रभावशाली ढंग से करने की स्थिति में हैं। जिस समाज में अधिक राष्ट्रीय एकता पाई जाती है, वह ऐसे राजनीतिक अभिजनों का निर्माण करने में सफल होता है जो वांछनीय राष्ट्रीय लक्ष्यों का निर्धारण करने और ऐसी संस्थाओं का विकास करने, जिनके माध्यम से इन राष्ट,ीय लक्ष्यों को प्राप्त किया जा सके, स्थिति में होते हैं, और उनकी प्राप्ति के लिए प्रतिबद्ध रहते हैं।

साम्यवादी और पश्चिमी देशों के विकसित राष्ट्र राज्यों में राष्ट्रीय एकीकरण एक निश्चित परिपक्वता के स्तर तक पहुँच गया है और इन देशों के राजनीतिक अभिजन आज अपने को इस स्थिति में पाते हैं कि वे अपने आर्थिक, और आवश्यकता हो तो प्रादेशिक और औपनिवेशिक साधनों का और अधिक विस्तार कर सकें। परंतु विकासोन्मुख देशों में जहाँ राष्ट्रीय एकीकरण प्रायः बहुत ही प्रारंभिक अवस्था में पाया जाता है, राज्य-निर्माण की तुलना में, राष्ट्र-निर्माण, जो राजनीतिक से

अधिक नैतिक समस्या है, संपूर्ण रूप से आवश्यक हो जाता है—बाह्य क्षेत्र में समाज के बाहर से आने वाले दबावों से उसकी प्रतिरक्षा के लिए और आंतरिक क्षेत्र में, उसकी विश्वसनीयता, प्रभाविता, अनुकूलनशीलता और नमनीयता को सुदृढ़ बनाने की दृष्टि से। न्यूनतम पर्याप्त क्षमता के साथ न्यूनतम पर्याप्त साधनों का होना भी आवश्यक है। वास्तव में इन दोनों का चोली-दामन का साथ है। यदि राजनीतिक नेतृत्व समर्थ है तो वह उपलब्ध साधनों के सीमित होते हुए भी, उनका कहीं अच्छे ढंग से उपयोग कर सकता है। इसके विपरीत, यदि वह राष्ट्रीय साधनों के उपयोग के संबंध में उपयुक्त तौर-तरीकों का विकास करने में समर्थ नहीं है तो वह उपलब्ध साधनों को भी बहुत कम समय में बर्बाद कर सकता है। ज्यों-ज्यों इन साधनों का विकास होगा और उन्हें उपयोग में लाया जाएगा, राजनीतिक सामर्थ में वृद्धि की संभावना भी बढ़ जाती है। राष्ट्रीय एकीकरण का यह भी अर्थ है कि विभिन्न प्रकार के सांस्कृतिक, सहभागी राजनीतिक और आर्थिक अभिजनों में सक्रिय विनिमय होता रहे। वास्तव में, अभिजनों के बीच की यह अन्तःक्रिया ही राष्ट्रीय एकीकरण और जीवन-क्षमता का निर्माण करती है। राष्ट्रीय-एकीकरण को, इस कारण तृतीय विश्व में राजनीतिक विकास के अध्ययन का एक महत्वपूर्ण अंग माना जाना चाहिए।

'प्रतिरूप' शब्द का प्रयोग सामाजिक विज्ञानों में एक ऐसी कार्यकारी बौद्धिक संरचना के लिए किया जाता है, जिसकी सहायता से हम सामाजिक अथवा भौतिक स्थितियों को अधिक अच्छी तरह समझ सकें। इस प्रकार की स्थितियाँ वास्तविक भी हो सकती हैं, और काल्पनिक भी। दूसरे शब्दों में, प्रतिरूप एक ऐसे आदर्श को प्रतिबिंबित करता है, जिसे हम प्राप्त करना चाहते हैं, अथवा एक ऐसी प्रक्रिया को मूर्त रूप देता है, जिसका हम अनुसरण करना चाहते हैं। प्लेटो ने अपने ढंग से एक आदर्श राज्य के प्रतिरूप की ही संरचना की थी और अरस्तू ने संविधानों के ऐसे प्रतिरूप दिये थे, जो विकास की विभिन्न मंजिलों से गुजरते हुए विभिन्न समाजों के लिए उपयुक्त हो सकते हैं। परंतु इस शब्द का प्रयोग जब हम आधुनिक राजनीतिक सिद्धांतों के संदर्भ में करते हैं तो यह आवश्यक हो जाता है कि मूल्यों को हम अपनी विवेचना से दूर रखें। दूसरे शब्दों में प्रतिरूपों को हम इस प्रकार की शुद्ध बौद्धिक संरचनाएँ मान कर चल सकते हैं, जिनके द्वारा हमें चिंतन और शोध के कार्यों को एक व्यवस्थित रूप देने में सहायता मिलती है। प्रतिरूप में विभिन्न प्रकार के वे सभी संवर्ग, अधिमान्यताएँ अभ्युपगम और संप्रत्यय सम्मिलित किए जा सकते हैं, जिनकी सहायता से हम अपने शोध कार्य के लिए संगृहीत सामग्री को व्यवस्थित रूप दें, व्यवस्थित सामग्री का विश्लेषण कर सकें और उसके एक आकलन और दूसरे आकलन के बीच के संबंधों का निर्धारण कर सकें। इन प्रतिरूपों को साधारणतः शब्दों, चार्टों अथवा ग्राफों के माध्यम से अभिव्यक्त किया जा सकता है। सामाजिक विज्ञानों में पिछले कुछ वर्षों में होने वाले विकास का एक अंग गणितीय प्रतिरूपों को अधिक से अधिक संख्या में काम में लाना रहा है। एक अच्छे प्रतिरूप का काम–वह गणितीय हो, अथवा किसी प्रकार–का यह है कि उससे हमें उस घटना को समझने में, जिसकी हम जाँच कर रहे होते हैं, सहायता मिलती है। यदि वह हमें इस प्रकार की सहायता नहीं देता है तो उसे अस्वीकृत कर देना, एक परिवर्तित रूप देना अथवा नये सिरे से उसका निरूपण करना हमारे लिए आवश्यक हो जाता है। इस सारी विवेचना से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि किसी प्रतिरूप की उपयोगिता इस पर निर्भर नहीं रहती कि वह यथार्थता का वास्तविक चित्रण करने में सक्षम है। ऐसा तो बहुत कम संभव हो पाता हैं, परंतु इस पर कि वह ऐसी उपयुक्त प्रविधियों अथवा दृष्टिकोणों का सुझाव दे सकता है, अथवा उपयोगी अंतदृष्टि प्रदान कर सकता है जिनकी सहायता से किसी समस्या का ठीक से अध्ययन करने में हमें सुविधा मिले। विभिन्न शास्त्रों से उपागम और संदर्भ-रचनाएँ लेने की समकालीन परंपरा का पालन करते हुए कुछ लेखकों ने जिनमें

कार्ल डब्ल्यू. डॉयच प्रमुख है, सम्प्रेषण और संतात्रिकी (साइबरनेटिक्स) के आधार पर राजनीतिक विश्लेषण के एक नये उपागम का विकास किया है। यह सिद्धांत संप्रेषण सिद्धांत कहलाता है और प्रशासन तथा राजनीति के कुछ निश्चित लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए संचालन और समायोजन की प्रक्रियाओं की उपयोगिता को उस अर्थ में देखता है, जिसमें संचार-वाहन को 'स्टियरिंग' के द्वारा अभीप्सित लक्ष्य की ओर तेजी से दौड़ाया जा सकता है। संप्रेषण सिद्धांत अथवा उपागम निर्णयों के परिणामों में उतनी रुचि नहीं होती, जितनी उनके निर्माण की प्रक्रिया में। वह शायद साइबरनेटिक्स के प्रतिरूप के अनुकूल ही है, क्योंकि उसमें भी लक्ष्य से अधिक महत्त्व संचालन और समायोजन की प्रक्रियाओं को दिया जाता है। संचालन की प्रक्रिया पर, जो वाहन को गति देने में सहायक होती है, अधिक जोर देने से यह तो स्पष्ट हो जाता है कि वह उपागम गतिशीलता की समस्याओं में बहुत अधिक रुचि रखता है। विश्लेषण की इस पद्धति की मूल इकाई सूचना का प्रवाह है, क्योंकि उसी के माध्यम से संचालन की प्रक्रिया को गति के साथ संबद्ध किया जा सकता है।

संप्रेषण-सिद्धांत उस ढंग के कार्यकारी प्रतिरूपों पर बहुत अधिक जोर देता है जो अभियांत्रिकी के क्षेत्र में प्रयोग में लाए जाते हैं। डॉयच के सप्रेषण-सिद्धांत की अपनी व्याख्या का आरंभ ही संचार-अभियांत्रिकी और शक्ति-अभियांत्रिकी में अंतर बताने से करता है, जैसा नॉबर्ट वीनर तथा अन्य लेखकों ने भी किया है। डॉयच लिखता है कि शक्ति-अभियांत्रिकी में परिवर्तन प्राय: उसी अनुपात में होता है, जिसमें शक्ति का उपयोग होता है। इसके विपरीत संचार-अभियांत्रिकी में थोड़ी सी शक्ति का प्रयोग भी कभी-कभी 'संदेश' के 'प्राप्तकर्ता' की स्थिति में बहुत भारी परिवर्तन ले आता है, ऐसे परिवर्तन जो प्रयोग में लाई गई शक्ति के अनुपात में सहस्त्रों गुना बड़े होते हैं। संप्रेषण-सिद्धांत का समस्त आधार परिवर्तन पर है। परिवर्तन शक्ति के द्वारा लाया जाता है, परंतु यह प्राप्त सूचना और उस पर अमल करने पर निर्भर करता है कि प्राप्तकर्ता में कितना बड़ा परिवर्तन लाया जा सका है।

वर्तमान समाज व्यवस्था के पश्चिमी आलोचकों के द्वारा जिन प्रमुख समस्याओं की ओर विश्व का ध्यान आकर्षित किया गया है, उनमें सबसे प्रमुख समस्या व्यक्ति की है जो अपने आपको मानसिक रूप से कुचला हुआ महसूस कर रहा है। आज का मानव-समाज अत्यंत व्यापक, जटिल और साथ ही अत्यधिक सुगठित हो गया है, परंतु उसके गठन का समस्त आधार उत्पादन की कुशलता पर टिका हुआ है, जिसके संदर्भ में व्यक्ति एक उत्पादक भाव बन कर रह गया है और व्यक्तिगत संबंधों का कोई अर्थ नहीं रह गया है। विश्व इतिहास की यह स्थिति सर्वथा नवीन है। १९वीं शताब्दी में, जिसे व्यक्तिवाद और विवेकशीलता का स्वर्णयुग माना जाता है, राजनीतिक, दार्शनिक बड़े संतोष व आत्मविश्वास के साथ यह लिख सकता था कि व्यक्ति किस प्रकार अत्याचार और अविवेक की इन श्रृंखलाओं से, जिनमें वह कई शताब्दियों से जकड़ा हुआ था, धीरे-धीरे मुक्त होता जा रहा है। प्रतिद्वंद्विता, व्यक्तिवाद, सामाजिक स्थितियों और रीति-रिवाजों के बंधनों में ढील, निर्वैयक्तिकता और नैतिक बंधनों से युक्त होने की प्रतिक्रियाओं को विवेक के समर्थक दाशनिकों ने ऐसी शक्ति माना जो अंततः व्यक्ति को भूतकाल के बंधनों से मुक्त करने में सबसे बड़ा साधन होगी। व्यक्ति-परिवर्तन, प्रगति, विवेक, स्वतंत्रता इन शब्दों को उनकी रचनाओं में बहुत महत्त्व दिया गया है। उस युग की मनोवृत्ति में संतोष का भाव व्याप्त दिखाई देता है। यह ठीक है कि १९वीं शताब्दी में विलियम पेन, रस्किन अथवा विलियम मॉरिस जैसे लेखकों को पाते हैं, जिन्होंने अपनी रचनाओं में चेतावनी दी कि मानवता को, सांस्कृतिक और नैतिक दृष्टि से, औद्योगीकरण की तीव्र प्रक्रिया का बहुत बड़ा मूल्य चुकाना पड़ेगा। कौटुंबिक बंधनों का टूटना, ग्रामीण जीवन का विघटन, कारीगरों का अपने स्थान से

विस्थापन, प्राचीन काल से चली आने वाली सुरक्षा की भावना का नष्ट होना आदि आधुनिकता के अनिवार्य परिणामों की इन दार्शनिकों ने पूर्व में कल्पना कर ली थी। परंतु विवेकवाद और व्यक्तिवाद के समर्थकों की मान्यता थी कि यदि मानवता को प्रगति के पथ पर अग्रसर होना है तो उसे यह अनिवार्य मूल्य चुकाने के लिए तैयार रहना चाहिए। इतिहास के अपने अध्ययन के आधार पर उन्होंने यह सिद्ध करने का भी प्रयत्न किया कि उन सभी युगों में, जिनमें मानवता ने महान उपलब्धियाँ प्राप्त की हैं, व्यवस्था का विघटन और परंपरा तथा सुरक्षा के बंधनों का टूटना अनिवार्य रहा है, परंतु २०वीं सदी के आरंभ होते-होते इतिहास के एक स्वर्णिम युग की ओर बढ़ते रहने के इस विश्वास का अंत होने लगा था और शताब्दी के अपराह्न में अब यह स्थिति आ गई है कि प्रमुख सामाजिक और राजनीतिक लेखकों में जो शब्द अधिकतर प्रयोग में लाए जा रहे हैं वे हैं—अव्यवस्था, विघटन, पतन, अरक्षा, विशृंखलता और अस्थायित्व।

किंतु इसके ठीक विपरीत तीसरी दुनिया के नवमुक्त, गुटनिरपेक्ष देशों में लोकतांत्रिक समाजवाद की संकल्पना और प्रक्रियाओं ने इस ह्रासोन्मुख निराशा का स्थान ले लिया है।

□

पूर्वी और पश्चिमी संस्कृति की एकता के क्रम में हिंदी का योगदान

डॉ. देवेंद्र ठाकुर

कुछ समय पूर्व जब मैं पहले—पहल भारतभूमि से रोम आया तो ऐसा लगा कि देश भाषा और संस्कृति से चार महीने तक के लिए निर्वासित हो गया हूँ। पता नहीं इस अनजान वातावरण में मैं अपने आपको कैसे अभ्यस्त बना पाऊँगा। मुझे नेपुल्स नगर में आर्थिक विकास-योजना के व्यावहारिक पाठ्यक्रम को पूरा करना था। पर मन में लालसा थी, काश कोई हमभाषी, कोई नज़दीकी, कोई हम जैसा मिलता। जानकारी ली तो पता चला नेपुल्स के एक विश्वविद्यालय में हिंदी भाषा की शिक्षा की व्यवस्था है। बड़ी खुशी हुई। ऊसर हो रहा मन लहलहा उठा। आकाश कुसुम हाथ आ गया है। इतावली भाषा से अनजान होकर भी, इटली के इस प्राचीन ऐतिहासिक नगर में मैंने ओरियंटल विश्वविद्यालय को ढूंढ निकाला।

डॉ. श्याम मनोहर पाण्डेय जी प्राध्यापक हिंदी विभाग से भेंट हुई। मुस्कराते हुए मिले। उन्होंने तत्काल मुझे आमंत्रित किया कि मैं इनके विभाग को देखकर अनुभव लूँ और उनके विद्यार्थियों को भारत की कृषि और उसकी प्रगति, विशेषकर बहुचर्चित हरितक्रांति से परिचय कराऊँ। विषय मेरे पेशे और अभिरुचि के अनुरूप था।

इटलीवासी विद्यार्थी–प्रथम से चतुर्थ वर्ष के छात्रगण, यहाँ तक कि कुछ भूतपूर्व छात्र एवं छात्राएँ, बड़ी उत्सुकता से मेरी प्रतीक्षा कर रहे थे। मैं उनके बीच यथासमय पहुँचा। वहाँ जो वातावरण मुझे दिखाई दिया, वह अनोखा था। भारत की उसमें छवि मिली थी। पश्चिमी संस्कृति में पले छात्र, भारत की पूर्वी जीवन पद्धति का नक्शा अपने विचार में उतारते हुए मुझे प्रतीत हुए, लगा पश्चिम के भौतिकवादी संस्कृति की धारा का संगम, पूर्वी जीवन पद्धति से कराया जा रहा है–एक अनोखा संगम उभर रहा है जो मानव-मानव की बनावटी दूरी को दूर कर उसे मानवता के सूत्र में आबद्ध कर रहा है। मुझे भान हुआ कि यह कार्य बहुत कठिन है। हिंदी को विदेश में बोधगम्य बनाने की भूमिका दुष्कर कार्य है, साथ-साथ सीखनेवालों में भाषा के साथ-संस्कृति की छवि उतारना तो और कठिन है। इसे कार्य रूप देने में धीरज की जरूरत है, एक संतुलन बरतने की भी जरूरत है, जिससे भाषा और देश की गरिमा के अनुरूप विदेशी वातावरण में हिंदी भाषा के प्रति एक ललक सीखने वालों में जगे। छात्रगण भारत और उसकी प्रगति के बारे में बहुत कुछ जानना चाह-रहे थे। इस संबंध में उनके अनेक प्रश्न थे, भारत के आर्थिक जीवन से संबद्ध। इस पृष्ठभूमि में इटली देश के नेपुल्स नगर के विश्वविद्यालय में हिंदीभाषा की

शिक्षण की स्थिति को मैं विश्लेषणात्मक दृष्टिकोण से छात्र और शिक्षकों के बीच से अनुभव लेकर प्रस्तुत कर रहा हूँ।

इटली दक्षिण-पश्चिम यूरोप का एक देश है। यह भारत जैसा ही अपनी गरिमामय सभ्यता और संस्कृति के लिये विख्यात है। यहाँ प्राचीन ग्रीक और रोम सभ्यता का केंद्र रहा है। नेपुल्स के इर्द-गिर्द बिखरे पोम्पई, हरकुलानी या यचरकुलानी और पुज्जॉली आदि भग्नावशेष इसकी गरिमामय प्राचीन वैभव की कथा अपनी भग्न दीवारों से सुना रहा है।

इस ऐतिहासिक अति प्राचीन नगरी में भाषा संस्कृति और धर्म का विश्वविद्यालय ओरियंटल विश्वविद्यालय। यह विश्वविद्यालय करीब २०० वर्षों से शिक्षण तथा शोध का कार्य कर रहा है। अध्ययन प्रणाली खण्डों एवं पीठों में विभाजित है। धर्म, भाषा, संस्कृति फिर एशियाई अध्ययन विभाग का खण्ड है-भारत अध्ययन। भारत अध्ययन के अंतर्गत हिंदी भाषा और साहित्य की शिक्षा इटालियन छात्रों को दी जाती है। हिंदी के इस क्रम में चीनी और अरबी भाषा के विभाग भी हैं। छात्र अपनी रुचि के विषय का चुनाव करते हैं। हिंदी की शिक्षा चार वर्षों की है। भारत अध्ययन विषय में हिंदी भाषा के अतिरिक्त भारत के प्राचीन धर्म के शिक्षण की भी व्यवस्था है।

हिंदी भाषा और साहित्य का चार वर्षों का पाठ्यक्रम है। पाठ्यक्रम में व्याकरण और साहित्य दोनों समाहित हैं। सूरदास, कबीर, प्रेमचंद, भगवतीचरण वर्मा आदि के पद्य और गद्य साहित्य खण्ड में अध्ययन हेतु निर्धारित किये गये हैं। भारत अध्ययन खण्ड में अध्ययन करनेवाले छात्रों की औसतन संख्या ३० है। चीनी और अरबी भाषा की तरह यहाँ हिंदी भी लोकप्रिय है। हिंदी की अधिक लोकप्रियता और ग्राह्यता के पीछे व्यक्तित्व है डॉ. श्याम मनोहर पाण्डेय का। देशभाषा और संस्कृति की गरिमा को विश्वमंच पर उतारने के लिये और उनका विभाग हिंदी विभाग नेपुल्स नगर के ओरियन्टल विश्वविद्यालय का एक प्रतिष्ठित सुसंपन्न विभाग है।

विभाग का पुस्तकालय सुसंपन्न है। पुस्तकों का चयन मर्यादित और ऊँचे स्तर का है जो उसके गंभीर तह में उतरने के लिए ललक पैदा करता है उन्हें प्रेरित करता है। भारतीय संस्कृति के निकट आने के लिए उन्हें खींचता है। रोमन ग्रीक और संस्कृति का संगम बनाकर जागरूक मानव बनने के लिए और सब मिलाकर मानवता के अमृत से सराबोर होने के लिए।

इस वातावरण में शिक्षित छात्रों पर बातें करने पर ऐसा लगता है कि मैं पुन: भारत में लौट आया हूँ। उनके उच्चारण का ढंग, बोलने की शैली और प्रवाह अति स्वाभाविक प्रतीत होता है। बातचीत के क्रम में मैंने सबसे बड़ी बात यह पायी कि छात्रों में हिंदी भाषा के गंभीर अध्ययन की प्रवृति जगी हुई है। उन्हें भारत के बारे में जानने की प्रबल इच्छा है। मुझसे उन्होंने आधुनिक भारत ही नहीं, उन्नति की ओर पग बढ़ाता भारत ही नहीं, आर्थिक प्रगति के मार्ग पर बढ़ता हुआ भारत ही नहीं, बल्कि सांस्कृतिक धरोहर को बचाकर रखे हुए भारत धर्म और आध्यात्मिक चिंतन को समेटकर जीवन पद्धति में उतारे हुए भारत—बुद्ध, शंकराचार्य, तुलसी और महात्मा गांधी के भारत के विषय में भी जानकारी चाही। मैंने उनकी उत्कंठा को यथासाध्य शांत करने की कोशिश की। एक छात्र और एक छात्रा ने बातचीत के क्रम में बताया कि उन दोनों ने अपनी रुचि से अपने साधन भारत और हिंदी अध्ययन से प्रभावित होकर चार-पाँच महीने भारत में रहकर (बनारस और दिल्ली) हिंदी के अतिरिक्त कत्थक नृत्य का अभ्यास किया। छात्रों में भारत की राष्ट्रभाषा हिंदी और भारतीय सभ्यता और संस्कृति के लिए अगाध श्रद्धा है। बातों के क्रम में उन्होंने प्रेमचंद को याद किया। उनके कथा साहित्य ने उन्हें काफी प्रभावित किया है। उन्होंने 'कफन' शीर्षक छोटी कहानी की भी चर्चा की। उनकी यथार्थता पर वे मुग्ध हैं। प्रेमचंद की सादी टेकनीक और भाषा शैली को वे बेजोड़ मानते हैं। गरीबी का इतना नंगा नाच और बेबाक चित्र उन्होंने

अपनी जानकारी में नहीं देखा है। आधुनिक कविता और संत साहित्य से वे काफी प्रभावित दिखे।

कोई विदेशी स्वत: प्रेरित होकर विदेशी भाषा क्यों पढ़े? इस तर्क के दो पक्ष हो सकते हैं–एक उस भाषा को पढ़कर नियोजित होने की क्षमता ग्रहण करना औद दूसरा उस भाषा की सहज़ता, लचीलापन और ऊँचे निर्वाह वाले साहित्य की पृष्ठभूमि में 'देश' की सभ्यता और संस्कृति की जानकारी प्राप्त करना। हिंदी पढ़कर किसी विदेशी को नियोजन की स्थिति की उपलब्धि तुलनात्मक रूप में कम है, पर भारत का प्राचीन गौरवमय रूप और हिंदी भाषा का वर्चस्व उसकी सहजता, सीखने वालों के मन को बलात् आकृष्ट करता है; उसके गद्य और पद्य एक लयात्मक तारतम्य उत्पन्न करते हैं, जो मन को बरबस अपने में बाँध लेते हैं। वैसे तो इस विभाग में भारतीय धर्म की भी शिक्षा की व्यवस्था है पर हिंदी 'भारत विभाग' का प्राण है, उसका सजीवतम अंग है, इसकी लोकप्रियता अनोखी है। इस विभाग में इस सत्र में 'बनारस में रामलीला' –विषय पर एक शोध प्रबंध भी प्रस्तुत हुआ है। विद्यार्थियों का उल्लास गवाह है कि इस भाषा को, भारत की आत्मा को समझने के लिए वे अति उत्साह से अपना रहे हैं। डॉ. पाण्डेय के अतिरिक्त इस विभाग के अन्य प्राध्यापक हैं–इटलीवासी श्री अम्बर्तो नेर्दल। उन्होंने अपनी रुचि से हिंदी भाषा का अध्ययन किया है। उनकी रुचि आधुनिक हिंदी साहित्य में है।

इटली देश में हिंदी का भविष्य उज्जवल है। कारण है, भारत के जैसा इटली का अतीत अति उन्नत रहा है। ग्रीस और रोम की सभ्यता ही देश और काल के अनुसार परिवर्तित होकर आज यूरोपीय देशों की सभ्यता बन गई है और लैटिन भाषा का ही परिवर्तित रूप यूरोप की इटालियन, फ्रेंच, स्पेनिस आदि भाषाएँ हैं। दूसरी ओर भारत अब भी अपनी प्राचीन सभ्यता और संस्कृति को अक्षुण्ण रखे हुए है। पूर्वी जीवन पद्धति का अब भी आधार भारतवर्ष है। वर्तमान में भारत का ढंग से उभरता हुआ स्वरूप, विकसित होता हुआ आर्थिक रूप, पश्चिमी और पूर्वी जीवन पद्धति का आधुनिक पूर्वी रूप अनोखे रूप में प्रस्तुत है, स्वभावत: एशिया और अफ्रीका के देश सांस्कृतिक प्रेरणा के लिए लालायित होकर हाथ बढ़ा रहे हैं। क्योंकि वे भी अपने पूर्वीपन को बरकरार रखते हुए आर्थिक विकास चाहते हैं। इतना ही नहीं भौतिकवाद भी आध्यात्मिक है। चिंतन के लिए आकृष्ट हो रहा है। यह स्थिति सब मिलाकर देश की सीमा रेखा से दूर की है, विश्वमानवता की खोज की है–एक संसार और एक आदमी की है। □

इतालवी हिंदी विद्वान की दृष्टि में आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी के सांस्कृतिक उपन्यास

डॉ. वीरेंद्र शर्मा

विश्व भाषा के रूप में विकास मान हिंदी की समृद्धि के लिये यह नितांत आवश्यक है कि विदेशी विद्वान इस वाणी को अपने मनोभावों, सारस्वत अध्ययन-मनन और उससे स्फूर्त समीक्षात्मक विवेचन की अभिव्यक्ति का माध्यम बनायें। यदि कोई गंभीर अध्येता किसी भाषा के आकर्षण और उसके साहित्य की महत्ता से सचमुच ही अभिभूत होकर उस साहित्य की श्रेष्ठ कृतियों का तात्विक अनुशीलन करता है तो उसकी समग्र मानसिक भाव-प्रतिक्रिया अनायास ही उसी भाषा में उपयुक्त शब्दों के माध्यम से रूपायित हो उठती है। विदेशी विद्वानों द्वारा मातृभाषा इतर भाषा को अपनी भावाभिव्यक्ति का सहज आलंबन ग्रहण करना न केवल उस भाषा के साहित्य की समृद्धि और व्यापक ग्राहता को रेखांकित करता है, प्रत्युत उस भाषा के प्रभाव-विस्तार और उसके प्रचार-प्रसार में भी महत्त्वपूर्ण भूमिका का निर्वाह करता है। इस संदर्भ में रोम विश्व विद्यालय इटली के हिंदी विभाग से संबद्ध जो जों मिलानेत्ती की हाल में ही प्रकाशित कृति 'आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी और अनामदास का पोथा : एक विवेचना' विशेष रूप से उल्लेखनीय है। इस विशद अध्ययन-परक शोधपूर्ण विवेचन के मूलभूत लक्ष्य को स्पष्ट करते हुए मनीषी लेखक ने तीन कारणों का संकेत दिया है। ''पश्चिम में अभी द्विवेदी जी का नाम नितांत अपरिचित है—प्रस्तुत निबंध को प्रस्तुत करने का यही मुख्य कारण है''। दूसरे कारण के संबंध में लेखक का कहना है—''एक और कारण यह भी मैंने देखा था कि 'शोध' के नाम पर द्विवेदी जी की जीवनी का जैसा 'स्कूली' परिचय दिया गया है, शायद उस लीक से हटकर स्वयं द्विवेदी जी द्वारा लिखे गये पत्रों की सहायता से हजारी प्रसाद द्विवेदी को अपने परिवेश के साथ आप-हम जैसे किसी भी व्यक्ति जैसा 'साधारण' मानव मानकर उनके जीवन-काल पर एक नयी दृष्टि डालने का प्रयास किया जाता'' और अब तीसरा कारण—''अब रह गई अनामदास के पोथे की बात—वह भी इसलिये मैंने हाथ में लिया कि द्विवेदी जी की उस अंतिम औपन्यासिक कृति पर अपेक्षया कम प्रकाश डाला गया है। वहाँ भी मेरी व्यक्तिगत स्थापना है— कि आचार्य द्विवेदी 'ऐतिहासिक' नहीं 'सांस्कृतिक' उपन्यास-कार हैं—के प्रकाश में एक अल्पज्ञ विदेशी (जिसने हिंदी अपनी मातृभाषा-इतावली के माध्यम से पढ़ी है) कुछ अपने विचारों को प्रस्तुत करता।''—कितना स्पष्ट एवं सुनिश्चित चिंतन है इस अत्यंत सार गर्भित प्रारंभिक अवधारणा में!

अगाध वैदुष्य मण्डित आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी (१९०७-१९७९) भारतीय संस्कृति के मूर्तिमान प्रतीक थे। वाणी पर उनका पूर्ण अधिकार था। सुललित गद्य शैली में जिस काव्यात्मक

उपन्यास-विधा की उन्होंने सफल उद्‌भावना की उसके मूल में प्रमुख लक्ष्य था भारत के प्राचीन गौरव का दिग्दर्शन कराना, विस्मृति के गह्वर में विलुप्त अतीत का समुद्धरण कर उसके अमित प्रभ-पुंज से ज्योति ग्रहण करना एवं संपूर्ण विश्व के समक्ष भारतीय संस्कृति के शाश्वत स्वरूप की मनोमुग्धकारी छवि प्रस्तुत करना।

निष्णात उपन्यासकार द्विवेदी जी ने इन चार अद्‌भुत कृतियों का प्रणयन किया— 'बाणभट्ट की आत्म कथा'—(१९४६); 'चारुचन्द्र लेख' (१९६३); 'पुनर्नवा' (१९७३) और 'अनामदास का पोथा' (१९७६)। जो जों मिलानेत्तीने, प्रचलित धारणा की लीक से हटकर, अपनी स्थापना के अनुरूप इन चारों उपन्यासों को 'ऐतिहासिक' न कहकर 'सांस्कृतिक' कहना अधिक उपयुक्त माना है। विवेचन के उपोद्‌घात में इन चारों उपन्यासों की संक्षिप्त चर्चा करते हुए लेखक ने प्रमाणों के आधार पर अपनी उपर्युक्त मान्यता पुष्ट की है। इस स्थापना का सन्तात्मक कथन उन्हीं के शब्दों में— ''उदाहरणार्थ, ''बाणभट्ट की आत्मकथा' के प्रमुख पात्रों में यदि हम सम्राट हर्षवर्धन और राजश्री को छोड़ दें तो शेष सारे-के-सारे चरित्रों को हमें उपन्यासकार की कल्पना का दान भर मानना पड़ेगा। इसी तरह 'चारुचंद्र लेख' के राजा सातवाहन एवं रानी चंद्र लेखा की 'ऐतिहासिकता पर विद्वान आलोचकों ने उचित ही संदेह प्रकट किया है और विशुद्ध ऐतिहासिक दृष्टि से 'पुनर्नवा' के पात्र तो किसी भी तरह इतिहास की कसौटी पर नहीं कसे जा सके... अब रह गया 'अनामदास का पोथा' जिसे किसी भी आलोचक ने ऐतिहासिक नहीं माना, स्वयं द्विवेदी जी तक ने नहीं!'' इन उपन्यासों में द्विवेदी जी की इतिहास-बोध-दृष्टि की अनिवार्य अपरिहार्यता की ओर संकेत करते हुए उपोद्‌घात के निष्कर्ष रूप में लेखक ने प्रतिपादित किया है—''यह सच है कि कुशल कथाकार द्विवेदी जी इन उपन्यासों की कथाओं के सूत्रों का ताना बुनने में, जहाँ भी संभव था, इतिहास की उपेक्षा नहीं कर सकते थे पर उपन्यास-प्रणयन की मूल प्रेरणा उन्हें देश के गौरवशाली सांस्कृतिक परिवेश से ही प्राप्त हुई थी।''

लेखक ने व्यक्तित्व से संबद्ध परिच्छेद को 'आलोक शिखर : पण्डित हजारी प्रसाद द्विवेदी' की संज्ञा दी है जिसमें उनके भौतिक अस्तित्व के बारे में कम उनकी आध्यात्मिक महनीयता के बारे में कुछ विस्तार से लिखने का प्रयास किया है। द्विवेदी जी के पुत्र मुकुंद द्विवेदी द्वारा संपादित 'पत्र' (१९८३) से अनेकों उद्धरण देते हुए जो जों मिलानेत्ती ने आचार्य द्विवेदी जी के आध्यात्मिक साहित्यिक व्यक्तित्त्व के महत्वपूर्ण पक्षों को उजागर किया है। उनके व्यक्तित्व की प्रमुख विशेषताओं में उनकी निजी विद्या और तज्जन्य प्रवृत्ति मार्ग, विश्व कवि रवींद्र के निकट संपर्क में समुत्पन्न नई दृष्टि और विश्वास, उनका उदार मानवतावादी दृष्टिकोण और मौलिक निर्भीक चिंतन, समाष्टि के प्रति उनका प्रेम एवं उनके स्वभाव की सहज निश्छलता, उनके चरित्र की साहित्यिक और आध्यात्मिक गरिमा, कबीर जैसे उनके फक्कड़पन और मस्ती, तुलसी जैसी उनकी समन्वयवादी दृष्टि, उनकी अनूठी हास्य विनोद मनोवृत्ति आदि सम्मिलित हैं। द्विवेदी जी के व्यक्तित्व का चित्रण करते हुए जा जों मिलानेत्ती ने समग्र भारतीय साहित्य के संबंध में एक अत्यंत महत्त्वपूर्ण और विचारणीय बात इन शब्दों में कह दी है :

'पंडित हजारी प्रसाद द्विवेदी सच्चे अर्थों में दिग्गज विद्वान थे। हिंदी साहित्य के समूचे इतिहास में पुराने और नये का ऐसा मणि कांचन संयोग हमें ढूँढ़े नहीं मिलेगा, जैसा द्विवेदी जी के उदाहरण में अनायास ही मिल जाता है। इस बात पर यदि मैं, एक अल्पज्ञ विदेशी, कुछ जोर देकर लिख रहा हूँ तो उसका प्रमुख आशय स्वतंत्र भारत में सर्वत्र व्याप्त (अहिंदी प्रदेशों विशेषकर दक्षिण में) इस भ्रांति का निराकरण करना है कि 'सुसंस्कृत' कहला सकने का अधिकारी वही व्यक्ति हो सकता है जिसने पाश्चात्य ढंग की विद्या का अर्जन किया हो। 'नई कविता' और अज्ञेय अथवा इलाचंद्र जोशी प्रभृति

लेखकों के उपन्यासों के संदर्भ में फ्रायड और जुंग की चर्चा करने से शायद आप अपढ़, अर्द्ध शिक्षित भारतीय को चौंका सकते हैं हम पश्चिम वासियों को नहीं। भारतीय लेखक से हमारी पहली (और सर्वाधिक महत्त्व की) अपेक्षा यही होती है कि उसकी कृतियों अर्थात् उसके 'ज्ञान' में भारतीयता अप्रच्छन्न रूप से उतरे। इस कसौटी पर सौ प्रतिशत खरे उतरने वाले हिंदी साहित्यकारों में द्विवेदी जी का नाम अग्र गण्य था है और रहेगा'—भारतीय साहित्य में शाश्वत सांस्कृतिक गौरव-प्रतिष्ठा के रेखांकन और पश्चिम के प्रति मानसिक दासता के निराकरण के लिये इससे अधिक प्रेरक और स्फूर्तिजनक प्रसंग भला और क्या हो सकता है?

कृतित्व से संबद्ध परिच्छेद में 'अनामदास का पोथा' समीक्षित है। इस आख्यान में 'कल्पना' की प्रमुख भूमिका पर बल देते हुए लेखक ने कहा—स्पष्ट है, कल्पनाशील और 'गप्प' लगाने में असाधारणस रूप से पटु (शायद ही इतना बहु श्रुत विद्वान भारत की किसी भी भाषा ने उपन्यासकार के रूप में पैदा किया होगा) द्विवेदी जी के लिये इतालवी मुहावरे में यह सब 'खुला मैदान' था जहां वे अपनी इंद्र धनुषीय रंगों वाली कल्पना का कोई भी खेल मौज से अपने पाठकों को दिखा सकते थे। यह अकारण नहीं है कि पंडित जी ने इस उपन्यास को पोथा (पोथी नहीं) कहा क्योंकि उनकी इच्छा इस आख्यान को बढ़ाने और इसी उपन्यास के कई भाग लिखने की थी।' इसके पश्चात् ऋषि कुमार रैक्व, उनकी शुभा जा बाला, जगत मामा 'मामा', के चरित्रों की विस्तृत चर्चा है तथा संकेत मात्रा से अन्य पात्रों का परिगणन-विवेचन है। लेखक ने जा बाला को केंद्रीय पात्र के रूप में देखा है और रैक्व के व्यक्तित्व की पूर्णता में उसकी सार्थकता का अंकन किया है।

तदनंतर विवेचन के समापन में लेखक ने आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी के साहित्यक, सांस्कृतिक और राजनीतिक चिंतन पर संक्षेप में प्रकाश डाला है। लेखक के अनुसार द्विवेदी जी की संस्कृत निष्ठ भाषा उनकी आख्यायित विषय वस्तु के सर्वथा अनुरूप है। इस कमनीय गद्य में इतना सहज प्रवाह है कि वह पाठक के रसास्वादन में किसी भी प्रकार का व्याघात उपस्थित नहीं करती। द्विवेदी जी स्वभावत : उदार मानवतावादी विचारों के सहृदय संवेदनशील साहित्यकार हैं जिन्होंने एक प्राचीन दार्शनिक आख्यान में जीवन के सार्व भौम सार्वकालिक सत्य प्रेम की कहानी का सकुशल समावेश किया है। यह विषय प्राचीन आख्यान में ग्रंथित होने पर भी सर्वथा नवीन और आधुनिक परिवेश में उतना ही ग्राह्य और प्रभावकारी है। इस प्रकार यह कहानी—'उपनिषद की कही उनकी आख्यायिका एक नयी, आधुनिक प्रेम कहानी है। मात्र प्रेम-कहानी नहीं, बल्कि अपने प्रतीकात्मक अर्थ में जिजीविषा की कहानी है......... दार्शनिक दृष्टि से तो 'अनामदास का पोथा' भारतीय मनीषा के औपनिषदिक चिंतन की स्वाभाविक स्थल-भूमि है........ अपनी मानवतावादी दृष्टि का सहारा लेकर द्विवेदी जी ने वेदांत की सर्वात्मवादी विचार धारा को मनुष्य की सेवा में लगा दिया है।' समापन का अंतिम वाक्य सूत्रात्मक रूप में गागर में सागर भरने की उक्ति चरितार्थ करता है—'पात्रों द्वारा स्वर्ग लोक को छोड़कर मर्त्यलोक का हँसते हँसते वरण करना उपन्यासकार की सर्वश्रेष्ठ उपलब्धि है।

हिंदी साहित्य-समीक्षा के क्षेत्रों में प्रस्तुत विवेचन एक श्लाघनीय प्रयास और अभिनंदनीय अवदान है। इस दिशा में एक महत्त्वपूर्ण साहित्यिक उपलब्धि के रूप में यह एक नया प्रतिमान है। अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर अन्य विदेशी विद्वान भी अनेक देश में हिंदी साहित्य का परिचय अनुवाद के माध्यम से कर रहे है।

□

कला

भारतीय जन-जीवन का चितेरा जामिनी रॉय

डॉ. प्रेमचंद्र गोस्वामी

कला के क्षेत्र में जामिनीरॉय का नाम सिर्फ इसलिए विख्यात नहीं कि उन्होंने कला साधना का कठिन मार्ग अपनाया और वर्षों तक कार्यरत रहकर अनेक उल्लेखनीय चित्रों का सृजन किया, बल्कि इसलिए भी विख्यात है कि उन्होंने पश्चिमी शैली के अनुकरण मार्ग पर बढ़ रही तत्कालीन भारतीय कला को एक नया मोड़ दिया। वे पहले भारतीय चित्रकार थे जिन्होंने माटी की गंध को महसूस किया और अपने देश के विशुद्ध लोक कला रूपों को अपने चित्रों का विषय बनाया। जीवन के हर क्षेत्र में यूरोपीय प्रतिमानों को आदर्श समझने वाले तत्कालीन समाज में उनकी सर्वथा देशी कला को क्योंकर और कैसे प्रतिष्ठा मिल सकेगी उन्होंने इस बात की किंचित भी परवाह नहीं की और वे कला साधना को अपने जीवन का उद्देश्य बनाकर एक निहायत आडम्बरहीन भारतीय लोक कला शैली के आविष्कार और उत्थान में लग गए।

पैंतीस वर्ष की उम्र पार करने पर जब उन्होंने कला की साधना आरंभ की तब भारत स्वतंत्र नहीं था और कला के क्षेत्र में मात्र पश्चिमी शैली की नकल चल रही थी। जामिनी रॉय ने अनुकरण की प्रचलित धारणा को तोड़ कर बंगाल की लोक कला को अपने निजी अनुभवों का जामा पहनाया और एक विशिष्ट लोकोन्मुख कला शैली का विकास करना आरंभ कर दिया। कालांतर में उसे भारत में ही नहीं, विश्वभर में स्थापित कर दिया।

१० अप्रैल सन् १८८७ को पश्चिम बंगाल बांकुरा क्षेत्र के बेलियातोर ग्राम में जन्मे जामिनी रॉय के पिता रामरतनरॉय एक धनी मानी जमीदार थे। पढ़ने लायक होने पर जामिनीरॉय का कला के प्रति रुझान देखा तो उसे हतोत्साहित न करके उसका उत्साह बढ़ाया और उसे कलकत्ता के स्कूल आफ आर्ट्स में दाखिला दिलाकर अपने आदर्शवादी कला प्रेम का परिचय दिया।

कला विद्यालय में उन्हें शिक्षा दी जाती थी उसका आधार पश्चिमी पद्धति था। अतः जामिनी बाबू का मन उसमें अधिक दिनों तक नहीं रम सका। अंकन और कला कल्पना की अपनी विशिष्ट योग्यता के कारण स्कूल में प्राप्त सुविधाओं के बावजूद उनके मन में वहाँ की शिक्षा के प्रति निरर्थकता का भाव जागने लगा और ऊबकर वे कला विद्यालय का डिप्लोमा प्राप्त करने से पूर्व ही उसे छोड़ आए। कला के क्षेत्र में वे वही काम करना चाहते थे जिसमें उन्हें सृजनात्मक सुख की प्राप्ति होती,

अभिव्यक्ति का विस्तृत आकाश मिलता और माध्यम के प्रयोग की स्वतंत्रता मिलती। अतः वे निजी कला शैली और निजी पहचान के प्रयास में वहाँ से निकल आए।

कला की विधिवत पश्चिमी शिक्षा से मुक्त होने के बाद जामिनी बाबू में खास तरह का आत्मविश्वास जागने लगा और वे एक अकृत्रिम, सहज, सुंदर तथा आम आदमी के करीब पहुँच सकने वाली कला शैली की साधना में डूब गए। उन्होंने महसूस किया कि कला कोई सात समुद्र पार की वस्तु नहीं, बल्कि उसकी खोज इसी देश, इसी प्रांत की सोंघी गंध वाली मिट्टी में की जानी चाहिए। इस देश की माटी के कण-कण में श्रेष्ठ कला के तत्व मौजूद हैं जिन्हें विशेष प्रकार से उजागर किया जा सकता है। उन दिनों एक ओर उनके मन में विक्टोरिया युग की पश्चिमी शैली के प्रति नफरत का भाव जाग रहा था तो दूसरी ओर वे बंगाल के संवेदनशील आदिवासी जन जीवन तथा देहाती गुड़ियों, खिलौनों तथा रासलीला के पात्रों की भंगिमाओं और वेशभूषा की ओर आकर्षित हो रहे थे। वे उनमें विशेष रुचि लेने लगे। जब उन्होंने बंगाल के लोक कलाकारों, कुंभकारों, पौराणिक प्रसंगों का गुणगान करने वालों तथा संथालों के संवेदनशील जीवन को करीब से देखा तो उनका लोक कलाकार जागृत हो उठा। मुक्त रेखाओं और भड़कीले रंगों में उनकी कूची लोक जीवन को मुखर बनाने लगी। रंगाई छपाई करने वालों के लोक रंग अब जामिनी बाबू की कल्पना का स्पर्श पाकर एक विशिष्ट शैली में फलक पर नए-नए रूपाकार ग्रहण करने लगे। उनकी अपनी अंकन शैली चित्रों में नई आभा भरने लगी।

जिले में संथालों की बस्तियों का जीवन देखा तो उसकी मनः स्थितियों और गतिविधियों का अंकन किए बिना जामिनी बाबू नहीं रह सके। राष्ट्रीय आधुनिक कला दीर्घा में इस सीरीज के कुछ चित्र उपलब्ध हैं जो आपकी आरम्भिक शैली का प्रतिनिधित्व करते हैं। आलंकारिता से मुक्त संथाल स्त्री पुरुषों के प्रारम्भिक चित्रों में विभिन्न आकृतियाँ मुखर हुई हैं। एक स्त्री, दो स्त्रियाँ, स्त्री पुरुष या नृत्य और सामूहिक वार्ता या गोष्ठी के आकृतिमूलक चित्रों में प्रयुक्त मोटी गोलाकार रेखाएँ, चटक रंग तथा सौंदर्य वृद्धि करने वाला संयोजन अत्यंत आकर्षक बन पड़ा है।

जामिनी बाबू ने चाहे पुरुषाकृतियाँ बनायी हों चाहे घोड़े गायें या बिल्लियां आदि जानवर बनाए हों, रेखाओं ओर रंगों का उनका सहज संयोजन सदा आँखों को भाने वाला रहा है।

लोक रूपों और लोक शैली के प्रति जामिनी रॉय के लगाव के कारण उनके चित्रों में लाल, पीले, नीले, काले और भूरे रंग भड़कीले और चटख रूप में उपस्थित हुए हैं। उन्होंने मेंहगी रंग सामग्री को कभी तरजीह नहीं दी। सदा देशी और आदिवासी जीवन के गहरे रंगों को अपनाया। चित्र रचना के लिए सस्ती और घरेलू रंग सामग्री का प्रयोग किया। जड़िया मिट्टी, सिंदूर, इमली, नील, हींगलू, गोंद और काजल जैसी सामग्री से निर्मित रंग ही उन्हें प्रिय थे। चित्र के धरातल हेतु वे कपड़ा, प्लाईबोर्ड आदि का उपयोग करते थे।

लोक जीवन के व्यापक अध्ययन के दौरान ही वे कालीघाट के पटुवा कलाकारों के संपर्क में आए। उनकी कला से वे बेहद प्रभावित हुए। वे लोग तीर्थ यात्रियों को कागज पर जलरंगों द्वारा चित्र बनाकर सस्ते दामों में बेचा करते थे। देवी देवता, पशु पक्षी, जलचर तथा बंगाली जीवन इन चित्रों के प्रमुख विषय थे। कुंडली शैली की गोलाकार रेखाओं से तैयार इन चित्रों को जामिनी राय ने देखा तो सोचा इस अपूर्ण शैली को वे पूर्णता की ओर ले जा सकते हैं। उन्होंने इस कला को आधार बनाकर अपनी नई लीक विकसित की जिसमें पौराणिक कथा प्रसंगों, तथा जीवन से जुड़े दूसरे विषयों को भी शामिल कर लिया।

जामिनीरॉय के चित्रों को हम आदर्श, चिरंतन लोक जीवन की अनुभूति से सराबोर चित्रों की

संज्ञा दे सकते हैं। उनके चित्र न.तो लघु चित्र शैली और पश्चिमी शैली की नकल हैं और न बंगाल के पट चित्रों तथा नवकला चित्रों की अनुकृतियाँ हैं। वे तो भौतिक लोक चेतना से उद्‌भुत ऐसी चित्राकर्षक कृतियाँ हैं जो हमारे समक्ष बच्चों की सी सहज कल्पना से युक्त रूपाकारों और रंगों के झिलमिलाते परिदृश्य उपस्थित करती हैं। एक बार अपनी कला के विषय में स्वयं उन्होंने कहा था—मेरी कला वैसी ही है जैसे कोई बच्चा हो, जिसे हर कोई अपनी गोद में उठा लेता है। बच्चे मेरे गुरु हैं। आदमी जब मार्ग भूल जाता है, उसके चारों और अंधियारा होता है तब उसे बालक से मदद मिलती है। सबके भीतर जो असल आत्मा है वह बालक ही है। उसके साथ सबका मेल और समीप्यभाव स्वाभाविक है।

जामिनी बाबू का संपूर्ण चित्रकर्म उनका समूचा चित्र संसार लोक जीवन को प्राणवान बनाने वाला रहा है। लोक प्रथाओं व विषयों को अपनी कला में स्थान देने के पीछे उनका एक ही उद्देश्य था कि भारत के लोगों को उन अंचलों से परिचित कराया जाय जहाँ भारत की आत्मा निवास करती है। एक उपयोगी व्यवसाय में अपनी नौकरी को छोड़ कर कला की साधना का, अभावों का जीवन अपनाने के पीछे भी उनकी यही मंशा थी। उन्होंने अपनी कला के व्यावसायिक उपयोग की बात कभी नहीं सोची। कहते हैं जीवन काल में उन्होंने अपना कोई भी चित्र ३५०/- रुपयों से अधिक मूल्य में नहीं बेचा।

कला के माध्यम से ज़ामिनी बाबू जन साधारण से जुड़ने की आकांक्षा रखते थे और उसी दिशा में लगातार सक्रिय रहे। वे चाहते तो अपने चित्रों की खासी रकम कला प्रेमियों और संग्रहालयों से वसूल कर सकते थे क्योंकि तीसरे दशक तक वे कला क्षेत्र में पर्याप्त लोकप्रिय हो चुके थे। आज चाहे जामिनी बाबू के एक चित्र की कीमत पचास हजार रुपया तक आँकी जा रही है किंतु जीवन रहते उन्होंने कभी ऐसा नहीं सोचा। वे उन्मुक्त होकर कला से जुड़े तथा अनवरत साधना के साथ जीवन पथ पर अग्रसर होते रहे। लोक जीवन के साथ-साथ मिट्टी के बर्तनों, काष्ठ शिल्पों और खिलौनों के आकार भी उनके चित्रों में उभरे। रंगों और रेखाओं को एक विशिष्ट धुन यथार्थ जीवन की एक संगीतमय झंकार उनके चित्रों में सुनाई दी।

देखने में उनके चित्र जितने साधारण लगते हैं प्रभाव की दृष्टि से वे उतने ही असाधारण हैं। मां-शिशु ढोलवादक, संथाल स्त्रियां, भेंट, सीता की अग्नि परीक्षा, टैगोर और बापू, पुजारिनें रथयात्रा, घोड़ा गाड़ी, रामभक्त हनुमान व दिल्ली और उनके कुछ बहु प्रचारित चित्रों के शीर्षक हैं जिन्हें देशभर की पत्र पत्रिकाओं ने जामिनी रॉय की कला का परिचय देते हुए प्रकाशित किए हैं और जो कला क्षेत्र में चर्चा का विषय बने हैं।

जामिनी रॉय का चित्रकार मन जब कभी रंगों में नहीं रमता तो वे सफेद स्याह रेखाकंन भी किया करते थे। उनके रेखांकन लोक रूप कला की उस अविच्छिंद धारा को आगे बढ़ाने वाले सिद्ध हुए हैं जो उनके साधना के सागर में हिलोरे लेती रही थीं। 'तीन योद्धा' 'घोड़ा गाड़ी' आदि रेखाचित्र उनकी रेखांकन परिचायक पद्धति में बने सुप्रसिद्ध चित्रों के शीर्षक हैं।

कला साधना के मार्ग पर बढ़ते हुए जामिनीरॉय कभी किसी वाद से नहीं जुड़े और न किसी खास चित्रकार की शैली का अनुकरण किया। उनके चित्रों की एक निश्चित प्रणाली थी जो उनकी निजी शैली के रूप में सामने आई। उनकी समग्र कला पर टिप्पणी करते हुए कला पारखी विष्णु ने लिखा है— 'चित्र में उभार दिखाने और आकारों को मूर्त करने की दृष्टि से जामिनीरॉय ने दर्शकों को कभी नहीं उलझाया। उन्होंने बच्चों की विशुद्ध आकार कला के दृष्टिकोण को अपनाया तथा आदिवासियों के गहरे रंग विधान के माध्यम से अभिव्यक्ति की। उनकी कला शैली को बहुत कम लोगों ने समझा और

पहचाना। कला के नित नए पारिभाषित मूल्यों और मान्यताओं का झमेला जब उन्हें सताने लगता तो वे गुड़ियाओं और खिलौनों की आकर्षक दुनियां में सोने का प्रयास करते। उन्होंने अपना ध्यान सदा बंगाल की ग्राम कला और मोहक लोक रंगों में केंद्रित रखा।

भूख और गरीबी की मार से त्रस्त बंगाल के करुण दृश्यों, अनाथों, निराश्रितों और उपेक्षा का जीवन जी रहे स्त्री पुरुषों का चित्रण करके जामिनीरॉय को विशेष सुख प्राप्त होता था।

शांत और अशांत दोनों मनः स्थितियों में वे चित्रों की रचना त्वरित गति से करते थे। अपनी कला के उत्कर्षकाल में उन्होंने प्रतिदिन दस चित्रों की रचना की। अपने संपूर्ण जीवन काल में उन्होंने लगभग बीस हजार चित्र बनाए।

जामिनीरॉय की चित्र सामर्थ्य धीर-धीरे इतनी बढ़ गई कि देश में ही नहीं विश्वभर में उनके चित्रों की प्रशंसा की जाने लगी। महात्मा गांधी ने भी उनके बाघ बाजार स्थित मकान में जाकर उनकी कला का निकट से अवलोकन किया था। ये उनकी कला के प्रशंसकों में से थे। गांधी जी ने उन्हें 'राष्ट्रवादी कलाकार' की संज्ञा से अभिहित किया था।

भारत सरकार द्वारा वर्ष १९५५ में जामिनी बाबू को पद्म विभूषण की उपाधि देकर सम्मानित किया गया। उन्हें देश विदेश से लगातार आमंत्रण प्राप्त होते रहे किंतु अपनी कार्यस्थली बंगाल तथा अपने कला साधना कक्ष (स्टुडियो) का मोह उन्हें सदा कहीं बाहर जाने से रोकता रहा।

उनकी कला सामर्थ्य को पहचानने वाले उनकी प्रशंसा किए बिना नहीं चूकते थे। फ्रांसीसि कला समीक्षक ए. हेर्वे मेस्यां ने उन्हें महान् समकालीन चित्रकारों की श्रेणी में रक्खा था तथा महान् चित्रकार हेनरी मातीस से उनकी तुलना की। यूरोप के दूसरे बड़े समीक्षकों ने भी उन्हें 'भारतीय कला का पैगंबर' कहकर सराहा था। समीक्षकों ने उनकी संपूर्ण कला सामर्य की तुलना सेजां से, व्यापक दृष्टि और गहराई की बैंगाफ से तथा रेखागति की तुलना पिकासो से की है।

अपनी कला के माध्यम से जामिनीरॉय ने जिन सहज भारतीय कला रूपों को संस्कार दिया उसके पीछे उनकी गहरी कलादृष्टि और सोच की छाप है। उनकी कला भारतीयता से भी आगे बढ़कर विश्वजनीन् हो गयी। लोक कला रूपों का यह अन्वेषी नित नयी चुनोतियों से जूझता हुआ विश्व कलाकार हो गया।

२४ अप्रैल १९७२ को कलकत्ता में इस उदास मानवतावादी चित्रकार का निधन हुआ। जामिनीरॉय हमारे बीच नहीं रहे किंतु लोक संस्कृति को उनकी विशाल देन आज उनके चित्रों के रूप में जीवित है। जन जीवन की विविध भंगिमाओं और रूपाकारों की जो निधि वे हमें दे गये हैं वह विश्व कला परिवार के लिए अनमोल घरोहर है। उनके जन्म शताब्दी वर्ष १९८७ में हम नतशिर होकर श्रद्धा सुमन अर्पित करते हैं।

□

पुस्तक

दूसरा घर

अंजलि तिवारी

'पानी के प्राचीर', 'जल टूटता हुआ', 'अपने लोग' के पश्चात् रामदरश मिश्र जी का यह चौथा बड़ा उपन्यास है। यद्यपि उनके सारे ही उपन्यासों में उनका अपना गाँव धँसा होता है और इस उपन्यास में भी घसा हुआ है किंतु इसकी अपनी ज़मीन उनके अन्य उपन्यासों से काफी अलग सी है यानी इस उपन्यास में इन्होंने अहमदाबाद में रहने वाले उत्तर भारतीय लोगों की ज़िंदगी को कथ्य बनाया है। ऐसे लोगों की ज़िंदगी अहमदाबाद और अपने गाँव-घर के बीच बँटी हुई और तनी हुई दिखाई पड़ती है। वे अपना गाँव छोड़कर अहमदाबाद (और ऐसे ही अनेक नगरों और महानगरों में) आते हैं—अर्थोपार्जन के लिये। यहाँ रहकर भी पूरे मन से यहाँ रह नहीं पाते क्योंकि उनके परिवार का एक बड़ा हिस्सा गाँव पर अभावग्रस्त अवस्था में पड़ा होता है। वे किसी प्रकार पैसा कमा-कमाकर उनके लिये भेजते रहते हैं और यहाँ स्वयं विडंबनापूर्ण जीवन व्यतीत करते हैं यानी पूरे तौर पर वे न गाँव के हो पाते हैं न उस शहर के जहाँ वे अर्थोपार्जन करते हैं। इनमें से अधिकांश को कमाई-धमाई के बाद अपने गाँव ही लौटना होता है और विडंबना यह होती कि लौटने के बाद गाँव भी इन्हें नहीं पहचानता और अधिकांश की गँवई संपदा को उनके घरवाले हड़प लिये रहते हैं।

हिंदी उपन्यास के लिये यह एक नयी ज़मीन है जिसे मिश्रजी ने उसकी पूरी वर्तुलता और व्यापकता में पहचाना है। अहमदाबाद में रहने वाले इन उत्तर भारतीयों में तरह-तरह के पेशों, स्थितियों, विचारों और संस्कारों के लोग हैं किंतु प्रमुखत: वे सामान्य लोग ही हैं। लेखक ने इन तमाम सामान्य लोगों के वैविध्य को रेखांकित करते हुये अपने एक पात्र के माध्यम से कहा है— 'एक ओर सुखियों की कतार है दूसरी ओर लहूलुहान लोगों की जमात। कोई गरीबी और अभाव से लहू-लुहान हो रहा है, कोई अपनी मूल्यवादी टकराहटों से। दो घरों के बीच फँसे हुये इन अनंत लोगों की अनंत कथाएँ हैं। बहुत कम लोग हैं जो अपने गाँव वाले घर से निश्चिंत हैं। कितने लोग हैं जो नौकरी के बाद यहाँ बसेंगे? अधिकांश को तो अपने गाँव ही लौटना है इसलिये वे उस गाँव से जुड़े होते हैं जुड़ते जाते हैं और जीवन भर यहाँ और वहाँ की समस्याओं के बीच फड़फड़ाते हैं, उलझते हैं, निकलने के लिये जितना फड़फड़ाते हैं उतना अधिक उलझते हैं। ऐसे ही तमाम ज़िंदगियाँ बीत जाती हैं।

रामदरश मिश्र अपने उपन्यासों में विशेषतया बड़े उपन्यासों में किसी समस्या को प्रमुखता देने के स्थान पर एक बड़े वर्तुल जीवन को महत्व देते हैं और उस जीवन में खुभी हुई अनेक समस्याएँ एक

दूसरे में से निकलती हुई, परस्पर टकराती हुई उठती रहती हैं और इस तरह अनेक उपन्यासों में समस्याओं का एक जाल बनता रहता है। लेखक की द्रष्टि सामाजिक जीवन की संश्लिष्टता की ओर होती है अत: उससे जुड़ी समस्याएँ खुद-ब-खुद उभरती चलती है। प्रस्तुत उपन्यास में प्रवासी उत्तर भारतीयों की कथा कही गयी है। उस कथा में न जाने कितने सामाजिक सांस्कृतिक राजनीतिक और आर्थिक सवाल सहज भाव से उभरते चले गये हैं।

कथा शुरु होती है शंकर के आत्ममंथन से। कॉलेज से लौटने पर उसे गाँव-घर से आयी हुई चिट्ठी मिलती है। गाँव पर उसके माता-पिता और भाइयों के साथ उसकी बीवी और बच्चे हैं। यद्यपि गाँव पर अच्छी खेती बारी है और उसके भाई लोग वहाँ कमाते हैं फिर भी उससे पैसे की माँग होती रहती है किंतु वह विद्या-व्यसनी है अत: पढ़ने और किताब खरीदने में तथा ढंग से रहने में उसके पैसे खर्च हो जाते हैं गाँव पैसे कहाँ से भेजे? किंतु पारस भइया जैसे लोग भी हैं जो लीचड़ ढंग की ज़िंदगी जीते हुये खूब पैसा बचाते हैं और गाँव भेज देते हैं। पारस भइया शंकर के पास ही रहते हैं अत: दो तरह की ज़िंदगियाँ स्वभावत: टकराती हुई उभरती रहती हैं। हाँ तो कथा शुरु होती है शंकर से किंतु मिश्रजी के पाठक यह जानते हैं कि वे इकहरी कथा का बयान नहीं करते हैं कथा में से कथा फूटती है एक ही साथ संक्रांत मानसिकता के कई रंग उभरते हैं। शंकर का मन आज कॉलेज में घटित कुरूप शैक्षिक घटना से दुखी है और उस दु:ख में घर से आयी हुई चिट्ठी दुख की एक नयी पर्त जोड़ देती है। इतना ही नहीं फूकू की पीड़ा उसमें दुख की एक और पर्त पैदा करती है। इस संक्रांत स्थिति और मन:स्थिति के बीच पारस भइया की उपहासास्पद अर्थ-चिंता व्यंग्यात्मकता पर पैदा कर देती है। यानी पहले ही अध्याय में हम शंकर के माध्यम से यथार्थ के एक वर्तुल बिंब का साक्षात्कार करते हैं। पूरे उपन्यास में यह क्रम चलता रहता है और धीरे-धीरे सहजभाव से विनोद, कमलेश, रहमान, गंगाराम शास्त्री द्वारा अभिप्रेत जीवन के अनेक संबंधों, प्रश्नों और मूल्य संघर्षों की सृष्टि करते रहते हैं। इन पात्रों की टकराहट कई स्तरों पर है (१) अपने गाँव के परिवार के साथ टकराहट (२) गुजरात की सामाजिक और सांस्कृतिक चेतना के साथ उनकी सामाजिक और सांस्कृतिक चेतना की टकराहट (३) दूसरे प्रदेश (गुजरात) की प्रादेशिकता से उत्पन्न अजनबीपन से टकराहट (४) उत्तर भारत के ही धनी गरीब मूल्यहीन और मूल्यवादी लोगों की पारस्परिक टकराहट (५) सांप्रदायिकता की टकराहट (६) राजनीतिक क्रूरता और मानवीय चिंता की टकराहट। जैसा ऊपर कहा गया है ये टकराहटें अलग-अलग और वर्गीकृत नहीं हैं बल्कि एक दूसरे से जुड़ी हुई हैं, तनी हुई हैं। इसलिये चाहे स्थितियाँ हो, चाहे समस्याएँ, चाहे पात्र सभी जटिल हैं, इकहरे या वर्गीकृत नहीं हैं।

इस उपन्यास में मुख्यत: दो व्यवसायों से जुड़े पात्र हैं (१) शिक्षा से (२) मिलों से। शंकर विनोद, कमलेश आदि यदि प्राइमरी और हाई स्कूल के शिक्षक हैं तो डॉ. गौतम कॉलेज के प्रतिष्ठित सम्मानित शिक्षक। लेखक ने दोनों ही क्षेत्रों में व्याप्त शिक्षा जगत की विसंगतियों को उभारा है और फलते फूलते मूल्यहीन शिक्षकों तथा लहू-लुहान होते मूल्यवादी शिक्षकों के संघर्ष को रूपायित किया है तथा उनके अनेक आयामी दर्द का उद्घाटन किया है। एक ओर कमलेश और शंकर की मूल्यवादी चेतना असफलता के सन्नाटे में भटकती है तो दूसरी ओर प्रतिष्ठित साहित्यकार और यशस्वी व्याख्याता डॉ. गौतम की नौकरी छूट जाती है और उन्हें गुजरात से निर्वासित होना पड़ता है। इसी प्रकार लेखक ने मिल क्षेत्र से संबंधित दर्द की तमाम छोटी-छोटी इकाइयों की योजना की है जो लड़ती है, झगड़ती है दर्द से कराहती हैं एक दूसरे की व्यथा में शामिल होती है और अभाव-जर्जर होने के बावजूद एक जिजीवषा से स्पंदित दीखती हैं। लेखक ने समकालीन सांप्रदायिक समस्या पर भी उंगली रखी है और हिंदू मुसलमान दोनों के बीच मानवीय संवेदनाओं का सेतु निर्मित करने की कोशिश की है।

उसने दोनों ही संप्रदायों के असुंदर तत्त्वों का पर्दाफाश करते हुये उन्हें जोड़ने वाले सुंदर और मानवीय संवेदनों को रेखांकित किया है और बड़ी निर्ममता से यह भी उद्‌घाटत किया है कि गंगाराम शास्त्री जैसे राजनीतिज्ञ ही इन दोनों संप्रदायों के क्रूर लोगों को आपस में लड़ा कर भयानक नर-संहार कराते हैं और अपना उल्लू सीधा करते हैं।

यथार्थवादी लेखक ने किसी भी पात्र की विसंगति या अंतर्विरोध को नज़र अंदाज नहीं किया है किंतु उसकी प्रगतिशील दृष्टि ने यथार्थ की गलाजत की परिणति गलाजत में नहीं की है। वह मनुष्य के भीतर निहित संभावनाओं और मूल्य चेतना को लगातार रेखांकित करती चली है। उसने अभिशप्तों और दलितों की वेदना में एक अद्‌भुत मानवीय ज्योति देखी है—जैसे विनोद को पालने वाले रहमतुल्ला, रहमतुल्ला को पालने वाले पलटू, कमलेश के गरीब मामाँ रामसहाय पांडे, फेंकू, असरफी चंदा आदि पात्रों में। उसने स्कूल के हरिजन छात्र को पीटने वाले पंडित जी और अपने छोटे से नौकर को मारने वाले गंदे संपत सेठ के विरुद्ध शंकर और विनोद को खड़ा कर दिया है—व्यावहारिक और वैचारिक दोनों रूपों में। लेखक ने चारों ओर से हताश कमलेश को अपने हाथों पर भरोसा करने का बोध प्रदान कर निष्क्रिय मध्यवर्गीय मानसिकता को तोड़ा है।

मिश्र जी की प्रगतिशील दृष्टि नारी-यातना के विभिन्न आयाम उभारती हुई उसे ऊर्जा से तानती है। गंगाराम के मंत्री हो जाने पर उनकी पत्नी रमाबहन उसकी गलाजत के विरोध में घर छोड़कर चली जाती है और गंदे पति की आश्रिता बनी रहने के स्थान पर अपने पाँव पर खड़ा होना चाहती है। ऐसे अनेक प्रसंग हैं। डॉ. गौतम और उनकी पत्नी सुषमा अपने धैर्य और सुदृढ़ मानवीय सोच में बहुत आकर्षक हैं।

रामदरश मिश्र ने अपनी रचना प्रक्रिया के बारे में कहीं कहा है कि वे अपने उपन्यासों के लिये पहले से कोई सिनापसिस नहीं बनाते। उनके सामने एक अभीप्सित जीवन का जंगल होता है। उसमें वे कहीं से पैठ जाते है और जंगल की यात्रा शुरु हो जाती है। ओर सहज क्रम में कथा में से कथा निकलने लगती है और आवश्यकतानुसार शैली वर्णनात्मक बिंबात्मक संवेदात्मक होती चलती है और इसी प्रकार भाषा भी भिन्न-भिन्न रूप धारण करती चलती है। इस बृहद उपन्यास में उनकी औपन्यासिक शैली और भाषा की ये विशेषताएँ देखी जा सकती हैं। लेखक ने कहीं स्मृतियों के माध्यम से कथा कही है और वहाँ अतीत और वर्तमान को तान कर कथा को संकुलता प्रदान की है (जैसे पहले अध्याय में) कहीं पर्वों, त्यौहारों, प्राकृतिक दृश्यों और संक्रांत मनः स्थितियों के विधान में उसकी शैली और भाषा काव्यात्मक हो उठीं है किंतु उस काव्यात्मकता में औपन्यासिकता खोती नहीं, उसी में अपना रूप ग्रहण करती चलती है, बल्कि प्रायः संवादों का सहारा लिया गया है और इस प्रक्रिया में पात्रों के अनुकूल भाषा मंथरता-क्षिप्रता कोमलता ऊर्जा ॠजुता-जटिलता आदि के अनेक रंग ग्रहण करती चलती है और एक नाटकीय वक्रता की सृष्टि होती रहती है। □

दूसरा घर/रामदरश मिश्र/वाणी प्रकाशन/दरियागंज/नयी दिल्ली २/मूल्य ६० रूपए/पृष्ठ ३९२।

मारीशस में आयोजित अंतर्राष्ट्रीय समुद्री महोत्सव में भारत का योगदान

डॉ. हरगुलाल गुप्त

हिंद महासागर की अतल व्याप्त गहराई में मैडागास्कर से कुछ दूर एक छोटा-सा द्वीप है जिसे दुनिया मारीशस के नाम से जानती है। इसका कुल क्षेत्र फल ७०० वर्ग मील और आबादी १० लाख से कुछ ऊपर है। उन्नीसवीं शती के मध्य में अंग्रेजों ने गन्ने के खेतों में कार्य करने के लिये हमारे लाखों बंधुओं को भारत से फीजी, मारीशस, सूरीनाम, ट्रिनिडाड, गयाना, जमाइका आदि देशों में भेजा था। अनेक यातनाओं और कष्टों के बीच में इन्होंने अपनी संस्कृति की रक्षा की यही इनकी सबसे बड़ी तप:पूत साधना थी और गाँठ की पूँजी की तरह अपनी 'अस्मिता' को बनाये रखना इन्हें सबसे अधिक प्रिय था। ये लोग भारत से गीता, रामायण, सत्यार्थ-प्रकाश, कुरान, कुरल आदि धर्म ग्रंथ एवं आल्हा, कजरी, रसिया, फाग, कबीरा जैसे लोकगीत अपने साथ लाये थे। सुबह से शाम तक वे खेतों में मेहनत-मजदूरी करते, अपना खून-पसीना बहाते और शाम को बैठका में रामायण गाते, गीता का उपदेश सुनते और सारे दिन खेत में क्या हुआ, क्या न हुआ इसे रसिया के मधुर शब्दों में भूल जाते। उन दिनों यही सब कुछ इनके जीवन का आधार था और इसी के आधार पर इन्होंने अपने भविष्य का निर्माण किया था।

हम सबको यह देखकर बहुत प्रसन्नता होती है कि भारत के बाद मारीशस ही ऐसा देश है जिसमें ८४० सरकारी-गैर सरकारी स्कूलों में हिंदी, २३० स्कूलों में तमिल, १०० स्कूलों में तेलुगु और लगभग ४० स्कूलों में मराठी की पढ़ाई होती है। मारीशस सरकार भी इनके अध्ययन-अध्यापन में काफी रुचि लेती है। भारत सरकार.पुस्तकें, टाइप-मशीनें, छात्रवृत्ति और विद्वानों आदि को भेज कर भाषा के साथ-साथ यहाँ के सांस्कृतिक विकास में पूरा योग देती है। महात्मा गांधी संस्थान के साथ-साथ श्रीमती इंदिरा गांधी सांस्कृतिक केंद्र की स्थापना का प्रयास इस बात का सबूत है कि भारत मारीशस के सांस्कृतिक विकास में भारी दिलचस्पी लेता है। कारण यही है कि भारत और मारीशस की सांस्कृतिक विरासत एक जैसी है। हिंदू घरों में कथा के स्वर, मंदिरों में यज्ञ के बाद आरती की मधुर स्वरलहरी, हिंदी पाठशालाओं के वार्षिकोत्सवों में संदेश के स्वर, 'कावड़ी' सजाने का अपूर्व उल्लास, 'नमाज' की बुलंद आवाज, कत्थक, भरत नाट्यम और कुचीपुड़ी में थिरकते पैर, मांग में सिंदूर, माथे पर बिंदिया ओर साड़ी पहने भारतवंशी महिलायें आपको मारीशस के हर गली-मुहल्ले में मिल जायेंगी। यहाँ आकर आपको यही लगेगा कि आप पुन: भारत के किसी परिचित हिस्से में पहुँच गये है। ऐसे महान देश मारीशस ने अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर सितंबर से लेकर नवंबर तक इस वर्ष समुद्री

महोत्सव मनाने की पहल की है। यह गौरव की बात है कि इस महोत्सव को प्रारंभ करने का श्रेय भारत को मिला। पूरे एक सप्ताह तक भारत अपनी प्राचीन समृद्ध परंपरागत कला और अधुनातन प्रगति के नये आयामों के साथ इस महोत्सव के द्वारा मारीशस के हर घर और हृदय पर छाया रहा और लोग लाखों की संख्या में भोज्य पदार्थों की सुवास, संगीत कीं मधुर स्वरलहरी, नृत्य के थिरकते पैर, वस्त्र-वयन-कला की बारीकी और सागर की छाती को चीरते 'सागर-कन्या' और 'विंध्यगिरी' जहाजों के विराट रूप में ऊब-डूब करती रही। यों तो समुद्री महोत्सव समिति ने जहाँ-जहाँ भारत के मनमोहक कार्यक्रम हो रहे थे लोगों को लाने-ले जाने के लिये बसों का प्रबंध किया था, पर भारी भीड़ के आगे यह प्रबंध बहुत छोटा पड़ गया और लोग खुद ही चीरते-फाड़ते पैदल या अपने निजी वाहनों से सब ओर से उमड़ पड़े और फिर चाहे 'सागर कन्या' हो या 'फैशन-शो' खुद को हजारों की भीड़ में खड़ा करके घंटों तक अपनी बारी आने पर नेत्रों से सब कुछ देखकर तृप्त होने तक प्रतीक्षा करते। बार-बार लोगों को यही कहते सुना कि इस महोत्सव के माध्यम से हम भारत में पहुँच गये हैं। इस उत्सव में भारत के शरीक होने की स्वीकृति जुलाई १९८६ में, जब भारत के माननीय प्रधान मंत्री मारीशस की दो दिवसीय सद्भावना यात्रा पर मारीशस पधारे थे, दे चुके थे, और इसे क्रियान्वित किया मारीशस स्थित भारतीय उच्चायुक्त श्री कांत किशोर भार्गव की सूझ-बूझ ने और कार्य करने की उनकी गहरी दिलचस्पी ने। दो मास तक लगातार वे उच्चायोग के अधिकारियों, महोत्सव संबंधी भारतीय प्रतिनिधि मंडल के अधिकारियों तथा मारीशस स्थित यहाँ की एफ.आई.एम. संस्था के अधिकारियों से निरंतर संपर्क साधकर इसे क्रियान्वित करने का सतत् प्रयत्न करते रहे और अंत में सभी के मिले-जुले प्रयास से, सभी के मिलकर काम करने की भावना के फलस्वरुप यह सफल हुआ और मारीशसवासियों के मन में भारत-प्रेम के नये कीर्तिमान जगा सका।

मारीशस ने अंतर्राष्ट्रीय समुद्री महोत्सव का आयोजन करके एक अच्छी पहल की है। इस तरह के आयोजन जहाँ एक ओर सागर की विशाल परिधि को शांति क्षेत्र बनाये रखेंगे, वहाँ दूसरी ओर एक-दूसरे को समझने तथा एक-दूसरे को सहयोग करने में भी इनका अपना एक अलग महत्व है। आज दुनिया में जो तनाव भरी स्थिति पायी जाती है, उसे आपसी मेल-मुलाकात और भाई-चारे से ही सुलझाया जा सकता है। इससे सांस्कृतिक विकास के साथ-साथ पर्यटन और पारस्परिक व्यापार को भी बढ़ावा मिलेगा ऐसा विश्वास किया जाता है।

भारत ने बहुत ही विशाल पैमाने पर इस समुद्री महोत्सव में भाग लिया है। भारत के लगभग २५० कलाकार शास्त्रीय गायन, चरकला, भंगड़ा, गिद्धा, लावनी, घूमर, होली आदि लोकनृत्यों को संपन्न करने यहाँ आये। इसके अलावा भारत का समुद्र खोजी जहाज 'सागर-कन्या', नेवी का 'विंध्यगिरि' यहाँ आये और उन्हें देखने लगभग १५ हजार मारीशस दर्शक प्रतिदिन वहाँ पंक्तिबद्ध खड़े रहे। 'सागर कन्या' पर मारीशस के उदीयमान कवियों ने माननीय श्री बेकल उत्साही, संसद सदस्य, राज्य सभा की अध्यक्षता में एक कवि सम्मेलन आयोजित किया और मारीशस के सुप्रसिद्ध कवि डॉ. मुनीश्वर लाल चिंतामणि की काव्य-पुस्तक 'छवि सागर की' श्री बेकल जी ने विमोचित की और अपनी चार-पांच कविताओं से श्रोताओं को भाव विभोर किया। कवि सम्मेलन में मारीशस के राष्ट्रकवि श्री ब्रजेंद्र मधुकर भगत, उच्चायोग के हिंदी अधिकारी तथा महात्मा गांधी संस्थान में भारतीय भाषा विभाग के अध्यक्ष तथा उर्दू के प्रसिद्ध शायर श्री गुदारीजी आदि ने काव्य पाठ किये। महामहिम भारतीय उच्चायुक्त की धर्मपत्नी श्रीमती डॉ. मंजु भार्गव अंत तक कवि सम्मेलन में उपस्थित रहीं।

रोजहिल स्टेडियम में भारतीय कलाकारों की परेड, गायन और लोक नृत्यों के विमुग्धकारी प्रदर्शन के साथ सप्ताह भर के कार्यक्रमों की शुरुआत हुई जिसे लगभग पच्चीस-तीस हजार की भीड़ ३ घंटे से अधिक समय बड़ी शांतिके साथ देखती रही। उस अवसर पर भारत के माननीय मानव संसाधन मंत्री श्री नरसिंह राव, मारीशस के महामहिम गवर्नर जनरल, माननीय प्रधान मंत्री तथा उप-प्रधान मंत्री के संदेश भी जनता ने सुने। भारत के मानव संसाधन मंत्री ने तक भारत की महान संस्कृति महान है, उस समूची संस्कृति को समझना बड़ा कठिन है, कोई भी उसे पूरी की पूरी समझने का दावा नहीं कर सकता है और उनके यह कहते ही सारा स्टेडियम तालियों की गड़गड़ाहट से गूँज उठा। उस समय रिमझिम करती बदली में इंद्रधनुष मुसकरा उठा और उसके साथ ही मौसम के साफ होने के आसार पाकर भारतीय संस्कृतिक सचिव श्री वरदराजन आश्वस्त हुए और भारतीय सांस्कृतिक संबंध परिषद के महानिदेशक यह कहते सुने गये कि हम पर इंद्र भगवान प्रसन्न हैं जो उन्होंने हमारे स्वागत का इंद्रधनुष आसमान में लटका दिया है। महात्मा गांधी संस्थान में हमारी हस्तकला प्रदर्शनी, फैशन शो, मारीशस इंस्टीट्यूट में हमारी मैरीटाइम प्रदर्शनी, चाट बाजार, खाद्य प्रदर्शनी आदि को जनता ने बड़े मनोयोग से देखा और इनका हर प्रदर्शन काफी भीड़ इक्ठठी करता रहा। यहाँ तक कि फ्लाक, गुडलैंड्स त्रियोले, रोजबेल, रिव्यंजूरामपार आदि में शास्त्रीय कलाकारों और लोक नर्तकों ने जगह-जगह पर दूरदराज में जो प्रदर्शन किये उन्हें जनता ने बहुत सराहा। भारतीय ट्रेड अथारटी द्वारा आयोजित भारतीय फैशन शो को किसी-किसी मारीशसवासी ने लंबी लाइन में लगकर चार-चार बार देखा है। इस तरह के मेले जिनमें जनता कलाकारों के साथ उल्लास में पूरी तरह डूबकर एकाकार हो गई हो मारीशस में ही संभव हो सकता था, कारण यही है कि भारत और मारीशस एक ही तरह की सांस्कृतिक 'पड़ौती' भोग रहे हैं, एक-दूसरे की संस्कृति में दोनों की बराबर की साझीदारी है और सभी भारतवासी चाहते हैं कि यह साझेदारी और बढ़े, दोनों देशों में और अधिक पारस्परिक सहयोग बढ़े। हमारे ओड़ीसी, भरत नाट्यम, शास्त्रीयगायन, कुचीपुड़ी, नादस्वरम् जीवन-चक्र के कलाकारों ने हर स्थान पर भारी भीड़ एकत्रित करके मारीशस की जनता के हृदय में अपने अमिट चिन्ह अंकित कर दिये हैं।

समापन समारोह का वह दृश्य भावनाओं का अथाह समुद्र बनकर हृदय में हिलोरें मारने लगता है जब भारत की केंद्रीय राज्य मंत्री श्रीमती कृष्णा साही भविष्य में बनने वाले मारीशस में इंदिरा गांधी सांस्कृतिक केंद्र की भूमि पर मारीशस के प्रधान मंत्री और उनके मंत्री मंडल के सभी सदस्यों के साथ वृक्षारोपण करते हुए कह उठीं कि भारत की स्व. प्रधान मंत्री श्रीमती इंदिरा गांधी को वृक्ष लगाकर पर्यावरण को स्वच्छ रखना बहुत प्रिय था और आज हम सब उनके नाम पर बनने वाले सांस्कृतिक केंद्र की भूमि में वृक्ष लगाकर एक ओर उनकी भावनाओं को पूर्ण कर रहे हैं, तो दूसरी ओर भारत-मारीशस की प्रगाढ़ मैत्री में एक नया आयाम स्थापित कर रहे हैं और दोनों देशों की यह मैत्री भी उन्हें (स्व. श्रीमती इंदिरा गांधी) बहुत प्रिय थी। उनके यह कहते ही बहुत-सी आंखें शायद स्व. इंदिरा गांधी की याद में पनियारी हो गई थीं। शाम को एम.बी.सी. दूरदर्शन से भोजपुरी में बोलते हुए और भारत-मारीशस के सांस्कृतिक अटूट संबंधों में सभी को बाँधते हुए श्रीमती कृष्णा साही ने अपने मृदुल व्यवहार की अमिट छाप अंकित कर दी। लोक नर्तकों के बीच में जाकर उन्होंने उन्हें प्रोत्साहित किया और वे भी उन्हें अपने बीच में पाकर अमित उल्लास में डूब गये।

महात्मा गांधी संस्थान के विशाल प्रांगण में जगह-जगह भारत के सभी प्रांतों के नर्तक अपना नृत्य कर रहे थे और मारीशस की जनता उन्हें घेरे खड़ी थी, मानों मनुहार कर रही हो अभी और .... अभी और...... और चारों ओर 'अद्‌भूत', बहुत सुंदर' ये शब्द ही वातावरण में गूँज रहे थे और

तालियों की तुमुल ध्वनि के बीच आठ दिन तक चलने वाला भारत का मनमोहक कार्यक्रम शाम की रंगीनी में अनेक रंग उछालता परिसमाप्त हो गया। वह गूंज जो चार सितंबर को भारत भवन में इन कलाकारों के द्वारा गुंजरित हुई थी वह पूरे दस दिन तक मारीशस के हिलकोरें मारते समुद्र के साथ तालमेल बिठाकर चारों ओर के वातावरण में फैल गई ओर मारीशस सचमुच ही एक नये भारत की महिमा का अनुभव करने लगा जिसका मूल्यांकन भविष्य करेगा भारत-मारीशस-मैत्री के अमर बटखरों से। यों तो भारत ने इंग्लैंड, फ्रांस, अमेरिका, रूस आदि में अपने महोत्सवों का आयोजन किया है, पर भारतवंशियों के बीच में आयोजित यह महोत्सव खुद आयोजकों की दृष्टि में निराला था। इस महोत्संव में कलाकार और मारीशस की दर्शक जनता दोनों एक-दूसरे की भावनाओं के साथ इस तरह घुल-मिल कर एक रूप हो गये थे कि उन्हें अलग-अलग पहचानना सर्वथा कठिन है—यही इस महोत्सव की सफलता है, यही इस महोत्सव की दूर-दूर तक फैलती प्रभावक रेखायें हैं जिन्हें और अधिक प्रभावगामी बनाया है इसके आयोजकों ने अपनी स्थिर प्रज्ञा और काम करने की अद्भुत क्षमता से।

□

रपट

मैथिलीशरण गुप्त शताब्दी समारोह

गयाना की राजधानी जार्जटाउन स्थित भारतीय सांस्कृतिक केंद्र सभा-कक्ष में २ सितंबर, १९८७ को राष्ट्रकवि मैथिलीशरण गुप्त शताब्दी समापन समारोह भारतीय उच्चायुक्त श्री जी.डी. आटूक की अध्यक्षता में मनाया गया। समारोह का प्रारंभ सुश्री दया प्रसाद के ''मानस गगन में आर्यगण जिनकी उतारे आरती'' के सस्वर गायन से हुआ जिसके बाद भारतीय उच्चायुक्त श्री आटूक ने गुप्त जी के चित्र पर माल्यार्पण किया। इस अवसर पर गयाना सरकार के कस्टम अधिकारी श्री शेष नारायण भारतीय सांस्कृतिक केंद्र के निदेशक डॉ. रामजी तिवारी तथा भारतीय उच्चायोग में सांस्कृतिक अताशे श्री नारायण कुमार ने स्व. मैथिलीशरण गुप्त के व्यक्तित्व एवं कृतित्व पर आधार लेख पढ़े। श्री शेष नारायण ने गुप्त जी के जीवन और उनकी रचनाओं का प्रामाणिक विवरण पेश करते हुए उन्हें युग-पुरुष की संज्ञा प्रदान की। डॉ. तिवारी ने राष्ट्रकवि के रूप में गुप्त जी की उदारवादी मनोवृत्ति, मानवतावादी चिंतन, धर्म-निरपेक्ष भावना तथा गांधीवादी आदर्शों पर प्रकाश डाला। श्री नारायण कुमार ने भारतेंदु हरिश्चंद्र द्वारा देश में शुरू की गई राष्ट्रीय पुनरुत्थान की धारा को श्री गुप्त की रचनाओं से जोड़ते हुए कहा कि 'भारत भारती' स्वतंत्रता संग्राम में वही भूमिका निभा रही थी जो महाभारत के युद्ध में गीता ने निभाया।

अध्यक्षीय भाषण देते हुए भारतीय उच्चायुक्त श्री जी.डी. आटूक ने कहा कि गयाना के लोग भारतीय संस्कृति से अपरिचित नहीं हैं लेकिन उन्हें भारतीय साहित्य के बदलते हुए तेवर पर ध्यान देना चाहिए तथा बहुत बारीकी से यह राग समझने की कोशिश करनी चाहिए कि वाल्मिकी, तुलसी, कृतिदास के राम और मैथिलीशरण गुप्त के राम में क्या अंतर है तथा वर्णन और विश्लेषण के अंतर से पाठक के मन पर क्या प्रभाव पड़ता है। उन्होंने राष्ट्रकवि गुप्त को आधुनिक युग के महानतम कवियों में एक मानते हुए कहा कि उनकी कविता हमें प्रेरणा देती रहेगी।

इस अवसर पर भारतीय सांस्कृतिक केंद्र की संगीत अध्यापिका श्रीमती आरती लुंबा तथा तबला अध्यापक पं. तुलसी और केंद्र के छात्रों ने राष्ट्रकवि मैथिलीशरण गुप्त के गीतों को गाया तथा उनकी कुछ चुनी हुई कविताओं का पाठ किया। बैठक में उपस्थित लोगों को धन्यवाद देते हुए डॉ. रामजी तिवारी ने कहा कि भारतीय सांस्कृतिक केंद्र इस प्रकार के अन्य कई कार्यक्रम आयोजित करेगा जिसमें हिंदी दिवस, कवि गोष्ठी, नेहरू शताब्दी समारोह, गांधी जयन्ती, दीपावली संध्या आदि प्रमुख हैं।

□

गयाना में मुक्तिपर्व

भारत की आजादी की चालीसवीं वर्षगाँठ के मौके पर गयाना में कई आकर्षक कार्यक्रम प्रस्तुत किए गए। गयाना हिंदी साहित्य सम्मेलन ने वेस्टकोस्ट डेमरारा में भाषण, कविता तथा रामायण एवं गीता पाठ की प्रतियोगिताएँ आयोजित की जिसमें भारतीय उच्चायोग के सांस्कृतिक अताशे ने सफल प्रतियोगियों को पुरस्कार प्रदान करते हुए कहा कि वे हिंदी को गयाना की सांस्कृतिक भाषा के रूप में स्वीकार करें क्योंकि उनके पूर्वज इस भाषा को बहुत यतन के साथ भारत से लाए थे और वे इसे सांस्कृतिक विरासत के रूप में यहाँ के लोगों को दे गए हैं। समारोह का उद्घाटन भारतीय सांस्कृतिक केंद्र के निदेशक डॉ. रामजी तिवारी ने किया। श्री तिवारी ने हिंदी की सरलता एवं वैज्ञानिकता को रेखांकित करते हुए गयाना वासियों से अनुरोध किया कि वे अधिकाधिक संख्या में हिंदी सीखें। इस अवसर पर गयाना आर्य प्रतिनिधि सभा ने युवा शिविर, गयाना हिंदू धार्मिक सभा ने ''नौजवान हफ्ता'' तथा भारत सेवाश्रम संघ, कोवनजॉन में गीता ज्ञान यज्ञ का आयोजन किया।

स्वाधीनता आंदोलन की चालीसवीं वर्षगाँठ का मुख्य समारोह 'मुक्तिपर्व-४०' गयाना में भारतीय उच्चायोग के भारतीय सांस्कृतिक केंद्र ने आयोजित किया। केंद्र के परिसर में प्रात: ८.०० बजे भारतीय उच्चायुक्त श्री जी.डी. आटूक ने भारत का राष्ट्रीय ध्वज फहराया तथा राष्ट्रपति और प्रधानमंत्री के संदेश पढ़े। उसी शाम गयाना के नेशनल कल्चरल सेंटर के सभागार में भारतीय सांस्कृतिक केंद्र के कलाकारों ने भारतीय नृत्य एवं संगीत का एक अनुपम और आकर्षक कार्यक्रम 'मुक्तिपर्व' प्रस्तुत किया जिसका शुभारंभ भारतीय सांस्कृतिक केंद्र के प्राध्यापक संगीत मार्तण्ड श्री हरिचरण शर्मा ने बंकिमचन्द्र रचित 'वंदे मातरम्' से किया। श्री वर्मा ने भारत के इस राष्ट्रीय गीत को बड़े ही ओज और उल्लास के साथ 'राग देस' में गाया। बाद में केंद्र के छात्रों ने डॉ. रामजी तिवारी रचित कविता 'सुंदर देश गयाना' को समूहगान के रूप में पेश किया। गायकों के स्वर में गयाना के उज्जवल भविष्य के आशापूर्ण संकेत मिल रहे थे। भारतीय सांस्कृतिक केंद्र की संगीत मण्डली ने संस्कृत के प्रख्यात कवि जयदेव रचित 'जय जगदीश हरे' की कोमलकांत पदावली को संस्कृत भाषा की परंपरागत उच्चारण एवं गायन शैली में प्रस्तुत किया। महाकवि जयदेव की इसी कविता के आधार पर भारतीय सांस्कृतिक केंद्र की नृत्य शिक्षिका श्रीमती रेवा आजमानी ने ओड़सी नृत्य शैली में 'दशावतार' नामक नृत्य-नाटिका की संरचना की थी। जिसमें भगवान विष्णु के दस अवतारों को मत्स्य, कूर्म, वराह, नरसिंह, वामन, परशुराम, राम, हलधर, बुद्ध तथा कल्कि के रूप में दिखाया गया था। मंच-सज्जा, वेश-भूषा तथा भाव-भंगिमा को ध्यान में रखते हुए वह कार्यक्रम अत्यधिक सफल रहा।

भारतीय सांस्कृतिक केंद्र जार्जटाउन (गयाना) की नृत्य मंडली ने उपर्युक्त नृत्य-नाटिका के अलावा 'टाइना-टाइना' नामक तमिल लोक-नृत्य तथा 'मुगल-दरबार' नामक कत्थक नृत्य प्रस्तुत किया जिन्हें दर्शकों ने काफी पसंद किया। इन दोनों नृत्यों का निर्देशन भी श्रीमती रेवा आजमानी ने किया था।

भारतीय सांस्कृतिक केंद्र के तबला-शिक्षक पं. तेजप्रकाश तुलसी के निदेशन में केंद्र के लगभग ३० छात्रों ने तबला एवं पखावज पर तबला की विभिन्न तालों को अत्यधिक आकर्षक शैली में प्रस्तुत किया। बाद में प. तुलसी ने एकल तबला-पखावज वादन भी किया।

इन सभी कार्यक्रमों को गयानावासियों ने इतनी कुशलता से प्रस्तुत किया कि यह अनुमान करना कठिन हो गया था कि ये भारतीय नहीं हैं। इनमें से अधिकांश कलाकारों के पूर्वज आज से १५० वर्ष पहले भारत से गयाना आए थे। अपने साथ वे हिंदी की कुछ धार्मिक पुस्तकें तथा लोकगीत लाए थे। आज १५० वर्ष बाद भी गयाना के गाँव-गाँव में मंदिर-मस्जिद हैं तथा वे फगवा (होली), दीपावली,

रामनवमी, शिवरात्री, ईद, बकरीद आदि त्यौहार उल्लास के साथ मनाते हैं। इसका प्रभाव गयाना के अन्य लोगों यानी अफ्रीकी, चीनी, पुर्तगाली मूल के व्यक्तियों पर भी पड़ा। इस बात का प्रमाण प्रस्तुत कर रहे थे गयाना विश्वविद्यालय के संगीत दल के छात्र जिन्होंने बहुत ही सधे हुए स्वर में 'साथी चलो समय के साथ' नामक हिंदी प्रयाण-गीत गाकर सभा में उपस्थित लोगों को हतप्रभ कर दिया। अफ्रीकी छात्रों के हिंदी उच्चारण तथा गायन शैली में उत्साह एवं उमंग को लोगों ने करतल ध्वनि से सराहा। कार्यक्रम के अंत में लखनऊ घराने के श्री तीरथ आजमानी, जयपुर घराने के पं. तुलसी तथा गयाना के मुमताज अली (जो कत्थक केंद्र दिल्ली से नृत्य का प्रशिक्षण ले चुके हैं) ने अपनी-अपनी नृत्य-शैली की विशिष्टिता को एक साथ मंच पर प्रस्तुत किया।

दो हजार दर्शकों से खचाखच भरे सभागार में गयाना के राष्ट्रपति श्री एच. डेजमंड हायट, उपराष्ट्रपति श्री शहाबुद्दीन, शिक्षा मंत्री श्री डेरिक बर्नाड, जल संसाधन मंत्री पं. गोकरण शर्मा के अलावा अनेक संसद-सदस्य, राजनेता, पत्रकार, प्राध्यापक मौजूद थे। भारतीय सांस्कृतिक केंद्र जार्जटाउन भारत की आजादी की ४०वीं वर्षगांठ को साल भर मनाएगा। जिसके अंतर्गत संगोष्ठी, हिंदी सम्मेलन, भारत-दर्शन नामक प्रदर्शनी तथा नृत्य एवं संगीत के आकर्षण कार्यक्रम आयोजित किए जाएँगे।

गयाना में हिंदी-दिवस समारोह

भारतीय उच्चायोग, जार्जटाउन ने २३ सितंबर १९८७ को भारतीय सांस्कृतिक केंद्र के सभागार में हिंदी दिवस का आयोजन किया। इस समारोह की अध्यक्षता गयाना आर्य प्रतिनिधि सभा अनण्डेल के अध्यक्ष तथा प्रतिष्ठित हिंदी-शिक्षक पं. शांति प्रसाद ने किया।

हिंदी-दिवस का प्रारंभ महाकवि निराला की वाणी-वन्दना 'वर दे वीणा-वादिनी वर दे' से हुआ। उसके बाद अध्यक्ष महोदय ने माता सरस्वती की प्रतिमा पर माल्यार्पण किया। भारतीय सांस्कृतिक केंद्र के हिंदी छात्र तथा गयाना के कस्टम अधिकारी श्री शेष नारायण ने गयाना में हिंदी की प्रासंगिता पर एक निबंध पढ़ा तथा हिंदी सीख रहे छात्र-छात्राओं के अतिरिक्त बैंक ऑफ बड़ोदा के मैनेजर श्री ममनार्न तथा भारतीय उच्चायोग में सांस्कृतिक (अताशे) श्री नारायण कुमार ने स्वरचित कविताओं का पाठ किया।

महात्मा गांधी संगठन के अध्यक्ष डॉ. बलवंत सिंह ने गयाना में हिंदी दिवस के आयोजन पर प्रसन्नता प्रकट करते हुए लोगों से अनुरोध किया कि वे यहाँ कि सांस्कृतिक भाषा के रूप में हिंदी का अध्ययन करें ताकि अपने पूर्वजों के ज्ञान-भंडार को सही संदर्भ में समझ सकें। समारोह के मुख्य अतिथि पं. चंद्रश्यामा प्रसाद ने कहा कि हिंदी हमारे घर-परिवार की बोलचाल की भाषा थी जो अंग्रेजी के प्रभाव में दम तोड़ रही है। भाषा के बिना भक्ति संभव नहीं है। उन्होंने कहा कि पूरे कैरेबियन द्वीप में गयाना के लोग ही शुद्ध हिंदी लिख-पढ़ सकते हैं लेकिन हम बोलना भूल गए हैं। अब हमें नए सिरे से प्रयत्न करना चाहिए कि हम पुन: अपनी भाषा को गयाना में बोलचाल की भाषा बना सकें।

भारतीय उच्चायुक्त श्री जी.डी. आटूक के निदेशन पर भारतीय सांस्कृतिक केंद्र में हिंदी प्राध्यापक डॉ. रामजी तिवारी तथा भारतीय उच्चायोग में हिंदी अधिकारी श्री नारायण कुमार ने सितंबर मास को 'हिंदी प्रचार अभियान' मास के रूप में मनाने के लिए देश के लगभग १०० मंदिरों तथा स्वैच्छिक संगठनों में जाकर गयाना में हिंदी की उपयोगिता और प्रासंगिकता पर प्रकाश डाला तथा कई गांवों में हिंदी पाठशाला का उद्घाटन किया। गयाना हिंदी प्रचार सभा ने भी इस कार्य में सक्रिय सहयोग

दिया। इस समय गयाना विश्वविद्यालय में स्नातक स्तर तक हिंदी के अध्यापन की व्यवस्था के अतिरिक्त हिंदू कालेज, कॉवन-जॉन, टैगोर मेमोरियल कालेज, बरबिस, लाइनपाथ सेकेण्डरी स्कूल, स्केलडन, कॉवेन गार्ड़ेन सेकेण्डरी स्कूल तथा देश के लगभग १५० स्वैच्छिक केंद्रों में हिंदी की पढ़ाई चल रही है।

□

सूरीनाम में हिंदी दिवस समारोह

अमरनाथ मिश्र

हमारे संविधान निर्माताओं ने सन् १९४९ में १४ सितंबर के दिन जब हिंदी को भारत की राजभाषा के पद पर प्रतिष्ठित करने का ऐतिहासिक संकल्प लिया था तो न केवल भारत की कोटि-कोटि जनता को उनकी अपनी राष्ट्रभाषा होने का गौरव प्रदान किया था वरन् भारत से बाहर सारी दुनिया में फैले हुए एक करोड़ से भी अधिक भारत वंशियों को एक नई पहचान दे दी थी। हिंदी सहित भारत के संविधान में उल्लिखित भारत की अन्य भाषाएं आज भी दुनिया की समृद्धतम् भाषाओं की पंक्ति में उल्लेखनीय स्थान रखती हैं—इसका कारण भारत की समृद्ध प्राचीन भाषायी परंपरा ही है।"

उक्त शब्द सूरीनाम की राजधानी पारामारिबो में दिनांक १४ सितंबर १९८७ को हिंदी दिवस के अवसर पर भारतीय दूतावास द्वारा आयोजित एक सभा में भारत के राजदूत महामहिम श्री बच्चू प्रसाद सिंह ने कहे। भारत में अब अधिकांश लोगों को यह जानकारी है कि फीजी और मारीशस की भाँति भारत से दस हजार मील दूर सुदूर कैरेबियन प्रदेश से सटे हुए दक्षिण अमेरिकी महाद्वीप के उत्तरी किनारे पर स्थित देश सूरीनाम की आजादी के चालीस प्रतिशत लोग हिंदी भाषी भारतवंशी हैं। साथ ही यह लोग शिक्षित, आर्थिक रूप से समृद्ध और सांस्कृतिक रूप से अत्यंत जागरूक हैं। दूरी के बावजूद भारत सरकार ने इन भारतवंशियों की अनदेखी नहीं की है। पिछले लगभग दस वर्षों से भारतीय दूतावास और भारतीय सांस्कृतिक केंद्र सूरीनाम में उल्लेखनीय काम कर रहे हैं। सूरीनाम के वरिष्ठतम् राजनीतिक नेता श्री जगरनाथ लक्ष्मन ने एक बार कहा था कि हम अपने देश की राजनीतिक समस्याओं में भारत की सहायता की अपेक्षा नहीं करते : वे हमारी अपनी हैं और उन्हें हम स्वयं हल करेंगे पर भारतवंशी होने के नाते हमारी सांस्कृतिक आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए भारत की सहायता, मार्गदर्शन बहुत जरूरी है ताकि एक शताब्दी का हमारा प्रयास जनित सांस्कृतिक अंतराल भर सके। यह कहना अनुपयुक्त नहीं होगा कि भारतीय दूतावास ने इस दिशा में अपना सार्थक सहयोग निभाया है।

भारतीय सांस्कृतिक केंद्र के नए भवन में आयोजित हिंदी-दिवस के इस समारोह में सूरीनाम की ऐसी सभी प्रमुख संस्थाओं के प्रतिनिधि उपस्थित थे जो हिंदी शिक्षण और भारतीय संस्कृति के प्रचार-प्रसार में लगी हुई हैं तथा हिंदी पाठशालाओं के अनेक संचालक भी उपस्थित थे।

सभा को संबोधित करते हुए भारत के राजदूत ने बताया कि हमारी राजभाषा हिंदी भारत की समृद्ध भाषा परंपरा के स्वाभाविक विकास की कड़ी है। संस्कृत, प्राकृत, पालि और अपभ्रंश के रूप में विकसित होते हुए भारतीय भू-भाग की आधुनिकतम् विकास कड़ी के रूप में हिंदी का विकास पिछले एक हजार वर्षों से निरंतर हो रहा है। अरबी-फारसी के प्रभुत्व काल में भी अनेक भारतीय शासकों की अपनी राजभाषा हिंदी रही है। आखिरी हिंदू शाषक महाराजा पृथ्वीराज चौहान की राजभाषा हिंदी थी। मध्यकाल के मराठा, बुंदेला और राजपूत राजाओं की राजभाषा हिंदी थी। राजनीतिक परतंत्रता के काल में भारत के एक सिरे से दूसरे सिरे तक भारत के जन-जन की संपर्क भाषा हिंदी रही है और आज भी

वही स्थिति है। यह भारत के धर्म, संस्कृति आपसी संपर्क की जीवन वाहिनी है। राजदूत महोदय ने कहा कि आप जैसे भारतवंशियों ने अपनी भाषा और संस्कृति के प्रेम से हिंदी भाषा को भारत से बाहर संसार के प्रत्येक हिस्से में फैला दिया है और जिस प्रकार सम्राट अशोक के पुत्र महेंद्र और पुत्री संघमित्रा ने बोधि वृक्ष की एक शाखा श्री लंका की धरती पर रोपी थी उसी प्रकार भारत पुत्रों ने हिंदी भाषा की जड़ें विभिन्न प्रदेशों की धरती पर मजबूती से रोप दी हैं और उसे समृद्ध करने में लगे हैं। इसीलिए भारत के दूतावास के रूप में हमारा सदा यह प्रयत्न रहता है कि हम आपके प्रयत्नों को सफल बनाने में जितनी सहायता कर सकें करें।

सभा के अतिथि वक्ता सूरीनाम के प्रमुख बुद्धिजीवी और भाषाविद् श्री ज्ञान अधीन ने अपने भाषण में कहा कि 'हिंदी आज विश्व के लगभग एक सौ से अधिक विश्वविद्यालयों में पढ़ाई जाती है और बोलने वालों की संख्या की दृष्टि से यह दुनिया की तीसरी बड़ी भाषा है। हम उस दिन का इंतजार करते हैं जब हिंदी संयुक्त राष्ट्र संघ की भाषा बनेगी। स्पेनिश और रूसी जैसी कईं भाषाओं के बोलने वालों की संख्या हिंदी भाषियों के मुकाबले बहुत कम है फिर भी ये भाषाएँ संयुक्त राष्ट्र संघ में प्रयोग होती हैं। वास्तव में यह भाषागत नहीं राजनीतिक प्रभुता का प्रश्न है। हम भारतीय राजदूत के माध्यम से भारत सरकार से अनुरोध करते हैं कि वह इस दिशा में ठोस प्रयत्न करें ताकि विदेशी धरती पर रह रहे हम भारतवंशी दुनिया में सिर ऊँचा कर अपनी भाषा की अंतर्राष्ट्रीयता का गौरव अनुभव कर सकें।'

हिंदी भाषा की शक्ति, समृद्धि और देवनागरी लिपि की वैज्ञानिकता और ध्वन्यात्मकता की चर्चा करते हुए श्री अधीन ने कहा कि इन भाषागत गुणों के कारण हिंदी निश्चित ही भविष्य में संसार की बहु-प्रचलित भाषा बन जाएगी लेकिन आज भी विदेशों में इसकी लोकप्रियता कम नहीं है। अपने मास्को प्रवास का जिक्र करते हुए उन्होंने कहा कि मास्को की भयानक सर्दी और धुंध भरे वातावरण में जब वह मास्को हवाई अड्डे पर उतरे तो वहाँ प्रसारित भारतीय संगीत को सुनकर उन्हें सुखद आश्चर्य हुआ और मन उस बोझिल वातावरण में भी एक निर्मल प्रकाश से भर गया।

भारतीय दूतावास की सहायता और सहयोग की चर्चा करते हुए श्री ज्ञान अधीन ने कहा कि 'हमारा सौभाग्य है कि सूरीनाम में भारत के वर्तमान राजदूत श्री बच्चू प्रसाद सिंह स्वयं साहित्यिक प्रतिभा के व्यक्ति हैं और भारत में तथा विदेशों में हिंदी प्रचार-प्रसार के लिए आजीवन कर्मठ रूप से सक्रियं रहे हैं। व्यापक अनुभव, सहानुभूति और हिंदी प्रचार-प्रसार के एक प्रमुख सूत्रधार और संचालक होने के नाते सूरीनाम में इनकी उपस्थिति से हम सभी हिंदी सेवियों को बहुत बल, प्रेरणा और सहयोग मिला है और बराबर सहायता व मार्ग-निदेशन मिल रहा है।'

जिस समय वह सभा चल रही थी, उसी समय एक सूचना मिली कि हिंदी की वयोवृद्ध महान् कवियित्री श्रीमती महादेवी वर्मा का इलाहाबाद में निधन हो गया है। भारत के राजदूत ने सभा को यह जानकारी देते हुए कहा कि छायावाद युग की अंतिम ज्योति-पुंज के रूप में महादेवी जी हमारे लिए प्रेरणा और आदर्श का स्रोत थीं। श्री ज्ञान अधीन ने महादेवी जी से इलाहाबाद में कुछ वर्ष पहले हुई अपनी भेंट की याद करते हुए कहा कि प्रयाग राज में गंगा जमुना के संगम में सरस्वती योग के रूप में महादेवी जी का स्थान शाश्वत है। सभा ने एक मिनट का मौन रखकर महादेवी जी की आत्मा की शांति के लिए प्रार्थना की।

सभा के अंत में भारत के राजदूत महोदय ने स्थानीय आर्य दिवाकर सभा तथा सूरीनाम की सनातन धर्म महासभा के पुस्तकालयों के लिए वेदों का एक-एक संपूर्ण सेट भेंट किया। हिंदी की प्रतिनिधि संस्था सूरीनाम हिंदी परिषद के पुस्तकालय के लिए राजदूत महोदय ने हिंदी की कई सौ पुस्तकें भेंट कीं। देश

की अन्य संस्थाओं जैसे मातागौरी संस्थान, शांतिदल कबीरपंथ संप्रदाय, श्रीकृष्ण मंदिर पुस्तकालय आदि को भी हिंदी पुस्तकें उदारतापूर्वक भेंट की गई। सभा में उपस्थित अनेक हिंदी पाठशालाओं के प्रतिनिधियों ने पुस्तकों और पत्रिकाओं के सेट अर्पित किए गए।

आर्य दिवाकर के अध्यक्ष श्री हुब्बा तथा अन्य प्रतिनिधियों ने इस सुंदर भेंट की सराहना करते हुए भारतीय राजदूत को धन्यवाद दिया और कहा कि पिछले वर्ष भारत से विशेष प्रतिनिधि श्री लक्ष्मण चतुर्वेदी जब सूरीनाम आए थे तो हमने जिस प्रकार की पुस्तकों के लिए उनसे अनुरोध किया था वे हमें उनके प्रयत्नों से इतनी शीघ्रता से प्राप्त हो गई हैं—इसके लिए हम उनके आभारी हैं। कृपया हमारा आभार उन तक पहुँचा दें।

□

साहित्यिक संगोष्ठी

अनुवाद में सृजन-सुख

डॉ. गार्गी गुप्त

भारतीय अनुवाद परिषद के तत्वावधान में पिछले ५ सितंबर १९८७ को नई दिल्ली के जवाहरलाल नेहरू विश्व विद्यालय के सिटी सेन्टर के सभागार में 'अनुवाद में सृजन-सुख' विषय पर एक संगोष्ठी आयोजित की गई। संगोष्ठी दो सत्रों में संपन्न हुई। पहले सत्र की अध्यक्षता सुप्रसिद्ध पंजाबी कवयित्री और भारतीय ज्ञानपीठ पुरस्कार विजेता श्रीमती अमृता प्रीतम ने और दूसरे सत्र की अध्यक्षता कादम्बिनी और साप्ताहिक हिन्दुस्तान के संपादक श्री राजेन्द्र अवस्थी ने की।

प्रातः संगोष्ठी का विषय प्रवर्तन करते हुए भारतीय अनुवाद परिषद के अध्यक्ष और सुप्रसिद्ध साहित्यकार श्री प्रभाकर माचवे ने कहा कि हिंदी के लगभग सभी कवियों, लेखकों तथा साहित्यकारों ने 'अनुवाद' किए हैं। इस सम्बन्ध में उन्होंने भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, पंडित महावीर प्रसाद द्विवेदी, मैथिलीशरण गुप्त, सूर्यकान्त त्रिपाठी निराला, सुमित्रानंदन पन्त, हरिवंश राय बच्चन, रामधारी सिंह 'दिनकर', हीरानन्द वात्स्यायन 'अज्ञेय', जैनेंद्र, प्रेमचन्द, शमशेर बहादुर सिंह, भारत भूषण अग्रवाल, भवानी प्रसाद मिश्र के नाम लिए। उन्होंने कहा कि इनमें से अधिकांश अनुवाद के सहारे आगे आए हैं। उन्होंने कहा कि अनुवाद लिखने वाले के लिये जरूरी मश्क है। अनुवाद बहुत कठिन कार्य है। स्रोत भाषा के शब्द का ठीक-ठीक पर्याय खोजना, भाव को व्यक्त करने के लिये ठीक-ठीक शब्दावली योजना अत्यंत दुष्कर कार्य है। गद्य से गद्य में अनुवाद करना तो सरल है, लेकिन पद्य का चुनौती भरा अनुवाद कार्य है। पद्य का पद्य में अनुवाद (वर्स टु वर्स) कभी-कभी बहुत बुरा हो जाता है।

श्री माचवे ने कहा कि मूल को दूसरी भाषा में उसी रूप रचनाओं, बहुत कठिन है। कुछ रचनाओं का अनुवाद तो हो ही नहीं सकता। उन्होंने कहा कि बच्चों की रचनाओं शब्द चमत्कार वाली रचनाओं और लोक गीतों का अनुवाद नहीं हो सकता। लेकिन उत्साहवश कुछ लोग यह भी करते हैं।

उनका विचार था कि अनुवाद जितना अधिक डूब कर किया जाए उतना ही सफल होता है। अनुवाद न पैसे के लिये होता है न नाम के लिए और ना ही यश के लिए होता है। असली और बढ़िया अनुवाद सृजन-सुख के लिए होता है। मराठी संत नामदेव कह गये हैं कि 'सुख जौ के समान है और दुख पर्वत के समान हैं'।

श्री माचवे ने कहा कि इधर अनुवाद के लिये सरकारी संस्थान खुल गये हैं, लेकिन खुशी की बात है कि इनके कारण कुछ अच्छा काम हो रहा है।

प्रातः सत्र की अध्यक्षा श्रीमती अमृता प्रीतम ने अपने भाषण में कहा : "जब हम अपनी रगों में अचानक उतर आये किसी कंपन को किसी भी भाषा के अक्षरों की गोलाइयों में ढालना चाहते हैं तो उसका अनुवाद होता है। मूल तो कंपन होता है। मूल कंपन की भाषा से न जाने कितनी भाषाएँ निकलती हैं। हम उसे तकलीफ का नाम देते हैं। यह तकलीफ अनुवाद की सूरत में सामने आती है। अनुवाद कार्य को छोटा नहीं कहा जा सकता। "अनुवाद से अनुवाद की चर्चा करते हुए उन्होंने कहा कि इसमें हम परछाइयों की परछाइयों को पकड़ते हैं। अनुवाद और अनुवाद के अंतर को स्पष्ट करते हुए उन्होंने कहा कि सृजनात्मक अनुवाद मन के तकाजे को सामने रखकर किया जाता है जबकि अन्य किस्म का अनुवाद आर्थिक कारणों से किया जाता है। उन्होंने बताया कि तंगी के दिनों में उन्होंने पैसे के लिये बहुत अनुवाद किये।

उन्होंने जर्मन कहानियों, दर्शन शास्त्र, डॉ. राजेन्द्र प्रसाद की जीवनी और यहाँ तक कि सरकार की पंच वर्षीय योजनाओं का भी अनुवाद किया। बहते हुए पानी को किनारे पर खड़े होकर देखने और उस पानी में भीगने का अन्तर ही अनुवाद और अनुवाद का अन्तर है। अनुवाद तभी बढ़िया होता है जब किसी भाषा के शब्द हमारे दिल में दस्तक देते हैं। हमारे खून में मिल कर बहने लगते हैं, हमारे हृदय में धड़कने लगते हैं।

श्रीमती मृणाल पांडे ने कहा कि किसी लेखक से यह पूछने के स्थान पर कि उसने किसकी रचनाओं का अनुवाद किया है, उससे यह पूछा जाना चाहिए कि उसने इस लेखक की उसी रचना का अनुवाद क्यों किया? इससे हम मूल लेखक और अनुवाद, मूल रचना और अनुवाद के सृजनात्मक रिश्ते की गहराई और तकलीफ आह्लाद, जुड़ान और स्वायतत्ता को समझ सकेंगे। उन्होंने कहा कि जिज्ञासु मन को ज्ञान पिपासा शांत करने और रचनात्मक रिश्ते बनाने के लिये अनुवाद की जरूरत हमेशा बनी रहेगी।

श्रीमती पांडे ने कहा कि एक तो अनुवाद में मूल रचना का कुछ हिस्सा खो जाता है, फिर कुछ बिंब और स्थितियाँ अनुवाद में रुपांतरित नहीं की जा सकती। खाए-पीए अघाए देश की भाषा में अकाल का बिंब प्रस्तुत नहीं किया जा सकता। अकाल के उत्तेजक और नयनाभिराम चित्र तो प्रस्तुत हो जायेंगे, लेकिन वे अवास्तविक लगेंगे।

श्रीमती पांडे ने कहा कि एक अच्छा अनुवाद कालजयी रचना का जो रूप पाठक को दे पाता है उसमें मूल की आत्मा की पूरी पकड़ भी होती है, और अपनी एक स्वायत्त संपूर्णता भी। यह विचित्र समांतर स्वायतत्ता अनुवाद की भाषा के अपने आयामों और तेवर के मूल रचना की आत्मा के साथ बने अंतर्गत से उपजती है। उन्होंने कहा कि अनुवाद को अपनी खास भाषा-शैली से पूरी तरह संन्यास लेकर अनूदित रचना के रचनाकार के मिजाज और भाषाई चलन में अपने आपको ढालना होगा। अतः बेहतर है कि अनुवाद के लिए वे ही कवि चुनें, जिनका भाषाई तथा भावात्मक तेवर उनसे मेल खाता हो।

अपने संस्मरणात्मक खोजपूर्ण निबंध में नेशनल बुक ट्रस्ट के संपादक श्री रमेश बक्षी ने कहा कि अनुवाद करते समय अनुवादक को मूल लेखक की शैली को पकड़ना चाहिए। अनुवाद कोई स्वांतः सुखाय बात नहीं है। न निजी लेखन की तरह वह आत्मा की छटपटाहट है। अनुवाद सबसे पहले रुचि की बात है और साहित्य के अनुवाद जब भी मन से किये जाते हैं हमेशा सुखद होते हैं।

उन्होंने कहा गीतांजलि के केवल हिंदी में ही छब्बीस अनुवाद उपलब्ध हैं लेकिन यह कहना मुश्किल है कि अनुवादकों ने कितना सृजन-सुख पाया। यही हालत है उमर खैयाम की।

बच्चों के लिये लिखना और उनके लिये लिखी गई रचनाओं का अनुवाद दोनों ही मुश्किल काम

है। हर भाषा में बात कहने का एक तरीका होता है और हर रचना का एक मुहावरा होता है। यह नब्ज पकड़ में आ गई तो अनुवादक मूल रचना की मूल भावना को पकड़ने में सफल हो जाता है। कई बार मूल की तुलना में अनुवाद अधिक पठनीय हो जाते हैं।

श्री बक्षी ने कहा कि अनुवादक दो तरह के होते हैं। शौकिया और व्यावसायिक।

श्री इजहार असर ने अपने विद्वतापूर्ण निबंध में कहा ''अनुवादक के अंदर जब तक पत्रकार की आत्मा की तड़प महसूस करने की शक्ति नहीं होती वह तख़लीफी तर्जुमा नहीं कर सकता और मैं समझता हूँ जब कोई तर्जुमाकार तख़लीफी तर्जुमा करने में कामयाब हो जाता है तो उसे भी वही 'एक्सटेसी' (आनन्द) हासिल होती है, जो पत्रकार को हुई होगी।''

श्री असर ने कहा कि अनुवादक जब किसी रचना को पढ़ता है तो वह भी पत्रकार के लफजों के साथ जिंदगी की उन तमाम कड़वाहटों से गुजरता है जिनसे पत्रकार गुजरा था। फिर अपनी जबान में उन ख्यालों को ढालने के लिए अपनी कल्पना में वैसा ही साँचा बनाने की कोशिश करता है जैसा उस पत्रकार ने बनाया था। तकलीफ की इसी तड़प से गुजरने के बाद उसका तर्जुमा तख़लीफी तर्जुमा बनता है।

द्वितीय सत्र की कार्यवाही शुरू होने पर भारत-सरकार के प्रकाशन विभाग के निदेशक डॉ. श्याम सिंह 'शशि' ने कहा कि आुवाद का काम भी अराधना है। अत: हर ऐसे व्यक्ति को जो आगे काम को इस भावना से करता है सृजन-सुख मिलना अनिवार्य है। उन्होंने कहा कि यह कहना उचित नहीं है कि सभी सरकारी अनुवाद भ्रष्ट होते हैं। उन्होंने इस बात पर चिंता व्यक्त की कि जहाँ अंग्रेजी, रूसी के अनुवाद काफी हैं वहाँ स्पेनी, इतालवी, फ्रांसीसी तथा अफ्रीकी भाषाओं के अनुवादकों की अत्यधिक कमी है। इसी तरह कुछ भारतीय भाषाओं से अन्य भाषाओं में अनुवाद करने वालों की कमी है।

भारतीय अनुवाद परिषद की संपादिका डॉ. गार्गी गुप्त ने कहा कि अनुवाद में सृजन सुख उसी रचना का अनुवाद करने से प्राप्त होगा जो अनुवादक के मन प्राणों को छू लेता है। उन्होंने कहा कि अनुवाद के तीन चरण हैं। पहला मूल रचना को आत्मसात करना, दूसरा उसे अपनी भाषा की प्रकृति तथा व्याकरण के अनुरूप लक्ष्य भाषा में अंतरित करना और तीसरा सटीक शब्दों की तलाश। इन तीनों चरणों में अलग-अलग सुखानुभूतियों के बाद जो अनूदित कृति सामने आती है उसमें निश्चय ही मौलिक लेखन तथा सृजन का सुख होता है।

डॉ. गंगाप्रसाद विमल ने कहा कि स्थूल रूप से सृजन ही अपने आप में अनुवाद है। सृजन में अनुवाद भी विभाज्य रूप से विद्यमान है। उन्होंने कहा अनुवाद मात्र भाषा की शाब्दिक उपस्थितियों का उल्था नहीं है। अनुवाद परजीवी कार्य नहीं है क्योंकि अनुवादक मूल के रस का आभास पाकर ही उसे अपनी भाषा में देने की प्रेरणा पाता है।

दूसरे सत्र की अध्यक्षता श्री राजेंद्र अवस्थी ने की। उन्होंने कहानी, उपन्यास एवं कविता सभी विधाओं में अनुवाद की समस्याओं पर प्रकाश डाला। उन्होंने उपन्यास एवं कहानियों के अनुवाद के संबंध में कहा कि अधिकतर जो अनुवाद हो रहे हैं, वे मूल रचना की भाषा एवं उसमें वर्णित स्थान विशेष के परिवेश एवं लोक संस्कृति को समझे बिना किये जाते हैं। इसलिये वे सटीक, रोचक एवं सजीव न होकर नीरस एवं भ्रष्ट होते हैं।

कविता के अनुवाद के संबंध में उन्होंने कहा कि कविता का उत्कृष्ट अनुवाद करना लगभग असंभव है, क्योंकि कविता में कवि के निजी, वैयक्तिक पीड़ा एवं सुख-दुख समाविष्ट होते हैं जिन्हें अनुवादक छू तक नहीं पाता। वह रचना के कलेवर का अनुवाद मात्र कर सकता है, जबकि उसकी आत्मा अछूती रह जाती है।

अनुवाद में सृजन के सुख की चर्चा करते हुए उन्होंने कहा कि मौलिक रचनाकार माँ की तरह होता है, जो रचना को जन्म देने के लिए पीड़ा के लम्बे दौर से गुजरता है और रचना के पूर्ण होने पर वही सुखानुभूति होती है जो एक माँ को नवजात शिशु को जन्म देकर होती है। अनुवादक को एक पोषक कह सकते हैं, जिस पर रचना के पोषण की भारी जिम्मेदारी होती है। वह रचना को पूर्ण एवं समग्र रूप में अधिकाधिक लोगों से परिचित कराता है।

अनुवाद के श्रमसाध्य कार्य को यथोचित महत्व नहीं दिया जाता। अतः उन्होंने इस पर जोर दिया कि प्रत्येक अनूदित कृति पर अनुवादक का नाम अवश्य होना चाहिए।

संगोष्ठी का समापन करते हुए सुप्रसिद्ध कथाकार श्री कमलेश्वर ने कहा कि अनुवादकों को मौलिक रचनाकार की तरह ही अपनी भाषा का प्रयोग करना चाहिए और एक बँधे-बँधाये ढर्रे से अलग हटकर भाषा के विकास से जुड़ना चाहिए। उसे प्रकाशन या व्यावसायिक भावना के दायरे से निकलकर, सृजन की भावना से प्रेरित होकर अनुवाद करना चाहिए।

उन्होंने इस बात पर चिंता व्यक्त की, कि अब अन्य भाषाओं से हिंदी में अनुवाद उतनी तत्परता से नहीं हो रहे हैं जैसे पहले होते थे। हिंदी के विकास के लिये जरूरी है कि दूसरी भाषा के साहित्य का अनुवाद यथाशीघ्र हो।

भारतीय अनुवाद परिषद के सचिव श्री विनोद शर्मा ने बड़ी सूझ-बूझ और कुशलता से संगोष्ठी का संचालन किया।

□

पत्र-पत्रांश

मैथिलीशरण विशेषांक मिल गया था। सचमुच बहुत ही संग्रहणीय अंक निकाला है। व्यक्तित्व और कृतित्व दोनों के संबंध में बहुत ही बड़े लोगों से, बहुत ही अच्छे लेख मिले हैं। जिन्हें बहुत ही सुंदर ढंग से प्रकाशित भी किया गया है। तुम्हारी परिकल्पना भी सराहनीय है और लोगों का सहयोग भी। बधाई।

अमृत राय,
१८ न्याय मार्ग, इलाहाबाद।

'गगनांचल' के गुप्त विशेषांक ने संस्थान के समारोह में बहुतों का ध्यान आकर्षित किया, विशेषत: ठाकुर प्रसाद सिंह जी अपनी कविता के लिए उत्सुक थे और डॉ. शिवमंगल सिंह 'सुमन', डॉ. बच्चन सिंह, डॉ. परमानंद तथा संस्थान के अधिकारियों की दृष्टि में भी इसका प्रकाशन आदर्श लगा। आपका विशेषांक समृद्ध ओर सुरुचिपूर्ण है। उसका निश्चय ही देश-विदेश में स्वागत होगा।

डॉ. जगदीश गुप्त, नागवासुकि
दारागंज, इलाहाबाद

'गगनांचल' का मैथिलीशरण गुप्त विशेषांक मिला। सचमुच आपने महत्वपूर्ण और संग्रहणीय अंक निकाला है। बधाई।

डॉ. हरदयाल
दिल्ली

राष्ट्रकवि के संबंध में शोधार्थियों के लिए यह एक सुकर आयोजन हो गया। देश के सभी खूंटों की आस्था एक ठिकाने **इकट्ठी** हो गई है। राष्ट्रभाषा और राष्ट्रकवि के लिए एक समग्र की आस्था इसमें अनचाहे **ही** संकलित हो गई है। आप भी उस श्रेय के सहायक हैं, भागीदार हैं, 'गगनांचल' के संपादक के नाते भी और बुंदेली धरती की **सोंधी सुगंधि** से उत्प्रावित होने के नाते भी।

हरगोविंद, चिरगांव, झाँसी (उ.प्र.)

'स्वास्तिक' पर डॉ. श्रीवास्तव का चिंतन उनकी खोज और विद्वता का परिचायक है। अजित कुमार की कविताएँ नई ताजगी के साथ आई हैं। 'मनहर न सही/भटकइया/सदा तत्पर हैं'—सौंदर्य और काल के द्वंद्व को एक अत्यंत सशक्त रूप में अंकित करती हैं। अजित कुमार की एक अन्य कविता 'इस भय में' हर वैसे व्यक्ति की मनोदशा को अत्यंत सहजता से अभिव्यक्त करती है जो घर की कल्पना को मूर्त रूप में देखकर भी कल्पना के घरों में भटकता रहता है, जहाँ आशंका, अनिश्चयता अपना डेरा डाले रहते हैं। प्रयाग शुक्ल की कविताओं में अभिव्यक्ति की एक नई व्याकुलता झलकती मिली।

सच्चिदानंद सिन्हा
नयी दिल्ली

'गगनांचल' (वर्ष १०, अंक २) नयी मुद्रण-सज्जा में नयनाभिराम है। मैं अंक को आद्योपांत पढ़ गया। डॉ. जगदीश गुप्त की कविता और रेखांकन बहुत सुंदर हैं। संपादकीय संतुलित है।

लेखों में डॉ. रांग्रा का 'अज्ञेय' पर लेख नयी दृष्टि देता है। डॉ. रामदरश मिश्र का 'रेणु' पर संस्मरण और ललित शुक्ल का शांति निकेतन पर लेख बहुत अच्छे हैं। दिनेश चंद्र अग्रवाल का सूर्य पर लेख बहुत खोजपूर्ण है, उसके साथ चित्र होते शिल्पादि के तो और अच्छा लगता है। डॉ. नीलम गुप्त का समीक्षात्मक लेख नयी दृष्टि देता है। कुबेरनाथ राय का ललित निबंध मार्मिक है।

कविताओं में प्रताप सहगल, रमेश कौशिक, हरदयाल की कई पंक्तियाँ मुझे तरोताज़ा लगीं, पुस्तक समीक्षाएँ भी चुनी हुई चीज़ों की, सुरुचिपूर्ण हैं।

सबसे अच्छा हिस्सा है विदेशों में, विशेषत: सूरीनाम में हिंदी भाषा और साहित्य-संबंधी सांस्कृतिक गतिविधियों की जानकारी। मारीशस विशेषांक की तरह और भी देशों में भारतीय संबंधों पर और सामग्री देते रहिये।

आपके संपादन में साहित्यिक सूझबूझ और युग-दृष्टि है।

डॉ. प्रभाकर माचवे, ग्रेटर कैलाश
नयी दिल्ली

□

इस अंक के लेखक

डॉ. कैलाश वाजपेयी
हिंदी साहित्य के ७वें दशक के समर्थ कवि। धर्मदर्शन, तंत्र और भारतीय संस्कृति के गहन अध्येता। मैक्सिको में हिंदी भाषा और साहित्य का अध्यापन करते हुए 'मय' संस्कृति का भारतीय संदर्भ में विशेष अध्ययन। कविताओं के चार संकलन।
संप्रति : हस्तिनापुर कॉलेज दिल्ली में हिंदी-व्याख्याता।

गुणाकर मुले
वैज्ञानिक विषयों के प्रसिद्ध लेखक। भारत के प्राचीन ज्ञान-विज्ञान, जैसे गणित, ज्योतिर्विज्ञान, भौगोलिक, रसायन इत्यादि उपलब्धियों से लेकर आधुनिक प्रौद्योगिकी जैसे महत्वपूर्ण विषयों पर अनेक माध्यमों द्वारा कृतियाँ प्रकाशित।

डॉ. ए.एल. श्रीवास्तव
जन्म : १९३६, उत्तर प्रदेश।
शिक्षा : एम.ए., पी.एच.डी.।
लगभग पचास शोध पत्रिकाओं में स्तरीय लेखों का प्रकाशन। हिंदी साहित्य की विशिष्ट पत्र-पत्रिकाओं में लेखन के अलावा भारतीय कला, संस्कृति, पुरातत्व से संबंधित तीन पुस्तकें। देश-विदेश में आयोजित विद्वत् सम्मेलन में शोध-पत्रों की प्रस्तुति।
संप्रति : सी.एम.पी. कॉलेज (इलाहाबाद विश्व-विद्यालय) के प्राचीन इतिहास, संस्कृति एवं पुरातत्व विभाग में अध्यापन।

सच्चिदानंद सिन्हा
जन्म : दरभंगा, बिहार।
अंग्रेजी में एम.ए. करने के बाद भारतीय प्रशासनिक सेवा में १९६३ में नियुक्ति। हिंदी की नयी कविता के मार्मिक कवि। उनकी कविताओं की संक्षिप्ति और दार्शनिक एवं आंतरिक गुणवत्ता दृष्टव्य है। कविताओं के अतिरिक्त कहानी तथा यात्रा-विवरण के लेखक। अंग्रेजी में भी कविताएँ।
संप्रति :

नरेंद्र कोहली
प्रतिष्ठित कथाकार। रामकथा और महाभारत के मिथकों का आधुनिक परिप्रेक्ष्य में मौलिक रचनात्मक विश्लेषण। तेरह उपन्यास, आठ कथा संग्रह, छः व्यंग्य-संग्रह और तीन नाटक-संग्रह और एक निबंध-संग्रह प्रकाशित।
संप्रति : मोती लाल नेहरू कॉलेज में हिंदी के व्याख्याता।
संपर्क : १७४ वैशाली, पीतमपुरा, दिल्ली-३४

डॉ. जगदीश सिंह मन्हास
हिंदी साहित्य, भारतीय संस्कृति के विद्वान। प्राचीन स्थापत्य में भारतीय सौंदर्य-सृष्टि का विशेष अध्ययन।
संप्रति : राजकीय महाविद्यालय पोर्टब्लेयर में हिंदी अध्यापन।

डॉ. नरेंद्र मोहन
जन्म : ३० जुलाई, १९३५, लाहौर।
शिक्षा : एम.ए., पी.एच.डी.।
अब तक चार कविता-संग्रह प्रकाशित। कुछ कविताएँ अंग्रेजी, मराठी, पंजाबी तथा बंगला भाषा में अनूदित।
संप्रति : हिंदी-विभाग, खालसा कॉलेज, दिल्ली।

सुरेंद्र मोहन मिश्र
भारत के आधुनिक इतिहास और हिंदी भाषा के अध्येता। पत्र-पत्रिकाओं में स्वतंत्र लेखन।
संपर्क : ए.४/एफ ४ नवभारत अपार्टमेंट्स पश्चिम विहार।

सर्गेई स्मिर्नोव
रूसी भाषा के लब्ध-प्रतिष्ठा कथाकार जिन्हें अपनी युद्ध संबंधी खोजपूर्ण रचनाओं के लिए पुरस्कृत किया गया। आप द्वितीय महायुद्ध की अज्ञात कथाओं और अनाम वीरों को अपने अनुसंधान से प्रकाश में लाए जिनमें 'ब्रेतस्की का किला' अत्यंत महत्वपूर्ण है। मूलत : आपकी रचनाएँ द्वितीय महायुद्ध की घटनाओं पर आश्रित हैं।

डॉ. सुरेंद्र कुमार शर्मा
दिल्ली विश्वविद्यालय से हिंदी में एम.ए. के पश्चात तीनों वर्ष रूसी भाषा में विशेष योग्यता सहित प्रथम स्थान। 'हिंदी रूसी समस्रोतीय शब्दावली प्रबंध पर भाषा-विज्ञान में पी.एच.डी. की उपाधि। ग्रीक, लैटिन, प्राचीन जर्मन केल्ट, मराठी, बंगाली आदि

भारोपीय भाषाओं के व्यापक परिवेश में साठ हज़ार हिंदी-रूसी समस्रोतीय शब्दों की खोज। मूल रूसी से अनेक कहानियों और पुस्तकों का अनुवाद। हिंदी कविताओं का अंग्रेजी रूसी में अनुवाद। इसके पूर्व अनेक कविताओं की सृष्टि, कतिपय प्रकाशित।

संप्रति : भारत सरकार में राजभाषा अधिकारी।

कमला प्रसाद सिंह
हिंदी के विद्वान लेखक, साहित्यकार व्यंग्य विषय में भी सृजन। कहानियाँ पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित।

केशव कालीधर
कविता, व्यंग्य, कहानी के प्रतिभाशाली लेखक। नयी कविता के आंदोलन में विशेष योगदान। गंभीर काव्य-सृजन इसी नाम से करते हैं।

संपर्क : उत्तर प्रदेश नाट्य कला अकादमी की त्रैमासिक 'छायानट' के संपादक।

विजेंद्र
जन्म : १९३१।

शिक्षा : काशी हिंदू विश्वविद्यालय से अंग्रेजी साहित्य में एम.ए.। 'ओर' साहित्यिक त्रैमासिक का संपादन। अब तक चार कविता-संग्रह प्रकाशित—'त्रास', 'ये अकृतियाँ तुम्हारी' 'उठे गूमड़े नीले' और 'चैत की लाल टहनी'। इसके अतिरिक्त कविता के सौंदर्यशास्त्र संबंधी लेख पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित। प्रगतिशील कविता के प्रतिष्ठित हस्ताक्षर। पुनः एक साहित्यिक पत्रिका के नियमित प्रकाशन की योजना पर कार्यरत।

संप्रति : (अध्यक्ष अंग्रेजी विभाग) महारानी श्रीजया स्नातकोत्तर कॉलेज भरतपुर।

श्री एल. एल. मेहरोत्रा
श्री मेहरोत्रा हिंदी के विद्वान और कवि हैं। आजकल बेलग्रेड (यूगोस्लाविया) में भारत के राजदूत हैं। भारतीय संस्कृति और हिंदी साहित्य की, विदेशों में छवि प्रस्तुत करने में विशेष प्रयत्नशील है।

मधुर शास्त्री
जन्म : १९३०, बरौठा, अलीगढ़ (उ. प्र.)।

शिक्षा : एम.ए., प्रभाकर शास्त्री।

प्रकाशन : 'आँधी के पाँव' (कविता-संग्रह), हिंदी साहित्य की प्रतिनिधि पत्र-पत्रिकाओं में रचनाएँ। विशिष्ट साहित्यिक सेवाओं के लिए हिंदी अकादमी द्वारा पुरस्कृत।

दिविक रमेश
शिक्षा : एम.ए., पी.एच.डी.।

जन्म : गाँव-किराड़ी, दिल्ली।

सोवियत लैंड नेहरू पुरस्कार एवं हिंदी अकादमी दिल्ली का साहित्यिक कृति पुरस्कार। १९८७ में पूर्वी-जर्मनी की यात्रा।

पुस्तकें (चुनी हुई) : 'रास्ते के बीच', 'खुली आँखों में आकाश', 'जोकर मुझे बना दो जी', 'धूर्त साधु और किसान', 'हँसे जानवर हो हो हो', 'निषेध के बाद', 'हिंदी कहानी का समकालीन परिवेश'।

शिवकुटी लाल वर्मा
नयी पीढ़ी के सुपरिचित कवि। इनकी कविताओं में भावना और यथार्थ का मौलिक परिपाक देखने को मिलता है।

संपर्क : ए-१, चाहचंद, इलाहाबाद।

रामजैसवाल
जन्म : ५ सितंबर, १९३२।

शिक्षा : एम.ए. (चित्रकला), डिप्लोमा इन फाइन आर्ट्स।

हिंदी के प्रतिष्ठित पत्र-पत्रिकाओं में रचनाएँ।

अब तक चार कहानी-संग्रह प्रकाशित। चित्रण के क्षेत्र में राष्ट्रीय एवं राज्य स्तर के पुरस्कार।

डॉ. सुधेश
जन्म : ६ जून, १९३३, जगादरी अंबाला, हरियाणा।

शिक्षा : एम.ए., पी.एच.डी.।

कविता, आलोचना, यात्रा-वृतांत संबंधी चार पुस्तकें। विदेश भ्रमण के साथ-साथ पुस्तक-संपादन और अनुवाद कार्य।

संप्रति : एसोशिएट प्रोफेसर, भारतीय भाषा केंद्र, जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय, नयी दिल्ली।

विनोद शर्मा	पेशे से इंजीनियर। सोठोत्तरी पीढ़ी के कवि। पिछले दो दशकों से कविता की दुनिया एवं कंक्रीट की दुनिया के बीच पुल बनाने का प्रयास कर रहे हैं। प्रमुख साहित्यिक संस्थाओं से संबद्ध। कविताओं का भारतीय एवं विदेशी भाषाओं में अनुवाद।
सुरेश विमल	जन्म : ४ दिसंबर, १९५०, टोड़ाभीम, राजस्थान। शिक्षा : राजस्थान विश्वविद्यालय। पत्र-पत्रिकाओं में रचनाएँ।
नरेंद्र सिन्हा	जन्म : १९२७। कवि, लेखक और पत्रकार। केंद्रीय सूचना सेवा से संबद्ध। प्रमुख प्रकाशित कृतियाँ— 'मगर डूबा नहीं है वट वृक्ष' (कविता-संग्रह), 'देश भक्ति की कविताएँ' (संपादित)। संप्रति : सूचना एवं प्रसारण मंत्रालय के सांस्कृतिक मासिक 'आजकल' के संपादक।
शांति मेहरोत्रा	नई कविता की प्रमुख कवियित्री। रेखाचित्र, व्यंग्य विनोद, व्यक्ति-लेख, नाटकों की प्रसिद्ध लेखिका। प्रोड्यूसर (निवृत), आकाशवाणी, इलाहाबाद। संपर्क : २०-ए, घोष बिल्डिंग, जवाहरलाल नेहरू मार्ग, इलाहाबाद।
रमाशंकर श्रीवास्तव	व्यक्ति लेख और व्यंग्य–विनोद के सुपरिचित लेखक। आलोचना के क्षेत्र में विशेष गति। संप्रति : आर-७, वाणी विहार, उत्तम नगर, नई दिल्ली-५९।
डॉ. राममोहन पाठक	शिक्षा : एम.ए., पी.एच.डी.। 'बैचलर ऑफ जर्नलिज़्म', हिंदी पत्रकारिता का साहित्यिक योगदान विषय पर शोध-कार्य (काशी हिंदू विश्वविद्यालय)। हिंदी तथा अंग्रेजी की पत्र-पत्रिकाओं में रचनाएँ। संप्रति : 'आज' (हिंदी दैनिक) एवं 'अवकाश' (पाक्षिक) के संयुक्त संपादक। पत्रकार संघ काशी के अध्यक्ष।
शशिधर खां	जन्म : ७ अप्रैल, १९५९। शिक्षा : एम.ए. (राजनीति शास्त्र) और प्राचीन भारतीय इतिहास एवं पुरातत्व), पटना, विश्वविद्यालय। पत्र-पत्रिकाओं में लेखन। संप्रति : स्वतंत्र लेखन।
देवेंद्र ठाकुर	जन्म : ७ मई, १९३९। शिक्षा : एम.ए., पी.एच.डी., डी. लिट., अर्थशास्त्र के मर्मज्ञ विद्वान। कई विद्वत सम्मेलनों में हिस्सा लिया। कई लेखों का पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशन। बिहार कॉलेज सेवा आयोग के पूर्व-सदस्य।
डॉ. वीरेंद्र शर्मा	हिंदी साहित्य के विद्वान। प्रतिष्ठित पत्र-पत्रिकाओं में रचनाएँ प्रकाशित। कविता और समीक्षा के क्षेत्र में विशेष रुचि। संप्रति : भारत सरकार के विदेश मंत्रालय से संबद्ध।
डॉ. प्रेमचंद गोस्वामी	प्रमुख साहित्यिक पत्रिकाओं में कला विषयक लेख, निबंध प्रकाशित।
अंजलि तिवारी	हिंदी कथा साहित्य में विशेष शोध। आलोचना और समीक्षा के क्षेत्र में कार्यरत।
डॉ. गार्गी गुप्त	भारतीय अनुवादक परिषद की अध्यक्षा। 'अनुवाद' का संपादन। अनेक विदेशी भाषाओं की रचनाओं का हिंदी में अनुवाद।
डॉ. हरगुलाल गुप्त	हिंदी के विद्वान। मारीशस स्थित भारतीय उच्चायोग में हिंदी अधिकारी और प्रथम सचिव (शिक्षा)। पत्र-पत्रिकाओं में रचनाएँ प्रकाशित।

गगनाञ्चल

वर्ष १० अंक ४ १९८७

संपादकीय

अक्षय स्मृति

काव्यांजलि

पुण्य-स्मृति

नाटक

संपादकीय

'कमल दल पर किरण अंकित' !

श्रीमती महादेवी वर्मा आधुनिक हिंदी कविता की शीर्षस्थ कवयित्री थीं जिनके प्रगीतों में छायावाद का समस्त काव्य सौष्ठव समाहित हो गया था। वाणी के सभी वरदान अर्थात् बुद्धि, कल्पना, काव्य, चित्रकला, विचार, चिंतन, मनन और वचन की वर्चस्विता से वे विभूषित थीं। उनकी रचनात्मक प्रतिभा दो मुख्य दिशाओं में समान रूप से प्रवाहित हुई थी—शब्द के माध्यम से कविता में और रंग के माध्यम से चित्रकला में। बीसवीं शताब्दी में मैथिलीशरण गुप्त से आरंभ होकर कवियों की जो पीढ़ी नूतन काव्य-भाषा में धारावाह नवोन्मेष लेकर आई थी उसके शीर्ष बिंदु पर १९२९-३० में महादेवी आईं। यों तो उनके चिंतन-प्रधान गद्य लेखन और रचनात्मक संस्मरणों का महत्व कम नहीं है किंतु कविता में ही उनकी प्रतिभा को पूरी तरह परिष्कृत अभिव्यक्ति मिली। जो गंभीर कलात्मक संस्कारशीलता उनके व्यक्तित्व में थी वही उनके जीवन और आसपास के वातावरण, रहन-सहन और कविता में भी समान रूप से प्रस्फुटित हुई थी। महादेवी जी की कविता में प्रकृति विविध रंग भरे रूपों में प्रकट होती है। उनका जीवन भी प्रकृति के इसी रम्य परिवेश में बीता। घर की भीतरी कलात्मक साजसज्जा, शीशे में सजी वीणा-वादिनी की मूर्ति, तमाम तरह के अनूठे पेड़-पौधे, पीपल, सेमल, नारियल, आम, कटहल, सुपारी, चंपा से लेकर रबड़ के पेड़, ताड़ के चौड़े-छितरे, झलने के पंखे जैसे बड़े-बड़े पत्तों वाले झाड़, पहाड़ी देवदारू, चीड़, समुद्री तट के झाऊ आदि की घनी-छरहरी छायाओं में डूबा उनका विस्तीर्ण बंगला और इस सबके बीच महादेवी जी का 'परिवार'—मोर, खरगोश, पालतू गिलहरियां, चिड़ियां, पशु-पक्षी सबसे वे घिरी रहती थीं। वैवाहिक और गृहस्थ जीवन को स्वीकार न करने के बाद यही उनका परिवार था। उन्होंने गृहस्थ जीवन का शुरू से ही बहिष्कार किया और उसके स्थान पर विद्या, शिक्षा, कला, साहित्य, समाज, नारी-जागरण तथा अन्य सार्वजनिक कार्यों में अपना अमूल्य योगदान दिया। साहित्यकार-संसद और महिला विद्यापीठ, इलाहाबाद जैसी शिक्षा और साहित्य की अग्रणी संस्थाओं से जीवनभर संबद्ध रहीं। रूढ़ियों का विरोध और कठिनाइयों के समक्ष न झुकने वाली संकल्पशीलता उनके व्यक्तित्व का अभिन्न अंग बनी।

महादेवी जी का मूल्यांकन करने वाले अधिकतर लोगों ने उन्हें दुख और वेदना की कवयित्री कहा है और उनकी रचनाओं की लगातार रहस्यवादी व्याख्या होती रही है। लेकिन यदि हिंदी कविता के इतिहास को एक अन्य दृष्टि से देखा जाए तो स्पष्ट हो जाएगा कि महादेवी तक खड़ी बोली की कविता अधिकतर बाह्य वर्णन और विवरण के स्तर पर ही रही थी। मैथिलीशरण गुप्त के साथ वर्णन की जो प्रवृत्ति आरंभ हुई थी वह छायावादी कविता के मार्दव और अर्थ-समृद्ध भाषा के साथ भी बहुत समय तक चलती रही थी।

महादेवी जी जिस समय हिंदी कविता के मंच पर आईं उस समय छायावाद की धारा अपने उत्कर्ष पर पहुँच रही थी। १९२९ में 'नीहार' से आरंभ करके १९३२ में 'रश्मि', १९३४ में 'नीरजा' और १९३६ में 'सांध्य गीत' नाम के संकलन प्रकाशित हुए। तब तक छायावाद में भाषा, शैली, शब्द संयोजन, रंग विधान, कल्पनाशीलता, संवेदना और दार्शनिकता की दिशाएं खुल गई थीं। भाषा को इतना परिष्कार, ऋजुता, लचीलापन और सामर्थ्य प्राप्त हुई थी कि उसके द्वारा सूक्ष्म अर्थों की अभिव्यक्ति संभव हो गई थी। प्रकृति और सौंदर्य का भरपूर समावेश कविता में हो रहा था। एक प्रकार से छायावाद कल्पनाशीलता और सौंदर्य की ही धारा थी। उसमें रुढ़ियों से विद्रोह और स्वाधीनता के सांस्कृतिक मूल्यों की परोक्ष गूंज अवश्य मिलती है किंतु जीवन के कटु यथार्थ, संताप, आजादी के आंदोलन से उत्पन्न संघर्ष और उस समय की आर्थिक दारुण दशा की अभिव्यक्ति नहीं मिलती। जैसे वह इस सारी निराशाजनक स्थिति की संपूर्ति किसी सुखद कल्पनालोक में करना चाहती थी। यही कारण था कि कई कवियों में वेदना, व्यथा और अवसाद की अनुगूंज जगह-जगह मिलती है। पंत जी की कविता सुदूर प्रकृति की रम्य गोद में ले जाती है। सिर्फ निराला जी में ही विद्रोह और यथार्थ की अभिव्यक्ति हुई थी। पंत जी का 'पल्लव' (१९२६), 'वीणा' (१९२७) और 'गुंजन' (१९३२) में निकल चुके थे। १९३६ में उनके 'युगांत' के साथ छायावाद का अंतिम छोर पहुँच गया था। स्वयं पंत जी ने 'द्रुत झरो जगत के जीर्ण पत्र' लिखकर पुराने युग के समाप्त होने की घोषणा कर दी थी। महादेवी जी की कविताओं ने १९२९ और १९३२ के बीच लोगों का ध्यान आकर्षित किया और १९३४ में 'नीरजा' के प्रकाशित होने के बाद वह प्रगीत की श्रेष्ठ कवयित्री के रूप में प्रतिष्ठित हो गईं। उनकी कविता में वेदना, व्यथा और सुखद टीस के माध्यम से मन के भावोद्वेगों और आत्मसंघर्ष को पहली बार गहरी वाणी मिली थी। निराला जी के 'बादल गरजो' या पंत जी की 'दूर खेतों के उस पार, जहाँ तक गई नील झंकार' या 'नीरव संध्या में प्रशांत, डूबा है सारा ग्राम प्रांत' अथवा 'नौका विहार' जैसी समर्थ रचनाओं में जीवन के बाहय सौंदर्य रूप का वर्णन ही अधिक है। किंतु महादेवी जी के गीत इस समस्त बाहय परिवेश से प्राप्त संवेदनाओं की अन्तर्मुखी आत्माभिव्यक्ति के रूप में प्रस्तुत हुए हैं। जैसे समस्त बाहय संघर्ष को आंतरिक मनोवेगों का स्वरूप प्राप्त हो गया हो। उनके गीत छवि-मूर्तियों की तरह सुघड़, रंगमय और कुशल शिल्पी द्वारा तराशे हुए लगते हैं। पुराने जमाने में हाथी दांत या मणियों पर जैसी सुंदर चित्रकारी होती थी या नखचित्र बनाए जाते थे वैसी ही पच्चीकारी एक लघु वृत में महादेवी जी के अत्यंत मधुर और संक्षिप्त गीतों में मिलती है। उनमें बिंब योजना, रंगमयता और कल्पनाशीलता बिल्कुल उनकी तूलिका से बने हुए कला चित्रों की तरह है। प्रकृति का जैसा 'मूर्तिकरण' उनके गीतों में है लगभग वैसा ही 'मानवीकरण' उनकी चित्रकला में भी लक्षित होता है। महादेवी जी को अपने बचपन में ही बाल-विवाह की सामाजिक रूढ़ि से जो मानसिक संघात पहुँचा था जिसके परिणामस्वरूप आजीवन गृहस्थी से अलग रहने का संकल्प उन्होंने लिया था वही द्वंद्व-स्थिति उनके जीवन में लगातार रही। एक ओर व्यवस्था से विरोध दूसरी ओर नारी मन की सहज ऊष्मा की ललक तथा अकेलेपन का अवसाद सदा चलता रहा। लेकिन अंततः संकल्पशीलता में ही इस व्यथा का उदात्तीकरण हुआ। एक ओर जहाँ उन्होंने लिखा — 'कमलदल पर किरण अंकित चित्र हूँ मैं क्या चितेरे' या 'माँगने पतझार से हिम बिंदु तब मधुमास आया' अथवा 'कूल भी हूँ, कूलहीन प्रवाहिनी भी हूँ', इसके साथ ही उनकी दूसरी भावना 'और होंगे चरण हारे', अन्य हैं जो लौटते दे शूल को संकल्प सारे' ऐसे सुदृढ़ व्यक्तित्व का प्रतिबिंबन करती है।

महादेवी जी के गीतों में दुख और वेदना की जो अभिव्यक्ति हुई है उसका संबंध उनके सामाजिक जीवन संघर्ष से अधिक है, अद्वैत की किसी रहस्यवादी अवधारणा से नहीं। उन्होंने

परिवार के बंधनों से अलग रहने का जो संकल्प किया था उस पर वे अडिग अवश्य रहीं लेकिन उससे उत्पन्न विषाद और एकाकीपन का अनुभव जीवनभर रहा। पुरुष के निरंकुश स्वेच्छाचार से नियंत्रित जिस समाज व्यवस्था में स्त्री को 'सेवा और त्याग' की आदर्शवादी शाब्दिक सूक्तियों में जकड़कर शताब्दियों से रखा गया हो, जहाँ स्त्री की अपनी निजी इच्छा, अभिमत और व्यक्तित्व का कोई स्थान ही न हो वहाँ इस पूरी रूढ़ि-बद्धता से अलग अपने स्वतंत्र व्यक्तित्व एवं जीवन का निर्णय लेना किसी बड़े सामाजिक विद्रोह से कम नहीं था। १९२५-३० में एक युवती का ऐसा निर्णय लेना कितना कठिन काम था इसकी कल्पना हम आज नहीं कर सकते। आज तो भारतीय स्त्री की स्थिति बिलकुल दूसरी है। वह अधिक शिक्षित, स्वतंत्र, समर्थ है। किंतु नारी जागरण की प्रारंभिक अवस्था में महादेवी जी ने जो कदम उठाया वह अभूतपूर्व था। उनके गीतों में वस्तुत : व्यवस्था से लगातार इसी टकराव के द्वंद्व की पीड़ा है। एक ओर संकल्पशीलता दूसरी ओर जीवन के मधुर पक्ष की ललक। ये दोनों ही तीव्र भावनाएं एक द्वंद्वात्मक स्थिति में महादेवी जी में निरंतर रहीं। कविता में वास्तविक जीवन से प्राप्त मनस्ताप कई प्रकार से उनके गीतों में प्रकट हुए हैं :

"विस्तृत नभ का कोई कोना
मेरा न कभी अपना होना
परिचय इतना इतिहास यही
उमड़ी कल थी मिट आज चली
मैं नीर भरी दुख की बदली।"

इस गीत की पीड़ा और अकेलेपन का अनुभव नितांत वास्तविक प्रेरणा भूमि से उत्पन्न हुआ है, रहस्यवादी या अलौकिक बिलकुल नहीं है। उनके गीत एक प्रकार के झीने, दूर स्थित आवरण में लिपटे हुए अवश्य हैं। वे कला की पच्चीकारी को अधिक प्रभावोत्पादक बनाने के लिए ही गीतों को इस रोमानी रहस्य भरे आवरण में ढककर प्रस्तुत करती हैं। उसे एक गहरी दार्शनिकता देती हैं। वियोग या विरह से उत्पन्न एकाकीपन की व्यथासिक्त मीठी-मीठी टीस में वे जैसे डूबे रहना चाहती हैं।

विरह की घड़ियां हुई अलि मधुर मधु की यामिनी सी।
सजनि, अंतर्हित हुआ है 'आज' मैं धुंधला विफल 'कल';
हो गया है मिलन एकाकार मेरे विरह में मिल;
राह मेरी देखती
स्मृति अब निराश पुजारिनी सी।

या

प्रिय, जिस ने दुख पाला हो
जिन प्राणों से लिपटी हो
पीड़ा सुरभित चंदन सी
तूफानों की छाया हो
जिसको प्रिय आलिंगन-सी।

ऐसे अनेक उदाहरण उनके गीतों से दिए जा सकते हैं। इन्हें बारीकी से परखने पर ज्ञात होगा कि व्यथा की मधुर कल्पनाएं उनके अभाव की पूर्ति के रूप में प्रकट होती हैं। ये कोमल व्यथा-सिक्त कविताएँ ही उनकी संबल हैं; वही उनके अकेलेपन को भरती हैं। इस प्रकार उनके गीत इस व्यथा से 'छूटने', 'बरी होने' या 'मुक्त होने' का माध्यम नहीं हैं।

महादेवी के गीतों का स्रोत अधिकतर मीरा और कबीर में खोजा जाता है लेकिन यह विश्लेषण

सही नहीं है। उनका स्रोत छायावादी रोमानी अवसाद और समाज के तत्कालीन कटु यथार्थ से संबंधित है। वैयक्तिक जीवन की व्यथा और समाज में फैले हुए दुख की छाया जयशंकर प्रसाद और महादेवी में बड़ी तीव्रता से व्यक्त हुई है। यह सूत्र तत्कालीन जीवन के सामाजिक दुख से दूर, प्रकृति की एक ऐसी रम्य, शांत लोक अथवा 'यूटोपिया' की कल्पना में मिलता है जिसे कवि उस समय के जीवन में प्रतिष्ठित करना चाहता था। उसकी प्राप्ति की विफलता ही वेदना में परिणत हुई थी। वस्तुतः महादेवी की वेदना का स्रोत प्रसाद जी के 'आंसू' और उनके नाटकों के मधुर वेदना-भरे इस प्रकार के गीतों में हम देख सकते हैं।

''इस करुणा कलित हृदय में
क्यों विकल रागिनी बजती
क्यों हाहाकार स्वरों में
वेदना असीम गरजती।
*   *   *   *

जो घनीभूत पीड़ा थी
मस्तक में स्मृति सी छाई
दुर्दिन में आँसू बनकर
वह आज बरसने आई।   (आँसू : जयशंकर प्रसाद)

या

प्रसाद जी के नाटकों के ऐसे तमाम गीत :

आह, वेदना मिली बिदाई।
मैंने भ्रमवश जीवन संचित
मधुकरियों की भीख लुटाई।

अथवा, प्रसाद जी की ही वह प्रसिद्ध कविता जिसमें कवि इस संताप भरी दुनिया से दूर किसी शांत स्निग्ध लोक में चला जाना चाहता है।

ले चल मुझे भुलावा देकर
मेरे नाविक धीरे-धीरे

जिस निर्जन में सागर लहरी
अंबर के कानों में गहरी
निश्छल प्रेम कथा कहती हो
तज कोलाहल की अवनी, रे!

अथवा,

तुमुल कोलाहल कलह में
मैं हृदय की बात रे, मन

महादेवी जी के शिल्प पर पंत जी के सौंदर्य बोध, प्रकृति की सुषमा, ललित कल्पना, बिंबधर्मिता, रंगयोजना, भाषा के लोच का प्रभाव स्पष्ट है। किंतु निराला के औदात्य, लौकिकता, यथार्थ चेतना और मांसल सौंदर्य का प्रभाव महादेवी पर नहीं है। वस्तुतः उनकी वेदना का स्रोत प्रसाद में ही है। प्रसाद जी की वेदना और व्यथा उस पुराने समाज की टूटने की व्यथा थी जो नये आर्थिक दबावों के कारण समाप्त हो रहा था। उसकी प्राचीन समृद्धि और संपन्नता समाप्त होकर विपन्नता में बदल रही थी।

महादेवी जी में यद्यपि इस पुराने समाज के मिटने का दर्द नहीं है किंतु परिवार के सुख-शांति और सुरक्षा के अभाव का दुख अवश्य है।

महादेवी जी के समकालीनों में अन्य महत्वपूर्ण कवि थे : बालकृष्ण शर्मा नवीन, हरिवंशराय बच्चन और भगवतीचरण वर्मा। अंचल और नरेंद्र शर्मा बाद में आए। नवीन, बच्चन और भगवती बाबू की कविता अधिक लौकिक थी और उनमें महादेवी से अलग सहज भावुकता का तत्व भी स्पष्ट दिखाई देता है। जीवन की क्षणभंगुरता और नियतिवादी अवधारणा तीनों में लगभग समान रूप से विद्यमान है। यह तत्व महादेवी में भी मौजूद है। बच्चन ने लिखा :

मिट्टी का तन, मस्ती का मन
क्षणभर जीवन, मेरा परिचय

भगवती बाबू ने लिखा :

एकाकीपन कही अपनापन
मैं अपने से मजबूर, प्रिये
उर शंकित है, पग डगमग हैं
तुम होती जातीं दूर, प्रिये

अथवा उनकी प्रसिद्ध कविता 'हम दीवानों की क्या हस्ती हैं, आज यहाँ कल वहाँ चले। मस्ती का आलम साथ चला, हम धूल उड़ाते जहाँ चले।'

किंतु इनसे अधिक गहन और उदात्त रूप में महादेवी जी की कविता में क्षणभंगुरता और नियतिवाद की परिणति अनंतता की गहरी दार्शनिक प्रतीतियों और अमरत्व की खोज के विशद जीवन मूल्यों में हुई।

हिंदी कविता में तब तक सामाजिक यथार्थ के संघर्ष और संताप को वाणी देने वाला प्रगतिशील आंदोलन १९३६ में आरंभ हो चुका था। उसकी अभिव्यक्ति गद्य में तब तक अधिक हुई थी। प्रेमचंद ने इस धारा का पौरोहित्य किया था और 'कफन' तथा 'गोदान' जैसी महान कृतियों ने एक नया वातावरण हिंदी साहित्य में पैदा कर दिया था। पंत जी भी उससे अछूते नहीं रह सके थे। वस्तुत: पंत जी की 'युगवाणी' में यह यथार्थ बड़ी तेजी से उभर कर आया था। निराला जी ने इस यथार्थवादी स्वर को सबसे अधिक पहचाना था। प्रगतिशील इतिहास-दृष्टि और यथार्थ चेतना ने पहली बार यह स्पष्ट किया कि मनुष्य की सामाजिक नियति उसके हाथों में है और समाज को परिवर्तित किया जा सकता है। इस नई शक्तिशाली अवधारणा ने हिंदी कविता से प्रकृति की सुदूर गोद में, पलायन, कल्पनाशीलता, निराशा, जीवन की क्षणभंगुरता, अद्वैतवादी अमूर्त दार्शनिकता और नियतिवाद के मूल्यों को समाप्त कर दिया। द्वितीय महायुद्ध, बढ़ता आर्थिक संकट, बंगाल का अकाल, अंग्रेजो भारत छोड़ो आंदोलन आदि नया सामाजिक यथार्थ था। महादेवी के गीतों का लालित्य और कल्पना की रंगमय बिंबात्मकता तथा गीत विधा के आकार की लघुता में इस विस्तृत यथार्थ चेतना की कटुता व्यक्त नहीं हो सकती थी। यही कारण है कि महादेवी जी की गीत धारा १९४१ में 'दीपशिखा' के बाद लगभग समाप्त हो गई। क्रमश: महादेवी जी गद्य की ओर अग्रसर हुईं। यहीं से उनके कल्पनाशील व्यथा गीत कम होते चले गए और गद्य में वे सामाजिक यथार्थ के निकट आती चली गईं। अत: उनकी कविता उनके मानसिक एवं अंतरंग जीवन की व्यथा कथा है और उनका गद्य उनके सामाजिक एवं सार्वजनिक जीवन का चित्र है। उनकी कविता की रंगीन कल्पनाशीलता और गद्य में जीवन के यथार्थ से टकराहट के बीच आलोचकों को जो एक अदृश्य दीवार प्रतीत होती है वैसा नहीं है। उनकी कविता की व्यथा भी लौकिक संघर्ष से उत्पन्न एकाकीपन की भावनात्मक अभिव्यक्ति है, उसका स्रोत उसी प्रकार सामाजिक है जिस प्रकार उनके गद्य

की सामाजिकता और यथार्थ के प्रति सम्पृक्ति है। उनके मानसिक और बाह्य जीवन के द्वंद्व की स्थिति 'सांध्य गीत' तक समानांतर रूप से चलती रही। लेकिन महादेवी इस द्वंद्व से आगे बढ़ीं और उनकी कविता में समकालीन संघर्ष की सुदूर अनुगूंज भी सुनाई देने लगीं :

"और होंगे चरण हारे,
अन्य हैं जो लौटते
दे शूल को संकल्प सारे
दृढ़व्रती निर्माण उन्मद
यह अमरता नापते पद
बाँध लेंगे अंक संसृति से
तिमिर में स्वर्ण बेला"

ये पंक्तियां एक प्रकार से उनके बाह्य और अंतरंग जीवन के बीच एक सेतु की रचना करती दिखाई देती हैं।

यह ठीक है कि महादेवी जी की काव्ययात्रा अल्पकालीन रही और उनकी प्रतिभा का उत्कर्ष १९२९-४१ के १०-१२ वर्षों तक ही रहा। वस्तुत: यथार्थबोध और सामाजिक संपृक्ति के बिना कोई भी रचनाशीलता विस्तार नहीं पा सकती। अंतरंग और आत्मनिष्ठ मनमंथन की एक सीमा होती है, उसके आगे वह नहीं चल पाती। कथ्य के लिए सिर्फ भावना ही काफी नहीं है। यथार्थ की कचोट और पहचान भी उसके लिए चाहिए। लेकिन इतने थोड़े समय में, वह भी छायावाद के अंतिम सीमांत पर होते हुए भी प्रगीत या लिरिक के क्षेत्र में महादेवी जी का अवदान बहुत मूल्यवान है। हिंदी कविता के इतिहास पर यदि हम समग्र रूप से दृष्टिपात करें तो यह स्पष्ट हो जाएगा कि भक्तिकाल की 'पदावली परंपरा' के अतिरिक्त कहीं भी प्रगीत या 'लिरिक' विधा का प्रयोग नहीं मिलता। सौंदर्य का छंदबद्ध लालित्यपूर्ण वर्णन 'प्रगीत' नहीं कहा जा सकता। पदावली की परंपरा कबीर, मीरा, सूरदास, तुलसीदास की 'गीतावली' और 'अष्टछाप' के कवियों से होते हुए भारतेंदु हरिश्चंद्र तक चली आई थी। भारतेंदु के बाद 'पदावली' की यह गेय परंपरा समाप्त हो गई। पदावली के पहले और बाद में 'प्रबंध' या 'मुक्तक' हिंदी कविता के केंद्र में रहे। काव्यशास्त्र के अनुसार कविता का मुख्य वर्गीकरण प्रबंध काव्य और मुक्तक काव्य का ही रहा है। संस्कृत नाटकों को एक तीसरे वर्ग के रूप में 'चंपू' काव्य भी कहा गया था, किंतु भारतीय काव्यशास्त्र में 'प्रगीत' का उल्लेख स्वतंत्र विधा के रूप में कहीं नहीं मिलता। काव्य की लयात्मकता के लिए छंद-विधान, ललित शब्द-संयोजन, यति, गति, अनुप्रास आदि का उपयोग किया जाता रहा। यूरोप के साहित्य में ग्रीक नाटकों में 'कोरस' का विशिष्ट स्थान था। अंग्रेजी, फ्रांसीसी और जर्मन आदि भाषाओं में 'एपिक', 'लिरिक', 'ओड्स', 'बैलड्स', 'एलेजी', 'सोनेट' के गंभीर साहित्यिक रूपाकार प्रचलित रहे थे। इनके अतिरिक्त व्यंग्य-विनोद के 'हल्के दर्जे' के 'लिमरिक' तथा 'लैम्पून्स' जैसे मखौल-पद्यों के भी अलग रूपाकार रहे हैं। पद्य में लिखे ग्रीक शोकांत नाटक, शेक्सपीयर, मार्लो, बेन जोन्सन से लेकर पद्य नाटकों की परंपरा बीसवीं सदी में टी.एस. इलियट तक चली आई थी। हिंदी कविता में शुरू से या तो प्रबंध काव्य थे या मुक्तक जैसे घनाक्षरी, सवैया, दोहे, बरवै आदि के रूप थे। 'पदावली' की भक्तिकालीन विधा भी मुक्तक काव्य की श्रेणी में ही आती थी। किंतु हिंदी में 'पदावली' ही सबसे पहली प्रगीत विधा थी। जायसी के पद्मावत और 'रामचरितमानस' के बाद तुलसीदास के अवसान यानी सन् १६२३ (संवत् १६८०) से लेकर १९२० तक ३०० साल तक मुक्तकों की धारा ब्रजभाषा के कवित्त, सवैयों और लक्षण ग्रंथों में चलती रही। इन तीन शताब्दियों में कोई भी प्रबंध काव्य या गीत काव्य नहीं है। बीसवीं सदी के आरंभ में मैथिलीशरण गुप्त ने प्रबंध

काव्य को पुनर्जीवित किया और जयद्रथ वध, पंचवटी, साकेत आदि काव्य लिखे। हरिऔध का 'प्रिय प्रवास', नरोत्तम दास का 'सुदामा चरित' और जगन्नाथ दास रत्नाकर का ब्रजभाषा में लिखा 'गंगावतरण' अंतिम प्रबंध काव्य माने जाने चाहिए। छायावाद में केवल 'कामायनी' को ही प्रबंध काव्य कहा जा सकता है। सबसे पहले आधुनिक प्रगीत या 'लिरिक' का प्रयोग मुकुटधर पांडेय ने किया। यह 'प्रगीत' प्राचीन पदावली का ही आधुनिक संस्करण कहा जाना चाहिए। उसके बाद प्रसाद जी के नाटकों में ऐसे प्रगीतों का प्रयोग बहुत बड़ी तादाद में हुआ लेकिन यह प्रगीत नाटकों की घटनाओं और भाव-स्थितियों के प्रभाव को बढ़ाने के लिए ही प्रयुक्त किए गए थे। प्रसाद जी के इन स्थिति-सापेक्ष नाट्य-गीतों ने प्रगीतों की एक नई दिशा अवश्य दिखलाई थी। गुप्त जी ने अपने 'झंकार' कविता संकलन और 'यशोधरा' जैसी कृतियों में प्रगीत का उपयोग प्राचीन 'पदों' की रूप शैली में किया था। इनमें पदावली जैसा ही विन्यास है। वैसी ही प्रारंभिक मुख-पंक्ति, तुकांत और शैली-शिल्प का स्वरूप है। पंत जी ने आधुनिक प्रगीत का प्रयोग सही रूप में सिर्फ 'ज्योत्सना' नामक फेंटेसी काव्य में किया था।

"अलस पलक, सघन अलक
श्यामल छवि छाया
स्वप्निल मन तंद्रिल तन
शिथिल वसन भाया"

या

"जीवन का श्रम-ताप हरो हे!
सुख-सुषमा के मधुर स्वर्ण से
सूने जग-गृह द्वार भरो, हे"!

किंतु प्रगीत की विधा का ऐसा उपयोग पंत जी ने अपनी अन्य कविताओं में नहीं किया। इन सब प्रयोगों में कल्पना और गेयता दोनों का ही स्पष्ट सम्मिश्रण है। वस्तुतः प्रसाद जी के नाटकों के गीत एक प्रकार से नाट्य-गान ही हैं और पंत जी की 'ज्योत्सना' के गीत भी सभी गाने की दृष्टि से लिखे गए थे। निराला जी ने रवींद्रनाथ ठाकुर के गेय-गीतों की तरह अपने गीतों में कुछ अभिनव प्रयोग किए जिसके लिए उन्होंने वाद्य-संगीत के दादरा, कहरवा तालों की लय को आधार बनाकर नए ढंग से गीत लिखे थे। बच्चन जी ने ही प्रगीत को नया साहित्यिक रूपाकार और पाठ-शैली दी।

प्राचीन पदावली और छायावाद के प्रारंभिक प्रगीतों को संगीत-प्रधान गेयता से काटकर महादेवी जी ने 'लिरिक' को एक गंभीर भाव-विचार-बिंब समृद्ध काव्य-विधा के रूप में आधुनिक कविता में स्थापित किया। इस प्रकार महादेवी जी ने अत्यंत कलात्मक शैली में काव्य में एक ऐसे अभाव की पूर्ति की जो परंपरा भक्तिकाल की पदावली के बाद लुप्त हो गई थी। महादेवी जी ने प्रगीत को गंभीर साहित्यिक रूपाकार की दृष्टि से शीर्ष बिंदु तक पहुंचा दिया। गीत को मंच की तात्कालिक वाहवाही की सतही लोकप्रियता से बिलकुल अलग कर काव्य के गंभीर साहित्यिक धरातल पर प्रतिष्ठित किया। महादेवी के गीतों की कलात्मकता, सौंदर्य दृष्टि, रंग योजना, बिंबात्मकता, संवेग और आत्म-निवेदन की गहनता तथा उच्चतर जीवन मूल्यों की समृद्ध दार्शनिकता हिंदी कविता की श्रेष्ठ उपलब्धि है। यही कारण है कि इतने थोड़े समय की काव्य रचना में भी गीत जैसी लघुकाय विधा के द्वारा महादेवी ने हिंदी कविता पर अपनी अमिट छाप छोड़ी है। उन्होंने काल की कमल-पंखुड़ी पर सचमुच अपनी चित्रमय, मधुर रश्मि-स्मृति अंकित कर दी है।

— गिरिजा कुमार माथुर

अश्रु, यह पानी नहीं है ~

अश्रु, यह पानी नहीं है, यह व्यथा चन्दन नहीं है!

यह न समझो देव पूजा के सजीले
उपकरण ये,
यह न मानो अमरता से माँगने
आये शरण ये,
स्वाति को खोजा नहीं है
औ' न सीपी को पुकारा,
मेघ से माँगा न जल, इनको
न भाया सिन्धु खारा!
शुभ्र मानस से छलक आये
तरल ये ज्वाल मोती,
प्राण की निधियाँ अमोलक
बेचने का धन नहीं है।
अश्रु ---

नमन सागर को नमन
विषपान की उज्ज्वल कथा को
देव-दानव पर नहीं समझे
कभी मानव प्रथा को,
कब कहा इसने कि इसका
गरल कोई अन्य पी ले,
अन्य का विष माँग कहता
हे स्वजन तू और जी ले!
यह स्वयं जलता रहा
देने अथक आलोक सबको
मनुज की छवि देखने को
मृत्यु क्या दर्पण नहीं है,
अश्रु ----

शंख कब फूँका शलभ ने
फूल झर जाते अबोले,
मौन जलता दीप धरती
ने कभी क्या दान तोले!

अश्रु यह पानी नहीं है —

महादेवी वर्मा

अश्रु यह पानी नहीं है, यह व्यथा चंदन नहीं है।

यह न समझो देव पूजा के सजीले
उपकरण ये,
यह न मानो अमरता से माँगने
आये शरण ये,
स्वाति को खोजा नहीं है
औ न सीपी को पुकारा,
मेघ से माँगा न जल, इनको
न भाया सिंधु खारा।
शुभ मानस से छलक आये
तरल ये ज्वाल मोती,
प्राण की निधियाँ अमोलक
बेचने का धन नहीं है।
अश्रु.....

नमन सागर को, नमन
विषपान की उज्ज्वल कथा को
देव-दानव पर नहीं समझे
कभी मानव प्रथा को,
कब कहा इसने कि इसका
गरल कोई अन्य पी ले,
अन्य का विष माँग कहता
है स्वजन तू और जी ले!
यह स्वयं जलता रहा
देने अथक आलोक सबको
मनुज की छवि देखने को
मृत्यु क्या दर्पण नहीं है,
अश्रु....

शंख कब फूंका शलभ ने
फूल झर जाते अबोले,
मौन जलता दीप धरती
ने कभी क्या दान तोले।

खो रहे उच्छ्वास भी
सब मर्म गाथा खोलते हैं,

★ ★ ★ ★ ★

साँस के दो तार ये
झंकार के बिन बोलते हैं
पढ़ सभी पाये जिसे वह
वर्ण अक्षर हीन भाषा
प्राणदानी के लिए वाणी
यहाँ बंधन नहीं है।

अश्रु....

किरण सुख की उतरती
घिरती नहीं दुख की घटायें,
तिमिर लहराता न बिखरीं
इंद्रधनुषों की छटायें,
समय ठहरा है शिला सा
क्षण कहाँ उसमें समाते,
निष्पलक लोचन जहाँ
सपने कभी आते न जाते,
वह तुम्हारा स्वर्ग अब
मेरे लिए परदेश ही है।
क्या वहाँ मेरा पहुँचना
आज निर्वासन नहीं है ?

आँसुओं के मौन में बोलो
तभी मानूँ तुम्हें मैं,
खिल उठे मुस्कान में
परिचय तभी जानूँ तुम्हें मैं,
साँस में आहट मिले तब
आज पहचानूँ तुम्हें मैं,
वेदना यह झेल लो तन
आज सन्मानूँ तुम्हें मैं,
आज मंदिर के मुखर
घड़ियाल घंटों में न बोलो
अब चुनौती है पुजारी में
नमन वंदन नहीं है।
अश्रु यह पानी नहीं है यह व्यथा चंदन नहीं है।

— महादेवी

डॉ. महादेवी वर्मा

भारतीय संस्कृति में कवि तथा कविता का विशेष महत्व है। जहाँ इतिहास की किरणें नहीं पहुँच पाती वहाँ भी ऋषि ने कवि तथा कविता को इस प्रकार परिभाषित किया है ''पश्य देवस्य काव्यं न ममार नजीर्यति'' ईश्वर के इस काव्य को देखो जो न जीर्ण होता है न कभी मरता है।

प्रकृति ईश्वर का काव्य है। अर्थात् यह रूपरेखामयी सृष्टि, उसका अमर ही नहीं नित्य नदी नतामय काव्य है।

फिर उसी क्रम में ऋषि कहता है ''कविर्मनीषी परिम : व्यंभ्र :। रचनाशील कवि विशेष प्रज्ञा संपन्न होता है, वह संकीर्ण होकर व्यापक होता है तथा उसे बनाया नहीं जा सकता। वह स्वयं उपलब्ध हो जाता है।

नदी के तट भिन्न हो सकते हैं, किंतु उसे गतिशील रखने के लिए गहराई सब तटों पर रहेगी। अन्यथा वह नदी नहीं बन सकती। प्रत्येक बड़े कवि के साथ यही तत्व रहता है, जिसे हम प्रासंगिकता कहते हैं।

पूज्य दद्दा में यह प्रासंगिकता मुख्य तत्व है जिसमें उनकी भारतीयता को गति दी है। वह उन तत्वों को लेकर चले हैं जो समस्त कालचक्र की धुरी हैं।

हम आज के कवि से यही आशा रखते हैं कि उसकी रचना गतिशील हो न कि वह मरणशील हो और पुरानी हो जाय। यह हमारी शती की श्रद्धांजलि होगी।

पन्थ तुम्हारा मंगलमय हो। — महादेवी

पुनश्च: अत्यंत अस्वस्थ हो जाने के कारण उपस्थित नहीं हो सकी इसके लिए क्षमा माँगती हूँ।

३-८-८७

राष्ट्रकवि मैथिलीशरण गुप्त जन्मशती का समापन समारोह ३ अगस्त, १९८७ को 'हिंदुस्तानी एकेडमी' इलाहाबाद ने 'कवि-दिवस' के रूप में मनाया था महादेवी जी को उसका उदघाटन करना था। अस्वस्थता के कारण वे नहीं आ सकी थीं। उनका यह लघु संदेश अंतिम साहित्यिक संदेश सिद्ध हुआ जो अपनी अर्थ-व्याप्ति में स्वयं काल का अतिक्रमण करता है।

डॉ. जगदीश गुप्त, सचिव हिंदुस्तानी एकेडेमी इलाहाबाद के सौजन्य से प्राप्त

महादेवीजी की याद में

अमृतराय

महादेवीजी के यहाँ आना-जाना, उनके संग मेरा उठना-बैठना लगभग पचास बरस रहा लेकिन आज जब उनकी स्मृतियों को सँजोने बैठा हूँ तो उस व्यक्ति को तो अपने सामने सजीव-सदेह खड़ा पाता हूँ, लेकिन ऐसी घटनाएँ कुछ ख़ास याद नहीं आतीं जिन्हें रेखांकित करके लोग अकसर बड़े लोगों के अपने संस्मरणों में टाँक दिया करते हैं। इसमें कुछ दोष तो निश्चय ही मेरी स्मरण-शक्ति का होगा; फिर समय का इतना बड़ा, आधी शताब्दी का, अंतराल भी है पर मुझे लगता है कि दो लोगों के संबंध में घटनाएँ ऐसी बहुत होती भी नहीं। मैं तो जितना कुछ देख सका समझ सका, उसी के बारे में थोड़ा-बहुत कुछ कह सकता हूँ।

हमारे यहाँ पत्र-पत्रिकाएँ तो तमाम आती ही थीं, इसलिए स्वाभाविक ही था कि महादेवीजी से मेरा परोक्ष परिचय तो शायद सन् १९३० के आसपास ही हो गया था। यहाँ-वहाँ उनकी कुछ कविताएँ भी तभी पढ़ी होंगी जो कुछ समझ में आयीं और बहुत कुछ नहीं आयीं। लेकिन जितनी कुछ भी समझ में आयीं और अच्छी लगीं और जितना कुछ उनका यश हिंदी संसार में तब तक भी फैल चुका था, मेरे मन में उनके प्रति एक गहरा सम्मान का भाव तो जाग ही गया था। इसलिए जब मैं सन् १९३८ में विश्वविद्यालय की अपनी पढ़ाई के सिलसिले में इलाहाबाद आया तो सबसे पहले महादेवीजी से मिलने पहुँचा। तब वो महिला विद्यापीठवाली १, एलगिन रोड की बँगलिया में रहती थीं। ये जगह मेरे म्योर होस्टल के, जिसे अब अमरनाथ झा होस्टल के नाम से जाना जाता है, बहुत पास थी, इसलिए अकसर ही शाम को उनके पास पहुँचने लगा। घर का रख-रखाव तो कलात्मक और सुरुचिपूर्ण था ही, उस स्थान का पूरा वातावरण कुछ ऐसा था जो बड़े सुंदर ढंग से मेरे तरुण मन का संस्कार करता था। पर असल चीज़ थी उनके गंभीर, शालीन व्यक्तित्व का सम्मोहन जो मुझे बार-बार उनके पास खींच ले जाता था।

उस बात को अब पचास बरस होने आये और मुझे आज कुछ भी याद नहीं आता कि तब मेरी बातचीत उनसे क्या होती थी। शायद ज़्यादा कुछ होती भी न थी। इसलिए नहीं कि मैं उनकी उपस्थिति से आक्रांत हो जाने के कारण बोल नहीं पाता था — उनकी उपस्थिति आक्रांत करनेवाली थी ही नहीं। सोचता हूँ कि अगर हमारी बातचीत कुछ ख़ास न होती थी तो वो शायद इसीलिए कि उसकी वैसी कुछ ज़रूरत ही महसूस न होती थी। ये बात अंत तक चली। इसलिए कभी-कभी मुझे लगता है कि संवेदना के स्तर पर आपस में जुड़े हुए दो लोगों की बातचीत बहुत बार शायद यों ही चुपचाप हो जाया करती है। किस अव्यक्त-अगोचर ढंग से यह बातचीत हो जाती है, इसे बता पाना तो कठिन है पर मेरा अनुमान है

कि शायद सभी ने इसे अनुभव किया होगा। जो हो, मैं अकसर शाम को उनके यहाँ चला जाता और जैसा कि उनका अतिथि-सत्कार का ढंग था वो ज़रूर कुछ खिलातीं, खूब अच्छी चाय पिलातीं— उन दिनों मैं चाय पीता भी बहुत था— यों ही इधर-उधर की कुछ बातें होतीं और मैं घंटा-डेढ़-घंटा उनके संग बैठकर खुश-खुश अपने होस्टल चला आता। अपनी कोई चीज़ उन्हें पढ़कर सुनाने या उनके पास छोड़कर आने की तो बात ही अलग है, मुझे यह भी याद नहीं कि हमारे बीच कभी कोई बड़ी साहित्यिक बातचीत हुई हो। बस, अच्छा लगता था बहुत और शायद अनजाने ही उनके लिए मन में एक बड़ी ख़ास जगह बनती जा रही थी। मुझे आज भी अच्छी तरह याद है, मैंने हर महीने घर से ख़र्च के लिए आनेवाले अपने गिनती के रुपयों में से बचत करके ग्यारह रुपये कि पंद्रह रुपये का एक अख़रोट की लकड़ी का टेबुल-लैंप, कश्मीर का बना हुआ, नुमाइश में से ख़रीदकर — जो पेंच घुमाकर बंद कर दो तो कमल की कली और खोल दो तो फूल बन जाता था — उन्हें भेंट किया था। जो उन्हें भी अच्छा लगा था और काफ़ी दिनों तक उनके ड्राइंगरूम में सजावट की और-और चीजों के साथ रखा रहा। किशोर का मन जैसा होता है, मुझे आज भी भूला नहीं है कि अपनी उस छोटी-सी भेंट को वहाँ देखकर मुझे कैसी अपार खुशी हुई थी — देवी ने मेरी भेंट स्वीकार कर ली।

मेरा थोड़ा-बहुत लेखन तो दो-चार बरस पहले से ही शुरू हो गया था जो तत्कालीन बाल-पत्रिकाओं, 'बालक' आदि में प्रकाशित हुआ था। लेकिन विश्वविद्यालय के उन्हीं चार वर्षों में मुझे जैसे अपने जीवन की दिशा मिलने लगी थी और उसी अनुपात में मेरा लेखन भी थोड़ा-थोड़ा व्यवस्थित हो चला था। लेकिन जैसा मैंने अभी कहा ऐसी एक भी स्मृति मेरे पास नहीं कि मैंने कभी अपनी कोई कहानी उन्हें पढ़कर सुनायी हो। ज़रूर मेरा संकोच ही इसमें मुख्य रूप से बाधक रहा होगा क्योंकि यह मैं नहीं कह सकता कि उनके साथ मेरे संबंध का बिल्कुल ही कोई साहित्यिक आयाम नहीं था। इसलिए कि इस संदर्भ में मेरी अगली ही याद 'अतीत के चलचित्र' की उस समीक्षा की है जो मैंने कभी सन् १९४०-४१ में अंग्रेज़ी की एक पत्रिका के लिए की थी। उसका नाम भी मुझे अब ठीक-ठीक याद नहीं — शायद 'ट्वेण्टियेथ सेंचुरी', जिसका संपादन कोई दक्षिण भारतीय सज्जन, के. ईश्वर दत्त, करते थे।

अपनी समीक्षा उसमें छपी देखकर खुशी तो बहुत हुई थी पर वह भी उन्हें ले जाकर दिखाने की मुझे याद नहीं। उन्होंनें उसको देखा भी या नहीं, मैं नहीं जानता। पुस्तक मुझे बहुत अच्छी लगी थी— मैं नहीं जानता कि अपने आसपास के अत्यंत सामान्य लोगों के ऐसे प्यारे संस्मरण दूसरा कोई हिंदी में लिख सका— और मैंने जी खोलकर उसकी प्रशंसा की थी। निश्चय ही महादेवीजी को उससे खुशी होती अगर मैं उन्हें ले जाकर दिखलाता, लेकिन जाने क्यों मैं ऐसा नहीं कर सका, कभी नहीं कर सका। एक ही बात समझ में आती है कि हमारे संबंध का धरातल साहित्यिक होकर भी जैसे उसको किनारे करके सबसे पहले कुछ निजी और पारिवारिक ढंग का था जो आजीवन वैसा ही बना रहा।

सन् १९४२ के अप्रैल महीने में मैं एम.ए. की परीक्षा देकर बनारस चला गया और वह बराबर की भेंट-मुलाक़ात का सिलसिला बंद हो गया। लेकिन उसके अगले ही साल बंगाल का वह भीषण अकाल पड़ा जिसमें मुट्ठी भर अर्थपिशाचों के चलते पैंतीस लाख लोग काल के मुँह में चले गये। देश थर्रा उठा इस नरसंहार से। जैसी भयंकर ख़बरें बंगाल के अकाल की मिल रही थीं, मेरे जी में आया कि हिंदी साहित्यकारों की ओर से भी, चाहे प्रतीक रूप में ही, कुछ होना चाहिए और मैं महादेवीजी से मिलने के लिए इलाहाबाद आया। मेरे कहने भर की देर थी कि महादेवीजी ने, जो आप ही बंगाल के इस नरमेध से उतनी ही पीड़ित और क्षुब्ध थीं, आगे बढ़कर मेरे प्रस्ताव का स्वागत किया और तत्काल उसकी रूपरेखा बन गयी जो कुछ ही महीनों में 'बंगदर्शन' नामक हिंदी कविताओं के एक छोटे से संकलन के रूप में

सामने आयी। उसकी बिक्री से प्राप्त एक छोटी सी रक़म हिंदी के लेखकों और कवियों की ओर से एक प्रतीक धनराशि के रूप में बंगाल भेजी गयी।

बनारस में रहते हुए अब कम ही मिलना-जुलना होता था और चिट्ठी-चपाती तो जैसे कभी हुई ही नहीं। लेकिन मुझे लगता है कि हमारी आत्मीयता में इससे कोई अंतर नहीं पड़ा, जैसा कि मेरे और भी कई मित्रों के संग नहीं पड़ा जिनसे सचमुच मेरे मन का तार मिल गया था। मेरा तो ऐसा ही अनुभव रहा पर मुझे लगता है कि शायद सभी का ऐसा ही कुछ अनुभव होगा। लेकिन यहीं पर मैं ये कह देना ज़रूरी समझता हूँ कि महादेवीजी के साथ मेरे संबंध का एक बड़ा आत्मीय स्तर तो था पर उसे अंतरंगता नहीं कह सकते।

इसी बात को उलटकर कहूँ तो कहूँगा कि हमारे संबंध में वैसी कोई अंतरंगता न होने पर भी— होती भी कैसे, और बातों के अलावा वय का भी बड़ा अंतर था — ऐसी एक आत्मीयता मैंने अवश्य अनुभव की होगी कि अपनी एक बहुत ही निजी, मर्म की बात दुनिया में किसी को भी बताने के पहले उनको बतायी।

सन् १९४४ की बात है। मैं सागर में अपनी बहन के पास पंद्रह-बीस रोज़ रहने के बाद जब बनारस लौटने को हुआ तो मेरे जी में आया कि जबलपुर होते हुए जाऊँ। उन दिनों मैं प्रगतिशील लेखक संघ में बहुत सक्रिय था तो सोचा एक शाखा अपने संघ की जबलपुर में भी रहे तो कैसी अच्छी बात हो, और अगर कहीं 'झाँसी की रानी' की अमर कवयित्री सुभद्राकुमारी चौहान उसकी सभापति बनना स्वीकार कर लें तब तो समझो क़िला फ़तह कर लिया। यह सब सोचता हुआ मैं जबलपुर पहुँचा और अपने मित्र नर्मदाप्रसाद खरे के घर पर ठहरा। अगले दिन खरेजी को साथ लेकर सुभद्राजी से मिलने पहुँचा। बातचीत हुई पर सुभद्राजी को आपत्ति थी — सन् १९४२ के आंदोलन का साथ न देने के कारण कम्युनिस्ट बहुत बुरी नज़र से देखे जा रहे थे। पर मैंने भी अपनी टेक न छोड़ी और उन दो-तीन दिनों में हर रोज़ उनसे मिलने पहुँचा और हमारा सौभाग्य कि मेरे कहने-सुनने पर सुभद्राजी अंततः राज़ी हो गयीं। मेरी ख़ुशी का ठिकाना न था। लेकिन इस मुख्य कथानक का एक उप-कथानक यह भी रहा कि अपनी इन मुलाक़ातों के दौरान मुझे सुभद्राजी की बेटी सुधा से मिलने का सुयोग हुआ, जिसने शायद उसी साल बी.ए. किया था, और जाने कैसे, किस अगोचर प्रेरणा से मैं मन ही मन यह निश्चय कर बैठा कि मुझे इसी लड़की से विवाह करना है। पर अभी मैंने यह बात सुभद्राजी से भी नहीं कही और जबलपुर से लौटते समय इलाहाबाद में उतरकर सबसे पहले कही महादेवीजी से। मुझे आज भी अच्छी तरह याद है कि मेरी बात सुनकर न तो वो चौंकीं और न उन्होंने और कुछ पूछताछ करना ज़रूरी समझा, बस इतना कहा — सुधा बहुत अच्छी लड़की है, बहुत ही अच्छी। उसके लिए तुम्हें अगर दो-चार साल रुकना भी पड़े तो रुक लेना।

फिर क्या था, मैंने बनारस पहुँचते ही सुभद्राजी को लिखा — मैं आपकी बेटी से विवाह करना चाहता हूँ। मैं जात-पाँत में विश्वास नहीं करता, आप अपनी बात सोच लें।

चौहान वंश के अभिमानी राजपूतों को एक कायस्थकुलोत्पन्न लड़के से अपनी कन्या के विवाह का निश्चय करने में थोड़ा समय तो ज़रूर लगा पर बहुत नहीं, और कोई चार-पाँच महीने के बाद अप्रैल १९४५ में सुधा के साथ मेरा विवाह हो गया। और फिर तो जैसे अनजाने ही अपने इस नये संबंध से मैं महादेवीजी के और भी पास पहुँच गया।

१९५१ में इलाहाबाद आकर बसने पर अब हम दोनों साथ-साथ उनसे मिलने पहुँचते और मैं देखता कि हमें आपस में इतना सुखी देखकर उनकी आँखें चमकने-सी लगतीं, वैसे ही जैसे हर माँ की आँखें अपनी बेटी को सुखी देखकर चमकने लगती हैं। पर उनकी अपनी ज़िंदगी का अकेलापन, सूनापन,

तो फिर भी अपनी जगह पर था ही और संयोग कुछ ऐसा हुआ कि इसका एक बड़ा मार्मिक प्रसंग एक बार खुद सुधा की आँखों के सामने बिलकुल अचानक उपस्थित हो गया। उसकी कहानी सुधा के ही शब्दों में :

> "मेरी बड़ी पुरानी इच्छा थी कि मैं बद्रीनाथ-केदारनाथ की यात्रा करूँ। इसलिए भी कि मैं देखूँ चारों धाम की यात्रा का विधान कैसे दिशाओं में दूर-दूर तक फैले हुए इस महादेश के लोगों को सारे देश की परिक्रमा कराके उन्हें बाकी सबके साथ एक सूत्र में गूँथ देता है। सन् १९७० की गर्मियों की बात है। अमृत के एक मित्र उन दिनों उत्तराखंड में किसी ऊँचे सरकारी पद पर थे और उनकी आग्रहभरी चिट्ठियाँ बार-बार आ रही थीं कि हम दोनों उनके साथ बद्री-केदार की यात्रा पर चलें। वह तो नहीं हो पाया पर तभी मुझे पता चला कि इस बार महादेवीजी अपने बहनोई डा. बाबूराम सक्सेना और उनके कुछ मित्रों के परिवारों के साथ बद्रीनाथ जा रही हैं। मैं उनके पास गयी कि आप मुझे भी अपनी टोली में शामिल कर लीजिए। महादेवीजी ने बड़े उत्साह से मेरा स्वागत किया और इस तरह उस साल गर्मी में मेरा पंद्रह-सोलह दिन उनके साथ यात्रा में रहने का प्रसंग बना। मैं महादेवीजी को बहुत बचपन से जानती थी। वो मेरी माँ की सहपाठिनी थीं और शायद सबसे सगी मित्र भी। उनसे माँ के कुछ संस्मरण सुनने को मिलेंगे, यह लालच भी कहीं मन में छिपा था।

अनजाने-अपरिचित लोगों के साथ चौबीसों घंटे रहने का मेरा यह पहला अनुभव था, पर यह अपरिचय तो देहरादून में कुछ घंटे साथ रहने में ही समाप्त हो गया। लेकिन अपरिचय जहाँ समाप्त होता है, क्या परिचय वहीं से शुरू हो जाता है? बरसों का जाना-पहचाना व्यक्ति भी कभी-कभी किसी प्रसंग में, किसी छोटी सी घटना से, अपना नया ही स्वरूप उजागर कर देता है और तब लगता है कि यह तो इसका नया ही चेहरा है। ऐसा ही एक अनुभव मुझे इस यात्रा में महादेवीजी के साथ हुआ।

इस यात्रा में हम सब कुल मिलाकर पंद्रह-सोलह लोग थे, कुछ लोग अकेले, कुछ दंपत्ती और एक संन्यासी भी। रात को चट्टी में एक सिरे से दूसरे सिरे तक बिस्तर लग जाते थे और सब लोग अपनी-अपनी रज़ाइयों में घुसे हुए बातें करते-करते सो जाते थे। कभी किसी से कुछ छेड़छाड़ होती थी, कभी कोई दिन का अपना कोई अनुभव सुनाता था। कभी पीछे घर में छूटे हुए लोगों की चर्चा होने लगती तो कभी कोई अपनी पहले की किसी यात्रा का संस्मरण सुनाने लगता।

ऐसे ही एक बार यात्रा से वापस लौटते समय की बात है, सब लोग अपने-अपने बिस्तरों में लेटे हुए बातें कर रहे थे। दो महिलाएँ आपस में बतिया रही थीं। दोनों अपना-अपना भरा-पूरा परिवार छोड़कर आयी थीं। पता नहीं कैसे बाल-बच्चों की चर्चा होने लगी, फिर किसी और व्यक्ति का प्रसंग आया कि बूढ़े दंपत्ती अब वानप्रस्थ आश्रम में रहते हैं, बीच-बीच में उनके बच्चे उनके पास आते रहते हैं। बच्चे तो उन्हें छोड़ना ही नहीं चाहते थे — बुढ़ापे में अपनी संतान ही तो पूछती है — पर उन्हें आश्रम में रहना बहुत अच्छा लगता है। ... दोनों स्त्रियाँ अपनी बातों में लीन, अपने में परितृप्त अपने बाल-बच्चों में मगन बतियाये जा रही थीं कि एकाएक लगा कि जैसे कोई फूटकर रो पड़ा। वह रोना जैसा फूटा था वैसे ही भीतर समा भी गया पर कमरे में एकदम सन्नाटा छा गया। जो व्यक्ति रो पड़ा था, उसका यह रूप इतना अप्रत्याशित था कि सब जैसे सकते में आ गये। शुभ्रवसना, प्रसन्नवदना महादेवीजी, जिनको लोगों ने सदा हँसते ही देखा था, वो कभी इस तरह फूटकर रो भी पड़ेंगी, इसकी किसी को कल्पना भी नहीं थी। पर अनजाने ही, अपने सुख में भूली, अपने परिवार में मगन उन गृहिणियों ने उनकी कौन सी दुखती रग छू दी थी कि उनका वह हँसमुख मुखौटा बरबस हट गया। उस

क्षण मैंने जिस निचाट सूने एकाकीपन की एक झलक पायी, वह सचमुच डरा देनेवाली थी। पर उसी के साथ-साथ उस स्त्री के लिए मेरे मन का आदर जैसे और सौगुना बढ़ गया जिसने इस पुरुषशासित रूढ़िग्रस्त समाज में अकेले रहकर जीवन को बिना किसी दैन्य या कमज़ोरी के इस बहादुरी के साथ जिया।''

महादेवी जी की सारी कविता में एक जो गहरी उदासी और सूनेपन का स्वर मिलता है वह शायद उनकी अपनी ज़िंदगी की उदासी और सूनेपन का स्वर है जो बार-बार उभरकर आ जाता है :

शून्य मेरा जन्म था
अवसान है मुझको सबेरा
प्राण आकुल के लिए
संगी मिला केवल अँधेरा

या

मैं नीरभरी दुख की बदली!
विस्तृत नभ का कोई कोना
मेरा न कभी अपना होना
परिचय इतना इतिहास यही
उमड़ी कल थी मिट आज चली

या

साधों का आज सुनहलापन,
घिरता विषाद का तिमिर सघन
प्रिय! सांध्य गगन
मेरा जीवन

लेकिन जहाँ एक तरफ यह उदासी है, सूनापन है, अँधेरा है वहीं दूसरी तरफ उनसे निरंतर लड़ते रहने का संकल्प भी है :

पंथ होने दो अपरिचित प्राण रहने दो अकेला।
अन्य होंगे चरण हारे,
और हैं जो लौटते, दे शूल को संकल्प सारे

या

सब बुझे दीपक जला लूँ
घिर रहा तम आज दीपक-रागिनी अपनी जगा लूँ।
क्षितिज-कारा तोड़कर अब
गा उठी उन्मत्त आँधी,
अब घटाओं में न रुकती
लास-तन्मय तडित् बाँधी
धूलि की इस वीण पर मैं तार हर तृण का मिला लूँ

या

घिरती रहे रात।
न पथ रूँधती ये गहनतम शिलाएँ
न गति रोक पातीं

पिघल मिल दिशाएँ
चली मुक्त में ज्यों मलय की मधुर वात
घिरती रहे रात।

लेकिन अपने संकल्प की इस घोषणा के बाद भी वे अपने सूनेपन के उस बोध पर कभी पूरी तरह विजय पा सकीं, मुझे इसमें संदेह है, क्योंकि यह उनके दैनंदिन जीवन का सत्य था। पर स्वाभिमानी व्यक्ति के समान वो किसी पर इसको प्रकट नहीं होने देना चाहती थीं। हमारे इस कठोर, पुरुष-शासित समाज में नितांत अकेली खड़ी रहने वाली एक स्त्री के लिए यह एक बाध्यता भी थी क्योंकि साहित्यकार और महिला विद्यापीठ की प्रधानाचार्य के रूप में उनका एक सार्वजनिक जीवन भी था। उनके निजीजीवन की पीड़ा उनकी पीड़ा है, दुनिया उसको क्यों देखे-जाने — 'रहिमन निज मन की बिथा मन ही राखो गोय, सुनि अठिलैहें लोग सब बाँटि न लेहैं कोय।' इसलिए दुनिया ने सदा उनका हँसता हुआ तेजस्वी रूप ही देखा। बहुत बड़ी बात है कि आदमी अपनी पीड़ा से ऊपर उठकर समर्पित भाव से जीवन में कोई बड़ा काम कर सके। अपने इस मनोबल को ही और भी पुष्ट करने के लिए उस स्त्री ने जिसके पास अपना कोई परिवार नहीं था, न अपने सुख-दुख का साथी जीवन-सहचर और न बाल-बच्चे, उसने अपने पालतू जीवों — बिल्लियों, कुत्तों, गिलहरी, मोर और बहुत पहले एक मृगछौने — को लेकर अपना एक नया ही परिवार खड़ा किया और उसी पर अपने भीतर बैठी हुई नैसर्गिक माँ का सारा प्यार, सारी ममता उड़ेली।

जिन दिनों मैं 'नयी कहानियाँ' निकाल रहा था, इन्हीं पालतू जीवों में से दो के स्कैच — गिलहरी और मोर के — मैंने छापे थे और आगे और भी छापने की बात थी, इसलिए उस लेखमाला पर मैंने 'मेरा परिवार' शीर्षक लगा दिया था। बाद में जब ऐसे सभी स्केच पुस्तकाकार प्रकाशित हुए तब मैंने देखा कि वो इसी 'मेरा परिवार' नाम से प्रकाशित हए, यानी कि अनजाने ही मैंने शायद महादेवीजी के मन की बात कह दी थी।

महादेवीजी के निजी जीवन का यह विषाद और भी रेखांकित होकर सामने आता है जब हम उसे उन्हीं की सबसे अंतरंग सहेली बल्कि शायद अकेली अंतरंग सहेली सुभद्राकुमारी चौहान की भरी-पूरी ज़िंदगी के साथ रखकर देखते हैं। (सुभद्राजी के साथ उनका यह गहरा आत्मीय संबंध क्रास्थवेट स्कूल, इलाहाबाद के उन बचपन के दिनों से शुरू हुआ था और अंत तक अपनी उसी एकांत आत्मीयता के स्तर पर चला)। जहाँ महादेवीजी अपना परिचय कहीं 'सांध्य गगन' कहकर और कहीं 'नीरभरी दुख की बदली' कहकर देती हैं, वहाँ सुभद्राजी अपने बारे में कहती हैं :

मैंने हँसना सीखा है, मैं नहीं जानती रोना
मेरे जीवन में हरदम बरसा करता है सोना

दोनों सहेलियों के स्वर में यह जो मौलिक अंतर है उसके पीछे निश्चय ही कुछ तो उनके स्वभाव का अंतर है और कुछ उनकी जीवन-दृष्टि का। पर उसमें कुछ हाथ उनकी जीवन-स्थितियों का भी शायद मानना ही होगा। महादेवीजी ने जहाँ पारिवारिक सुख जाना ही नहीं, वहाँ सुभद्राजी का अपना खूब ही लगा-लिपटा परिवार था — पाँच बच्चे अपने और पति जो सच्चे अर्थों में उसका जीवन-सहचर था, जिसने न केवल उसे भरपूर प्यार दिया और आजीवन एक चट्टान की तरह उसके पीछे खड़ा रहा बल्कि स्वाधीनता-संग्राम में उसका सहयोद्धा भी रहा। फिर और क्या चाहिए किसी स्त्री को अपने जीवन में भराव पाने के लिए। वंचिता महादेवीजी को यह भराव मिला ही नहीं। अगर ऐसा होता कि उसकी भूख ही उनके अंदर न होती तो और बात थी। पर उसकी भूख मुझे लगता है उनके अंदर थी, जैसी किसी भी स्त्री के मन में होती है। किसी भी अच्छी गृहस्थ महिला की तरह अतिथि-अभ्यागत का स्वागत-सत्कार

करना उन्हें अच्छा लगता था, खाना पकाना अच्छा लगता था, अचार-मुरब्बे बनाकर रखना अच्छा लगता था, अपने घर को सजा-सँवारकर रखना अच्छा लगता था, यहाँ तक कि अपनी सहेली सुभद्रा के घर जाने का सुयोग होने पर उसके साथ मिलकर आँगन लीपना या चौक पूरना भी उन्हें अच्छा लगता था।

जैसा सब जानते हैं, सुभद्राजी को बहुत कम आयु मिली — केवल ४४ वर्ष की अवस्था में उनका देहांत एक मोटर-दुर्घटना में हो गया। लेकिन महादेवीजी ने उनके परिवार के साथ सदा वही पारिवारिकता निभायी, उनके बच्चों को अपना बच्चा और उनकी बहुओं को अपनी बहू माना। जब भी कभी जबलपुर जाने का सुयोग होता, सुभद्राजी के घर में ही उनके बच्चों के परिवार के बीच वे रहतीं— आयोजनकर्ता कहीं और ठहराना भी चाहते तो साफ़ मना कर देतीं। मुझे भी ऐसे कई अवसरों पर वहीं उनके साथ रहने का सुयोग हुआ है और मैं देखता था कि वह परिवार के बीच रहना उनके लिए कैसा अपूर्व सुखकर होता था। और तो और, वह चीज़ एक ख़ास तरह की नर्मी और धुलावट बनकर उनके चेहरे पर भी छलक आती थी। पर कमी तो जो थी वह अपनी जगह थी ही। फिर भी जिस तरह उन्होंने उसका उदात्तीकरण करके या उसके साथ अपना समीकरण पाकर उसे अपनी उन्मुक्त हँसी से ढँक लिया था, किसी को जल्दी उसका पता भी न चलता था। लेकिन जिनका लंबे समय से बराबर आना-जाना रहा हो और जिनके आगे वह कवच स्वभावत: थोड़ा ढीला पड़ जाता हो उनसे शायद महादेवीजी की ज़िंदगी का यह दर्द छिपा न होगा। 'यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवता:' कहनेवाले हमारे इस निष्ठुर समाज में स्त्री और सो भी अकेली स्त्री की असल स्थिति क्या है, इसे उन्होंने खूब-खूब देखा था। जहाँ दहेज का दानव आज भी पहले जैसा या शायद उससे भी कुछ ज़्यादा ही अपना विकराल मुँह खोले बैठा हो और उसी की कभी न मिटनेवाली हवस के पीछे आये दिन कितनी ही नयी-नवेली बहुएँ जलाकर राख कर दी जाती हों, वहाँ फिर कहने को क्या रह जाता है। रह जाती है केवल नारी-जागरण और नारी-स्वतंत्रता के उस कठिन, अविराम संघर्ष की भूमिका जिसके बिना अपना यह बर्बर समाज नहीं बदलेगा और जिसका ही शंखनाद महादेवी ने 'श्रृंखला की कड़ियाँ' के अपने निबंधों में किया था।

जहाँ तक याद पड़ता है, यह पुस्तक शायद १९४४-४५ में प्रकाशित हुई थी, मुझे कम से कम तभी देखने को मिली थी, और मैंने बड़े विस्मयपूर्वक उन्मुक्त प्रशंसा के शब्दों में उस पर एक लंबा लेख लिखा था, जो उन्होंने कहीं से देख लिया हो तो देख लिया हो, मैं उनसे कहने नहीं गया। ऐसी छोटी बात, हल्की बात कोई कभी अपनों से कहता भी है ! जो हो, इसमें कोई संदेह नहीं कि नारी-समस्या पर उनके विचारों को एक साथ पढ़ने पर उनका एक अद्भुत रूप मेरे सामने आया — एक अच्छे, सुलझे हुए विचारक का जिसने गहरे पैठकर अपने समाज को देखा था और जो भी लिखा था उसके पीछे उसके अपने अनुभव का साक्ष्य तो था ही, उन अभागी लड़कियों का भी विशेष योगदान था जो बराबर महिला विद्यापीठ में पढ़ने के लिए आती रहीं जिनकी ज़िंदगी अकसर दहेज की चट्टान से टकराकर या पुरुष के दूसरे किसी अनाचार के कारण बिखर गयी थी और जिन्हें अपने भरण-पोषण के लिए अब थोड़ा-बहुत कुछ-न-कुछ पढ़-लिख लेना ही था। मेरा अनुमान है कि आज से पचास-साठ साल पहले हमारे समाज की नारी-समस्या पर इतने सुचिंतित ढंग से और इतने बेलाग शब्दों में कम ही लोगों ने लिखा होगा :

> ''इस समय तो भारतीय पुरुष जैसे अपने मनोरंजन के लिए रंग-बिरंगे पक्षी पाल लेता है, उपयोग के लिए गाय या घोड़ा पाल लेता है, उसी प्रकार वह एक स्त्री को भी पालता है तथा अपने पालित पशु-पक्षियों के समान ही वह उसके शरीर और मन पर अपना अधिकार

समझता है। हमारे समाज के पुरुष के विवेकहीन जीवन का सजीव चित्र देखना हो तो विवाह के समय गुलाब सी खिली हुई स्वस्थ बालिका को पाँच वर्ष बाद देखिए। उस समय उसे असमय प्रौढ़ा, दुर्बल संतानों की रोगिन पीली माता में कौन सी विवशता, कौन सी रुला देनेवाली करुणा न मिलेगी !

—श्रृंखला की कड़ियाँ, पृ. १०२

जहाँ आज बीसवीं सदी के अंतिम चरण में भी सती-प्रथा के पक्षधर मिल जाते हों, वहाँ महादेवीजी के प्रखर चिंतन का यह तेजस्वी स्वर उन बर्बर रूढ़िपंथियों के मुँह पर एक तमाचा नहीं तो और क्या है :

"चरम दुरावस्था के सजीव निदर्शन हमारे यहाँ के संपन्न पुरुषों की विधवाओं और पैतृक धन के रहते हुए भी दरिद्र पुत्रियों के जीवन हैं। स्त्री पुरुष के वैभव की प्रदर्शिनी मात्र समझी जाती है और बालक के न रहने पर जैसे उसके खिलौने निर्दिष्ट स्थानों से उठाकर फेंक दिये जाते हैं, उसी प्रकार एक पुरुष के न होने पर न स्त्री के जीवन का कोई उपयोग रह जाता है, न समाज या गृह में उसको कहीं निश्चित स्थान ही मिल सकता है। जब जला सकते थे तब इच्छा या अनिच्छा से उसे जीवित ही भस्म करके स्वर्ग में पति के विनोदार्थ भेज देते थे, परंतु अब उसे मृत पति का ऐसा निर्जीव स्मारक बनकर जीना पड़ता है जिसके सम्मुख श्रद्धा से नतमस्तक होना तो दूर रहा, कोई उसे मलिन करने की इच्छा भी रोकना नहीं चाहता !"

—पृ. १६-१७

और पुरुष-शासित समाज में स्त्री की यथार्थ स्थिति :

"क्या मैका और क्या ससुराल, दोनों ही जगह उसकी स्थिति एक जैसी विपन्न है : अपने पितृगृह में उसे वैसा ही स्थान मिलता है जैसा किसी दूकान में उस वस्तु को प्राप्त होता है जिसके रखने और बेचने दोनों ही में दूकानदार को हानि की संभावना रहती है। जिस घर में उसके जीवन को ढलकर बनना पड़ता है, उसके चरित्र को एक विशेष रूपरेखा धारण करनी पड़ती है, जिस पर वह अपने शैशव का सारा स्नेह ढुलकाकर भी तृप्त नहीं होती, उसी घर में वह भिक्षुक के अतिरिक्त कुछ नहीं है। दुख के समय अपने आहत हृदय और शिथिल शरीर लेकर वह उसमें विश्राम नहीं पाती, भूल के समय वह अपना लज्जित मुख उसके स्नेहांचल में नहीं छिपा सकती और आपत्ति के समय एक मुट्ठी अन्न की भी उस घर से आशा नहीं रख सकती। ऐसी है उसकी वह अभागी जन्मभूमि जो जीवित रहने के अतिरिक्त और कोई अधिकार नहीं देती। पति-गृह, जहाँ इस उपेक्षित प्राणी को जीवन का शेष भाग व्यतीत करना पड़ता है, अधिकार में उससे कुछ अधिक परंतु सहानुभूति में उससे बहुत कम है, इसमें संदेह नहीं। यहाँ उसकी स्थिति पल भर भी आशंका से रहित नहीं। यदि वह विद्वान् पति की इच्छानुकूल विदुषी नहीं है, तो उसका स्थान दूसरों को दिया जा सकता है। यदि वह सौंदर्योपासक पति की कल्पना के अनुकूल अप्सरी नहीं है, तो उसे अपना स्थान रिक्त कर देने का आदेश दिया जा सकता है। यदि वह पति की कामना का विचार करके संतान या पुत्रों की सेना नहीं दे सकती, यदि वह रुग्ण है या दोषों का नितांत अभाव होने पर वह पति की अप्रसन्नता की दोषी है, तो भी उसे घर में दासत्व मात्र स्वीकार करना पड़ेगा !

—पृ. ३९-४०

ऐसी प्रखर सामाजिक चेतना व्यक्ति को अपने गहरे जीवन-अनुभव के भीतर से ही मिलती है। उनका अपना जीवन-संघर्ष भी कुछ कम कठिन नहीं रहा लेकिन कदाचित इसी संघर्ष की आग में तपकर ही उनकी प्रतिभा और भी कुंदन की तरह निखरी और उन्होंने हिंदी साहित्य को कवि और गद्य-कार के रूप में अपना अविस्मरणीय योगदान करते हुए एक ओर हमारे संवेदनशील मर्म का स्पर्श किया और दूसरी ओर अन्यायी समाज और संदर्भ उपस्थित होने पर निरंकुश सत्ता से टकराते हुए साहित्यकार की स्वतंत्र अस्मिता का तेजस्वी उद्घोष किया।

□

महादेवी वर्मा के काव्य-प्रदेश में मेरी मनोयात्रा

डॉ. नगेंद्र

महादेवी वर्मा के कृतित्व से तो मैं अपने छात्र-जीवन में — १९३२ के लगभग ही परिचित हो गया था। किंतु उनके व्यक्तित्व का दर्शन-लाभ मुझे १९४० में हुआ। मेरे कवि बंधु नरेंद्र शर्मा ने जब उनसे मेरा परिचय कराया तो वे सहसा कह उठीं : ''अरे ! तुम नगेंद्र हो ! तुम्हारें लेखों से तो मुझे लगता था कि कोई प्रौढ़ भारी-भरकम आदमी होगा।'' यह सुनकर जब मैंने कहा कि मेरी उम्र तो केवल पच्चीस वर्ष की है, तो वे सहज भाव से कह उठीं : ''तब तो हम तुम्हारी दीदी हुईं।'' अनायास प्राप्त दीदी का यह स्नेह मुझे पूरे सैंतालीस वर्ष तक मिलता रहा।

१९३२ में जब मैं सैंट जॉन्स कॉलेज आगरा में बी.ए. प्रथम वर्ष का विद्यार्थी था, तभी मैं उनकी प्रथम कृति 'नीहार' खरीद लाया था। निराला का 'परिमल' और पंतजी के 'पल्लव', 'वीणा' और 'ग्रन्थि' मेरे पास पहले से ही थे। 'नीहार' का प्रथम संस्करण छोटे आकार का था, जिस पर हल्के गुलाबी रंग की रेशमी जिल्द थी। मैं तब तक अंग्रेजी के रोमानी कवियों की रचनाओं का अध्ययन-मनन कर चुका था और हिंदी में 'पल्लव' तथा निराला जी के 'परिमल' के रंगीन कल्पनालोक में विचरण कर चुका था। 'नीहार' की कविताओं में न तो 'कीट्स' [Keats] के समान भावना की ऊष्मा और कलात्मक परिपाक था, न शेली के समान प्राणों का ज्वार। 'पल्लव' की मौन निमंत्रण आदि रचनाओं की मणिकुट्टिम कला और 'परिमल' की ऊर्जस्वित कल्पना का भी प्राय: अभाव था। किंतु इन कविताओं में नारी के किशोर मन के ऐसे अनेक चित्र बिखरे हुए थे जो मेरे मन की कोमल भावनाओं को सहज ही उद्‍बुद्ध कर देते थे। ये चित्र आज भी मेरी स्मृति में प्राय: कौंध जाते हैं :

आँखों में रात बिता कर
विधु ने पीला मुख फेरा।
आया फिर चित्र बनाने,
प्राची में प्रात चितेरा।।

इसमें संदेह नहीं कि 'नीहार' के बिंब या चित्रबंध प्राय: बिखरे हुए हैं, किंतु 'जो तुम आ जाते एक बार'! अथवा 'संसार' ('नि:श्वासों की नीड़...) आदि कविताओं में भावना और रूप की एकान्विति का भी अभाव नहीं था।

'जो तुम आ जाते एक बार' कविता मुझे काफ़ी प्रिय थी और मैं मित्र-मंडली में प्राय: उसका वाचन किया करता था। उसकी पहली पंक्ति को पढ़कर मेरे मन में रमणीय कल्पनाएँ उद्‍बुद्ध हो जाती थीं। एक दिन एक जिज्ञासु मित्र प्रश्न कर बैठे : 'संदेश विछजाने' का क्या अर्थ है?'' इस पदबंध में

मैंने केवल व्यंग्यार्थ का ही आस्वादन किया था – वाच्यार्थ पर विचार नहीं किया था। अतः मित्र के प्रश्न का उत्तर देने में मुझे कुछ समय लगा। मैंने कहा : 'यहाँ संदेश से तात्पर्य मनुहार का है – और 'करुणा' के साथ मिलकर उसका संयुक्त अर्थ होगा — व्यथासिक्त मनुहार। 'कितनी करुणा कितने संदेश, पथ में बिछ जाते बन पराग।' इस पर एक अन्य साहित्य-रसिक मित्र ने कहा : 'संदेसनि मधुवन कूप भरे' में भी कुछ इसी प्रकार का भाव है। — लेकिन यह तुलना समीचीन नहीं थी — सूरदास के पद में संदेश' के अंतर्गत पत्र की धारण निहित है। प्रिय के प्रति मनुहार की व्यंजना वहाँ भी है, परंतु लक्षणा का सौंदर्य उसमें नहीं है।

'रश्मि' का प्रथम संस्करण भी मैं प्रकाशन के बाद ही ले आया था। उसका आकार तो 'नीहार' के समान ही था लेकिन जिल्द रेशम की न होकर खादी की थी। यह बाह्य रूप-सज्जा इस तथ्य की ओर इंगित कर रही थी कि कवयित्री एकांत भाव-कल्पना के रंगीन लोक से धीरे-धीरे जीवन की भूमि पर अवरोहण कर रही थी। 'रश्मि' की अनेक कविताओं का स्वर भी यद्यपि 'नीहार' की कविताओं से अधिक भिन्न था, किंतु बाद की रचनाओं में, दर्शन का आधार मिल जाने से अर्थ अपेक्षाकृत स्थिर हो गया था :

तुम अनंत जलराशि, उर्मि में चंचल-सी अवदात।
अनिल-निपीड़ित जा गिरती जो कूलों पर अज्ञात।
*　*　*　*　*　*　*　*

तुम असीम विस्तार ज्योति के
　　मैं तारक सुकुमार,
तेरी रेखा-रूपहीनता
　　है जिसमें साकार।
*　*　*　*　*　*　*

मैं तुमसे हूँ एक, एक हैं
　　जैसे रश्मि-प्रकाश
मैं तुमसे हूँ भिन्न-भिन्न ज्यों
　　घन से तड़ित-विलास।

इन काव्य-बंधों को पढ़कर मुझे अनायास ही निराला की 'तुम और मैं' कविता का स्मरण हो आता था :

तुम तुंग हिमालय श्रृंग
　　और मैं चंचल गति सुरसरिता,
तुम विमल हृदय-उच्छ्वास
　　और मैं कांत-कामिनी कविता।
*　*　*　*　*　*　*

मुझे लगता था कि निराला की कविता में संवेदना का विस्तार अधिक है। उसमें इष्ट के साथ जन्य-जनक, प्रणयी-प्रेय, उपास्य-उपासक आदि अनेकविध मधुर संबंधों की कल्पना है। किंतु महादेवी की कविता में अद्वैत भावना से प्रेरित केवल एकनिष्ठ संबंध की अभिव्यक्ति है। जिस प्रकार मुझे इस प्रसंग में निराला की प्रसिद्ध कविता का स्मरण हो आया, उसी प्रकार शायद महादेवी के मन में भी इस कविता के संस्कार रहे होंगे। इसका आभास निम्नांकित काव्य-बंधों से सहज ही हो जाता है :

तुम दिनकर के स्वर-किरण-जाल,
मैं सरसिज की मुसकान!
तुम मदन पंचशर-हस्त-
और मैं हूँ मुग्धा अनजान!! (निराला)
* * * * * * *
तुम हो विधु के बिंब और मैं मुग्धारश्मि अजान!
(महादेवी)

'रश्मि' के प्रकाशन के प्राय: तीन वर्ष बाद 'नीरजा' का प्रकाशन हुआ। इसका आकार-प्रकार सामान्य पुस्तकों जैसा ही था। गत्ते की जिल्द पर हल्के हरे रंग का कवर था जिस पर सरोवर में खिली हुई कुछ कमलिनियों का रेखाचित्र था। 'नीरजा' तक आते-आते कवयित्री को अपनी अनुभूति और अभिव्यक्ति के लिए उपयुक्त भूमि प्राप्त हो गई थी और गीत उनकी काव्य-संवेदना का स्थायी माध्यम बन गया था। इन रचनाओं की काव्य-संवेदना में कोमल भावना, रमणीय कल्पना और सूक्ष्म-गहन चिंतन का त्रिवेणी संगम मिलता है। 'नीहार' और 'रश्मि' की कविताओं में भावनाओं की चंचलता और रंगीन कल्पना का विलास तो है किंतु उनको बाँधकर संश्लिष्ट बिंब में परिणत करने वाला चिंतन प्राय: नहीं है। कहीं है भी तो आरोपित-सा लगता है। 'नीरजा' में इन तीनों का समन्वय रस-परिपाक में साधक हुआ है। अत: महादेवी की सर्वश्रेष्ठ रचनायें इसी संग्रह में सबसे अधिक संख्या में उपलब्ध हैं। 'मधुर-मधुर मेरे दीपक जल' और 'बीन भी हूँ मैं तुम्हारी रागिनी भी हूँ' जैसी कविताओं में महादेवी की काव्य-प्रतिभा की पूर्ण अभिव्यक्ति मिलती है। यहाँ हल्के दार्शनिक चिंतन की भूमिका पर सूक्ष्म गहन भावनाओं को अत्यंत रमणीय बिंबों के माध्यम से व्यक्त किया गया है :

मेरी नि:श्वासों से द्रुततर,
सुभग न तू बुझने का भय कर;
मैं अंचल की ओट किये हूँ,
अपनी मृदु पलकों से चंचल।
सहज सहज मेरे दीपक जल!

सीमा ही लघुता का बन्धन,
है अनादि तू, मत घड़ियाँ गिन;
मैं दृग के अक्षय कोषों से —
तुझ में भरती हूँ आंसू-जल।
* * * * * * *

नयन में जिसके जलद वह तृषित चातक हूँ,
शलभ जिसके प्राण में वह निठुर दीपक हूँ;
फूल को उर में छिपाये विकल बुलबुल हूँ,
एक होकर दूर तन से छांह वह चल हूँ;
दूर तुमसे हूँ अखण्ड सुहागिनी भी हूँ।
* * * * * * *

'धीरे-धीरे उतर क्षितिज से', आ बसंत रजनी!', 'रूपसि तेरा घन केश पाश!', और 'लय गीत अमर, गति ताल अमर', मैं प्रकृति के अत्यंत भव्य चित्र अंकित है। 'तुम्हें बांध पाती सपने में!' में भावना की मार्मिक तीव्रता मिलती है, जो महादेवी के काव्य में प्राय: विरल ही है और अंत में तो एक

प्रकार से चिंतन में निमग्न ही हो गयी है। इन रचनाओं की लय-योजना का विश्लेषण करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि महादेवी 'गीत' को अपनी काव्य-कला का स्थायी माध्यम बनाकर अत्यंत अवधानपूर्वक उसकी रूप-रचना कर रही थीं।

महादेवी जी का चौथा काव्य-संग्रह 'सांध्य गीत', 'नीरजा' के एक-दो वर्ष बाद पूरी साज-सज्जा के साथ प्रकाशित हुआ; आकार बड़ा था, आर्ट पेपर का उपयोग किया गया था और अनेक कविताओं के साथ महादेवी जी की अपनी तूलिका से अंकित चित्र लगे हुए थे। इन कविताओं की भावभूमि और कलात्मक अभिव्यक्ति प्राय: 'नीरजा' की कविताओं के समान ही थी — चिंतन कुछ अधिक गहन हो गया था, जिसके कारण भावना की ऊष्मा कुछ मंद पड़ गयी थी। इस संग्रह की 'मैं नीर भरी दुख की बदली !' कविता काफी लोकप्रिय रही। उसके अतिरिक्त 'शून्य मंदिर मैं बनूंगी आज मैं प्रतिमा तुम्हारी', आदि रचनायें भी काफी चर्चित रही हैं।

'सांध्य गीत' के बाद महादेवी की काव्य-साधना में कई वर्षों का अंतराल आ गया और उनका अगला गीत-संग्रह 'दीप शिखा' १९४२ में प्रकाशित हुआ। 'दीपशिखा' की काव्य-संवेदना में स्पष्ट अंतर आ गया है। उसके अनेक गीतों में विषाद के स्थान पर जीवन और जगत के प्रति एक नवीन उत्साह का स्वर मुखरित है। इन गीतों की रचना प्राय: उस समय हुई थी जब हिंदी साहित्य में प्रगतिवाद का आंदोलन ज़ोर पर था। निराला के काव्य में तो प्रगति चेतना आरंभ से ही विद्यमान रही है। छायावाद के 'कोमल कवि' पंत भी उस ओर आकृष्ट हो गये थे। जीवन और काव्य के शाश्वत मूल्यों के प्रति महादेवी की आस्था अपेक्षाकृत अधिक जागरुक थी। अत: वे अपनी परिचित भावभूमि से तो विचलित नहीं हुई, किंतु प्रगतिशील आंदोलन के भावात्मक प्रभाव को उन्होंने अपनी सीमा के भीतर अवश्य ही ग्रहण किया। 'दीपशिखा' की पहली दो कविताओं में ही यह प्रभाव स्पष्ट रूप में लक्षित हो जाता है—

दीप मेरे जल अकंपित
घुल अचंचल।
* * * * * * *

* * * * * * *
पंथ होने दो अपरिचित प्राण रहने दो अकेला !

इस संकलन की कविताओं में भावना वह संभार नहीं मिलता जो 'नीरजा' के अनेक गीतों में मिलता है। उदाहरण के लिए :

'तुम्हें बांध पाती सपने में।
तो चिर-जीवन-प्यास बुझा लेती,
उस छोटे क्षण अपने में'

अनुभूति की ऐसी तीव्रता यहाँ दुर्लभ है। फिर भी कुछेक कविताओं में भावसिक्त मन का मार्दव घुला हुआ है — 'जब ये दीप थके तब आना !' इसी प्रकार का गीत है।

'दीपशिखा' की सर्वश्रेष्ठ कविता है 'यह मंदिर का दीप इसे नीरव जलने दो।'

इस कविता में महादेवी की प्रौढ़ काव्य-संवेदना और संश्लिष्ट बिंब-योजना का पूर्ण उत्कर्ष मिलता है। गहराई में जाकर देखें तो कवियित्री ने इसके माध्यम से प्रगतिशील आंदोलन के पुरोधाओं के आक्षेपों का अत्यंत मार्मिक शैली में उत्तर दिया है। महादेवी के काव्य के विरुद्ध इन आलोचकों का यह आक्षेप था कि उनकी एकांत काव्य-साधना जीवन-यथार्थ से कटी हुई है, अत: उसका विशेष सामाजिक

मूल्य नहीं है। महादेवी जी का उत्तर है कि आंदोलन से दूर एकांत काव्य-साधना का भी अपना रचनात्मक महत्व होता है :

यह मंदिर का दीप इसे नीरव जलने दो।
रजत शंख-घड़ियाल स्वर्णवंशी-वीणा-स्वर,
गये आरती-वेला को शत-शत लय से भर,
जब था कल-कंठों का मेला,
विहँसे उपल, तिमिर था खेला,
अब मंदिर में इष्ट अकेला,
इसे अजिर का शून्य गलाने को गलने दो!

समारोह समाप्त होने के बाद जब इष्ट (दैवविग्रह) अकेला रह जाता है, उस समय मंदिर का एकाकी दीप निस्तब्ध नीरवता में प्रकाश वितरण करता है, उसी प्रकार सामाजिक आंदोलनों की हलचल जब समाप्त हो जाती है, उस समय हृदय की कोमल अनुभूतियों से अभिषिक्त कवि की एकांत काव्य-साधना भी लोकमानस को शांति प्रदान करती है।

झंझा है दिग्भ्रांत रात की मूर्च्छा गहरी,
आज पुजारी बने, ज्योति का यह लघु प्रहरी,
जब तक लौटे दिन की हलचल,
तब तक यह जागेगा प्रतिपल,
रेखाओं में भर आभा-जल –
दूत सांझ का इसे प्रभाती तक चलने दो।

अर्थात् एकांत संवेदना का काव्य भी भौतिक जीवन की विभीषिकाओं के बीच मानव-मन के चिरंतर सत्यों का संदेश वहन करता हुआ लोक-कल्याण में अपना अंशदान करता है।

महादेवी जी की काव्ययात्रा और उसके साथ मेरी मनोयात्रा भी यहीं समाप्त हो जाती है।

यहाँ जिज्ञासु पाठक यह प्रश्न कर सकता है कि यह काव्ययात्रा इतनी जल्दी क्यों समाप्त हो गयी— महादेवी जी ने केवल ३४-३५ वर्ष की आयु में ही काव्य-रचना से उपराम क्यों ले लिया? समाजवादी आलोचक इसके उत्तर में कह सकता है कि जीवन-यथार्थ से परिपुष्ट सामाजिक चेतना का अभाव ही इसका कारण है : आत्मगत अनुभूति, कल्पना और चिंतन के आधार पर कविता का रचना-क्रम निरंतर नहीं चल सकता। काव्यशास्त्र का मर्मी कहेगा कि प्रगीत काव्य की सृजन-प्रेरणा एक अवधि के बाद सक्रिय नहीं रहती — अपने मन की कथा कवि कहाँ तक कहता रहेगा — कवि का कथ्य तो जीवन और जगत की कथा का आश्रय लेकर ही विस्तार पा सकता है। मेरे विचार से ये दोनों ही उत्तर संगत हैं — वास्तव में ये एक ही लक्ष्य के दो पहलू हैं। महादेवी जी ने इस तथ्य का अनुभव कर अपनी काव्ययात्रा यहीं समाप्त कर दी। यह उनके विवेक का ही प्रमाण है। जिन्होंने इस सत्य को नहीं पहचाना उन्होंने प्राय: पुनरावृत्ति ही की है जिससे उनके गौरव में वृद्धि नहीं हुई : स्वयं कविगुरु रवींद्रनाथ का परवर्ती काव्य भी इसका प्रमाण है।

□

छायावाद का सर्गान्त

डॉ. रामेश्वर शुक्ल 'अंचल'

महादेवी वर्मा के साथ हिंदी के आधुनिक काल के स्वर्णकाल कहे जाने वाले छायावाद-युग का सर्गान्त सचमुच हो गया। छायावाद ने नये-नये स्वरों की सरिता बहाई थी — हिंदी कविता को नये संगीत से सँवारा था और कल्पना का, भावना का मनोरम लोक पराधीन देश की लाचारी भरे नीरस यथार्थ पर उतार दिया था। उनका चित्रात्मक जादू भरा सौंदर्यशिल्प एक युग तक हिंदी काव्य-सर्जना पर छाया रहा। यों तो उनके कुछ रस संप्रदायवादी आलोचक भक्त उन्हें विश्व की श्रेष्ठतम कवयित्री मानते हैं पर इस महादेश की एक शीर्षस्थ कवयित्री वे निस्संदेह थीं जो हिंदी साहित्य को स्वच्छंद प्रेमानुभूति और आजीवन अलौकित्व की ओर उन्मुख माधुर्य साधना के द्वारा एक कभी न छीजनेवाला आनंदबोध दे गयी हैं। कल्पना में भी वेदना का इतना गाढ़ा रस छन सकता है, आकाशी बिंबों में भी पार्थिवता की ऐसी सहज प्रतीति हो सकती है इसका प्रत्यक्ष विश्वास महादेवी की कविता पढ़े बिना नहीं हो पाता। यह कल्पना अशरीरी दिव्यता का आवरण पहनकर भी हमारे सुख-दुख के जीवन प्रवाह के कितनी निकट है। अलंकृत गुलकारियों में डूबकर, अनजान, विचित्र, अगम्य प्रदेशों और भाव सरणियों का अतिक्रमण करने पर भी, जगह-जगह रहस्योन्मुख हो उठने की जीवनसाध्यता के बावजूद उनकी कल्पना बराबर अनुभूति में बदलती रहती है। यह प्रक्रिया मात्र बौद्धिक प्रयास नहीं, एक रसात्मक अनुभूति भी है जो अपनी मिसाल आप है।

महादेवी वर्मा की कविताएँ बचपन में 'चाँद' के मुखपृष्ठ पर छपती बराबर देखता था। पर तब वे कही-कही न लगकर सोची-सोची और रची-रची लगती थीं। जिस अंक में महादेवी वर्मा की कविता 'चाँद' में छपती उसी के बाद के अंक में लगभग उसी भाषा, छंद शैली में लिखी गई 'महादेवी शर्मा' की कविता भी छपती थी। पर इन कविताओं में शिल्पित संगीत ही भरा रहता था, वेदना की सीधी और मनोविदारक चोट कम। सन् १९२८ में चाँद का संपादन छोड़कर जब सशक्त लेखनी और कलम के धनी पं. नंद किशोर तिवारी लखनऊ आये तब माधुरी के संपादकों में केवल मेरे पिताजी (स्व. मातादीन शुक्ल) के साथ ही उनकी घुली मिली मैत्री हो सकी। महादेवी वर्मा की कविताएँ पढ़-पढ़कर झूमने वाले, निराला जी के बरसों पहले खादी की लुंगी (और नयी काट का पंजाबी कुर्ता भी) पहिन कर लखनऊ की तहजीबयाफ्ता सड़कों पर साहित्यिकों के साथ बेहिचक निर्भीकता के साथ घूमनेवाले नंदकिशोर तिवारी निश्छल बंधुत्व और साहित्यिक आत्मीयता की प्रतिमूर्ति थे। बाद में पता लगा कि वे ही चाँद में महादेवी शर्मा के नाम से लिखा करते थे। महादेवी वर्मा की ये दो लाइनें सुनाकर वे चुनौती भरे स्वर में उन्हें अनुपम, अप्रतिम बताते थे :

करुणामय को भाता है तम के परदों में आना
हे नभ की दीपावलियो ! तुम क्षणभर को बुझ जाना।

तभी मैं इस नाम से भलीभाँति परिचित हुआ था जो आगे चलकर वाग्मिता और लेखन दोनों में हिंदी की मुकुटमणी बनने वाला था — कविता को नई स्वच्छंद गति, कल्पना की जीवंतता और वेदना का विलक्षण प्रत्यय देनेवाला था।

परंपरा के भीतर से उगी और पनपी महादेवी के पहले कविता संग्रह नीहार की भूमिका उन दिनों 'कविसम्राट' के अभिषिक्त सम्मान से विभूषित अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध' ने लिखी थी। हरिऔध जी 'प्रियप्रवास' के कवि होकर भी, (बाद में बैदेही वनवास और रस कलश के) प्राचीन रूप-रस बोध-सिद्ध परंपरा के उद्‌गाता होकर भी, उन दिनों नये-नये छंदों और उद्‌भावनाओं से दीप्त कविता के निष्कपट प्रशंसक थे। इलाहाबाद में मैंने अपनी पीढ़ी के पहले के साहित्यिकों से सुना था — किस प्रकार प्रयाग विश्वविद्यालय के हिंदू बोर्डिंग हाउस में आयोजित कवि-सम्मेलन की अध्यक्षता करते हुए उन्होंने पंतजी की 'छाया' और 'मौननिमंत्रण' कविताएँ सुनकर मुग्ध होते हुए अपनी माला भरी सभा में उन्हें पहना दी थी। आश्चर्य नहीं यदि उन्होंने नीहार की कविताओं में 'प्रतिभा का विलक्षण विकास' देखा हो और हिंदी काव्य क्षितिज पर आलोकित इस 'गीतमी' तारिका का स्वागत मुक्तकंठ से किया हो। छायावाद तब तक हिंदी कविता में प्रतिष्ठित भले हो गया हो पर उसके पहले उसका जो तीव्र विरोध और विडंबन-आचार्य पद्‌मसिंह शर्मा, महावीर प्रसाद द्विवेदी, किशोरीदास जी से लेकर डॉ. हेमचंद्र जोशी जैसे आधुनिकतावादियों के द्वारा किया जा रहा था उससे होकर महादेवी वर्मा भी गुज़री थीं। उनकी इसी अविच्छिन्न काव्य-साधना के प्रति आंतरिक आदर भाव प्रकट करते हुए 'निराला' जैसे जुझारू काव्य-पुरुष ने उन्हें भावांजलि देते हुए लिखा था — हे विदुषी ! तुम हिंदी के विदूषकों के प्रबल विरोध और उपहास में भी अडिग रहीं।

महादेवी वर्मा को जब हिंदी के आलोचकों और काव्यरसिकों द्वारा मीरा कहा जाने लगा तब मुझे बड़ा विचित्र लगा। हमारी यह बड़ी विचित्र वृत्ति है कि बिना तुलना किये और समानधर्मिता बताये हम जैसे किसी कवि लेखक की श्रेष्ठता प्रतिपादित कर ही नहीं सकते। मुझे लगता है इस प्रकार की समता तथा एकरूपता बिठानेवालों ने इन दोनों की पीड़ा के उत्स को प्रायः पहचाना ही नहीं। इसमें संदेह नहीं कि 'जो तुम आ जाते एक बार', 'अलि कैसे उनके पाऊँ', 'तुम्हें बाँध पाती सपने में', 'लाये कौन संदेश नये घन', 'मैं नीर भरी दुख की बदली', 'मेरा सजल मुख देख लेते' जैसी कविताओं के मुखड़े मीरा के गीतों की मुखड़ों की याद दिलाते हैं। पर इसके बाद जो भावशिल्प-विधान शुरू हो जाता है वह वेदना की सीधी सहज उठान को इतना रूप-सुषमित करने लगता है कि कविता अलंकरण बनने लगती है। 'जोगिन बनी वियोग की तमाच्छादित रात' जैसे चाँदनी का तारकखचित परिधान पहनकर आकर्षक अधिक हो जाती है — द्रावक पीड़ामयी क़म — प्रायः बिलकुल कम। वे कलावंत की सारी रचना-निपुणता लेकर ऐसे चित्र बनाने लगती हैं जो किसी व्यथा की पारदर्शिता को क्षीण करते हुए उसे रंगीनियों का इंद्रजाल बना देते हैं। इस शब्द-सामर्थ्य और भाव-सृष्टि का अपना स्वतंत्र रचनागत मूल्य है। अंग्रेज कवि 'टेनसिन' जैसी शिल्प साधना महादेवी में है पर वेदना की वह विदारक अनिवार्यता नहीं जो मीरा की पंक्ति पंक्ति में है।

अक्सर रवींद्रनाथ को भी कबीर का दर्जा दिया जाता है — ईश साधना और दिव्यता की उज्ज्वल 'पद्यधर्मिता' के लिये। मुझे यह तुलना भी सही नहीं लगती। जो अन्तर्मुखी विरहिणी आत्मा कबीर की दार्शनिक वाणी में पंक्ति पंक्ति में झलकती है वह रवींद्रनाथ की सारी निर्गुण प्रेमविभोर काव्यसाधना में बहुत कम विभासित हो पाती है। काव्यश्री और सुषमा के अम्बार लगाने वाला कवि का सारा विपुल

भाव-भंडार वंदनीय है – अतुलनीय है। पर जो 'आतम ज्ञान' कबीर को है – जो लोकलाज़ निरपेक्ष उन्मुक्त समर्पण और हरिप्रीति की संवेदित आर्तता, घायल आत्मा का चीत्कार मीरा की कविता में है सामाजिक संभ्रांतता और अलगाव गौरवबोध को अपने जीवन और साहित्य दोनों में लेकर चलनेवाली पिपासा की इस ऐन्द्रजालिका रूप-रस-भाव-गंध शिल्पिनी में नहीं। महादेवी में पीड़ा की चाहना है — बड़ी उत्कट मृगतृष्णा है पर मीरा में पीड़ा का अंतर्भोग, मन की टूटन, बिखरन सही है। उसे सारी विदीर्णता के साथ जिया है – पिया है। वह छटपटा छटपटा कर उससे छूटना चाहती है जो सच्ची पीड़ा और पीड़ित की पहचान है। महादेवी पीड़ा को पालती है – प्रिय पक्षी या जीवशावक की तरह। बहुत बड़ा अंतर है यह।

इसमें संदेह नहीं कि रहस्यानुभूति को विचार की तरह अपनाने वाली और अपने सुचिंतित काव्यादर्श के पूरे सामर्थ्य के साथ उसे अपनी भाव नियोजना में उतारने वाली महादेवी ने हिंदी कविता को नया सँवार दिया है – पुराने बिंबों और उपासना के प्रतीकों को नयी चमक भी दी है। गद्य में हो या कविता में, भाषा उनकी अनुवर्तिनी है। जिसके दाने (प्रोफेसर आज़ाद के शब्दों में) रेशम पर मोती के दानों की तरह कोमल सुगमता के साथ फिसलते चले आते हैं। मीरा को अपने जीवन व्यक्तित्व और घरद्वार परिवार की तरह अपनी भाषा के लिये भी किसी संस्कारशील सौंदर्यमंडित परिवेश की परवाह न थी। तुलसीदास जैसे महान कवि और आत्म-समर्पक कवि भी भाषा के परिनिष्ठित निखार से विरत न थे। मीरा को विरहिणी या एकाकिनी नारी की अभिव्यक्ति के लिये, मूर्तित करने के लिए किसी चित्रात्मक प्रतीक की आवश्यकता नहीं पड़ती। वह आपसे आप सामने आ जाती है। भाषा की मनोहरता और अलंकृति की बैसाखी का सहारा नहीं ढूँढ़ती। भक्ति की हदें छूती अपने अनुराग और प्रीति को महादेवी जी भाषा की मणियों जैसी द्युति के परतों से छानती हैं। मीरा का प्रत्येक आवेग सघन होकर प्रणय-विह्वलता का उद्‌गार बन जाता है। महादेवी की सारी प्रेमानुभूति, उत्सर्ग-आकुलता कविता पहले है, कला का रूप-विधान पहले है, रूपकों, अप्रस्तुतों का सौंदर्य पहले है, प्राणगत वेदना बाद में।

इस संदर्भ में अंगरेजी की दो कवियित्रियों — 'एलिजाबेथ ब्राउनिंग' और 'क्रिस्टिना रोज्जेटी' का स्मरण भी आता है। रसाकुल जिजीविषा की ये दोनों भावभीनी चितेरियाँ हैं पर उनका समग्र कवि-व्यक्तित्व महादेवी से कहीं छोटा ठहरता है। महादेवी दोनों से बड़ी कवि हैं। कला-साधिका हैं और अनुभूमियों की विविधता घनीभूतता में बढ़ी-चढ़ी हैं। इन दोनों अंग्रेजी कवियित्रियों में मीरा का सच्चा अंतर्दाह है। मीरा जैसा उत्कट प्रेमावेश है, भावप्रवाह है। पार्थिव प्रेम के सच्चे अंतर्भूत प्रतिमान है, कल्पना-बाहुल्य नहीं, रहस्य-चिंतन की आच्छन्नता नहीं। रोज्जेटी की 'मुझे स्मरण रखना, मधुर मृत्यु, मेरा स्वप्न, प्रगाढ़ निद्रा आदि कविताओं में मीरा वाली छटपटाहट है – ब्राउनिंग की कविता भी इसी प्रकार अंगभूत और प्रतिक्षण अनुभूत निराशा और लाचारी में पोर-पोर डूबी हुई है। पर महादेवी के काव्य वैभव और रूचिरताओं का विपुल आयाम, संगीत माधुरी और भावात्मक प्रवृत्तियों का संदर्भ उन्हें ऊँचा उठाये है। दुखभोग की उनकी चुनौती भी उनके नारी जीवन की शक्ति का बोध कराती है—

मेरी लघुता पर आती जिस दिव्य लोक को ब्रीड़ा
उनके प्राणों से पूछो – वे पाल सकेंगे पीड़ा ?

यह भारतीय नारीत्व का ओज है – सहन का दर्प है जो महादेवी को देश विदेश की दूसरी कवियित्रियों से अलग करता है – उनके सारे स्वारोपित अशरीरी पार्थक्य को भी पार्थिव सरोकारों के साथ जोड़े रहता है।

महाप्राण निराला ने अपनी उसी भावभीनी कविता में उन्हें 'स्फूर्ति, चेतना, रचना की प्रतिमा कल्याणी' कहा है। ये तीनों गुण कलाकारोचित संयम के साथ उनके लेखन, भाषण और समस्त क्रिया-

कलाप में निरंतर अभिव्यंजित होते रहें। स्फूर्ति इतनी और ऐसी कि मिलकर, सुनकर, पढ़कर प्रेरणा की ऊर्जा जाग उठे। नया, पुराना, बीच का कैसा भी कोई भी कवि-लेखक उनकी उद्बोधक हौंसला बढ़ानेवाली बातों से प्रभावित होता था। अपनी समस्त निजता केवल कविता में न डूबोकर चिंतन (विचार) की डोर से वे जैसे उसे अलग थामे रहती थीं। चेतना इतनी प्रबुद्ध और निर्माणोन्मुख कि आजीवन वे विचार और भावना के स्तर पर हिंदी की सर्वदेशीय अस्मिता के लिये संघर्ष करती रहीं। हम चाहे जितनी बड़ी-बड़ी बातें करें, साहित्य और भाषा के प्रति अपने लगाव की कितनी भी दुंदुभी बजायें पर निराला और महादेवी ने हिंदी के गौरव की चेतना जिस प्रकार जगाई उसका आंशिक ओज भी हम बड़े बड़े सम्मेलनों और संगोष्ठियों द्वारा नहीं उपजा सके। राजर्षि टंडन ने जो बात राजनीति और प्रशासन-मंच से कही वही ये दोनों छायावादी कहलाने वाले भावनाप्रवण कवि साहित्य के मंच पर आजीवन घोषित करते रहे। निराला ने पराधीन देश में हिंदी का मस्तक राजनीति से ऊँचा ठहराया, बड़े से बड़े राजनेता के समकक्ष प्रेमचंद और रामचंद्र शुक्ल को बिठाया – उनकी गरिमामयी देन को राष्ट्र की निधि माना। महादेवी जी ने स्वतंत्र भारत में हिंदी की प्रतिष्ठा और राष्ट्रीय महिमा का वही बुलंद स्वर कायम रखा। राष्ट्र को मूकता और बधिरता से त्राण कैसे मिले, यही चिंता वे अपने प्रत्येक भाषण और पारस्परिक वार्ता में पूरे क्षोभ के साथ प्रकट करती रहीं। रचना शब्द उनके प्रसंग में सृजन की अविरलता के साथ उनकी शिल्प-समृद्धि को भी रेखांकित करता है। गद्य और उससे कहीं ज्यादा अपने प्रगीतों में वे सौंदर्य का साज साजती रहीं। वही कवित्वमयी तेज़ी वही रचाव की पैनी-पैनी धार उनके गद्य में भी है। दुख उनके मन को माँजता रहा, वे रचना को माँजती रहीं।

गद्य की बात आते ही उनका काव्य से विपुलतर साहित्य सृजन आँखों के आगे आ जाता है। मासिक 'चाँद' के संपादन में उन्होंने जो अग्रलेख लिखे उनमें उनकी रचना-शक्ति का नया रूप सामने आया। वायव्य और सूक्ष्म कल्पना की रंगीनियों और रंगारंग तरंगों की कवयित्री में केवल आत्म ही आत्म नहीं है – वह 'अहं' से 'इदं' की ओर भी उतने ही वेग से जाती है। सामाजिक विषमता, विवशता और बंधनों की जकड़न पर भी – विशेषकर नारी जीवन की शोषण प्रसूत लाचारियों पर भी उन्होंने प्रखर प्रकाश डाला। 'श्रृंखला की कड़ियाँ' में संकलित ये लेख बड़े आघातकारी सिद्ध हुए। अपनी कविताओं में लालित्य ही लालित्य भरकर ज्ञात-अज्ञात प्रियतम के प्रति केवल उपासना की प्रंजलियाँ उलीचने वाली कोमलकांत कवयित्री ऐसा तीखा सामाजिक यथार्थ भी अपने लेखन में उकेर सकती है। 'तोड़ दो यह क्षितिज, मैं भी देख लूँ उस ओर क्या है' तथा 'और होंगे चरण हारे', अन्य है जो लौटते दे शूल को संकल्प सारे' लिखने वाली कवयित्री सौकुमार्य और द्रावक करुणा की कवि ही नहीं है। दृढ़ता की शिखा भी है – इतना तो लोग जान चुके थे। पर उसके भीतर ऐसा तीक्ष्ण समाज-बोध और हर प्रकार के, नारी के प्रति हो रहे अन्याय से लोहा लेने की उत्कटता भी है यह तभी विदित हुआ।

महादेवी जी के संस्मरणों और रेखाचित्रों ने उन्हें गद्यकार के रूप में स्थापित किया। आज भी एक बड़ा वर्ग ऐसा है जो उन्हें कवि की अपेक्षा अधिक प्रभावशाली गद्यशिल्पी मानता है। संवेदना और दुख कातरता की परिभाषाओं और परिणतियों में बदलाव आ सकता है। नयी कविता में जो भावनात्मक निस्संगता और सहानुभूतिपरक तटस्थता आ गयी है उसने हमारे भावबोध के बदलने की चेष्टायें की हैं। आधुनिकता ने संप्रेषण को अधिक से अधिक बुद्धिगम्य बनाया है। ऐसे रुचिगत वैलक्षण्य के चाहने वालों को छायावाद या छायावादोत्तर रोमांसवाद और भावप्रतीतियों में अब कोई आकर्षण न लगता हो तो आश्चर्य नहीं। पर महादेवी के मानवपात्र और उन्हें घेरे कर्मगति की वास्तविक परिस्थितियाँ ऐसे **ऐन्टी रोमांटिकों** को भी भावाविभूत कर देती हैं। प्रेमचंद और प्रसाद, उग्र और निराला ने अपनी अपनी शैली में जिस मानवीय संवेदना का आत्मीय, सहानुभूतिपरक स्पंदन जगाया

उसे ही महादेवी ने प्रेमचंद और प्रसाद के बीच की अलंकृत शैली में भाव स्निग्ध किया। साहित्यकारों के रेखाचित्र (संस्मरणात्मक) लिखने में तो वे ज़रूर बड़े बड़ों के प्रभाववृत्त में बँधी रही पर अपनी इतर संस्मरण कथाओं और पारिवारिक चित्रणों में उन्होंने असाधारण का आकर्षण छोड़कर साधारण की मानवीय मूल्यवानता को पहचाना – उसे उजागर किया। चरित्र चित्रण – विशेषकर आंतरिक छवि-अंकन जो माँसलता माँगता है वह 'अतीत के चलचित्र' और 'स्मृति की रेखायें' में है। उनकी कविता चिंतन की ओर अधिक प्रवृत्त है – चाहे वह चिंतन प्रिय के 'कास्मिक' स्वरूप की सर्वव्याप्त विभा का हो, चाहे जीवात्मा की वांछित पीड़ा का। पर गद्य में विशेषकर उनके ललित गद्य में जीवन-विषयक तफसीलें नहीं हैं – जीवन ही खंड रूप में समग्र रूप में उतर आया है। उनकी कविता मन को छूती है पर चित्रित चरित्र मन में उतर जाते हैं। ये चरित्र चित्र नहीं जीवित मूर्ति बनकर हमें आत्ममय कर देते हैं। ऐसी सजीवता, ऐसी प्रलक्षता जो देखते ही बनती है।

महादेवी का विचारक रूप 'यामा' की भूमिका से पूरा पूरा प्रकट हुआ। कविता के प्रयोजन, प्रेरणा और प्रभाव के संबंध में उनके विचार बहुतों के विचारों से मेल नहीं खाते। कविता को जितनी ऐकान्तिक और जीवन की सामाजिक अनुभवभूमि से कटी, आत्मविलीन प्रक्रिया वे मानती है उतनी वह नहीं होती। कथ्य की ईमानदारी और उसे निर्मित करने वाली संवेदना की सच्चाई के संबंध में तो रायें दो नहीं हो सकतीं। पर जीवन और आज की अभिशप्त युगीनता भी तो इतनी सरपट और समतल, सपाट और मखमली नहीं है जितना वे सोचती हैं। प्रत्येक विचार न विज्ञापन होता है, न प्रत्येक भाव संक्रामक। विचार यदि हृदय के संवेदित अनुभव से जन्मा है तो वह गति बन सकता है – भाव यदि चारों ओर की ग्रहणशीलता छोड़कर केवल अपने में डूबा और रमा रह जाता है तो वह स्थिरधर्मी हो जाता है – 'डायनेमिक' संक्रामकता अपनी तज देता है। इसमें संदेह नहीं कि उनके संपूर्ण मानसिक और रचनात्मक विकास में उस बुद्धि प्रसूत चिंतन का भी महत्व है जो जीवन की बाह्य व्यवस्थाओं की समझ से गति पाता रहा है।'' अमरत्व की चेतना और करुणा की सर्वव्यापकता उन्हें इसीलिए अपना गंतव्य और मंतव्य लगी होगी कि जीवन के आर्त कंदन भरे कोलाहल में शांति की सबसे सुगम राह यही है। पर ये करुण और वेधक यथार्थ उनके गद्य में अकुंचित रूप से खुलासा हुए हैं। सबसे बड़ी बात यह है कि कविता में उनका सारा दुखवाद निराशा को न जगाकर विश्वास की जीवन-क्रिया ही जगाता है। उनकी करुणा आस्थामयी है।

महादेवी जी की कविता में आत्मसहन और आत्मसंताप से आत्मशक्ति खींचने और पाते रहने का जो अहं है वह सचमुच एक बड़े कवि की सच्ची पहचान है। निराला की मेरा अंतर वज्र-कठोर, देना जी – जी भर झकझोर' या गालिब की पंक्ति 'दर्द का हद से गुज़रना है दवा हो जाना' की तरह महादेवी जी भी कहती हैं—

है ध्येय यही जलने का ठंडी विभूति बन जाना
है पीड़ा की सीमा यह दुख का चिर सुख हो जाना

इससे आगे बढ़कर भी वे कह सकती हैं —

तुम मानस में बस जाओ छिप दुख के अवगुंठन से
मैं तुम्हें ढूढ़ने के मिस परिचित हो लूं कण कण से

सारे मानसिक संघर्ष और चिंतनवृत्त का पर्यवसान कवयित्री इसी विश्वबोध में चाहती है। यह विश्वबोध जीवन का त्रासद विषाद लिये है जिसके मानवीय सरोकार असंदिग्ध हैं।

सौरभ पी पीकर बहता देखूँ यह मंद समीरण

दुख की घूँटें पीती या ठंडी साँसों को देखूँ
कलियों की घनजाली में छिपती देखूँ लतिकायें
या दुर्दिन के हाथों में लज्जा की करुणा देखूँ

यह परदुख-विकलता कवयित्री के मन के दुख-भोग ठहराव से आई है। यह स्थिरताबोध से फूटता है। सुषुप्ति से नहीं, गति का अन्वेषी है, पलायन का नहीं। यही असीमता का सच्चा आह्वान है जो बंधनों से मुक्ति की कामना भले न करे पर सुख-दुख की परिधि से परे विस्तार को जानता है – उसी में चेतन सौंदर्य-स्रोत पाता है।

हिंदी की भाव-परंपरा और गीति-समृद्धि में महादेवी जी का कितना योगदान रहा है इस पर इतना कहासुना गया है कि और कुछ कहना पिसे हुए को पीसने जैसा है। किसी न किसी स्पष्ट या अस्पष्ट रूप में वे साहित्य की एक जीवित शक्ति रही हैं। बाहर की परिस्थिति और भीतर की साधना प्रेरणा की अंतरंगता उनके लिये कोई निरपेक्ष तत्व नहीं थे – कोई अलगाव नहीं रखते थे। भले ही वे भक्त कवियों की तरह आराध्य की मिलनाकाँक्षा में, सर्वस्व त्याग की आत्म-विह्वलता में घुली न हों पर उनकी वाणी में लोकसंग्रह का सच्चा स्वर है इससे इंकार नहीं किया जा सकता। भारतीय संस्कृति की विराटता और भव्यता उन्हें भावाभिभूत करती रही है और उनकी कविता में सुख-दुख के उच्छवासों की सहचरी बनकर नित्य नये अनुरागी सौंदर्य का संस्कार भरती प्रकृति उनके निकट शिवता का प्रतीक है। कहीं कोई भ्रांति नहीं, कोई जड़ता नहीं, अंतहीन जिजीविषा ही जिजीविषा है। ऊपर से अवसाद और अतृप्ति मंडित दिखने वाला उनका मौलिक अनूदित काव्य किसी पार्थिक दिव्यता की तलाश ही तो है।वैदिक साहित्य के अनुशीलन ने उन्हें अधिकाधिक जिजीविषाकुल बनाया है – उनकी प्यास आत्मा की अविनाशी साँस जैसी चिरस्पंदित है – एक विचित्र ऊर्जा का उसमें संचार है।

''मोतियों की हाट और चिनगारियों का एक मेला लगाती चलने का दावा करने वाली कवयित्री ने नियमित कविकर्म बहुत पहले ही बंद कर दिया था या बरायेनाम चालू रखा था पर उनकी संवेदनशीलता और सामाजिक परस्परता उनके गद्य लेखन और साहित्यिक संभाषणों में (किसी भी प्रकार के मसीहाई तेवर या प्रवचनभाव से मुक्त) बराबर बनी रही। खुदी के इल्हामी बोध से ग्रस्त परउपदेशक रचनाकारों के आत्मविकृत आभिजात्य के बीच उनका व्यक्तित्व एक सात्विक सरसता और समरसता का सुखद संस्पर्श जगाता था। उनकी अलंकृत अभिव्यक्ति, किसी भी रूप में हो, स्वभावोक्ति जैसी हार्दिक लगती थी। साहित्य संसार की आज की शतरंगी चालों से दूर वे रचनाधर्मिता की सच्ची आंतरिकता की संचारिणी उद्‍बोध-शिखा थीं। प्रत्येक प्रणाम उन तक पहुँच जाता था। □

महादेवी : जीवन के प्रति पूर्ण संपृक्ति

डॉ. निर्मला जैन

यह कहना शायद सच न होगा कि महादेवी जी से मेरा बहुत घनिष्ठ परिचय था या फिर कुछ ऐसा जिसे 'निकट आत्मीय' कहकर व्याख्यायित किया जा सके। परंतु जो था वह अत्यंत सहज, स्नेहिल और कुछ ऐसा जिसमें उनकी ओर से ममत्व और मेरी ओर से आदर का भाव रहा। यदि ऐसा न होता तो अब से पाँच वर्ष पहले, जब मैंने अध्यक्ष के नाते उन्हें दिल्ली विश्वविद्यालय के हिंदी-विभाग में 'विज़िटिंग प्रोफ़ेसर' की हैसियत से कुछ समय बिताने के लिए आमंत्रित किया, तो उनकी ओर से जो उत्तर आया उसमें शारीरिक अस्वस्थता के बावजूद स्वीकृति का उत्साह और उल्लास था। यह बात अलग है कि पूरे एक वर्ष हम प्रतीक्षा करते रहे, वे प्रयास करती रहीं, पर निरंतर गिरते हुए स्वास्थ्य के कारण अंततः यह सुयोग बन नहीं पाया।

मैंने उन्हें पहले-पहल पाठ्यक्रम में निर्धारित 'नीहार' की कवयित्री के रूप में जाना था। १९५५-५६ के युवा-भावुक मन को वह भावभीनी प्रगीतसृष्टि बहुत भाती थी। कविताओं के आधार पर जो बिंब मन में बनता था वह एक रूपसी, — सुकुमार प्रेम-विह्वल तन्वंगी युवती का था। वर्षों बाद जब किसी समारोह में उनका प्रथम-दर्शन हुआ तो लगा कि यह व्यक्तित्व गद्य-संस्मरणों की रचनाकार के काल्पनिक बिंब से अधिक मेल खाता है। ख्याति उनकी यह थी कि वे हर प्रकार के प्रचार-प्रसार, सभा सम्मेलन से, यानी सार्वजनिकता से कतराती हैं। विरह की लंबी रातों में प्रेम का दीपक जलाए, प्रिय की चिर प्रतीक्षा में रत जो कवयित्री अपनी अधिकांश काव्य-सृष्टि में गहन एकाकीपन का बोध जगाती थी, उससे यह ख्याति बहुत मेल खाती थी। इसलिए उनके समीप जाने का अतिरिक्त प्रयास कभी नहीं किया।

उनके निकट संपर्क में आने का अवसर तब मिला जब मानस-चतुश्शती के संदर्भ में वे दिल्ली आयीं। उसी समय 'साप्ताहिक हिंदुस्तान' के संपादक महोदय ने आग्रह किया कि मैं उनकी पत्रिका के लिए देवी जी से कुछ साहित्यिक मसलों पर विचार-विमर्श कर साक्षात्कार के रूप में प्रकाशनार्थ भेज दूँ। मेरे मन में उनको लेकर संकोच और साथ ही समादर का भाव वर्षों से ज्यों का त्यों बना हुआ था। संकोच पर विजय पाने में इस तथ्य ने सहायता की, कि वे मेरी मित्र राजकमल प्रकाशन की निदेशक श्रीमती शीला संधू की मेहमान थीं।

वे लगभग आठ वर्ष के अंतराल के बाद दिल्ली आयीं थीं और वह भी बड़े मान-मनुहार से। दिल्ली — देश की राजधानी, समस्त राजनीतिक, सांस्कृतिक, शैक्षिक — हर तरह की चहल-पहल का केंद्र और इस तरह कहीं न कहीं एक प्रतीकात्मक अस्तित्व। याद नहीं पड़ता कि कोई दूसरा साहित्यकार इस केंद्र से इतना कतराता हो। श्रीमती शीला संधू के ड्राइंग रूम के एक कोने में मैं और वे— आमने-सामने। दिल्ली में बीते चौबीस घंटों की अनवरत व्यस्तता को वे अत्यंत सहज पर उतने

ही निरपेक्ष भाव से वहन किये बैठी थीं। मैंने जिज्ञासा प्रकट की — आप इस दिल्ली महानगरी से इतनी उदासीन क्यों हैं? जहाँ तक मुझे मालूम है अनेक वर्षों के बाद भी आपको दिल्ली बुलाने के लिए मानस चतुश्शती समारोह के संयोजकों को कुछ अतिरिक्त प्रयत्न करना पड़ा है। उन्होंने हँसकर जवाब दिया— ''मैं सभी राजधानियों से, राज-सत्ता के केंद्रों से घबराती हूँ।'' मैंने याद दिलाया कि अपने समसामयिक साहित्यकारों में वे सबसे अधिक राजनीतिकर्मी रही हैं। चारों ओर के समाज और जीवन के प्रति एकदम सजग और सावधान। मैंने गिना दिया — विधान परिषद् की सदस्यता, नारी-जीवन में सुधार के विविध प्रयत्न, 'श्रृंखला की कड़ियों' में इस समस्या का वैचारिक विश्लेषण, महिला विद्यापीठ की स्थापना, बंगाल के काल के अवसर पर 'बंग दर्शन' का संपादन, साहित्यकार-संसद के रूप में 'राइटर्स गिल्ड' कायम करने की कोशिश, वगैरह-वगैरह। उन्होंने बात स्पष्ट की — ''स्वतंत्रता के पहले हमारे साहित्यकार की भूमिका ज्यादा निश्चित थी। वह राजनीतिक दृष्टि से विदेशी साम्राज्यवादी सत्ता के विरुद्ध अधिक सक्रिय था। उसका दृष्टिकोण, दायित्व और लक्ष्य सभी साफ थे। और अब, अब तो सरकार अपनी है। अतः राजनीतिक सम्पृक्ति का मतलब है — सरकार का भोंपू बजाना। इसलिए उचित यही है कि वह सत्ता की शासननीति से अपने आपको न जोड़े। ''और तब उन्होंने अपने जीवन की सक्रियता को संस्कृति से जोड़कर समझाया —'' हमारे यहाँ की नीति (राजनीति) का अर्थ है शासन नीति। साहित्य जीवन की विशाल नीति से जुड़ा रहता है। उसके लिए सत्य-असत्य का, न्याय का प्रश्न अधिक महत्वपूर्ण होता है।' कहते-कहते देवी जी के कंठ में ऊर्जा आ गई। एक ऐसी ऊर्जा जो बड़े गहन आत्मविश्वास से, जीवन के प्रति पूर्ण सम्पृक्ति से पैदा होती है। मेरे सवाल उठाने पर कि आज की स्थिति में लेखक को राजनीति के कितना भीतर और कितना बाहर रखना चाहिए? उन्होंने बड़े विश्वास से उत्तर दिया कि साहित्य का घनिष्ठ संबंध वृहत्तर जीवन-नीति से ही हो सकता है, शासन-नीति के साथ नहीं। क्योंकि ''शासन-नीति की दासता का मतलब है उसकी नीति को दोहराना। और जब आप शासन-नीति को दोहराएंगे तो कंठ में बल नहीं रहता।'' मैं देख रही थी कि वे कंठ में कितना बल भर कर यह बात कह रही थीं। मैं उनका आशय कहीं गलत न समझ लूँ, इसकी गुंजाइश वे नहीं छोड़ना चाहती थीं। अतः अपनी बात को उन्होंने और खुलासा करके समझाया कि साहित्यकार राजनीति से एकदम अछूता तो रह नहीं सकता। वह सामाजिक प्राणी है और प्रजातंत्र के युग में तो एक मतदाता के नाते यूँ भी उसकी सम्पृक्ति शासन-व्यवस्था से सहज ही हो जाती है। पर वह राजनीति में अर्थात् शासन-नीति में लिप्त नहीं हो सकता क्योंकि लिप्त होने पर स्वातंत्र्य नहीं रहता। और फिर शासन-नीति का संबंध तो जीवन के बाह्य रूप से होता है, शासन-तंत्र से। शासन-तंत्र में बदलाव की संभावना हर समय बनी रहेगी तो क्या साहित्यकार शासन-तंत्र के हर बदलाव के साथ बदलेगा? साहित्य की दृष्टि तो विशेष रूप से जीवन का कल्याण करने की पद्धति को खोजती है। चर्चा शासन-तंत्र पर चल पड़ी तो मैंने पूछ डाला कि वे कौन-से शासन-तंत्र को जीवन के कल्याण की दृष्टि से श्रेयस्कर समझती हैं? उन्होंने तपाक से उत्तर दिया — ''लोकतंत्र, और दूसरा क्या होगा?'' और अब तो वैसे भी इतिहास में हम जहाँ आ गए हैं वहाँ से फिर उलटा लौटना संभव नहीं है।'' जाहिर है कि उनका इशारा सामंती या तानाशाही पर आधारित शासन-पद्धति की ओर था और मैं विश्व के इतिहास के प्रतिगामी होने की नहीं प्रगतिगामी होने की बात कर रही थी। मेरी जिज्ञासा शासन-व्यवस्था के उस रूप के बारे में थी जिसका आधार समाजवादी या साम्यवादी चिंतन-पद्धति है। इसलिए मैंने अपनी बात समझाते हुए भारत की उस समय की स्थिति के संदर्भ में अपना प्रश्न दोहरा दिया। देवी जी ने बड़े सुलझे ढंग से स्थिति का विश्लेषण किया। हमारा लोकतंत्र जो तब भी और अब भी पूरी तरह सफल नहीं हो रहा है, उसके मूल में उन्होंने प्रबुद्ध शिक्षित लोक का अभाव देखा। उनका विश्वास था कि प्रजातंत्र की

सफलता के लिए सामान्य जनता का शिक्षित होना जितना जरूरी है कि शासन-व्यवस्था जिन लोगों के हाथ में हो वे प्रबुद्ध और शिक्षित हों। साम्यवादी व्यवस्था कायम करने के लिए तो यह शिक्षा और भी जरूरी हो जाती है क्योंकि साम्यवाद बाह्य ही नहीं आंतरिक जीवन पर भी, हमारे सोचने-विचारने की दिशा पर भी बंधन लगाता है। प्रजातंत्र का रूप ही जब तक स्वस्थ और संतोषप्रद न हो वहाँ की अशिक्षित जनता और अर्द्ध-शिक्षित नेताओं के बीच साम्यवाद की कल्पना व्यर्थ है।'' उन्होंने बिना हीलेहवाले के स्पष्ट रूप से कहा कि वर्तमान स्थिति में ऐसी शासन-व्यवस्था भारत की जलवायु के कदापि अनुकूल नहीं हो सकती।

बातचीत के दौर में मुझे कुछ ऐसा लगा जैसे देवी जी शासन-तंत्रों में सांप्रदायिकता की, वादवद्धता की विरोधी हैं, और वे अभिव्यक्ति के सभी रूपों की सार्थकता को वृहत्तर जीवन के संदर्भ में आँकती हैं — राजनीति, साहित्य, धर्म, समाज आदि में खंड-खंड करके नहीं। इसलिए कुछ ऐसा है जो उन्हें अंश-अंश सब कहीं जोड़ देता है। फिर भी मैंने पूछ लिया कि ''आपके अधिकांश सहयोगी समसामयिक कवि आज के जीवित लेखन के लिए अप्रासंगिक हो गए हैं, आपके चिंतन और सृजन में ऐसा क्या है जो आपको सभी के बीच किन्ही रूपों में प्रासंगिक बनाये हुए है?'' मैंने प्रमाण प्रस्तुत किया— ''पिछले ही महीने आपने बाँदा में प्रगतिशील लेखक सम्मेलन का उद्‌घाटन किया, और अब मानस चतुश्शती समारोह के आयोजकों ने आपको सम्मानपूर्वक स्मरण किया है। इन दोनों प्रसंगों में तालमेल कैसे बैठ सकता है।'' देवी जी ने उत्तर दिया, ''प्रगतिवाद जीवन के कल्याण में विश्वास करता है। मानस चतुश्शती का आयोजन भी जीवन के कल्याण पक्ष से सम्वद्ध दृष्टि से हो रहा है। दोनों ने यह तत्व कहीं मेरे जीवन में खोज लिया होगा। विचार के धरातल पर कहीं भी मैं सांप्रदायिकता का विरोध करूँगी। परंतु तुलसी की लोक-कल्याण और समाजवाद की जन-कल्याण की भावना की संगति तो मेरे चिंतन से बैठती ही है। और फिर कुछ समाज-सेवा के कार्यों में, मेरे जीवन की क्रियाशीलता में भी इन दोनों आयोजनों के संयोजकों को कुछ मिला होगा।'' उन्होंने बात और साफ की कि उनका विरोध वैचारिक धरातल पर कट्टर सांप्रदायिकता से है, वैचारिक हठयोग से हो सकता है, समाज-सेवी जीवन की सक्रियता से तो उनकी पूरी संगति है। जहाँ तक उनके समकालीनों का प्रश्न है देवी जी ने विनोद के स्वर में कहा — ''सब को खंडित मूर्तियों की तरह ममी बनाकर सुरक्षित रख दिया है।'' यह प्रयत्न उनके संदर्भ में सफल और पूरा नहीं हो पाया है।

अगला प्रश्न मैंने उनसे उनके लेखन के बारे में किया क्योंकि इधर बहुत दिनों से परिवार के कुछ पालतू जीवों के गद्य-चित्रों के अतिरिक्त प्रकाशित रूप में कुछ विशेष काव्य देखने को नहीं मिला। उन्होंने बताया कि काव्य-रचना उन्होंने बंद नहीं की है। बहुत कुछ लिखा है पर कठिनाई व्यावहारिक है—प्रकाशन की। उनकी कविताओं की शैली अब भी वही है—चिर परिचित। इसलिए कविता के संदर्भ में अंकित चित्र प्रकाशन की दृष्टि से व्यावहारिक (आर्थिक) कठिनाई प्रस्तुत करते हैं। उन्होंने सूचना दी कि वे ऋग्वेद का अनुवाद भी कर रही थीं। लेखन की कठिनाई उन्होंने कभी किसी युग में अनुभव नहीं की। छायावाद के बाद आने वाले वादों के अनवरत क्रम ने उनके लेखन को कभी बाधित नहीं किया। मैंने समझ लिया कि अभिव्यक्ति के संकट की समस्या उनके सामने उस रूप में है ही नहीं जिस युग में नया लेखक उसे शिद्दत से झेलता रहा है। फिर बड़ी तल्लीनता से वे प्रगीत और गीत-रचना की प्रक्रिया का विश्लेषण करने लगीं। अपनी गीतरचना के लिए उन्होंने एक विशिष्ट मानसिक स्थिति की अपेक्षा पर बल दिया। वह एक अत्यंत तीव्र अनुभूति क्षण होता है जो सर्वथा अप्रत्याशित रूप से कभी भी कहीं भी उपस्थित हो सकता है। उसकी प्रतीक्षा करनी पड़ती है, पहले से योजना बनाकर उस क्षण को हस्तगत नहीं किया जा सकता। गीत की तुलना में व्यंग्य और वक्रता-प्रधान कविता अधिक पूर्व-

नियोजित होती है क्योंकि उसका लक्ष्य पहले से नियत होता है। अनुभूति-प्रधान कविता की प्रेरणा के लिए कहा नहीं जा सकता कि बिना किसी पूर्व-योजना के कौन-सी घटना कब कैसे प्रभावित कर जायगी? और तब उन्होंने अपने एक गीत की रचना-प्रक्रिया की प्रेरक घटना सुनायी।

एक बार वे विशेष तन्मयता से किसी कठिन बौद्धिक विषय का तात्त्विक विवेचन कर रही थीं। तभी खिड़की के बाहर से किसी चरवाहिन का स्वर फूटा : 'कोयलिया हो कारी, बोलन लागी।' देवी जी ने एक बार अवज्ञा कर मन समेट बटोर कर काम में लगाया। पर दूसरी बार फिर स्वर लहराया—'बयरिया हो बोरी डोलन लागी'—तो उपेक्षा असंभव हो गयी। आम्र मंजरित हो गया, कोयल बोलने लगी और अनजाने ही वह शब्दावली उनके एक गीत में छितरा गयी। गीत में बयार की जगह समीर का प्रयोग करते नहीं बना। क्योंकि उनके अनुसार विचार भाषा का संकेत ग्रहण करता है और अनुभूति में भाषा का बिंब ग्रहण होता है। बिंब से बिंब जुड़ता चलता है और इस प्रकार पूरा गीत बिंब-धर्मी भाषा में ढल जाता है। महादेवी जी ने कहा कि — 'मैं योजना बनाकर नहीं लिखती। काव्य मैं तभी लिखती हूँ जब कोई अनुभूति क्षण उपस्थित होता है, कोई घटना घटित होती है अन्यथा ऐसे क्षण की प्रतीक्षा करनी पड़ती है जब कुछ छू ले।' उन्होंने इस सृजन-प्रक्रिया को बिंब की भाषा में उतारते हुए कहा कि यह प्रक्रिया सीप में मोती बनने की प्रक्रिया की तरह होती है। मोती तब तक नहीं बनता जब तक उसमें स्वाती बूँद के रूप में सहसा बाहर का तत्व नहीं आ पड़ता। रचना की प्रक्रिया के लिए जितना यह 'विजातीय कण' अनिवार्य है उतनी ही आंतरिक अनुभूति। क्योंकि इस कण पर यह अनुभूति ही तह-तह लिपट कर उसे मोती के रूप में ढालती है। तभी कोने के दरवाजे से विजातीय कण सरीखे हरदेव संघू झाँके। वे स्वभाव से मृदु-भाषी हैं। धीरे से बुदबुदाये—"अच्छा, निर्मला जी कुछ इंटरव्यू वगैरह ले रही हैं।" और जैसे आए थे वैसे ही अंतर्धान हो गए। पर मैंने समझ लिया कि भोजन का समय हो गया है, और चर्चा के सूत्र समेटने शुरू किए।

समसामयिक साहित्य के संदर्भ में प्रतिबद्धता का प्रश्न मूल्य के रूप में इधर बहुत बुलंद है, सो मैंने इस संबंध में उनकी प्रतिक्रिया जाननी चाही। इस विषय पर उनका मत बड़ा विचारोत्तेजक लगा। उन्होंने जो कहा उसका आशय था कि सामान्यत: वे व्यापक रूप में सत्य से, न्याय से, जीवन से, साहित्यकार की प्रतिबद्धता अनिवार्य मानती हैं परंतु इधर जिस रूप में प्रतिबद्धता शब्द को साहित्य में महत्व दिया जा रहा है इसके पीछे उन्हें एक प्रकार के अपराध-बोध की प्रेरणा दिखायी पड़ती थी। उनका विचार था कि आधुनिक साहित्यकार का लगाव राजनीति और शासन-नीति से बहुत बढ़ गया है। वह निरंतर एक या दूसरी राजनीतिक विचारधारा से संबद्ध होना चाहता है। दलबंदी और गुटबंदी करता है। इसलिए अनजाने ही अपनी सफाई देते रहना चाहता है। और इस राजनीतिक लगाव को प्रतिबद्धता का रूप देकर प्रस्तुत करता है जो वास्तव में अपने आचरण के प्रति अपराध-बोध और उसका औचित्य सिद्ध करने का प्रयत्न है। आज भी उनकी इस मान्यता से सहमति उतनी ही कठिन है, जितनी मैंने उस समय महसूस की थी। पर उनके स्वप्न में अपनी मान्यता के प्रति दृढ़ आस्था और आत्मविश्वास ने मुझे बहुत गहरे प्रभावित किया था।

मानस चतुश्शती समारोह के मंच से देवी जी ने आधुनिक जीवन के संदर्भ में रामचरितमानस की सार्थकता के प्रश्न पर विचार करते हुए सार्थकता के प्रश्न की साहित्यिकता पर संदेह व्यक्त किया था। मैंने वही सवाल उठाया तो उन्होंने जो उत्तर दिया वह कुछ चौंकाने वाला था क्योंकि मैंने उनसे इतनी आधुनिकता की आशा नहीं की थी। उन्होंने कहा कि हर साहित्य अपने देश और काल की सीमा से बँधा होता है, विशेषकर उसका बाह्य सौंदर्य-बोध, किंतु उसके अंतर्जगत् में जो सामंजस्य का, कल्याण का, सत् का तत्व रहता है वह देशकालातीत है, अत: स्थायी होता है। धर्म से उपमा देकर उन्होंने स्पष्ट किया

कि अनेक विग्रह होने पर भी देवता एक ही रहते हैं और प्रकृति का उदाहरण देकर उन्होंने कहा कि बसंत पेड़ की जड़ों पर नहीं देखा जाता। नयापन पत्तों पर, पौधों पर आता है। जड़ें वैसे ही गहरी ज़मीन में धँसी रहती हैं। इसी अर्थ में शिल्प के स्तर पर साहित्य हमेशा प्रयोगात्मक होता है। रचनाकार का बाह्य सौंदर्य-बोध देश-काल के अनुरूप बदलता रहता है। नेत्रों को वह हमेशा खंजन के रूप में नहीं देख सकता। इसलिए बात पूर्व के साहित्य की हो या पश्चिम की, क्लासिक्स का कोई व्यावहारिक उपयोग नहीं होता। फिर भी यह मनुष्य का स्वभाव है कि वह अतीत की पूँजी को महत्व देता है, वह उसे सुरक्षित रखना चाहता है — चित्रों के, संग्रहालयों के रूप में। अतीत के साक्षात्कार की कामना उसमें हर समय बनी रहती है। क्योंकि अतीत का प्रत्यक्ष साक्षात्कार संभव नहीं है इसलिए वह ऐसे साधन चाहता है जिनके माध्यम से वह अपने अतीत को देख सके। इसलिए किसी भी तंत्र में अतीत की समृद्धि को, उसकी संपत्ति को खोजना आवश्यक हो जाता है। अतीत की परंपरा के अभाव का अर्थ है पाथेय का अभाव। परंतु साहित्य की प्रयोग-विधि अतीत की नहीं हो सकती। हर युग के अपने सिद्धांत होते हैं इसलिए तदनुकूल प्रयोग ही समय की परीक्षा में पूरा उतरता है।

परंपरा और प्रयोग के संबंध की जो व्याख्या उन्होंने प्रस्तुत की, वह अपनी आधुनिकता में तब भी महत्वपूर्ण थी और आज भी है। मैं देख रही थी कि जिस प्राकृतिक दृष्टांत से उन्होंने अपनी बात को स्पष्ट किया था वह उनके ठेठ छायावादी शिल्प के अनुरूप था – विचार को बिंब में रूपांतरित करके प्रस्तुत करने की शैली के। सपाटबयानी की तमाम चर्चाओं के बावजूद बिंब धर्मी शिल्प की शक्ति और प्रभाव क्षमता से इंकार करना आज भी कठिन है। परंपरा और आधुनिकता के बीच ठेठ भारतीय चरित्र का एक विशिष्ट समतोल मुझे बराबर मैथिलीशरण गुप्त और महादेवी वर्मा के व्यक्तित्व और विचारों में दिखायी पड़ता रहा है। यह प्रसंग उसकी विस्तृत व्याख्या का नहीं है।

इस भेंट के बाद मेरे और महादेवी जी के बीच स्नेह संबंध का जो सिलसिला चल निकला वह केवल अनुभव की बात है। दिल्ली वे निरंतर आती रहीं और मुझसे अपेक्षा करती रहीं कि मैं जब वे आएं उनसे ज़रूर मिलूं, गप्प लगाऊँ — शुद्ध गप्प और फिर वे मुझे गले लगाकर बिदा कर दें। उनकी एक ऐसी ही यात्रा के दौरान मैंने उनके आतिथेय श्री रामनिवास जाजू के निवास पर दूरदर्शन के लिए उनका एक वृत्तचित्र तैयार किया था, जिसका दूरदर्शन ने अनेक बार प्रसारण किया।

जब भी मैंने कभी पहुँचने में देर की उन्होंने उलाहना दिया। वे इलाहाबाद में अस्वस्थ थीं। लागों को मिलने की प्रायः मनाही थी। मेरा जाना हुआ। मेरे मित्र प्रोफ़ेसर रामस्वरूप चतुर्वेदी ने संकोचपूर्वक फोन किया और उन्होंने तत्काल बुलावा भेज दिया। इलाहाबाद विश्वविद्यालय के तत्कालीन उप-कुलपति प्रो० उदितनारायण भी हमारे साथ हो लिए। उन्होंने आग्रहपूर्वक चाय पिलायी। बात ऐसे करती रहीं जिससे अस्वस्थता की अपेक्षा स्वस्थता का बोध ही अधिक होता था। जीवन के प्रति गहरा लगाव, अडिग आत्मविश्वास, रोग-शोक को चुनौतीपूर्वक झेलने की अद्भुत सामर्थ्य उनमें देखी मैंने। मैं जानती थी कि इस सब की कुंजी उस आत्मसम्मान की भावना में है जिससे उन्होंने १३ वर्ष की अल्प-आयु से ही, असाधारण जीवन-पद्धति का वरण कर, स्त्री को मुक्त किंतु सम्मानपूर्वक जीने का मार्ग दिखाया था। पुरुष सत्ता समाज में वह भी रूढ़ भारतीय समाज में, ऐसी नज़ीरें बहुत नहीं मिलेंगी। शायद यही एक अतिरिक्त कारण है, जो मुझे कहीं न कहीं उनके प्रति गहरे अपनेपन की अनुभूति से आज भी भर देता है। □

भारतीय कवयित्री परंपरा में महादेवी वर्मा

डॉ. प्रभाकर माचवे

प्राचीन हिंदी साहित्य काव्य अधिकांश गेय है। तुलसी का इष्ट के प्रति आत्म-निवेदन गेय है, कबीर का बुद्धिगम्य तत्वनिदर्शन संगीत की मधुरता में बसा हुआ है, सूर के कृष्ण-जीवन का निखरा इतिहास भी गीतिमय है और मीरा की व्यथासिक्त पदावलि तो सारे गीति-जगत् की सम्राज्ञी ही कही जाने योग्य है। महादेवी जी ने लिखा था :

"सुख-दुख की भावावेशमयी अवस्था विशेष का गिने चुने शब्दों में स्वरसाधना के उपयुक्त चित्रण कर देना ही गीत है। इसमें कवि को संयम की परिधि में बँधे हुए जिस भावातिरेक की आवश्यकता होती है वह सहज प्राप्य नहीं।...

"मेरे गीत मेरे आत्मनिवेदन मात्र हैं – उनके विषय में कुछ कह सकना मेरे लिए संभव नहीं। इन्हें मैं अपनी अकिंचन भेंट के अतिरिक्त कुछ नहीं मानती।" ('यामा' में 'अपनी बात से', १० अगस्त १९३६)

संस्कृत

भारतीय वाङ्मय में संस्कृत और तमिल की प्राचीन गीत-काव्य परंपरा में अनेक कवयित्रियों का योगदान अपूर्व है। संस्कृत में विश्ववारा, अपाला, घोषा, गोथा, लोपामुद्रा, शाश्वती और रोमशा वैदिक काल की कवयित्रियाँ थीं। अभृण ऋषि की पत्नी वाच की ऋचाएँ ऋग्वेद के दशम मंडल में है। वे ही बाद में शाक्तों के देवी-सूक्त बने। वाच कहती हैं : "जिसे मैं प्रेम करती हूँ उसी को शक्तिमान बना देती हूँ।" विश्ववारा का अग्निस्रोत और अपाला का इंद्रस्रोत नारी के मुक्त प्रणय-निवेदन का प्राचीन लेखा है। घोषा कहती है —

वर्षा के साथ साथ ये लताएँ
फैल रही हैं उसी के लिए
ढलानों से ये झरने भी
झर रहे हैं उसी के लिए

राजशेखर ने ईसा की नवीं शती में 'काव्य-मीमांसा' में लिखा था – "स्त्रियाँ भी उत्तम काव्यकार हो सकती हैं। राज-पुत्रियाँ, मंत्री पुत्रियाँ, भद्रवर्ग की महिलाएँ, नर्तिकाएँ भी ऐसी पाई जाती हैं जिन्हें विपुल शास्त्रज्ञान है और जिनमें काव्य-प्रतिमा भी है।" आठवीं शती की विज्जिका ने महाकवि दंडी को सरस्वती विषयक एक उक्ति के लिए दोषी ठहराया है —

नीलोत्पलदल श्यामां विज्जिकां माम जानता
वृथैव दण्डिना प्रोक्तं सर्व शुक्ला सरस्वती — (अर्थांतर)

शीला भट्टारिका की रचना की तुलना बाण के साथ की गई। उसकी रचनाएँ 'काव्यप्रकाश', कवींद्रवचनसमुच्चय', 'अलंकार सर्वस्व' और 'शारंगधर-पद्धति' में उद्धत हैं। धनददेव ने एक श्लोक में कहा है—

'शीला-विज्जा-मोरुला-मोरिकादय :
काव्यं कर्तुय् सन्ति विद्या स्त्रियोऽपि

प्राकृत 'गाथा सप्तशती' में अनुलक्ष्मी, अशुलद्धी, माधवी, प्रहता, रेवा, रोहा, शशिप्रभा और बुद्धवही नामक कवयित्रियों की गाथाएँ हैं। यह सातवीं शती का ग्रंथ है। उससे पूर्व बौद्ध 'शरीगाथा' में अनेक काव्यमयी गाथाएँ हैं। राजशेखर की पत्नी अवन्तिसुन्दरी के तीन प्राकृत छंद हेमचंद्र सूरि ने 'देशीनाम माला' में दिये हैं। जो ग्यारहवीं शती की रचना है। तेरहवीं शती के जल्हण की 'सूक्ति-मुक्तावली' में शीला भट्टारिका, विकटनितम्बा, विज्जिका, कर्नाटक की विजयीका, लाटदेश की प्रभुदेवी और सुभद्रा के उल्लेख हैं। १२०६ ईस्वी में बंगाल के श्रीधरदेव रचित 'सदूक्ति कर्णामृत' में त्रिभुवन सरस्वती रचित दो श्लोक हैं। महादेवी (भावक देवी) नामक एक कवयित्री का उल्लेख 'कवींद्र-वचन-समुच्चय' में है। अन्य कई कवयित्रियाँ संस्कृत में मिलती हैं, जैसे कनकवल्ली, सुनंदा, ललितांगी, मधुरांगी, विमलांगी आदि। अंतिम तीनों मालव देश की थीं। जैन साहित्य में भी आर्या चंदना, जयन्ती, स्थूलभद्रा, यक्षा, गुणसाध्वी आदि अनेक विदुषियाँ हैं। परंतु उनकी काव्य-रचना उपलब्ध नहीं।

तमिल

तमिल साहित्य में तीन कवयित्रियों का विशेष उल्लेख मिलता है। संघम् काल की प्रथम अत्वैयार। आठवीं सदी की आडाल जो बारह आलवारों में से एक और दक्षिण की मीरा कहलाती हैं। बारहवीं शती की कंबर की समकालीन दूसरी अव्वैयार।

विष्णुचित्त नामक वैष्णव भक्त को तुलसीबन में एक लड़की मिली जिसका नाम उसने 'कोदै' (पुष्पहार की तरह कमनीय) रखा। वह कृष्ण की ऐसी भक्तिन बनी कि उसने अन्य किसी वर से विवाह करना अस्वीकार किया। इस लड़की का काम था फूल चुन-चुनकर हार बनाकर कृष्ण को पहनाना। पर यह पहले वह हार स्वयं पहनकर आइने में देखती। वह पकड़ी गई। रंगनाथ (कृष्ण भगवान) ने स्वप्न में विष्णुचित्त से कहा — "मुझे आंडाल न गले में पहना हुआ हार ही प्रिय है।" आंडाल की भक्ति-कविता में प्रेम और करुणा का अद्भुत संगम है। 'तिरुप्पावै' और 'नच्चियार तिरुयोकी' उसकी दो काव्य-रचनाएँ हैं। कृष्ण की प्रिया 'नघिणै' (राधा) को जगाने के कई गीत हैं। एक गीत में भक्त नारियाँ पूजा के लिए मंदिर द्वार में खड़ी हैं, पर 'नघिणै' कृष्ण के पास सोई है, उसे उपालम्भ है :

मैत्तडं कण्णिलाम्। नी उन् मणाल वै
ऐत्तनै पॉदुम् तुयिललै वॉट्टाय काण
ऐत्तनै एलुम् पिरिवाद्र किललायाल्
तत्तुवमन्‌रू तकर्वलो रॅम्पवाय्

(हे नघिणै तू अपने प्रियतम् को कितनी देर तक अपनी मायानिद्रा में कब तक अटकाये रखने वाली है? तुझे क्षणभर भी विरह सहन नहीं होता है? क्या यह योग्य है?

पहली अव्वैयार का निश्चित समय मालूम नहीं परंतु वह पहली या दूसरी शताब्दी ईस्वी की रही होगी। उसे तमिलनाड के लोग सरस्वती का अवतार मानते हैं। माँ-बाप की इकलौती संतान बचपन से ही घर छोड़कर एक गायक दंपत्ती के साथ चली गई। वह आजन्म कुमारी रही। अधिकमान नैदुमान

अंजी के दरबार में वह राजा की स्तुति में कविता लिखने लगी। उसे राजा ने कांची की राजदूत बनाकर भेजा। उसने कई पद्य अंजी राजा के पुत्र की शिक्षा के लिए रचे। 'पुरनानूरू' में ये पद्य हैं। उदाहरणार्थ 'दुनिया में मधुर क्या है?' प्रश्न का उत्तर अव्वैयार देती है — ''एकांत मधुर है। उससे भी मधुर कादंबरी। उससे भी मधुर ज्ञानी पुरुष का सहवास। परंतु मधुरतम है ज्ञान-साधना में अपने आपको निमग्न रखना।'' महादेवी वर्मा की पंक्ति है — ''पंथ रहने दो अपरिचित, प्राण रहने दो अकेला।''

दूसरी अव्वैयार के चार काव्यग्रंथ मिलते हैं — 'अतिशौडि', 'कौनरैवैन्दम्', 'पूद्दरै' और 'नलवकि'। उसकी रचना में व्यंग भी मिलता है, जैसे ये दो पद देखिये — (१) एक विलक्षण वृक्ष देखना चाहते हो? तब जंगल की ओर मत जाओ, किसी कवि-सम्मेलन में जाओ। वहाँ एक आदमी नज़र आयेगा — अच्छे घराने का, देखने में सुंदन, बढ़िया पहनावे का, लेकिन निरक्षर। ताड़ के पत्ते पर कुछ लिखकर उसे दो, वह ताड़ के पेड़ की तरह स्तंभित रहेगा। वह देखने लायक वृक्ष है।''

(२) ''सबसे बुरी चीज़ कौन सी है? गरीबी बुरी है। युवावस्था में गरीबी और भी बुरी है। उससे असाध्य रोग और भी बुरा। प्रेमहीन पत्नी उससे भी बुरी। और उसके हाथ का भोजन ग्रहण करने पर विवश होना पड़े, यह सबसे बुरी बात है।''

तमिल की इस कवयित्री परंपरा में आधुनिक काल में कोई बड़ी कवयित्री नहीं मिलती। लेखिकाएँ अनेक हैं, परंतु कवयित्री सुब्रह्मण्य भारती या कण्णदासन् की कोटि की कोई नहीं। हिंदी उस तुलना में अधिक सौभाग्यशालिनी है।

कन्नड़

सन् ११०० के करीब कंते या कांतिका हुई, जिसका कवि नागचंद्र से वादविवाद हुआ था। बारहवीं सदी की अक्क महादेवी और महादेवियक्का दो वीरशैवपंथ की प्रसिद्ध कवयित्रियाँ हुईं। बिज्जल और नीलम्मा के भी कुछ पद मिलते हैं। वैष्णव कवयित्रियों में 'शृंगारम्मा', 'चेलुवांबा' आदि नीतिपरक रचनाएँ लिखनेवालों में होन्नम्मा प्रसिद्ध हैं। होन्नम्मा ने लिखा कि ''पुत्र और पुत्री में क्या अंतर है? दोनों की एक सी बुद्धि है।''

महादेवियक्का (११५० ईस्वी) ने चैनमल्लिकार्जुन शिव को ही अपना स्वामी माना। वे लिखती हैं— ''जल के मंडप पर आग की छत लगाकर पत्थर के मंगल आसन पर पदहीन पत्नी को शिरहीन पति को वर लिया।'' मीरा की 'शूली ऊपर सेज पियाकी' से तुल्य है।

अक्कमहादेवी (११६० ईस्वी) वीरशैव भक्त-कवयित्री थी। उसने भी आंडाल और मीरा की तरह अपना आराध्य ईश्वर से माना : ''माँ, मेरा प्रियतम अरूप रहकर भी रूपवान है। वह मृत्यु से परे है। वह अवकाश, व्यवधान और चिह्न-रहित है। वह अभय, अकूल, असीम है। अन्य मरणधर्मी पति गड्ढे में जायें। (वचनशास्त्रसार)। 'वह कहती हैं :

नानु निनगोलिंद, एनीनु नगोलिदे
नीनेत्तगलदिप्पै नानित्तन गलदिप्पै नय्या
निन ननगे बेरींदु ठावुंटे
(मैं तुझ पर मुग्ध हूँ, तू मुझ पर/मैं तुझसे अवियुक्त हूँ, तू मुझसे/तेरे सिवाय मेरा कौन-सा आधार है?)

महादेवी वर्मा की पंक्तियाँ हैं—

''मैं तुझमें प्रिय, तुम मुझमें प्रिय,
प्रेयसि-प्रियतम् का अभिनय क्या?''

तेलुगु

लोकगीतों में स्त्रीगीत बहुत पुराने मिलते हैं। पर तेरहवीं-चौदहवीं शती तक आंध्र में महाकवि तिक्कन्ना के चचेरे भाई की पत्नी चानम्मा और प्रोलम्मा सबसे पहले कवयित्री मानी जाती हैं। उन्नीसवीं शती तक पच्चीस कवयित्रियाँ मिलती हैं जिनकी रचनाएँ परंपराबद्ध हैं और काव्य रूढ़ियों से भरी हैं। रामायण, भागवत, महाभारत के प्रसंगों के आख्यानों पर प्रबंध काव्य लिखे गये। मोल्ला नामक कुम्हारिन की रामायण बहुत लोकप्रिय हुई। पाकतिम्मक्का, तिरुमलांबा, रामभद्रांबा, मधुरवाणी, रंगाजम्मा, मुद्दुपकनि आदि कवयित्रियों ने संस्कृत और तेलुगु में श्रेष्ठ पौराणिक विषयों पर छन्दो-रचना की थी।

श्रीमती कोटिकलपूडि सीतम्माने १९१३ में आंध्र महासभा की अध्यक्षता की और पत्र-पत्रिकाओं में स्त्रियाँ कविताएँ लिखने लगीं। अहिल्याबाई, मीराबाई जैसे ऐतिहासिक विषयों पर और समाज-सुधार पर रचनाएँ अच्चमांबा, सूरमांबा, शेषमांबा, रामायम्मा, सुभद्रांबा आदि ने लिखीं। वीरों का गुणगान, राष्ट्रीय स्वतंत्रता संग्राम की गाथाएँ उनके विषय थे। जैसे हिंदी में सुभद्राकुमारी चौहान आदि ने कविताएँ लिखीं। कवयित्रीयुग्म मिलकर रचनाओं की, आंध्र की विशेषता, गिडगु लक्ष्मीकांतम्मा तथा जोन्नलगड्डा शारदादेवी आदि में मिलती है। केसरी ने पत्रिका 'गृहलक्ष्मी' की स्थापना कर प्रतिवर्ष श्रेष्ठ लेखिका को 'स्वर्ण कंकण' देने की प्रथा चलाई। स्थानापति रुक्मिणांबा ने तेलुगु में 'भावकविता' (छायावाद) का आरंभ कविता में किया। पुट्टपूर्ति कनकाम्मा के 'यशोधरा' 'दुखित सीता', 'कस्तूरबा' आदि काव्य मिलते हैं। महादेवी जी की तरह व्यक्तिगत भाव-विचार की मुक्तक रचनाएँ विश्वसुंदरम्मा, सौदामिनी, चावलि बंगारम्मा आदि ने रची। 'अभ्युदयवादी' (प्रगतिवादी) रचनाएँ स्त्रियों की बहुत कम हैं।

मलयालम

यद्यपि मलयालम भाषा का साहित्य बहुत प्रगतिशील है फिर भी प्राचीन या मध्ययुगीन काल में केरल में बड़ी कवयित्री नहीं हुई। अट्ठारहवीं शताब्दी में स्वाति तिरुनाल महाराज की संगिनी उमादेवी तुंपुराट्टी ने नृत्य-नाट्य लिखे। चित्रकार राजा रविवर्मा की माँ अंबादेवी तंपुराट्टी (१८३२-१८८७) ने 'पार्वती स्वयंवरम् तुल्लल' की रचना की। कुट्टि कुंजुतंकच्ची (१८२०-१८९८) ने कई कथकली ग्रंथ और खंडकाव्य पौराणिक तथा सामाजिक विषयों पर लिखे। इक्कावम्मा (१८६४-१९१६) का 'आर्या शतक' मुक्तक है। 'सुभद्रार्जुनम्' आदि नाटकों में भी पद्यरचना उनकी प्रसिद्ध हुई। बी-कल्याणि अम्मा ने मलयालम के अतिरिक्त हिंदी में भी 'घर में और बाहर', 'कर्मफल' आदि रचनाएँ लिखीं। आधुनिक काल में सुविख्यात अंग्रेजी कवयित्री कमला दास (माधवी कुट्टी) की माँ बालामणि अम्मा गाँधीवाद से प्रभावित, साहित्य अकादेमी पुरस्कार विजेता, रहस्यवादी श्रेष्ठ कवयित्री थीं। उनकी गीत रचना की महादेवी वर्मा की रचनाओं से तुलना की जा सकती है। उनकी 'अम्मा', 'कुटुंबिनी', 'स्त्री हृदय' 'भावनयिल', 'प्रेरांकुरम्' प्रसिद्ध काव्य-कृतियाँ हैं। १९०४ में जनमी, मूत्तूकुलम् पार्वती अम्मा ने 'लाइट आफ एशिया' (एडविन आरनाल्ड) का जो अनुवाद कुमारन आशान ने अपूर्ण छोड़ा था, उसे पूरा किया। अन्य कवयित्रियों में मेरी जोण तोट्टम् ('जी' की 'ओट्टकुषल' की हिंदी अनुवादिका) सुगतकुमारी (श्रीमती इंदिरा गांधी की शहादत के बाद सशक्त कविता रचनेवाली साहित्य अकादेमी पुरस्कार विजेता), ललितांनिका अंतर्जनम्, सरला राम वर्मा आदि अनेक कवयित्रियाँ इस भाषा में सक्रिय हैं। परंतु महादेवी वर्मा की तुलना में गीत-रचना और उत्तम गद्य समान अधिकार से लिखने वाली कोई लेखिका नहीं हुई। ऐसा दोनों भाषाओं के ज्ञाता विद्वानों का मत है।

मराठी

मराठी भाषा की महानुभाव पंथ की आद्य कवयित्री महदाहसा या महदंबा आज से सात सौ वर्ष पूर्व 'धवले' नामक छंद की निर्मात्री मानी जाती है। उनका एक हिंदी पद प्रो. विनयमोहन शर्मा ने 'मराठी : हिंदी को देन' में दिया है —

नगर द्वार हों भिच्छा कटि हो
बापुरे मेरी अवस्था लो।
जिहाँ जाओ तहाँ आप सरीखा
कोऊ न करी मोरी चिंता हो।

ज्ञानेश्वरी की छोटी बहन मुक्ताबाई, एक नाथ के घर की महरी जनाबाई के 'अभंग' और पद बहुत सरल परंतु गहरे आध्यात्मिक अर्थ से भरे हुए हैं। बारकरी संप्रदाय की तुकाराम की शिष्या बहणाबाई, स्वामी रामदास की शिष्या वेणाबाई, कान्होपात्रा आदि का स्थान मराठी मध्ययुगीन भक्ति साहित्य में मीरा की तरह है।

आधुनिक काल में ईसाई कवि रेवरंड तिलक की पत्नी लक्ष्मीबाई, बहिणाबाई चौधरी, मनोरमा रानडे, संजीवनी मराठे, पद्मा, इंदिरा संत, शांता आदि कवयित्रियों ने प्रेम, प्रकृति, परिवार और देश को अपनी रचनाओं का विषय बनाया। परंतु केवल गीत-विधा को अपनाकर महादेवी जैसी गहराई और कोमल संवेदना किसी एक कवयित्री ने अपनी रचना में उपलब्ध नहीं की। इंदिरा संत की रचनाएँ अपनी सुकुमारता में महादेवी जी के भाव-विश्व के अत्यंत निकट आती हैं। उनकी पंक्तियाँ हैं :

''अपने अस्तित्व को अगुरू की तरह जलाकर
तुम्हारे आसपास फैलती हूँ गंध बनकर''

या – ''तिल तिल गलती रही मैं/ गल गए तलुए, क्षीण हुए चरण/ गल गये पाँव भी/वैसी ही खड़ी रही रेतकणों पर बावरी''। उनमें भी एकाकीपन, वेदना और अतृप्ति की कई परतें मिलती हैं। मराठी में पति-पत्नी के संयुक्त कविता संग्रह भी प्रकाशित हुए हैं। परवर्ती कवयित्रियों में अनुराधा पोतदार आधुनिक भावबोध से युक्त हैं।

गुजराती

गुजराती साहित्य में भी प्राचीन काल में बहुत कम कवयित्रियाँ मिलती हैं। प्रेम दीवानी मीरा, जिनकी रचना पश्चिमी राजस्थानी में है, गुजराती साहित्य में सबसे बड़ी भक्तिन कवयित्री मानी जाती है। अन्य कोई महिला रचनाकार, जो विशिष्ट हो, मध्ययुग में मिलती ही नहीं।

आधुनिक काल में गांधीवाद से प्रभावित कवयित्रियों में ताराबेन मोडक, कुमारी मेरी सैम्युएल, दीपकबा देसाई, वनमाला पारेख, धी रूबेन पटेल, ज्योत्स्ना शुक्ल, गीता पारीक, कुंदनिका कापडिया आदि कई कवयित्रियों ने स्फुट कविता, भाव-कविताएँ रची हैं। परंतु इस भाषा में कोई महादेवी वर्मा की तरह श्रेष्ठ संत-परंपरा और आधुनिकता बोध को जोड़ने वाली एक बड़ी रचनाकार नहीं पाई जाती है। वैसे छिटपुट रास के गीत, या गरबी लिखने वाली कुछ गायिकाएँ भी हैं। राष्ट्रीय आंदोलन से प्रेरित भी कुछ कविताएँ मिलती हैं।

बांग्ला

बांग्ला के मध्ययुगीन गीतिकाव्य में कवयित्रियाँ कोई भी नहीं मिलती हैं। अट्ठारहवीं-उन्नीसवीं शती के पुनर्जागरण काल में, ईश्वर गुप्त संपादित 'प्रभाकर' पत्रिका में जिन कवयित्रियों की रचनाएँ प्रकाशित हुईं उनमें ठाकुरानी दासी, जोगमाया देवी, राधारानी लाहिड़ी, नीरोदा मित्र, रमासुंदरी घोष,

लक्ष्मीमणि, प्रभा बसु आदि हैं। उन्नीसवीं शती के उत्तरार्द्ध की ये रचनाकार महिलाएँ थीं। कई तो अपना नाम गुप्त रखती थीं, और कविता के ऊपर लेखिका के नाते — 'बारासात की कोई भद्र कुलबाला', 'ढाका की कोई रमणी' ऐसे नाम देते थे। फिर बीसवीं सदी के आरंभ में स्वर्णकुमारी देवी, प्रसन्नमयी देवी, कामिनी राय, विराज मोहिनी दासी, लज्जावती बसु आदि अधिक प्रसिद्ध हैं। स्वर्णकुमारी ने (१८५५-१९३२) १८७९ में 'वसंत उत्सव' गीतिनाट्य लिखा, १८९५ में 'कविता और मान' संग्रह। आपको कलकत्ता विश्वविद्यालय का 'जगत्तारिणी स्वर्ण पदक' सम्मान मिला। प्रसन्नमयी देवी का काव्यसंग्रह था 'नीहारिका' (१८८४)। छद्म नाम से गिरींद्र मोहिनी देवी ने 'कवितार हार' लिखा, जिसकी प्रशंसा दीनबंधु मित्र ने की, और मेरी कारपेंटर ने उससे मिलने की इच्छा व्यक्त की। उन्हीं के 'अश्रुकण' से ये पंक्तियाँ थीं :

एइ शोकाश्रु – हृदयेर उन्मत्त आवाहन,
एइ शोकाश्रु – जीवनेर जन्मात्त आलिंगन।''

गिरींद्र मोहिनी ने 'संन्यासिनी मीरांबाई' (ऐतिहासिक नाट्य काव्य) लिखा। कामिनी राय (१८६४-१९३३) ने 'आलो छाया' (१८८९), निर्माल्य', 'धूप ओ दीप', 'गुंजन' आपके प्रसिद्ध कविता और गीत संग्रह हैं, 'जीवनेर पथें' सानेट संग्रह है। इस कवयित्री के जीवन में दुख ही दुख था, पति, पुत्र-पुत्री सबकी मृत्यु हुई, दुर्घटना में, रोग से। इनका स्वर महादेवी जी की कविता के निकटतम है। वे लिखती हैं :

पतित मानवदेर नाहि कि गो ए संसारे
　　एकटि व्यथित प्राण दुई अश्रुधार
पथे पड़े असहाय पदे तारे दले जाय
　　दुखानि स्नेहेर कर नाही बाढ़बार?

मानकुमारी बसु (१८६३-१९४३) का 'साधेर मरण' भी बहुप्रशंसित हुआ। बाद में राधारानी देवी ने 'अपराजिता देवी' छद्मनाम से चार कविता-संग्रह लिखे, 'बुकेर बीना', 'आंगनेर फूल', 'विचित्र रूपिणी' आदि। बानी राय ने 'जूपीटर' लिखा। नवनीता देवी, कविता सिंह, केतकी, स्नेहलता चट्टोपाध्याय आदि परवर्ती कवयित्रियाँ हैं। रवींद्रनाथ के बाद फ्रांसीसी कविता का प्रभाव बांग्ला पर बहुत पड़ा है।

उड़िया

ओड़िया साहित्य के आदि युग (११वीं से १६वीं शती) में रानी निश्शंक राय और सुलक्षण देवी की रचनाएँ मिलती हैं। माधवी दासी ने ब्रजभाषा और बांग्ला में भी रचना की। ये सब चैतन्य संप्रदाय की वैष्णव विचारधारा से प्रभावित कवयित्रियाँ थीं। १७वीं सदी में वृंदावती दासी ने भी 'समस्ते कृष्णपादे भक्ति' भावना से गीति-रचना की। सरलादेवी ने लिखा कि ''मीराबाई की रचनाओं में रागात्मक तत्व हैं, जबकि वृंदावन दासी की रचनाओं में दास्य-भक्ति अधिक है।''

आधुनिक काल में कुंतलकुमारी साबत (ये बाद में ईसाई से हिंदू हो गई और दिल्ली में डाक्टरी करती थीं, मैंने उनके दर्शन १९३८ में किये थे) के चार कविता-संग्रह हैं, एक गीति-नाट्य और एक उपन्यास है। इनकी कविता में अध्यात्म और देशभक्ति की पुट है। 'माँ' कविता में लिखती हैं —

माँ परा, आमर ज्ञान-विज्ञानर आधा लीला-भूमि
पवित्र ओंकार झंकारि उठिला जोहिं नभ चूमी

... आजि हेरि तार हीन अधोगति
छाती की तुमर नुहेंई करति?

सरला देवी, विद्युत्प्रभा देवी, अपर्णा देवी ('कवि-कल्पलता' की रचयित्री), मनोरमा महापात्र के बाद तुलसी दास, ब्रह्मोत्री महांती, सुजाता प्रियवंदा, प्रतिभा शतपथी आज सक्रिय रचनाकार महिलाएँ हैं। परंतु महादेवी वर्मा की तुलना में कोई एक श्रेष्ठ रचनाकार काव्य के क्षेत्र में, नहीं है।

पंजाबी

पंजाबी भाषा में मध्ययुगीन काव्य-रचनाकारों में कोई महिला नहीं है। लोकगीतों को रचनेवाली अवश्य कोई कोमल हृदयवाली महिलाएँ रही होंगी तभी त्रिंजन, गिद्धा, माहिया आदि में नारी जीवन की वेदना के सजीव चित्र मिलते हैं। पंजाबी कवयित्रियों की कोई परंपरा न होने से बीसवीं सदी में तीसरे दशक में ज्ञानी करतारसिंह 'पीयूष' नाम के ग्रंथी की बेटी अमृत कौर ने जो अब अमृता प्रीतम के नाम से मशहूर हैं, १९३५ से कविताएँ प्रकाशित करना आरंभ किया। तब उनकी उम्र १६ वर्ष की थी। बाद में उनके संग्रह १९३९ में 'ठंडिया किरना', 'अमृत लहरां', 'जीवंदा जीवन' १९४१ में 'गोल धोते फल्ल', १९४३ में 'बछलां', 'संझ दी लाली', १९४४ में 'लोकपीड' १९४९ में 'लम्मियां वाट्टां' १९५१ में 'मैं तवारीख हां हिंद दी' १९५५ में 'सुने हुड़े' (संदे से' – साहित्य अकादमी पुरस्कृत); 'अशोकाचित्री' आदि अनेक संग्रह अब तक छपे, और (महादेवी से पहले) भारतीय ज्ञानपीठ पुरस्कार भी उन्हें मिला। अब वे राज्यसभा की सदस्या (नामित) हैं। उनकी रचनाओं में महादेवी वर्मा जैसी दर्द की तस्वीर मिलती है। उनकी १९४७ में लिखी गई 'अज अक्खां वारिस शाह नूं', एक ऐतिहासिक महत्व की रचना हो गयी है। वे लिखती हैं :

नैणां दे नीले सागरों आडं दिचां
हंजु सिप्पियां वग्ग बग्ग के
गीतां दे मोती आडदे हंजुआ दे गल लग्ग लग्ग के

महादेवी के कई गीतों में अश्रुकण के उल्लेख हैं – ''मेरे हँसते अधर नहीं जग की आँसू-कड़ियां देखो''। प्रभजोत कौर पंजाबी की दूसरी प्रसिद्ध कवयित्री हैं।

बलजीत कौर तुलसी ने रहस्य और अध्यात्म से भरे 'नीलकंठ', 'नीलांबार', 'नीलकंवल' कविता-संग्रह प्रकाशित किये हैं। हरनाम कौर और अमर कौर की १९३८ में छपी रूबाइयों और छोटी कविताओं में भी रहस्यवादी पुट है। जसवंत कौर अहलूवालिया के 'रेतथल' में शुद्ध गीत हैं। झूमर, टप्पे, बोलियाँ, गिद्धा उनके आधार हैं। परवर्ती कवयित्रियों में राजबेदी, जसबीर कौर, हरींदर कौर, दिलीप कौर टिवाणा, मनजीत टिवाणा, सुपनफला आदि अनेक रचनाकार महिलाएँ सक्रिय हैं। महादेवी से तुलना अमृता प्रीतम की ही की जा सकती है।

उर्दू

लुत्फुन्निसा बेगम 'इम्तियाज' उर्दू की प्रथम कवयित्री मानी जाती है। वह दक्खिनी कवयित्री थी। उसका काव्य-संग्रह हैदराबाद के सालारगंज संग्रहालय में है। वह युवावस्था में विधवा हो गयी थी। उसकी कविता पर सूफी काव्य का प्रभाव बहुत है। उसका एक शेर था –

मेरे जिगर में अहो नालो की क्या कमी
फिर जुस्तजू में उसके ख्यालों की क्या कमी?

उसी जमाने की 'चंदा' दूसरी कवयित्री थी। दोनों सत्रहवीं शती की थीं। अट्ठारहवीं सदी में दिल्ली, लखनऊ और हैदराबाद में बेगम समरू, बेगम मख्फ़ी, शोख, बिस्मिल्ला बेगम, हया, जाफरी बेगम और जानी मुख्य हैं।

मख़्फ़ी – अब ख्वाब ही में वच्स्ल तेरा होवे तो होवे
जाहिर में तो मिलने की हमें आस नहीं है

हया – जहां के बाग़ में हम भी बहार रखते हैं
मिसाले लाला के दिल दाग़दार रखते हैं

शाहज़ादी अख़्तर – तक़सीर यार की न कुसुरे अदू है कुछ
'अख़्तर' हमारे दिल ही ने हमको जला दिया

मेजर आर जस्टिन की अंग्रेज पत्नी जमीअत का एक शेर है —

खुदा के रूबरू जाना नदामत मुझको भारी है
कोई नेकी न बन आई इसी की शर्मसारी है

और भी कई कवयित्रियाँ बीसवीं सदी में हुई, पर उर्दू में महादेवी की कोटि की कोई गीत-रचनाकार महिला नहीं है।

हिंदी

हिंदी की मध्ययुगीन काव्यधारा में सबसे प्रमुख हैं मीराबाई, जिनका रंग दूसरा है। महादेवी जी का दूसरा। भक्तिकाल की अन्य कवयित्रियों में दयाबाई, सहजोबाई, (पंजाब की) सेख, साई, जुगलप्रिया थीं। तोरनदेवी शुक्ल 'लली', रामकुमारी देवी चौहान, रामेश्वरी चकोरी आदि महादेवी जी के पहले खड़ीबोली में लिखती रही, परंतु उनकी रचनाओं में वे गुण नहीं मिलते जो महादेवी में हैं। होमवती देवी के 'निसर्ग' संग्रह में भी वेदना की व्यावृति है, परंतु इस प्रकार से है—

चिते ! अनल क्यों उगल रही हो?
करो दया, हैं ये सुकुमार,
लज्जा तनिक धरो हे निठुरे
करो न हा ! यों प्रबल प्रहार
अतिकोमल कमनीय कलेवर
इन्हें न पीड़ा पहुँचाओ
सोते रहे सुमन शैया पर
अरे इन्हें मत झुलसाओ

महादेवी जी की समकालीन कवयित्रियों में रामेश्वरी गोयल, सुभद्राकुमारी चौहान, विद्यावती कोकिल, तारा पांडेय, सूर्य देवी दीक्षित 'उषा' और परवर्ती रचनाकारों में सुमित्राकुमारी सिन्हा, शकुंतला खरे व रत्नकुमारी देवी, राजराजेश्वरी 'नलिनी' आदि की रचनाएँ 'हिंदी काव्य की कोकिलाएँ' (संपादक : ज्योतिप्रसाद 'निर्मल') में हैं। परंतु महादेवी की रचनाओं की ऊँचाई तक कोई भी नहीं पहुँचती।

महादेवी वर्मा की रचना की उपलब्धियाँ हैं, संस्कृत काव्य के श्रेष्ठतम अंशों का अनुवाद; युगानुकूल प्रसंगों पर 'वंग दर्शन' और 'हिमालय' जैसे संकलनों का संपादन', पांच गीत-संग्रहों - नीहार (१९३०), रश्मि (१९३२), नीरजा (१९३४), सांध्यगीत (१९३६), दीपशिखा (१९४०) का संयुक्त संग्रह 'यामा', अपनी ज़मीन और शैली से भिन्न रचनाएँ न करने का दृढ़ निश्चय', कवि सम्मेलनों की सस्ती यशोलिप्सा से दूर रहना; कविता से अर्थार्जन न करना और छायावाद और

रहस्यवाद के सर्वश्रेष्ठ अवदान का सार अपनी रचनाओं में प्रस्तुत करना।

उनके निधन के एक दिन पूर्व ही आकाशवाणी की विदेश प्रसारण सेवा में मैंने एक भाषण प्रसारित किया था – जिसके कुछ अंश यहाँ दे रहा हूँ : ''महादेवी जी की कविता में करुणरस की अंतर्धारा सबसे प्रधान स्वर है। यह वेदना उन्होंने बौद्ध दर्शन के अध्ययन से ग्रहण की। वे लिखती हैं – ''मुझे दुख के दोनों रूप प्रिय है : एक वह, जो मनुष्य के संवेदनशील हृदय को सारे संसार से एक अविच्छिन्न बंधन में बाँध देता है; और दूसरा वह, जो काल और सीमा के बंधन में पड़े हुए असीम चेतन का स्पंदन है।''

कई जगह रवींद्रनाथ की पंक्तियाँ याद आती हैं —

आमार ए देहरवानि तू ले धरो
तोमार ए देवालमेर प्रदीप कोरे।

''महादेवी ने लिखा – ''यह मंदिर का दीप इसे नीरव जलने दो।''

डॉ. रामविलास शर्मा ने महादेवी अभिनंदन ग्रंथ में लिखा था – पंत, प्रसाद, निराला के साथ उन्होंने हिंदी काव्य में जातीय भाषा खड़ीबोली हिंदी को प्रतिष्ठित किया, इस प्रकार से राष्ट्रभाषा के विकास का मार्ग प्रशस्त किया। उनका व्यक्तित्व और कृतित्व प्रत्येक हिंदीभाषी के लिए वंदनीय और अभिनंदनीय है। (१९६७)

निराला ने उन पर एक सानेट लिखा था जिसकी दो पंक्तियाँ थीं :

हिंदी के विशाल मंदिर की वीणा वाणी
स्फूर्ति, चेतना रचना की प्रतिमा कल्याणी

अंत में महादेवी के एक 'गीत' की कुछ पंक्तियाँ दे रहा हूँ जो आज भी युगानुकूल हैं। गीत का प्रथम और तीसरा छंद यों हैं

नहीं हलाहल शेष, तरल ज्वाला से अब प्याला भरती हूँ।
विष तो मैंने पिया, सभी को व्यापी नीलकंठता मेरी,
घेरे नीली ज्वाल गगन को बाँधे भू को छांह घनेरी,
सपने जमकर आज हो गये चलती-फिरती नील शिलाएँ,
आज अमरता के पथ को मैं जलकर उजियाला करती हूँ।
पग में सौ आवर्त नाच रही घर-बाहर आँधी,
सब कहते हैं यह न थमेगी, गति इसकी न रहेगी बाँधी,
अंगारों को गूंथ बिजलियों में, पहना दूँ इसको पायल
दिशि-दिशि को अर्गला, प्रभंजन को ही रखवाला करती हूँ।

('भारतीय कविता' १९५३, साहित्य अकादेमी प्रकाशन, पृ. ५७३) □

पंथ होने दो अपरिचित, प्राण रहने दो अकेला

डॉ. रामजी पांडेय

भारतीय त्योहारों में होली सबसे अधिक महत्वपूर्ण और बड़ा त्योहार है। बसंत के बाद ही मौसम में ऐसा बदलाव आना शुरू होता है कि पूरे वातावरण में एंक दूसरे ही प्रकार की रंगमयता दिखने लगती है और फागुनी बयार के बहाव के साथ ही साथ भीतर ही भीतर कुछ दूसरी ही आह्लादकारी गुदगुदाहट उठने लगती है। यही कारण है कि धरती अपने रूप, रंग, रस, गंध से होली में सजीव हो उठती है। अपने साथ इतने प्रकार की विविधता को लिए हुए यह त्योहार आता है कि एक साथ कई-कई भाव उभरकर सामने आते हैं। ऐसे ही विविधता भरे त्योहार में महादेवी जी का जन्म हुआ। यही कारण है कि उनके व्यक्तित्व में एक साथ इतने प्रकार की विविधता मिलती है कि देखकर चकित रह जाना पड़ता है।

महादेवीजी की माँ जब बालिका बधू के रूप में जबलपुर से आईं तो अपने साथ हिंदी 'रामचरित मानस' और ठाकुर जी का सिंहासन लेकर आई। बाबा आर्यसमाजी और उर्दू-फारसी के हिमायती थे, लेकिन उनका मानना था कि अंग्रेजों के पास जो कुटिल नीति है उसको जानने के लिए अंग्रेजी सीखे बिना उन पर विजय पाना कठिन है। इसीलिए उन्होंने अपने बेटे को अंग्रेजी पढ़ाई, यानी महादेवी जी के पिता जी ने इलाहाबाद विश्वविद्यालय से अंग्रेजी में एम.ए. किया। चूँकि इनके परनाना अंग्रेजी के खिलाफ लड़ते हुए मारे गये थे, अत: घर के वातावरण में राष्ट्रीय चेतना भी थी। पिछले सैकड़ों वर्षों से परिवार में कोई लड़की न होने के कारण या होने पर ज़िन्दा न रहने के कारण इनकी पैदाइश को बाबा ने कुलदेवी की विशेष कृपा मानते हुए एक बड़ी मनौती का रूप दिया था। यही कारण है कि बाबा ने इनका नाम महादेवी रखा और बहुत लाड़-प्यार किया। वे चाहते थे कि पोती विद्वान बने और समाज, संसार में अपने नाम के साथ ही कुल के नाम को भी सम्मानित करे। यही कारण है कि छुटपन से ही उन्होंने, इन्हें आर्य-समाजी हवन-पद्धति के साथ उर्दू-फारसी की शिक्षा देनी शुरू कर दी। घर में भाई-बहनों के बीच बड़ी होने के कारण माँ के साथ उनके काम-काज और उनकी पूजा में भी सम्मिलित होना पड़ता। पाँच-छह वर्ष की अवस्था से ही कभी मीरा, कभी सूर के पद कभी 'रामचरितमानस' की चौपाइयों के साथ 'जागिए कृपा निधान पंछी बन बोले' आदि पदों पर सस्वर मान सुन-सुनकर उससे प्रभावित हुई। इन पदों का धीरे-धीरे इतना गहरा प्रभाव इन पर पड़ना शुरु हुआ कि बहुत समझ न होते हुए भी उसी अवस्था में तुक मिलाना शुरू कर दिया। सबसे पहली सहानुभूति ठाकुर जी के लिए ही जगी। इसका कारण शायद यह था कि ठाकुर जी के साथ माँ इन्हें भी सुबह-सुबह ही नहला देती थीं। उस ठंडे पानी से नहाने में जो

कष्ट इन्हें होता था, इनको लगता ठाकुर जी को भी वैसा ही कष्ट होता होगा। तुक मिलाई :—

'माँ के ठाकुर जी भोले हैं।
ठंडे पानी से नहलाती,
ठंडा चंदन इन्हें लगातीं
इनका भोग हमें दे जातीं
तब भी कभी नहीं बोले हैं।'

इस अवस्था से ही तुक मिलाने का जो क्रम चला, वह निरंतर चलता ही रहा और एक महान् कवयित्री बनाने में सफल हुआ।

शुरू में जब मौलवी साहब इन्हें उर्दू-फारसी पढ़ाने आने लगे तो ये मना करतीं, खूब रोतीं और चारपाई के नीचे छिप जातीं। उनका यह असहयोग ऐसा चला कि अंत में बाबा को बाध्य होकर इनकी उर्दू-फारसी की पढ़ाई बंद कर देनी पड़ी और संस्कृत पढ़ाने के लिए एक पंडित जी की व्यवस्था की गई। माँ को संस्कृत में रुचि थी, गीता के साथ ही अन्य संस्कृत ग्रंथों की समझ एवं हिंदी के प्रति एक विशेष लगाव होने के कारण भीतर ही भीतर माँ की इच्छा भी थी कि बिटिया संस्कृत पढ़े। अत: माँ ने विशेष रूप से प्रेरित किया। वे स्वत: पंडितजी के साथ बैठकर इनका पढ़ना भी देखती और खुद भी सीखती जातीं। कुछ दिनों बाद पंडितजी ने देखा कि लड़की तुक मिला लेती है तो उन्होंने 'ब्रजभाषा' में समस्यापूर्ति देकर लिखवाना शुरू करा दिया और छंद, मात्रा आदि का भी विधिवत् अध्ययन कराया। जो समस्यापूर्तियाँ इन्होंने उस समय ब्रजभाषा में की थीं वे भी उनकी बाद की कविताओं से बहुत भिन्न नहीं हैं। यद्यपि उस समय 'ब्रजभाषा' में ऐसा लिखने का प्रचलन बहुत कम था, फिर भी उन्होंने लिखा:—

''बांधे मयूख की डोरिन से,
किसलय के हिडोरन में नित झूलिहौ।
शीतल, मंद-समीर तुम्हें दुलराइ,
है अंक लगाई कबूलि हौ।
रीझि हौ भोर के गायन पै,
तितलीन के नर्तन पै पुनि भूलि हौ।
फूल तुम्हें कहिहैं हम तौ
जब कांटन में धसि कै हंसि फूलि हौ।

पिता जी नास्तिक तो नहीं थे, लेकिन आस्तिक भी नहीं—संदेहवादी थे और कहते थे कि ठीक है तुम्हारा ईश्वर होगा, लेकिन मेरे लिए तो वह पड़ोसी अधिक महत्व का है जो पुकारने पर दौड़ा आता है। तुम्हारा ईश्वर तो मेरे पुकारने पर नहीं आता। शायद पिताजी का ही यह प्रभाव था कि ये मानती थीं 'हम चाहे जिसमें विश्वास करें, न करें, लेकिन मनुष्यता में तो विश्वास करें।' यही कारण है कि वे किसी कर्मकांड में विश्वास नहीं करती थीं और जिस पर्व को जिस देवता की पूजा होती उसकी पूजा भी बड़े मनोयोग से करतीं। इनकी बैठक में जो आ चुका है, वह सहज ही अनुमान लगा सकता है कि वह बैठक कम, मंदिर अधिक लगती है। राम, कृष्ण, ईसा बुद्ध, सरस्वती, दुर्गा, रामकृष्ण परमहंस आदि की प्रतिमाओं के साथ तुलसी, रवींद्रनाथ प्रसाद, निराला की मूर्तियाँ चारो ओर सजी हैं। अगरबत्ती से सुवासित यह कमरा मन में पूजा का ही भाव अधिक पैदा करता है। उनका दर्शन ऐसा था जो निराकार को भी मानता था और साकारता को भी। भगवान बुद्ध उन्हें बार-बार आकर्षित करते रहे, बौद्ध भिक्षुणी

बनने का प्रयत्न भी किया, किंतु किन्हीं कारणों से वे भिक्षुणी होते-होते बचीं। बौद्ध दर्शन से उन्हें करुणा मिली, संवेदना मिली फिर भी वे आस्तिक रहीं और ईश्वर के अस्तित्व में विश्वास करती रहीं। यदि उनसे कोई कहता कि गंगा-स्नान से पवित्रता आ जायेगी तो इस पर उनका विश्वास नहीं होता था, लेकिन गंगा-स्नान उन्हें बहुत अच्छा लगता था। वे गंगा को चाहती भी बहुत थीं, जैसे कोई अपने आत्मीय को चाहता है। उनके मन में अक्सर यह भाव आता था कि आदमी की आँखों में जो गंगा है, वह कम महत्व की नहीं है। वे मानती थीं कि 'विभिन्न मत रखने वाले पर भी व्यक्ति कैसे एक दूसरे के निकट आ जाता है, फिर मंदिर हो, मस्जिद हो, गिरजा हो, उन्हें कहीं कुछ अंतर नहीं जान पड़ता था। किसी ऐसी कटुता का उनके मन में कोई बोध नहीं था। हर आस्था को वे महत्व देती थीं। संभवत: बचपन में मिले संस्कारों का ही यह परिणाम था। वे कविता को आत्मा की अभिव्यक्ति भी मानती थीं और पूजा अर्जना भी। उनकी कविता है :

क्या पूजा क्या अर्जन रे।
उस असीम का सुंदर मंदिर,
मेरा लघुतम जीवन रे।

तो उस प्रकार कोई पूजा कोई अर्जना उनके लिए आवश्यक नहीं रही। उस वातावरण में जहाँ मूतियाँ थीं, सिंहासन था, जहाँ आरती होती थी, जहाँ पूजा का पूरा आडंबर था फिर भी मनुष्य को उन्होंने बहुत महत्व दिया।

जिस सगुणोपासना, भक्ति संस्कारों के बीच वे पलीं, उस वातावरण के बीच उन्होंने उन दिनों ब्रजभाषा में यह कविता लिखी :—

'मंदिर के पट खोलत का,
ये देवता तो दृग खोलिहैं नाहीं।
अक्षत, फूल चढाव भले
हर्षाय कबौ अनुकूलि हैं नाहीं।
बेर हजारन शंख़हि फूंक
पै जागिहैं ना अरु डोलिहैं नाहीं।
प्रानन में नित बोलत हैं,
पुनि मंदिर में यह बोलिहैं नाहीं।

राधा-कृष्ण संवाद की चर्चा के स्थान पर सर्वथा भिन्न बात लिखना बड़ी बात थी। एक बहुत बड़ा विरोधी स्वर था यह—चुनौती भरा। इस कविता के कारण उन्हें पंडित जी और माँ दोनों की ही अप्रसन्नता झेलनी पड़ी थी। कहती थीं—कारण न तब बहुत स्पष्ट था, न आज है संभवत: अवचेतन में ही मेरे दर्शन या विचार की दिशा बन रही होगी।' एक जगह उन्होंने लिखा भी है—'इस बुद्धिवाद के युग में भी मुझे जिस अध्यात्म की आवश्यकता है, वह किसी रुढ़ि, धर्म या संप्रदायगत न होकर उस सूक्ष्मता की परिभाषा है जो व्यक्ति की समग्रता से समष्टिगत एकप्राणता का आभास देती है। इस प्रकार वह मेरे संपूर्ण जीवन का एक ऐसा सक्रिय पूरक है जो जीवन के सब रूपों के प्रति मेरी ममता समान रूप से जमा सके।' सब रूपों के प्रति समान रूप से ममता जगाने वाले भाव को ही समात्मभाव कहा गया है :—

'सब आँखों के आँसू उजले,
सब सपनों में सत्य पला।'

थोड़ा बड़ी होने पर इन्हें इन्दौर के मिशन स्कूल में भर्ती किया गया। चूँकि पिता जी वहाँ 'डेली

कॉलेज' में उप-प्राचार्य थे अतः प्रारंभिक स्कूली शिक्षा वहीं शुरू हुई। इस मिशन स्कूल में इनका मन नहीं लगा, फिर भी जैसे-तैसे पढ़ाई चलती रही। बाद में इलाहाबाद के क्रास्थवेट कॉलेज में इनको पढ़ने के लिए भेजा गया जहाँ इनकी पढ़ाई का क्रम चला। सुभद्रा जी भी इसी कॉलेज में पढ़ती थीं यही उनकी उनसे भेंट हुई। सुभद्रा जी इनसे बड़ी थीं और खड़ी बोली में कविता भी लिखती थीं। कविताएँ तो ये भी लिखती थीं, लेकिन छुपा-छुपा के। सुभद्रा जी ने एक दिन इनसे पूछा कि 'क्या तुम भी कविता लिखती हो?' इन्होंने डर के मारे बताया नहीं। बाद में उन्होंने इनके डेस्क की तलाशी ली तो बहुत सी कविताएँ निकल पड़ीं। उन्होंने एक हाथ से इनको पकड़ा और दूसरे हाथ से कविताएँ तथा पूरे हॉस्टल में घूम-घूम कर यह बता दिया कि यह भी कविता लिखती है। इसके बाद इनकी झिझक खुल गई और कविता लिखने की गति भी बढ़ गई। कॉलेज में एक पेड़ की डाल नीची थी उस डाल पर सुभद्रा जी और ये दोनों बैठकर प्रायः जब और लड़कियाँ खेलती तो ये कविताएँ लिखतीं।

माटी से धरती ने दीप यह बनाया है,
तूल से बनाई फिर कोमल तन बाती है,
तुमसे पा स्नेह बूंद, चेतना का संबल भी
दूतिका तुम्हारी बन ज्योति झिलमिलाती है।'

दीपक का प्रतीक प्रारंभिक कवि-जीवन से ही इनके लिए विशेष महत्व का रहा है। कविता में प्रतीक कवि के चरित्र और संघर्ष दोनों का संकेत देते हैं। दीपक तो जैसे उनकी कविता का प्राण है। होली तो उनका जन्मदिन था, उसे बहुत उल्लसित होकर मनाती ही थीं, लेकिन दीवाली भी बड़े धूमधाम से मनाती थीं। 'दीपशिखा' केवल उनके काव्य संग्रहों में सर्वश्रेष्ठ काव्य-संग्रह ही नहीं, वरन् उनकी संपूर्ण काव्य-साधना का प्रतीक भी है। ढ़ेर सारे दिये जलाना उन्हें बहुत अच्छा लगता था, बिजली की बत्तियाँ उन्हें उतनी अच्छी नहीं लगती थीं। कहती 'लौ का जो स्पंदन मिट्टी के दिए में है, वह बिजली के बल्ब में होता।' वसंत पंचमी के दिन जिस श्रद्धा से वे सरस्वती की पूजा करती थीं, उसी आदर-भाव से दीवाली के दिन वे गणेश-लक्ष्मी की भी पूजा करतीं और उनके बाद घर भर में घूम कर दिये रखवातीं। उन पंक्तिबद्ध बहुत से रखे हुए दियों को बहुत देर तक खड़ी देखती रहतीं। दियों को बुझते हुए देखना शायद उन्हें अच्छा नहीं लगता था इसीलिए बार-बार उनमें तेल डलवातीं और देखती रहती थीं :—

दीप मेरे जल अकम्पित, घुल अचंचल।
पथ न भूले एक पग भी
घर न खोये लघु विहग भी,
स्निग्ध लौ की तूलिका से
आंक सब की छाँह उज्जवल।

उस समय 'स्त्री दर्पण' एक पत्रिका निकलती थी। उसमें सुभद्रा जी के साथ इनकी भी कविताएँ छपने लगीं। बाद में स्थानीय कवि सम्मेलनों में भी जाने का क्रम शुरू हुआ। यह उस समय की बात है जब गांधी जी का सत्याग्रह-आंदोलन शुरू हो गया था और आनंद-भवन स्वतंत्रता-संघर्ष का केंद्र बन चुका था। चूँकि पहले से ही इनके रक्त में राष्ट्रीय चेतना के तत्व थे, अतः उस समय बहुत सी कविताएँ इन्होंने देशप्रेम की लिखीं जिनमें अनेक कविताएँ प्रभात फेरियों में, बिना यह जाने कि ये किसने लिखीं हैं, गाई भी जाती थीं :—

वन्दिनी जननी। तुझे
हम मुक्त कर देंगे.......

★ ★ ★

मस्तक देंगे, आज खरीदेंगे
हम ज्वाला।......

आदि कविताएँ लिखने के साथ ही साथ ये बापू की ओर भी आकर्षित हुईं। बापू से इन्हें कुछ ऐसे तत्व मिले जिन्होंने इन्हें बड़ा मापक क्षितिज दिया। कहती थीं 'मैं नहीं कह सकती कि अपने जीवन को मैंने बापू के अनुसार कितना बनाया, किंतु यह सत्य है कि अहिंसा का ज्ञान मुझको उनसे मिला। दूसरा तत्व जो बापू से इन्हें मिला, वह है भाषा के संबंध में। बापू का मानना था कि हिंदी ही राष्ट्र की आत्मा को सही ढंग से व्यक्त कर सकती है।' बापू की इस बात ने इन्हें इतना प्रभावित किया कि इन्होंने प्रतिज्ञा की, कि मैं अपने देश में हिंदी में ही बोलूंगी।' और इसका निर्वाह भी उन्होंने बखूबी किया। जब ब्रिटेन की प्रधानमंत्री श्रीमती मारग्रेट थैचर इन्हें भारतीय ज्ञानपीठ पुरस्कार देने आईं, तो बहुत हल्के, संकेतात्मक ढंग से इस प्रकार का प्रस्ताव आया कि ये अंग्रेजी में ही बोले तो अच्छा रहेगा। इन्होंने मना कर दिया कि मैं अपने सिद्धांत को नहीं तोडूंगी और हिंदी में ही बोलीं।

पढ़ने में अच्छी होने के कारण विदेश जाने की छात्रवृति मिलने की संभावना थी। इन्होंने बापू से पूछा कि 'मैं क्या करूँ?' बापू ने कहा—हमारा यहाँ संघर्ष चल रहा है और तुम बाहर जाओगी? नहीं—अपनी मातृभाषा के माध्यम से गरीब बहनों को शिक्षा दो। परिणामत: बापू के आदेश पर विदेश जाने की बात छोड़ दी और प्रयाग महिला विद्यापीठ के माध्यम से नारी-शिक्षा और नारी-जागरण के लिए कार्य प्रारंभ कर दिया। 'चाँद' के संपादन काल में उसमें लिखे संपादकीय इसके ज्वलंत प्रमाण है जो बाद में 'श्रृंखला की कड़ियाँ' नाम से प्रकाशित भी हुए।

महादेवी जी अपने जीवन काल में ही 'मिथ' हो गई थीं। अपने अतीत के बारे में जब कभी कुछ सुनाती तो लगता था ये सुनाती रहें और मैं सुनता रहूँ। कभी-कभी तो घंटों बोलती भी रहती थीं और मैं मंत्र-मुग्ध भाव से सुनता रहता था। कैसे-कैसे अद्‌भुत संस्मरण थे उनके पास। वे एक समूचे युग की साक्षी थीं। कभी-कभी कहतीं 'अतीत की बात करना ऐसा ही है जैसे चलते हुए मार्ग पर फिर लौटना।' इसीलिए जब लौटते हैं तो सब कुछ नया लगता है, लगता है नई यात्रा है। ऐसी ही अतीत यात्रा है मेरी।'

अब वे नहीं हैं तो उनकी एक-एक बात याद आती है। अपने और उनके संबंधों के बारे में क्या कहूँ कहने को तो वे मेरी दादी-नानी, माँ-मौसी, बुआ-बहन कुछ भी नहीं थीं, लेकिन लगता है क्या नहीं थीं वे। खाने-पीने की जैसी चिंता करती थीं, होली के दिन राई-नमक उतार कर मेरे दीर्घजीवी और सुखी होने की जैसे कामनायें करती थीं, राखी के दिन मेरी सूनी कलाई में बड़ी बहन की तरह जैसे राखी बांधती थीं, ऐसे मैं क्या कहूँ उन्हें? मेरे पिता बाबू जी (स्व. गंगाप्रसाद पांडेय) के न रहने के बाद उन्होंने पिता का संरक्षण भी दिया और अम्मा के न रहने पर माँ की ममता भी। अपने विद्यार्थी जीवनकाल में ही मेरे पिताजी को उनकी निकटता प्राप्त हो गई थी और उनके जीवन की अंतिम सांस भी उन्हीं के साथ रहते हुए ही टूटी। मैं भी हाई स्कूल पास करके अगली पढ़ाई के लिए गाँव (कोठी म.प्र.) से इनके यहाँ सन् १९६१ में आया और बाबूजी के न रहने (१९६८) के बाद धीरे-धीरे उनके निकटतर होता चला गया। बाद में सहज ही मातृवत स्नेह मुझे मिलने लगा और बच्चों को दादी का प्यार। मेरे छोटे बेटे छोटकू (आशीष) को जितना दादीपन उनसे मिला, मैं नहीं समझता और किसी बच्चे को वे ऐसा दे सकी होंगी। छोटकू उनका ऐसा लाड़ला पोता रहा है कि छुटपन में उनके धुल-धुल पेट में बैठकर घंटों खेलता रहता था।

वैसे तो उन्होंने अपना घर-परिवार नहीं बसाया था, फिर भी घर, गृहस्थी की छोटी-छोटी बातों की भी अद्‌भुत समझ थी उन्हें। हम लोग सरयू-पारीण हैं, बिटिया की शादी की बात मालवीयों के यहाँ

चल रही थी। मेरा मानना था कि घर के लोग विरोध नहीं करेंगे, फिर भी पहले पूछने के लिए नहीं जाने दिया। कहने लगीं 'गाँव की बात है, सब लोग इसे पसंद नहीं करेंगे, पहले शादी तय हो जाय तब बताने जाओ' और नहीं जाने दिया। इस बात से उनकी समझ और दूर-दर्शिता के साथ ही साथ परिवार के बड़े-बड़े की जिम्मेदारी का भी बोध प्रकट होता है।

लोग तो इस बात को कहते ही थे, लेकिन मैंने भी महसूस किया है कि मेरे परिवार के यहाँ आ जाने के बाद बहुत कुछ पारिवारिक सुख की जो चाह स्वाभाविक रूप से आदमी में होती है, उसकी बहुत कुछ पूर्ति उनको मिलती रही है। मेरे लिए इससे बड़े सौभाग्य की बात और क्या हो सकती है कि हमारी चार पीढ़ियाँ (मेरे पिता, मैं, मेरे बच्चे और बच्चों के बच्चे (बिटिया का बेटा) ने उनकी भरपूर आत्मीयता पाई है।

उनके जाने के बाद बहुत से लोग दु:खी होंगे, लेकिन अपने दु:ख की बात को क्या बताऊँ? अपने दर्द, अपनी कसक को किस कोटि में रखूँ? वर्षों-वर्षों जिनकी छाया से कभी दूर हुआ न हूँ, ऐसी छाया का हटना एकदम एकाकी और नि:सहाय बना जाता है। बाबू जी, अम्मा के न रहने का भी दु:ख उनके न रहने के बाद नये ढंग से व्याप रहा है। इनके न रहने के बाद कुत्ते-बिल्ली, पेड़-पौधे तो उदास है ही, मुझे लगता है कि घर के दरवाजे-खिड़कियाँ भी उदास हो गए हैं। उनके चले जाने से सब कुछ श्री विहीन हो गया है। हर वक्त इस घर में कितनी चहल-पहल रहती थी, सुबह से शाम, रात तक मिलने वालों का ताँता लगा रहता था और अब उनके न रहने के बाद इस घर का सूनापन भी एक बड़े अनुभव की चीज़ है। उनकी छाया आकाश की छाया की भाँति थी जिससे कहीं भी जाकर उससे अलग नहीं हुआ जा सकता था।

अब मेरी पत्नी उनके कमरे में शाम को दिया जला आती है, उसके बाद कमरे में एक दम सन्नाटा होता है। उस समय उनकी यह कविता 'यह मंदिर का दीप इसे नीरव जलने दो' के जितने अर्थ, जितनी मार्मिकता ध्वनित होती है, उससे पहले कभी भी ऐसा नहीं होता था। न जाने कितनी बार इस कविता को पढ़ा होगा, उसके अर्थ को भी समझा होगा, लेकिन कभी भी अर्थ की ऐसा व्यापकता, ऐसा बोध प्रकट नहीं हुआ। सारी की सारी कविताएँ उन्हीं के शब्दों में साकार हो रही होती हैं। बहुत देर तक उनके कमरे में उस दिये को अकेले जलते हुए देखता रहता हूँ और आँखों से आँसू टप-टप गिरने लगते हैं। भीतर ही भीतर उन्हीं की कविता की ये पंक्तियाँ जो उन्होंने रवींद्रनाथ के निधन पर लिखी थीं, याद आती रहती हैं—

यह बिदा-बेला।
अर्चना सी आरती सी यह विदा-बेला।
यह तुम्हारे हास सी रंजित बिदा-बेला।
यह तुम्हारे अश्रु से सिंचित विदा-बेला।
यह अमर बेला।'

अदम्य साहस था उनमें। कितनी ऐसी घटनाएँ हैं जिनकी याद आज भी रोमांचित कर जाती है।

आज से साठ-पैंसठ वर्ष पहले अपने समाज में किसी लड़की का यह कहना कि यह गृहस्थ नहीं होगी, भिक्षुणी बनेगी, बहुत बड़े साहस की बात थी। कितना बड़ा विद्रोही स्वर रहा होगा? कितना बड़ा संघर्ष झेलना पड़ा होगा उसे? सोचकर सहज ही अनुमान लगाया जा सकता है। जिस समाज में लड़कियाँ चिट्ठी पत्री लिखना जान लें या अधिक से अधिक 'रामचरितमानस' पढ़ना सीख लें, यही पर्याप्त था, उस समय यह कहना कि 'मैं आगे पढ़ूँगी और वेद ही पढ़ुंगी' यह एक विशेष दिशा की ओर

ही संकेत देता था, जिस ऊँचाई पर वे पहुँची, उसी का ही। बिना यह जाने हुए कि यह सत्याग्रह है, उन्होंने किया। परिवार से संघर्ष, समाज से संघर्ष और एक पुकार से पूरी व्यवस्था से संघर्ष करना पड़ा उन्हें। उनकी कविताएँ हैं :—

विसर्जन ही है करुणा धार
डूब के ही जाओगे उस पार
और
टकरायेगा नहीं आज उद्धत लहरों से कौन ज्वार फिर तुम्हें पार तक पहुंचायेगा?'

तब से लेकर आज तक कविता में कितने बदलाव आये हैं, लेकिन उन्होंने शुरू से लेकर अंत तक वही लिखा। जो पहले था, वह बाद में भी रहा। अब तो कविता का ही नहीं जीवन का भी छंद टूट गया है, लेकिन उन्होंने अपना छंद नहीं टूटने दिया—न जीवन का, न मन का, न ही काव्य का। इसीलिए अपने पूरे विश्वास के साथ रवींद्रनाथ ठाकुर के ही स्वर 'एकला चलो, एकला चलो, एकला चलो रे' की तरह वे लिख सकीं हैं:—

पंथ होने दो अपरिचित,
प्राण रहनो दो अकेला।
अन्य होंगे चरण हारे,
और हैं जो लौटते,
दे शूल को संकल्प सारे,
दु:खव्रती, निर्माण उन्मद
यह अमरता नापते पद।
बांध देंगे अंक संसृति से
तिमिर में स्वर्ण बेला।

सोने को गला कर किसी भी साँचें में ढाला जा सकता है। परंतु हीरे को नहीं, उसे हम तोड़ सकते हैं, गला नहीं सकते। उसका अपनी सुविधानुसार कोई आभूषण नहीं बना सकते। उसका हर खंड, हर कण अपने आप में मूल्य रखता है। उनका प्रखर व्यक्तित्व भी किसी की इच्छानुसार गला-ढला नहीं, परंतु सबके लिए मूल्यवान रहा है। वे नहीं है, लेकिन मेरा विश्वास है कि उनकी स्नेहिल-अशीष छाया,- उनका विराट-व्यक्तित्व आज भी हमारे साथ है। □

महादेवी-स्मृति

दो कविताएँ

जगदीश गुप्त

(एक)

अमरत्व देकर बुझ गयी, कविता की दीपशिखा

भीतर से —
निरंतर, अजस्त्र,
आलोक देने वाली
कविता की दीपशिखा
अन्ततः
आँसुओं के पारावार में
डूब ही तो गयी।

उनकी सूखी हुई आँखें
खुल नहीं सकीं
अपने चारों ओर
गहराती हुई उदासी के
कुहासे भरे आवरण में
अपनी पहचान खोते हुए
आत्मीय चेहरों को —
एकटक देखने के लिए
वह मन ही मन
छटपटाती रहीं।

अर्द्ध-चेतना
शिराओं में
कारा में
हिमदंश भरती रही,
शिव के अट्टहास सा
वह श्वेतल हिमालय
जो उनकी चितेरी कल्पना को
हरी-कचोह घाटियों के पार ले जाकर
ताकुला और रामगढ़ की छायामयी
सजीव खिड़कियों से
बार-बार झाँक कर
प्रदीप्त करता रहा।

अन्ततः उनका पार्थिव शरीर
चिता की अर्चियों के बीच
देखते देखते
राख हो गया।

बर्फ़ की तरह ठंडे उदास अँधेरे में
कहीं से धीमी आवाज़ आयी
"एक ज्वाला के बिना,
मैं राख का घर हूँ।"

अपनी ही आवाज़ को सुनकर
उनकी वही सूजी हुई आँखें
मुँदे-मुँदे भी
लगातार कह रही थी
ओ मेरे मन के रहस्य सुनो!
"तुमको पीड़ा में ढूँढ़ा
तुममें ढूँढूँगी पीड़ा"
धीरे-धीरे उन्हें अपने भीतर अनुभव होने लगा था —
"शेषयामा यामिनी
मेरा निकट निर्वाण"

और तुम्हारी साँसों ने
शिथिल होते हुए भी
संवेदना को छूकर देख लिया –
वह दृश्य
जो तुम्हें
इन पंक्तियों की रचना तक ले गया।
तोड़ दो यह क्षितिज

मैं भी देख लूँ उस ओर क्या है!
जा रहे जिस पंथ से युग-कल्प
उसका छोर क्या है!

तुम्हारे प्राणों ने
उससे भी ज़्यादा
विकलता अनुभव की होगी,
क्योंकि
अजस्र बहने वाली नदी जैसी
तुम्हारी वाणी
अपने आप अवरुद्ध हो चुकी थी।

सरस्वती की उपासिका
हंस-हीन होकर स्वयं मूक हो जाय
इस बिडंबना को
वही जानेगा
जिसने कविता को
शब्दों के जाल में
अर्थहीन होते हुए देखा हो।

वही समझ सकेगा यह बात
कि तुमने कब, क्यों और कैसे लिखा –
''बीन भी हूँ मैं
तुम्हारी रागिनी भी हूँ।''

माध्यम से अभेद
ऐसे नहीं उपजता रचनाकार के मन में
आलोकमय इंद्रधनुषी तूलिका लेकर
प्रेरणा के पारिजाती पंखों पर
तुम्हारी दीपशिखा ही
मुझे दीप-श्रृंखला तक ले गयी
पर तुम्हारी दोहरी कल्पना में
स्नेह-दीप के साथ
मोम-दीप भी समाहित था
जबकि मेरी रंग-रेखाओं में
इकहरा स्नेह-दीप ही रूपायित हो सका।
यों तुम्हारे भीतर भी
अन्ततः स्नेह-दीप को ही वरीयता मिली
''शलभ मैं शापमय वर हूँ
किसी का दीप निष्ठुर हूँ''
कह कर भी

भवांतर के साथ
मधुर-मधुर मेरे दीपक जल''
के आग्रह में परिणत हो गया।

''साँझ का दूत''
किसी आघात से तत्काल बुझने की जगह
निस्पंद होकर, प्रभाती तक जलने की आकांक्षा
अनुभव के विस्तार में,
वह चौराहे की दीप ही नहीं रहा
मंदिर का दीप भी बन गया।
''देव मंदिर कुटीर चौराहा
हो जहाँ अंध तम इसे धर दो।''
तुम्हारे भीतर एक अदम्य विश्वास था
अपने रहस्यमय दीपक के प्रति
''शिल्प यह प्राण का तुम्हारा है
सूर्य से लघु नहीं कभी दीपक!''
तुम्हारे स्वर की तेजस्विता वहाँ से उपजी है
जहाँ तुम यही सोचती रहीं —
नाश भी हूँ मैं, अनंत विकास का क्रम भी।
त्याग दिन भी, चरम आसक्ति का तम भी।

इसी सोच ने उदात्तता देकर
तुम्हारी वेदना को
करुणा बना दिया।
तुम सदा अपने को
एक चित्रमयता के बीच ही देखती रहीं
कमल-दल पर किरण अंकित
चित्र हूँ मैं क्या चितेरे
मृत्यु की सीमा का बोध तुम्हें वहाँ भी होता रहा
मृत्यु के उर में समा क्या
पायेंगे जब प्राण मेरे।

जीवन-संघर्ष के बीच
तुम नहीं चाहती थीं
कि तुम्हारी छाँह
तुम्हारे लिये
कारा बन जाय,
किंतु तुम्हें लगा
नदी के उस पार से
कोई तुम्हें पुकार रहा है

''पाथेय-हीन
जब छोड़ गये सब सपने।
आख्यान-शेष
रह गये अंक ही अपने।
तब उस अंचल ने
दे संकेत बुलाया।''
तो तुम अपने ही अंतर में छिपे
उस संकेत से विवश हो गयीं
और उस कारा की ओर
स्वयं चल पड़ीं।

तुम्हें लगा
तुम्हारे लिए
वह कारा ही मुक्ति है।
''धीर पदों से
छोड़ चले घर
दुख-पाथेय सँभाले''
अपने घर की याद
किसे विकल नहीं कर देती।
और तुमने तो
मृत्यु को ही अपनी जननी मान लिया था।
''ओ चंचल जीवन-बाल
मृत्यु जननी के अंक लगाया।''

आँसू, व्यथा, क्रंदन, पीड़ा, दुःख, उदासी,
न जाने कितने शब्दों से तुमने
इस परदेस को पहचाना
एक छटपटाहट
तुम्हारे जीवन का पर्याय बन गयी।

तुम्हारा रहस्य
तुम्हारी पंक्तियाँ
हमसे अब भी कहती हैं —
''अश्रुमय कोमल
कहाँ तू आ गयी परदेशिनी री!''

(दो)

काव्यांजलि

लेखनी और तूलिका का संगम !

तुम्हारे हाथों में आकर
स्नेह की कोमल वर्तिका
सहसा रंगमयी तूलिका हो गयी।

दिन के चारों यामों को
भीतरी आलोक से भरते हुए,

वही तूलिका
तुम्हारी कविता-पंक्तियों की
स्वर्णिम अट्टालिकाओं में समाकर
कालिदास की
संचारिणी दीपशिखा बन गयी।

कितने ही मुकुट
उनके आगे
सम्मान में झुकते रहे,
कितने ही आँसू
आँखों में समाये रूप को
उजाला करते रहे।

क्योंकि तुम्हीं ने तो लिखा था
सब आँखों के आँसू उजले
सब के सपनों में सत्य पला।

हर कोई तुम्हें
नितांत आत्मीय समझता रहा।
सभी को तुम्हारी करुणा का
असीम वरदान मिला
चाहे वह गिलहरी का बच्चा हो,
या कदंब का फूल!

तुम्हारे नीड़ के आस-पास
जिन्होंने तुम्हारे घने पंखों की
गुँधाती छाँह पायी
जिन्हें तुम्हारा वात्सल्य
नीर भी बदली की तरह
सराबोर करता रहा।
उन्हें तुम
हर मोड़ पर
गोमुखी धारा ही लगीं
भले ही वह प्रयाग हो, काशी हो,
या गंगा-सागर।

शंखों की पंक्ति जैसी
हिमालय में लय होती हुई
तुम्हारी वह शुभ्र-काया
आरोहण की असीम ऊँचाई से
जब भी सरस्वती बन कर बहेगी
हर कवि-कंठ तुम्हारे स्वरों में
हर चितेरा तुम्हारी रेखाओं में
अपना अस्तित्व
अपना व्यक्तित्व
सहज ही खोज लेगा,
जैसे मैने तुम्हारे दीप-चित्रों में
अपनी दीप-श्रृंखला खोज ली।
भले ही तुम्हारी वसीयत में
किसी कवि का नाम न हो

□

पुण्य-स्मृति

प्रवासी भारतीयों के सांस्कृतिक प्रहरी स्व. बनारसीदास चतुर्वेदी

जगदीश प्रसाद चतुर्वेदी

आज से ९५वें वर्ष पूर्व २४ दिसंबर, १८९२ को आगरा ज़िले के छोटे से कस्बे में एक ग्रामीण अध्यापक पंडित गणेशीलाल चौबे के घर एक पुत्र का जन्म हुआ, जिसका नाम रखा गया बनारसी दास। उस व्यक्ति ने अपने तपस्वी जीवन से फीरोज़ाबाद की बस्ती को गौरवावित किया क्योंकि उनके सहारे फीरोज़ाबाद का नाम न केवल सारे भारत में बल्कि सारे संसार में फैल गया। आज भी प्रवासी भारतवासी जो कभी गिरमिटिया मज़दूर की हैसियत से भारत से बाहर अंग्रेज़ी साम्राज्यवाद में ब्रिटिश उपनिवेशों को संपन्न करने के लिये भारत से भेजे गये थे और जिनको अपनी गुलामी से भी बुरी हालत से मुक्त कराने में यदि किन्हीं दो भारतवासियों की याद आती है तो एक हैं— महात्मा गांधी और दूसरे श्री बनारसीदास चतुर्वेदी। इन्हीं के अथक प्रयासों से वर्ष १९१६ में भारत से उपनिवेशों को गिरिमिट प्रथा के अंतर्गत मजदूर भेजने की परंपरा निषिद्ध कर दी गयी। लेकिन श्री बनारसी दास चतुर्वेदी प्रवासियों में और विशेषतया फीजी, गयाना और ट्रिनीडाड में याद किये जाते हैं तो उसका कारण केवल यही नहीं है कि उन्होंने उन्हें मुक्त कराया था बल्कि यह भी कि उन देशों में जो प्रवासी बस गये थे, बनारसीदास जी ने उनकी भारत में सुध ही नहीं ली, बल्कि उनके लिए संघर्ष भी करते रहे जो एक प्रकार से १९३६ में समाप्त हुआ। लेकिन श्री बनारसी दास चतुर्वेदी का काम रुका नहीं। श्री जवाहर लाल नेहरु के प्रधानमंत्रित्व काल में उन्होंने एक 'प्रवासी-भवन' बनाने की योजना चलायी थी और उस भवन को स्थान देने के लिए वे अपने अंत समय से पहले तक लिखा-पढ़ी करते रहे। १९७९ में जब फीजी में भारतीय मजदूरों के पहुँचने के सौ साल हो रहे थे और वहाँ 'गिरमिट मुक्ति शताब्दी' मनायी जा रही थी तो बनारसीदास जी ने यह आग्रह किया था कि शताब्दी समारोह में भारत सरकार के प्रतिनिधि भेजे जायें और फीजी में प्रवासी भारतीयों के जीवन संघर्ष का एक इतिहास लिखा जाये। उन्हीं की प्रेरणा से भारतीय सांस्कृतिक संबंध परिषद ने 'फीजी में प्रवासी भारतीय' नामक पुस्तक लिखने के लिए मुझे आमंत्रित किया और फीजी भेजा भी था।

वैसे श्रीमती मार्जरी साइक्स के साथ उन्होंने भारत भक्त श्री सी.एफ. एण्ड्रयूज की जो जीवनी

अंग्रेजी में लिखी है और जिस प्रकार श्री ह्यूज़ टिंकर ने श्री एण्ड्रयूज़ की अपनी जीवनी में श्री एण्ड्रयूज़ द्वारा श्री बनारसीदास चतुर्वेदी को तथा बनारसीदास जी द्वारा श्री एण्ड्रयूज़ को लिखे पत्रों का जिस प्रचुर मात्रा में उपयोग किया है, उससे जब जब गांधी जी के साथ श्री सी. एफ. एण्ड्रयूज़ को याद किया जायेगा, तो उनके साथ श्री बनारसीदास चतुर्वेदी को भुलाया नहीं जा सकता।

पर यह श्री बनारसीदास चतुर्वेदी का बड़ा आंशिक परिचय है। उन जैसा दमदार, निर्भीक और हमेशा दूसरों की सेवा में लगा हुआ पत्रकार हिंदी में तो दूसरा हुआ नहीं अन्य भाषाओं में भी कोई ही ऐसा पत्रकार हो जिसने अपने जीवन के ७० से अधिक वर्ष केवल दूसरों के बारे में सोचने और विचारने में लगा दिये हों। वे केवल सोचते या लिखते ही नहीं थे बल्कि जिस बात में विश्वास करते थे, उसको अंत तक पहुँचाने के लिए एक आंदोलन भी छेड़ देते थे। उन्होंने अपने जीवन में जिन विषयों में विशेष रुचि ली वे हैं—साहित्यकारों की कीर्ति रक्षा, क्रांतिकारियों तथा अन्य स्वतंत्रता संग्राम सैनानियों का स्मरण और उनके जीवन में उनकी कठिनाइयों को दूर करने के प्रयास, नवयुवक लेखकों और पत्रकारों को प्रोत्साहन, जिन क्षेत्रों में रहे वहाँ के सामाजिक और नागरिक जीवन का सुधार तथा उनकी रचनात्मक सेवा। परंतु इन सबके बावजूद श्री बनारसीदास चतुर्वेदी का एक विशुद्ध सृजनात्मक लेखक और श्रेष्ठ संपादक का स्वरूप भी था। विशालभारत के संपादक के रूप में उन्होंने मासिक पत्रकारिता को लोकप्रियता और श्रेष्ठता के शिखर पर पहुँचाया। उन्होंने संसार के श्रेष्ठतम विचारकों से हिंदी जगत को परिचित कराया, चाहे वे फ्रांस के 'रोम्या रौला' हों, अमरीका के इमर्सन व थोरो हों या रूस के तुर्गनेव, मैक्सिम गोर्की व एनटेन चेखोव हों और जापान के कागावा। वे एक श्रेष्ठ जीवनी लेखक थे और उनके रेखाचित्र तथा संस्मरण हिंदी जगत की अमूल्य निधि हैं। बड़ी जीवनी के रूप में उन्होंने दो ही लिखीं—श्री सत्यनारायण कविरत्न की जीवनी और भारत भक्त एण्ड्रयूज़। लेकिन उनकी इस विषय की पुस्तकें हमारे आराध्य, रेखाचित्र, संस्मरण, विश्व की विभूतियाँ, सेतु बंधु और उनकी अपनी आत्मकथा, नब्बे वर्ष तथा महापुरुषों की खोज में साहित्य में अपना अद्वितीय स्थान रखती हैं। विशेष बात यह है कि श्री बनारसीदास चतुर्वेदी ने अपनी जीवनी लिखते समय भी दूसरों को ही श्रेय दिया है और अपना उल्लेख प्रसंग रूप से किया है। वे विज्ञापितों का विज्ञापन करने में विश्वास नहीं रखते थे और उन्होंने ऐसे लोगों के बारे में लिखा है जो गाँव के मामूली से मामूली किसान या मज़दूर हों, परंतु उनके चरित्र चित्रण में चतुर्वेदी जी की कलम कभी पीछे नहीं रही। ६ वर्ष तक 'मधुकर' का प्रकाशन वस्तुतः स्थानीय जनता की समस्याओं और स्थानीय प्रतिभा की खोज का एक अभियान था। यह बात दूसरी है कि उसी समय जब वे टीकमगढ़ के कुण्डेश्वर नामक स्थान पर रह रहे थे, उस समय उनकी भेंट अमर शहीद चंद्रशेखर आज़ाद की माताजी से हुई, जिनकी सहायता के लिए उन्होंने प्रधानमंत्री श्री जवाहरलाल नेहरू को लिखा और उसके बाद अमरशहीद पंडित रामप्रसाद बिसमिल की बहन शास्त्री देवी या चौधरी अशफाक उल्ला खां के भतीजों के परिवार की सुधबुध भी उन्होंने ली। श्री बिसमिल की डायरी छपवायी और अशफाक उल्ला खां पर भी एक पुस्तक प्रकाशित की। आज देश में स्वतंत्रता संग्राम के सैनिकों को जो पेंशन मिल रही है या उन्हें जो ताम्रपत्र मिले, उनका श्रीगणेश श्री बनारसीदास चतुर्वेदी के प्रतिवर्ष छपने वाले उन लेखों तथा सैकड़ों पत्रों का होता है जो 'कहीं हम भूल न जायें' शीर्षक से समाचार पत्रों में छपते थे।

श्री बनारसीदास चतुर्वेदी ने आगरा कॉलेज से इंटर तक की शिक्षा प्राप्त की थी और वे फर्रुखाबाद के सरकारी हाई स्कूल में अध्यापक हो गये थे। सन् १९१२ से उन्होंने समाचारपत्रों में लिखना प्रारंभ कर दिया था और इलाहाबाद के 'मर्यादा' में प्रकाशित उनके लेख को उनके अध्यापक ने कक्षा में पढ़कर प्रशंसित किया था। जब वे फर्रुखाबाद में नौकरी कर रहे थे, उसी समय उन्हें आगरा में 'आर्यमित्र' का

संपादन करने का निमंत्रण श्री लक्ष्मीधर वाजपेयी ने दिया था, जो खुद कहीं और जा रहे थे। बनारसीदास जी आगरा में इंस्पैक्टर ऑफ स्कूल के कार्यलय में 'आर्यमित्र' की नौकरी का प्रयोग करने के लिए छुट्टी की दरखास्त देने आये थे। जब उन्हें स्कूल के इंस्पैक्टर ने सूचित किया कि उन्हें इंदौर के राजकुमारों के 'डेली कॉलेज' में हिंदी अध्यापक का पद मिल गया है तो वे इंदौर चले गये। यह उनके जीवन में एक बड़ा मोड़ था क्योंकि यहीं पर उनकी भेंट साथी के रूप में संपूर्णानंदजी से हुई और शिष्य के रूप में तो अनेकों राजकुमार थे। लेकिन ओरछा के राजकुमार वीर सिंह देव उन्हें कलकत्ता से टीकमगढ़ ले आये जहाँ पर उनकी पत्रकारिता और राष्ट्र सेवा ने एक नया रूप ग्रहण किया। जब चतुर्वेदी जी इंदौर में थे तो छुट्टियों में अपने घर फीरोज़ाबाद आये थे। वहाँ उनकी भेंट पास के गाँव हिरनगऊ के श्री तोताराम सनाढ्य से हुई जो गिरमिट मजदूर के रूप में फीजी गये थे और वहाँ से २१ वर्ष काटकर लौटे थे। जब वे अपनी कथा सुना रहे थे तो चतुर्वेदी जी ने उनसे कहा कि आप इसे लिख डालिये। उन्होंने कहा कि मैं तो इसे नहीं लिख सकता, पर मैं बोलता जाऊंगा आप उसे ठीक बनाकर लिख दीजिए। फीरोजाबाद के भारती भवन में श्री तोताराम सनाढ्य पंद्रह दिन तक अपने अनुभव सुनाते रहे और बनारसीदास जी उसे लिखते रहे। चूंकि वे सरकारी नौकर थे और यह पुस्तक अंग्रेज़ी शासन की बड़ी भीषण आलोचना थी, इसलिए उन्होंने इस पुस्तक में लेखक का नाम श्री तोताराम सनाढ्य का ही रखा और शीर्षक दिया— 'फीजी द्वीप में २१ वर्ष'। इस पुस्तक का अंग्रेजी, मराठी और गुजराती भाषाओं में तथा उर्दू में अनुवाद हुआ और श्री सी.वाई. चिंतामणि ने 'लीडर' में इसकी समीक्षा की। इसके बाद बनारसीदास जी ने और भी किताबें लिखीं जैसे— 'प्रवासी भारतवासी', 'फीजी की समस्या', 'फीजी में भारतीय' आदि। इसी सिलसिले में उनका संपर्क श्री सी.एफ. एण्ड्रयूज़ से हुआ, जिनके आग्रह पर उन्होंने इंदौर की सरकारी नौकरी छोड़ दी और 'प्रवासी भारतीयों के काम के लिए उनके साथ शांति निकेतन रहने लगे। यहाँ पर उनका परिचय गुरुदेव रवींद्रनाथ ठाकुर से हुआ और चतुर्वेदी जी के प्रयास से शांति निकेतन में हिंदी भवन की स्थापना हुई। जब वे शाँति निकेतन में थे तो महात्मा गाँधी वहाँ आये और उन्हें अपने साथ साबरमती आश्रम में ले गये। श्री बनारसीदास जी गाँधी जी के प्रवासी भारतीयों संबंधी कार्य में सहायता देने लगे और १९२५ में वे भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की ओर से नेरोबी में पूर्वी अफ्रीकी भारतीय कांग्रेस में सम्मिलित होने गये। एक दिन साबरमती आश्रम में गांधी जी ने यह कहा कि जो लोग चर्खा में विश्वास नहीं करते, उन्हें गुजरात विद्यापीठ छोड़ देना चाहिए। बनारसीदास जी प्रवासी भारतीयों के कार्य के सिलसिले में गांधी जी के पास गये थे। यद्यपि उनकी जीविका का प्रबंध करने के लिए उन्हें गुज़रात विद्यापीठ में अध्यापक बना दिया था, उन्होंने तत्काल एक पत्र लिखकर अपना त्यागपत्र दे दिया, जिसमें लिखा था मैं चर्खे में विश्वास नहीं करता, इसलिए मैं त्यागपत्र देता हूँ। सभा के बाद गाँधी जी उन्हें अपनी मोटर में बिठाकर ले गये और उन्हें समझाया कि उनके वेतन का प्रबंध दूसरे स्रोत से हो जायेगा लेकिन वे साबरमती आश्रम न छोड़ें। परंतु बनारसीदास जी ने त्यागपत्र के बाद वहाँ रहना अनुचित समझा और नौकरी छोड़कर फीरोज़ाबाद वापस चले आये। वहाँ उन्हें तीन वर्ष तक फ्रीलांस पत्रकारिता पर जीवित रहना पड़ा। वे प्रवास भारतीयों के बारे में 'लीडर' तथा मद्रास के 'हिंदू' में समाचार और लेख लिखते थे और हिंदी पत्रों में भी। सिद्धांत और स्वाभिमान की प्रतिमूर्ति वे थे। कलकत्ता से सन् १९२८ में वे 'विशाल भारत' के आरंभ होने पर उसके प्रथम संपादक हुए और १९३७ तक वहाँ रहे। कलकत्ता में उनके छोटे भाई की मृत्यु हो गयी, जिसके बाद उनका मन कलकत्ता से उचट गया था। उस समय ओरछा नरेश, श्री वीर सिंहदेव उन्हें टीकमगढ़ ले आये, जहाँ नगर से दूर जमड़ार नदी के किनारे कुंडेश्वर प्रपात पर बनी कोठी में वे रहने लगे। बाद में उस कोठी को 'गाँधी भवन' का नाम चतुर्वेदी जी के आग्रह से दे दिया गया। आजकल वहाँ 'श्री बनारसीदास चतुर्वेदी बुनियादी

शिक्षण महाविद्यालय' है।

श्री बनारसीदास चतुर्वेदी महत्तर सामाजिक उद्देश्यों के लिए अच्छी-अच्छी नौकरियों को बिना झिझक के छोड़ते चले आये थे। उन्हें स्वतंत्र पत्रकारिता का भी अनुभव था। जब पत्रकारों के अधिकारों की बात उठी तो उन्होंने उसका नेतृत्व किया और १९४२ में जब उत्तर प्रदेश हिंदी पत्रकार सम्मेलन की स्थापना हुई तो वे उसके अध्यक्ष चुने गये। बाद में १९४४ में मथुरा में होने वाले अखिल भारतीय हिंदी पत्रकार संघ के अध्यक्ष चुने गये और फिर १९५४ में मद्रास के अखिल भारतीय पत्रकार संघ के अध्यक्ष बनाये गये। उन्हीं के समय में 'श्रमजीवी पत्रकारों' के लिए भारत सरकार ने एक कानून पास किया और एक वेतनमंडल की स्थापना भी की। इन अधिवेशनों में बनारसी दास जी ने पत्रकारिता के स्वरूप पर जो गंभीर विचार प्रकट किये और जिन खतरों के संकेत किये, वे आज पूरी तरह हमारे सामने हैं।

मैं जब मथुरा में ही था और मथुरा हिंदी साहित्य परिषद का मंत्री था, उस समय चतुर्वेदी जी से पत्र-व्यवहार हुआ, जिसके फलस्वरूप ब्रज साहित्य मंडल की स्थापना हुई। कुछ दिनों बाद 'मधुकर' पत्र भी टीकमगढ़ से निकलने लगा, जिसमें बेतवा की बड़ी प्रशंसा होती थी। उस समय मैंने उनको एक पत्र यमुना के संबंध में लिखा जो 'मधुकर' में छपा था। श्री बनारसीदास चतुर्वेदी नवोदित लेखकों को किस तरह प्रोत्साहित करते थे, उसका एक उदाहरण वह पत्र है जो उन्होंने मुझे तत्काल लिखा। यह मैं नीचे उद्‌घृत कर रहा हूँ। उस पत्र के बाद मैं कुंडेश्वर पहुँचा। तीन महीने बाद वहाँ दोबारा गया और बाद में चार वर्षों तक उनके साथ रहा और पत्रकारिता तथा अन्य आंदोलनों में उनके साथ बराबर संबंध बना रहा। वे जब १९५२ से १९६४ तक राज्यसभा के सदस्य थे, तब प्रायः रोज़ ही मिलना-जुलना रहता था। मेरे निर्माण में उनका महत्वपूर्ण योगदान रहा, जिसकी भूमिका इस पत्र से प्रारंभ हुई थी।

''पत्र''

मधुकर कार्यालय
टीकमगढ़ २५.२.१९४१

प्रिय जगदीश प्रसाद जी,

सादर वन्दे! २२.२.४१ का कृपा पत्र मिला। कृतज्ञ हूँ। उसके कुछ अंश टाइप कराके 'मधुकर' में देना चाहता हूँ। You have given me a beautiful idea. I never knew that Jamna plays such a wonderful part in Bundelkhand.

एक प्रार्थना है। आप चार दिन के लिये यहाँ पधारिये। मार्ग व्यय परिषद दे देगी। मथुरा से मेल सवेरे १०-३० पर चलती होगी, वह ललितपुर शाम को साढ़े पाँच बजे पहुंचती है। ललितपुर में चुंगी के सिकत्तर श्रीयुत श्यामसुंदर जी चतुर्वेदी मेरे भूतपूर्व सहपाठी हैं। रात भर उन्हीं के यहाँ रहिये। वहाँ रानी बाग में ओरछा राज्य के एजेंट महाशय भी रहते हैं। श्री पुरुषोतम नारायण जी चौबे वकील भी सुपरिचत हैं।

सवेरे साढ़े नौ बजे मोटर टीकमगढ़ के लिये रवाना होती है। टिकट पहले से ही ले लीजिये क्योंकि आजकल भीड़ की आशंका है।

वह स्थल आपको बहुत पसंद आयेगा। आजकल यहाँ मेला हो रहा है। स्थानीय कवि-सम्मेलन

२ मार्च को होगा, पर वह तो मामूली सी चीज़ है। यहाँ आपसे ब्रज और बुंदेलखंड के साहित्यिक सहयोग पर बातचीत करना आवश्यक है। ज़रुर पधारिये। संकोच न कीजिये।

मार्ग में महरौनी पर जब मोटर खड़ी हो तो बीज गोदाम में श्री रामसेवक रावत या श्री गुलबीर सिंह जी को तलाश कर लीजिये। अपने ही आदमी हैं। ललितपुर में साहित्य परिषद या इसी तरह की कोई संस्था बनाना जरुरी है। इसकी चर्चा आप भी वहां करें।

वैसे जो गाड़ी रात को बारह बजे मथुरा से चलती होगी वह ललितपुर ८ बजे सवेरे आती है और उसमें ललितपुर ठहरना नहीं पड़ता, पर शायद उस गाड़ी से आने में रात भर रेल में जगना पड़ेगा। जैसा भी आप मुनासिब समझे। टीकमगढ़ से इधर ही चार मील पर कुंडेश्वर है नदी तट पर। वहीं उतर पड़िये।

दर्शनाभिलाषी : बनारसीदास चतुर्वेदी

उनकी यह आत्मीयता कभी भुलाई नहीं जा सकती। उन्होंने अपने जीवन में जो आदर्श स्थापित किए वे अब भी हमारे मार्ग दर्शक हैं।

□

नाटक

अन्वेषक

प्रताप सहगल

मंच पर अंधेरा

नेपथ्य से स्वर गूँजता है,

स्वर — नमस्कार, प्रेक्षागृह में पधारे सभी नाट्य प्रेमियों को हमारा नमस्कार। यों तो हर युग में प्रतिभाएँ पैदा होती है, लेकिन किसी काल-खंड में महान प्रतिभा जन्म लेती है। प्रतिभा हमेशा अन्वेषण के लिए तैयार रहती है। कुछ नया, और नया, और नया। ब्रह्मांड के रहस्य, साहित्य के कर्म या फिर मनुष्य के हृदय के गह्वर की गहराइयों को समझने, पढ़ने को आतुर, व्याकुल। तभी तो जन्म लेती हैं नयी रचनाएँ, ध्वस्त होते हैं चुके हुए मूल्य, चरमराती परंपराएँ और उदित होता है कोई नया आलोक स्तंभ।

ऐसा ही एक अन्वेषक, एक नालोक स्तंभ भारत को मिला था। समय है पांचवी शताब्दी का अवसान काल। भारतीय इतिहास का स्वर्णयुग, स्वर्णिम प्रतिभा लिए हुए आए आर्यभट। आर्यभट के विषय में इतिहास खामोश है। उनके अन्वेषणों की जानकारी आर्यभटीय जरूर देती है, लेकिन शेष बस शून्य। उसी महान प्रतिभा के पास पहुँच रहे हैं हम। वह देखिए उस समय के सम्राट, गुप्त-वंश के क्षीणकाल-शासन में भी गरिमा-मंडित, बुधगुप्त पधार रहे हैं।

दृश्य एक

[स्वर के समाप्त होने के साथ ही मंच पर एकदम पूरा प्रकाश फैलता है। साथ ही शंख-ध्वनि होती है और नगाड़े गूँजने लगते हैं। थोड़ी देर मंगलकारी संगीत के बाद।
दाई ओर एक-एक करके सभासद आकर अपना-अपना स्थान ग्रहण करते हैं।
संगीत ध्वनि फिर होती है और थोड़ी देर बाद रुकती है।]

प्रतिहारी — सावधान ! गुप्त वंश के सूर्य, कवि-कुलपालक, सम्राट बुधगुप्त पधार रहे हैं।
(सम्राट बुधगुप्त का प्रवेश)
[साथ ही दो अंगरक्षक हैं, जो द्वार पर ही रुक जाते हैं। सभी सभासद खड़े होकर सम्राट का अभिवादन करते हैं। बुधगुप्त सिंहासन ग्रहण करते हैं। उनके बैठने के साथ ही सभासद भी अपना-अपना स्थान ग्रहण कर लेते हैं।]

बुधगुप्त अमात्य ! सभा की कार्यवाही आरंभ की जाए।

अमात्य सम्राट बुधगुप्त की जय हो। हमें अपने गुप्तचरों से सूचना मिली है कि हूण जाति के लोग गुप्त-साम्राज्य पर आक्रमण के लिए पुनः तत्पर हो रहे हैं।

बुधगुप्त यह तो चिंता का विषय है अमात्य ! आपने आक्रमण विफल करने के लिए क्या योजना बनाई है।

अमात्य सेनापति को सावधान कर दिया गया है सम्राट !

बुधगुप्त सेना को सावधान कर देना ही पर्याप्त नहीं है। प्रजा को भी सावधान करना आवश्यक है। (सभी सभासद् स्वीकृति में सिर हिलाते हैं।)

बुधगुप्त आप सभी जानते हैं, पिछली बार भी हमने प्रजा के सहयोग से ही हूण-आक्रमण विफल कर दिया था।

अमात्य अव्यवस्था न हो, इसीलिए अभी प्रजा को सावधान नहीं किया गया।

बुधगुप्त प्रजा का मनोबल ऊँचा रहे तो कोई अव्यवस्था नहीं होगी।

प्रतिहारी सम्राट की जय हो।

अमात्य सभा गंभीर और चिंताजनक विषय पर बात कर रही है।

प्रतिहारी अपराध क्षमा हो सम्राट, आचार्य आर्यभट आपसे मिलना चाहते हैं।

बुधगुप्त आचार्य आर्यभट ! उन्हें सम्मानपूर्वक अंदर ले आओ।
(प्रतिहारी जाता है)
(आर्यभट का प्रवेश)

आर्यभट गुप्त साम्राज्य अमर रहे, सम्राट बुधगुप्त।

बुधगुप्त आइए आचार्य आर्यभट ! प्रणाम !

आर्यभट थोड़ा समय मिल सके तो.....

बुधगुप्त हाँ, हाँ, आइए, हम उद्यान में चलते हैं। अमात्य हमने अपनी सम्मति दे दी है। सभासदों की मंत्रणा से हमें अवगत करवाएँ।

अमात्य जो आदेश सम्राट।

बुधगुप्त आइए आचार्य आर्यभट।
(बुधगुप्त और आचार्य आर्यभट मंच के एक किनारे पर उद्यान में आ जाते हैं। शेष दृश्य अंधेरे में डूब जाता है।)

दृश्य दो

बुधगुप्त मेरे लिए क्या आदेश है आचार्य?

आर्यभट आदेश नहीं, निवेदन है।

बुधगुप्त आज्ञा

आर्यभट आप तो जानते ही हैं सम्राट कि मैं पिछले कई वर्षों से शोध में लगा हूँ और कुछ निष्कर्षों पर पहुँचने की संभावना भी दिखाई पड़ती है, लेकिन......

बुधगुप्त लेकिन क्या आचार्य, आप निःसंकोच कहिए, गुप्त-वंश की परंपरा अनुसरण करते हुए शिक्षा, संस्कृति और धर्म के विस्तार के लिए मैं कुछ भी करने के लिए तत्पर हूँ।

आर्यभट धनाभाव के कारण वेधशाला का निर्माण रुका हुआ है।

बुधगुप्त आपने हमें इसकी सूचना पहले क्यों नहीं दी।

आर्यभट पत्र भिजवाया तो था।

बुधगुप्त अच्छा, आजकल राज्य कर्मचारी कुछ उद्दण्ड हो रहे हैं। आप अपनी आवश्यकता बतलाइए।

आर्यभट वेधशाला पूरी हो तो मैं शोध पूरा कर सकूँ और अपने निष्कर्ष समाज को दे सकूँ। यही मेरी इच्छा है।

बुधगुप्त आचार्य आर्यभट ! गुप्त-साम्राज्य आज पहले सा शक्तिशाली नहीं रहा। हूणों के आक्रमण की आशंका निरंतर बनी हुई है। राज्य-कर्मचारी उद्दण्ड हो रहे हैं और प्रजा से कर-प्राप्ति में भी कमी हुई है, लेकिन शिक्षा और शोध के लिए गुप्त-साम्राज्य के कोष नें राशि का अभाव नहीं है। में आज ही आदेश जारी कर दूँगा, आप की वेधशाला शीघ्र पूरी होगी और हमें शीघ्र ही आपके शोध के परिणाम जानने के अवसर मिलेगा।

आर्यभट अवश्य !

बुधगुप्त आपसे एक निवेदन और है आचार्य !

आर्यभट कहिए सम्राट !

बुधगुप्त आप तो जानते ही हैं कि नालंदा विश्वविद्यालय में कुलपति का स्थान रिक्त होने वाला है। हमारी इच्छा है कि आप नालंदा के कुलपति का पदभार संभालें।

आर्यभट लेकिन........

बुधगुप्त मुझे कह लेने दें आचार्य ! मैंने यह भी निर्णय लिया है कि अगर आप चाहें तो राजधानी से थोड़ी ही दूर अग्रहार ग्राम के रूप में कुसुमपुर को स्वीकार करें और अपना शोध-कार्य वहीं पूर्ण करें।

आर्यभट दोनों कार्यों के साथ न्याय न हो सकेगा। मुझे अपना शोधपूर्ण करने दें, उसके लिए मैं कुसुमपुर चला जाऊँगा और प्रयोग नालंदा वेधशाला में ही करूँगा। विश्वविद्यालय के कुलपति का पदभार अभी नहीं सँभाल पाऊँगा। क्षमा करें।

बुधगुप्त जैसी आपकी इच्छा। आप जब भी चाहें, इस पद पर आसीन हो सकते हैं आचार्य !

आर्यभट धन्यवाद सम्राट ! अब मुझे आज्ञा दें। नमस्कार।

बुधगुप्त नमस्कार।

दृश्य तीन

(मंच का एक भाग)

चूड़ामणि चिन्तामणि !

चिन्तामणि बोल चूड़ामणि !

चूड़ामणि कुछ सुना तुमने।

चिन्तामणि यही न कि महाराज बुधगुप्त ने आर्यभट के सामने नालंदा विश्वविद्यालय के कुलपति का पद देने का प्रस्ताव रखा है।

चूड़ामणि तुम्हें कैसे पता।

चिन्तामणि जैसे तुम्हें पता।

चूड़ामणि इसका अर्थ यह है कि महल के अंदर के समाचार देने के लिए तुम्हारे गुप्तचर भी सक्रिय हैं।

चिन्तामणि हम ब्राह्मणों का तो सभी जैसे सर्वनाश करने पर तुले हैं।

चूड़ामणि यवन, बौद्ध जैन सभी ब्राह्मण धर्म को ही हानि पहुँचाने के लिए अवतरित हुए हैं।

चूड़ामणि और अब इस आर्यभट को देखों। इतनी अल्पायु में ही इतना बड़ा पद। क्या महाराज को पूरे गुप्त साम्राज्य में और कोई योग्य व्यक्ति नहीं मिला।

चूड़ामणि यह चिंता का विषय है चिन्तामणि ! तुमने नालंदा में ही शिक्षा अर्जित की। वहीं शिक्षा दे रहे हो। फिर भी महाराज की विशिष्ट अनुकंपा का पात्र बना कल का छोकरा आर्यभट।

चिन्तामणि हाँ, मेरे सामने ही तो वह यहाँ आया था। वैसे कुशाग्र-बुद्धि तो वह है। पर कुछ वय का सम्मान भी तो होना चाहिए। एक से एक प्रकाण्ड विद्वान, आचार्य, नालन्दा में भरे पड़े हैं, फिर भी कुलपति के पद का प्रस्ताव दिया जाता है आर्यभट को।

चूड़ामणि मुझे तो लज्जा आ रही है। यह कल का छोकरा हम जैसे महाविद्वानों पर शासन करेगा।

चिन्तामणि पर वह तो गया।

चूड़ामणि कहाँ?

चिन्तामणि तुम्हें नहीं मालूम !

चूड़ामणि नहीं तो।

चिन्तामणि महाराज ने अग्रहार ग्राम के रूप में कुसुमपुर का सारा प्रदेश आर्यभट को दे दिया है, ताकि वह अपना अध्ययन और शोध जारी रख सके।

चूड़ामणि बिना वेधशाला के खगोल में शोध।

चिन्तामणि वेधशाला तो नालन्दा में है न ! वहीं आएगा प्रयोग करने। पता नहीं, वह करना क्या चाहता है?

चूड़ामणि जो भी करेगा, होगा हमारे हितों के विपरीत। यह तो मैं तुम्हें आज ही बता सकता हूँ।

चिन्तामणि महाराज को चलकर समझाना चाहिए।

चूड़ामणि क्या?

चिन्तामणि यही कि जब तक आर्यभट के शोध-परिणाम विशिष्ट समिति से पारित न हो जाएँ, उन्हें सार्वजनिक रूप से घोषित करने की अनुमति न दी जाए।

चूड़ामणि वाह चिन्तामणि ! तुमने भी क्या कुशाग्रबुद्धि प्राप्त की है।

चिन्तामणि तो फिर !

चूड़ामणि फिर !

चिन्तामणि चलें !

चूड़ामणि हाँ चलें।

(दृश्य लोप)

दृश्य चार

वेधशाला में बैठा आर्यभट एक यंत्र से आसमान में छितरे सितारों के अध्ययन में लीन कभी कुछ लिख लेता है। फिर यंत्र से देखने लग जाता है। तभी दूर से मंदिरों में शंखनाद और घंटों के स्वर सुनाई देते हैं। चिड़ियों का चहचहाना।

वेधशाला से थोड़ा हटकर लाटदेव और निशंकु सोए हुए दिखाई पड़ते हैं।

लाटदेव उठो निशंकु ! प्रभात हो गया।

निशंकु जगे हुए को जगा रहे हो लाटदेव।

लाटदेव निशंकु ! आचार्य दिखाई नहीं दे रहे।

निशंकु वे आज भी सारी रात जागते रहे।

लाटदेव इस तरह से तो उनका स्वास्थ्य बिगड़ जाएगा।

निशंकु हाँ, लेकिन उन्हें अध्ययन और शोध के सामने हर वस्तु तुच्छ दिखाई देती है।

लाटदेव उनके शोध-कार्य का कुछ भार हमें वहन करना चाहिए।

निशंकु ठीक कहते हो लाटदेव। वेधशाला में एक सीमा तक नक्षत्रों की हलचल मेरी समझ में आती है, लेकिन उसके बाद जैसे कुछ धुँधलाने लगता है।

लाटदेव ऐसी ही कुछ-कुछ मेरी भी स्थिति है, लेकिन लगता है आचार्य आर्यभट शीघ्र ही किन्हीं निष्कर्षों पर पहुँचने वाले हैं।

निशंकु कैसे?

लाटदेव चलो पहले नित्यकर्म से निवृत हो लें, तब आचार्य को भी ले जाएँगे, उन्हीं के सामने अपनी शंका रखेंगे।

निशंकु ठीक है।

(लाटदेव और निशंकु अपने कक्ष से उठकर वेधशाला में पहुँचते हैं।)

निशंकु लाटदेव !

लाटदेव कहो निशंकु !

निशंकु लगता है गुरुदेव अभी भी अस्त होते हुए अंतिम नक्षत्र का अध्ययन कर रहे हैं।

लाटदेव संभवत:, हमें कुछ समय के लिए प्रतीक्षा करनी चाहिए।

निशंकु गुरुदेव का ध्यान भंग हुआ है।

आर्यभट कौन?

लाटदेव निशंकु।

निशंकु प्रणाम गुरुदेव !

आर्यभट लाटदेव, निशंकु ! स्वस्थ तो हो।

आर्यभट हम तो स्वस्थ हैं, लेकिन आपके स्वास्थ्य के क्षय होने की चिंता हो रही है।

आर्यभट मैं भी तुम लोगों की तरह युवा हूँ, कठिनाइयाँ झेल सकता हूँ। पाण्डुरंग स्वामी का कोई समाचार मिला।

लाटदेव व्यावसायिकों से पता चला है कि पाण्डुरंग आज कल कामरूप प्रदेश में है और जल्दी ही लौटेगा।

निशंकु आपका कार्य संपन्न हो गया हो तो चलें।

आर्यभट हाँ, चलो, आज मैं तुम दोनों के साथ एक महत्वपूर्ण विषय पर चर्चा करना चाहता हूँ।

लाटदेव कहिए।

आर्यभट लाटदेव ! निशंकु ! मैं जो भी शोध कर रहा हूँ, उस पर संभवत: आज लोग विश्वास न करें।

निशंकु हमें बताइए तो सही।

आर्यभट तुम दोनों मेरे शिष्य ही नहीं बल्कि मित्र भी हो, इसलिए तुमसे चर्चा कर रहा हूँ, आज तक धारणा रही है कि पृथ्वी स्थिर है और ब्रह्माण्ड चलायमान है, लेकिन यह धारणा सही नहीं है।

दोनों यानि।

आर्यभट आओ बैठो। दूसरे ग्रहों की तरह से पृथ्वी में भी गति है। मेरी गणना के अनुसार पृथ्वी अपने अक्ष पर पूर्व की ओर घूमती है। मैंने यह भी गणना की है कि पृथ्वी यह चक्कर २३ घण्टे, ५६ पल और ४.१ क्षण में लगाती है। यानि लगभग एक दिन और पूरे वर्ष में यह ३६५ दशलवम २५८६८ चक्कर लगाती है। इसी बात को सूत्र रूप में मैंने बाँध दिया है....

युगरविभगणा : ख्युघृत, शशि....... लो पढ़ो।

दोनों (पढ़ते हैं) यह तो बहुत कठिन है आचार्य।

आर्यभट मैंने इस श्लोक के माध्यम से गणना का नया ढंग आविष्कार किया है। हमारी वर्णमाला में क से म तक २५ अक्षर वर्गों में विभाजित हैं जैसे— कवर्ग, चवर्ग, आदि और शेष ८ अक्षर अवर्ग हैं। मैंने प्रत्येक अक्षर को अंक-मान दिया है। और इन्हें एक श्लोक में सूत्र रूप में बाँध दिया है। उदाहरण के लिए क का मान १ है ज का ८ न का मान २० है तो म का २५। अक्षरों के माध्यम से हम गणना त्वरित गति से कर सकते हैं। तुम इसका प्रयोग कर के देखोगे।

दोनों जी।

(तभी ढिंढोरची मंच के एक कोने पर नगाड़ा पीटता हुआ आता है। कुछ लोग उसके आसपास जमा हो जाते हैं। आर्यभट, लाटदेव और निशंकु का ध्यान भी इसी ओर जाता है।

ढिंढोरची (नगाड़ा पीटते हुए) सुनो, सुनो, सभी को सूचित किया जाता है कि कल सुबह सात बजे से ११ बजे तक सूर्यग्रहण लगेगा। इसलिए शास्त्रों के अनुसार सभी को चेतावनी दी जाती है कि वे दान-पुण्य, दक्षिणा देकर ग्रहण के प्रकोप से मुक्ति पायें... (नगाड़ा पीटते हुए चला जाता है।)

आर्यभट (व्यंग्य भरी हँसी) यह भी अज्ञान का ही एक रूप है।

लाटदेव क्या इस विषय में आपने कोई खोज कर ली है?

आर्यभट हाँ और मैंने निश्चय किया है कि मैं अपने सभी निष्कर्षों को सूत्र रूप में बाँधकर महाराज बुध गुप्त को समर्पित कर दूँगा।

आर्यभट कास्वर गूँजता है—

'ब्रह्मकुशशिबुध भृगुरविकुजगुरु कोणभगणान्नमस्कृत्य
आर्यभटस्त्विह निगदति कुसुम 'परेऽभ्यर्चितं ज्ञानम्।'

लाटदेव का स्वर : अर्थात—ब्रह्मा, पृथ्वी, चंद्रमा, बुध, शुक्र, सूर्य, मंगल, ब्रहस्पति, शनि तथा नक्षत्रों को नमस्कार करके आर्यभट इस कुसुमपुर में अतिशय पूजित ज्ञान का वर्णन करता है।

आर्यभट सुंदर, अति सुंदर, मैं बोलता हूँ, तुम लिखो, निशंकु तुम भी लिखो.......
(दोनों लिखने लगते हैं, धीरे-धीरे दृश्य लोप होता है।)

दृश्य पाँच

(मंगलकारी संगीत गूँजता है। सम्राट बुध गुप्त का राजसिंहासन—सभी सभासद उपस्थित हैं, साथ ही चिन्तामणि-चूड़ामणि, लाटदेव-निशंकु तथा कुछ अन्य लोग भी उपस्थित हैं।)

प्रतिहारी गुप्त वंश के सूर्य, धर्म के रक्षक, कला-मित्र सम्राट बुधगुप्त पधार रहे हैं।
(हलचल होती है और क्षणभर बाद सभा व्यवस्थ्ति हो जाती है।)

बुधगुप्त अमात्य ! सभा की कार्यवाही प्रारंभ की जाए।

अमात्य सम्राट की जय हो। आज आचार्य आर्यभट आप के सम्मुख अपने शोध के निष्कर्षों की घोषणा करना चाहते हैं।

चूड़ामणि (धीरे से) चिन्तामणि, तैयार हो न !

चिन्तामणि हाँ, तुम भी तैयार हो न !

चूड़ामणि हाँ।

बुधगुप्त चिन्तामणि जी ! आप चूड़ामणि जी से जो वार्तालाप कर रहे हैं, हम भी तो सुनें।

चिन्तामणि कलाविद् सम्राट् बुध गुप्त की जय हो ! हम दोनों ब्राह्मण आपकी सेवा में निवेदन करना चाहते हैं कि आर्यभट की घोषणाओं पर हमें इसी सभा में विचार करने का अवसर दिया जाए।

बुधगुप्त आचार्य आर्यभट ! आपकी क्या राय है।

आर्यभट सम्राट ! मैं जानता हूँ आपका स्वास्थ्य ठीक नहीं चल रहा। संस्कृति, कला, ज्ञान-विज्ञान के प्रसार के लिए आप भी गुप्त सम्राटों की परंपरा का निर्वाह कर रहे हैं। मेरे मन में केवल इतना ही संकोच है।

बुधगुप्त मेरे स्वास्थ्य की चिंता आप न करें... विद्वानों के वाद-विवाद को सुनकर मेरा मनोविनोद होगा।

आर्यभट जैसा आप उचित समझें। मेरे लिए क्या आदेश है।

बुधगुप्त आप अपने अन्वेषण का विस्तार से उल्लेख करें।

आर्यभट मैं जब बहुत छोटा था सम्राट तभी, हाँ, तभी मुझे अच्छी तरह से याद है— यह नक्षत्र मुझे अपनी ओर आकर्षित करते थे, मुझे लगता जैसे वे मौन-स्वरों में मुझे निमंत्रण दे रहे हों—आओ ! हमें पढ़ो, आओ हमें पढ़ो और मैं रात्रि भर जाग-जागकर उन नक्षत्रों को लाखों योजन दूर बैठा पढ़ने का प्रयास करता। थक कर सो जाता। तब भी सूर्य चंद्रमा, बुद्ध, मंगल और न जाने कितने नक्षत्र और ग्रह मेरे स्वप्न लोक का हिस्सा बनते। मुझे लगता जैसे ब्रह्माण्ड मुझे चुनौती दे रहा हो—मुझे पढ़ो, मुझे पहचानो, और मैंने यह

चुनौती स्वीकार कर ली।

चिन्तामणि आर्यभट ! लगता है आप अभिनय कला में भी निष्णात हैं।
(कुछ लोग हँसते हैं)

आर्यभट हाँ, भरत, भास, कालिदास, सभी तो हमारी धमनियों में बहते रक्त का हिस्सा हैं, हमारे हृदय का स्पंदन हैं और परंपरा का श्रेष्ठ अवदान हैं।

चूड़ामणि परंपरा का ही निषेध करने वाले व्यक्ति को परंपरा की बात शोभा नहीं देती सम्राट !

आर्यभट अन्वेषण परंपरा का निषेध नहीं, उसका विकास है। कोई भी अन्वेषक तब तक अन्वेषण कर ही नहीं सकता जब तक वह परंपरागत मूल्यों, मानों और निष्कर्षों पर प्रश्नचिह्न न लगाए।

बुधगुप्त वाह आर्यभट ! वाह !

चूड़ामणि सम्राट ! अन्वेषक अपना अन्वेषण घोषित भी तो करें।

आर्यभट हाँ, सभा में आने से पूर्व मैंने ग्रहण लगने की घोषणा सुनी थी सम्राट ! परंपरा से चले आ रहे शास्त्रोक्त राहु-केतु के कारण ग्रहण लगने का सिद्धांत मिथ्या है।

सभी (आश्चर्य से) क्या.... क्या.... क्या कहना चाहते हैं !

आर्यभट चंद्र की छाया पृथ्वी पर पड़ती है तो 'सूर्य ग्रहण' होता है और जब पृथ्वी की छाया चंद्र पर पड़ती है तो चंद्रग्रहण होता है।

सभासदों में से एक सम्राट बुधगुप्त क्षमा करें, मैं कुछ निवेदन करना चाहता हूँ।
(बुधगुप्त हाथ के संकेत से आदेश देते हैं)।

एक सभासद आर्यभट अपनी इन निरर्थक घोषणाओं से हमारी आस्था को खण्डित करना चाहते हैं !

आर्यभट आस्था का कोई आधार भी तो होना चाहिए।

चूड़ामणि सम्राट से हमारा निवेदन है कि आर्यभट के इस प्रलाप को यहीं बंद किया जाए।

(सभा में उपस्थित लोग दो गुटों में बँट जाते हैं। अधिकांश लोग आर्यभट की बातों से सहमत नहीं होते और कुछ का मत है कि पहले आर्यभट की बातों को ठीक से सुन तो लिया जाए।)

दूसरा सम्राट ! पहले हम आचार्य की बातों को सुन तो लें।
(कुछ लोग ऐसे भी हैं, जिन्हें कुछ भी समझ में नहीं आता तो वे कभी आर्यभट के समर्थकों का तो कभी उसके विरोधियों का साथ देने लगते हैं)

तीसरा हाँ ! हाँ !

बुद्धगुप्त (ताली बजाकर) सभा में अव्यवस्था न फैलाई जाए। आचार्य आर्यभट को अपनी बात कहने का पूरा अवसर मिलना चाहिए।

चिन्तामणि सम्राट ! अनर्थ हो जाएगा।

बुधगुप्त इसकी चिंता आप हम पर छोड़ दें।
(हल्की सी व्यंगपूर्ण हँसी होती है।)
हाँ, तो आचार्य........

आर्यभट — हम आज तक यह मानते आए हैं कि पृथ्वी शून्य में स्थिर है और ब्रह्माण्ड इसके चारों ओर घूमता है। यह भी मिथ्या है।

चिन्तामणि — (व्यंग्य से) तो फिर सत्य ज्ञान क्या है।

चूड़ामणि/तथा कुछ लोग : हाँ ! हाँ ! बताओ।

आर्यभट — सत्य ज्ञान यह है सम्राट कि पृथ्वी स्थिर नहीं है, बल्कि पृथ्वी अपने अक्ष पर पूर्व की ओर घूमती है।

कुछ लोग — घोर कलियुग !

(चिन्तामणि और चूड़ामणि हँसने लगते हैं। धीरे-धीरे और लोग भी हँसते हैं और सभा में थोड़ी अव्यवस्था फैल जाती है। लाटदेव और निशंकु कुछ कहना चाहते हैं, लेकिन आर्यभट संकेत से उन्हें मना कर देते हैं। वे दोनों बैठ जाते हैं।

आर्यभट — क्षमा करें सम्राट ! इस सभा में चर्चा न हो सकेगी। मेरी बात समझने वाला यहाँ कोई नहीं। यह लाटदेव और निशंकु समझते हैं— यही मेरे काम को आगे भी बढ़ाएंगे और शायद आने वाली पीढ़ियाँ मेरे अन्वेषण का लाभ उठा सकें।

चिन्तामणि — (व्यंग्य से) आने वाली पीढ़ियाँ !

चूड़ामणि — (व्यंग्य से) आने वाली पीढ़ियाँ आपके इस तथाकथित अन्वेषण का उपहास करेंगी।

चिन्तामणि — आचार्य चूड़ामणि ठीक कह रहे हैं सम्राट ! आर्यभट का यह अन्वेषण न आज स्वीकार्य है, न कल होगा।

आर्यभट — आपको तो न आज की मनीषा पर विश्वास है और न ही आने वाली पीढ़ियों के विवेक पर सम्राट ! क्या हमें यह अधिकार है कि हम आने वाली पीढ़ियों के विवेक पर आज टीका टिप्पणी करें।

चूड़ामणि — अधिकार हमें यह है कि हम उचित दिशा की ओर संकेत करें। मिथ्या-ज्ञान प्रचारित करने का हमें अधिकार नहीं होना चाहिए सम्राट !

बुधगुप्त — आचार्य चूड़ामणि ! संभवत: वर्तमान हमें यह अधिकार नहीं देता कि हम यह आज ही निर्णय कर लें कि भविष्य क्या स्वीकार करेगा और क्या नहीं। हाँ, तो आचार्य आर्यभट हम आज भी आपके अन्वेषण को समझने का प्रयास अवश्य करेंगे।

चिन्तामणि — सम्राट ! पृथ्वी अगर घूमती है तो फिर हम इस घूमती पृथ्वी पर खड़े कैसे हैं। हम गिर न जाते। (उपहास भरी हंसी। कुछ लोग साथ देते है।)

बुधगुप्त — आचार्य आर्यभट क्या आपके पास इसका कोई प्रमाण है।

आर्यभट — दिन और रात इसी कारण होते हैं। मैंने तो पृथ्वी की गति का भी अध्ययन कर लिया है और मेरे मत में पृथ्वी अपने अक्ष पर २३ घण्टे ५६ पल और ४.१ क्षणों में पूरा चक्कर लगा लेती है।

चिन्तामणि — घोर कलियुग सम्राट ! घोर कलियुग !

बुधगुप्त — चिन्तामणि जी ! जब आर्यभट ने गणित में दशमलव सिद्धांत का अन्वेषण किया था, आपने तथा अनेक दूसरे लोगों ने तब भी उनका विरोध किया था, लेकिन आज गणित दशमलव सिद्धांत से सभी विश्वविद्यालयों में पढ़ाया जाता है और सब जानते है कि इससे समाज को, गणित के ज्ञानार्जन को कितना लाभ हुआ है।

आर्यभट — कुछ लोग केवल विरोध करने में ही पराक्रम का अनुभव करते हैं सम्राट! आपने प्रमाण की बात की तो उसके लिए कोई भी मेरे साथ २४ घटें वेधशाला में बैठकर प्रयोग करके इसका अनुभव कर सकता है।

चिन्तामणि — आर्यभट! आप 'मिथ्याज्ञान' प्रचारित करके वेद, वेदांग और बड़े-बड़े ऋषियों-महर्षियों के ज्ञान और विवेक का उपहास कर रहे हैं।

दो स्वर — यह हम नहीं होने देंगे।

आर्यभट — ज्ञान की कोई सीमा नहीं होती आचार्य चिन्तामणि। और विवेक का तो उपहास हो ही नहीं सकता।

चिन्तामणि — आप यही तो कर रहे हैं।

आर्यभट — सर्वथा नहीं।

चूड़ामणि — कर भी रहे हैं और नकार भी रहे हैं।

आर्यभट — आचार्य चूड़ामणि! आज रुढ़िवादी ब्राह्मणों का में कोपभाजन हूँ। इसका कारण मैं समझता हूँ।

बुधगुप्त — क्या कारण हो सकता है, आचार्य!

आर्यभट — महाराज! इन जैसे रुढ़िवादियों के क्रोध का कारण केवल इतना है कि मेरे यह अन्वेषण उनके हितों पर चोट करते हैं। जब सामान्य व्यक्ति ग्रहण का कारण जान जाएगा तो वह इन ब्राह्मणों की दान-दक्षिणा से सेवा नहीं करेगा।

चिन्तामणि — यह पुरोहित-वर्ग पर मिथ्या आरोप है।

आर्यभट — मैं भी आप में से ही एक हूँ और अनेक ज्ञानी, विद्वान-जन नए-नए अन्वेषण का स्वागत करते हैं। लेकिन जिन्हें केवल अपना स्वार्थ ही दिखता है केवल वही नयी राहों के अन्वेषण में अवरोध खड़े करते हैं।

चिन्तामणि — यह हमारा अपमान है।

कुछ स्वर — हाँ, हाँ।

एक स्वर — पुरोहितों का इस तरह अपमान करने से तो प्रलय आ जाएगी।

आर्यभट — मैं किसी का अपमान नहीं करता। ब्राहमण वही है जो ज्ञानी हो।

एक स्वर — आचार्य आर्यभट! आप दैवी प्रकोप से आशांकित नहीं होते।

आर्यभट — नहीं, प्रलय का सिद्धांत भी 'मिथ्या ज्ञान' पर ही आधारित है। मेरे मत से समय अनादि और अनंत है। इसमें व्यवधान नहीं आता। यह तो सदा चलता रहता है और एक युग से दूसरे युग में प्रवेश के समय भी न विनाश होता है, न पुनः सृष्टि—केवल ग्रहों की स्थिति में परिवर्तन होता है।

एक स्वर — तो बताइए यह कौन-सा युग है?

आर्यभट — हम कलियुग में रह रहे हैं और इसे प्रारंभ हुए १,८३,६०२ वर्ष हो चुके हैं और पूरे युग की आयु ४३,२०,००० वर्ष है। शेष अनुमान आप स्वयं लगा सकते हैं।

बुधगुप्त — आपके अन्वेषण इस देश और फिर विश्व के कोने-कोने में पहुँच सकें, इसके लिए हम चाहते हैं कि आप अपने सिद्धांतों को सूत्र बद्ध करके प्रचारित करें.... और विद्वतजन अपनी सम्मति दे सकें।

चिन्तामणि — सम्राट! पहले इसे विद्वत परिषद् से पारित तो होने दें।

बुधगुप्त — वह भी होगा, पहले हम तो समझ लें।

आर्यभट — मेरे तीन शिष्य— पाण्डुरंग स्वामी, लाटदेव और निशंकु— मेरे सिद्धांतों को समझते हैं। पाण्डुरंग कामरूप की यात्रा पर है। लाटदेव और निशंकु मेरे साथ हैं। उनकी सहायता से मैंने कुछ लिखा है। लाटदेव ! निशंकु !

लाटदेव — गुरुदेव ! प्रणाम ! सम्राट बुधगुप्त। गुरुदेव ने अपने सिद्धांतों को चार भागों में सूत्रबद्ध किया हैं।

चिन्तामणि — कौन से चार भाग हैं यह हम भी तो सुनें।

लाटदेव — (क्रोध से) आप कुछ बोलने का अवसर भी तो दें। (व्यवस्थित होकर) यह है...... दशगीतिका, गणितपाद, कालक्रियापाद एवं गोलपाद।

बुधगुप्त — विस्तार से कहो वत्स ! इन भागों में किन सिद्धांतों का प्रतिपादन है।

लाटदेव — महाराज ! वस्तुतः गुरुदेव द्वारा रचित 'आर्यभटीय' के ही यह चार खण्ड हैं, विस्तार से जानने के लिए इनका गहन अध्ययन आवश्यक है। फिर भी संक्षेप में....प्रथम खण्ड दशगीतिका है। इसकी पहली आर्या में वंदना और विषय निर्देशन है।

चिन्तामणि — यह कौन-सी नयी बात है। हर रचना का प्रारंभ वन्दना से ही होता है।

लाटदेव — लेकिन गुरुदेव ने वन्दना में ही अपनी प्रतिभा का व्यय नहीं कर दिया। दूसरी आर्या में स्वरों एवं व्यंजनों की सहायता से बड़ी संख्याओं को लिखने की विधि है। फिर दस आर्याओं में ब्रह्म के एक दिन का परिणाम् आकाशीय पिंडों के मगण, उनके मन्द वृत तथा शीघ्र वृत की परिधियाँ, उनकी कक्षाओं का पारस्परिक झुकाव और २४ अर्धज्याओं के मान दिए गए हैं।

आर्यभट — निशंकु ! तुम गणितपाद के संबंध में कुछ कहो।

निशंकु — जी गुरुदेव ! गणितपाद में गणित संबंधी कुछ नियम हैं। बीज गणित और रेखागणित से संबंधित प्रश्न भी हैं। क्षेत्रफल एवं धनफल प्राप्त करने की विधियाँ हैं, वृत में परिधि और व्यास का अनुपात जानने की भी विधियाँ हैं।

चूड़ामणि — निशंकु जी ! यह तो आपने साधारण रूप से कह दिया, पर यह भी तो बताइए आखिर इन में है क्या?

निशंकु — आप तो स्वयं विद्वान हैं आचार्य चूड़ामणि ! आर्यभटीय का एक बार अध्ययन कर लें तो आप की इन शंकाओं का समाधान हो जाएगा।

चूड़ामणि — बहुत उद्दण्ड हो रहे हो निशंकु।

बुधगुप्त — विद्वानों की यह नोंक-झोंक भी अच्छी लगती है। हाँ तो निशंकु शेष दो भागों में क्या है?

निशंकु — महाराज ! काल क्रियापाद और गोलपाद में ज्योतिष संबंधी नए अन्वेषण हैं। पृथ्वी तथा अन्य ग्रहों के घूमने एवं परिक्रमा से संबंधित सिद्धांत हैं। आर्याओं के इस महत्वपूर्ण ग्रंथ को आर्यभटीय कहा है।

बुधगुप्त — आचार्य आर्यभट ! आप की तरह से आपके शिष्य भी कुशाग्रबुद्धि हैं। यह आपके कार्य को अवश्य ही आगे बढ़ाएँगे। २३ वर्ष की अल्पायु में ही आपने इतना महत्वपूर्ण कार्य किया है। नए अन्वेषण किए हैं। शून्य और दशमलव के प्रयोग और महत्व को सरलता से समझा दिया है। इसके लिए यह समाज आपका ऋणी रहेगा। आचार्य चिन्तामणि ! यह तो हर्ष का विषय होना चाहिए कि ऐसी महान् विभूति ने पाटिलीपुत्र में जन्म लिया।

आर्यभट — मैं जानता हूँ महाराज कि आचार्य चिन्तामणि और आचार्य चूड़ामणि दोनों विद्वान ब्राह्मण हैं, लेकिन छोटे-छोटे स्वार्थ व्यक्ति को कभी-कभी आगे बढ़ने से रोकते हैं। कालिदास ने भी कहा है—सभी पुराना अच्छा नहीं होता और सभी नया त्याज्य नहीं होता। विद्वान व्यक्ति तो मूल्यांकन करने के बाद ही स्वीकार या अस्वीकार करता है। मेरा विनम्र निवेदन है कि वे इन अन्वेषणों का भी अध्ययन करके ही अपना निर्णय दें। आज मैं 'आर्यभटीय' को इस सभा के माध्यम से समाज को समर्पित करता हूँ।

बुधगुप्त — धन्य हो ! आप आचार्य नहीं, आचार्य शिरोमणि कहलाने के अधिकारी हैं आर्यभट सभासदो ! आप जानते ही हैं कि हूणों के आक्रमण का खतरा अभी भी बना हुआ है और जब कोई किसी देश पर आक्रमण करता है तो उसका सबसे पहला प्रयास यह होता है कि वह वहाँ की संस्कृति, धर्म और ज्ञान के आगार को नष्ट कर दें। मेरे पूर्वजों ने अपनी दूरदर्शिता से इन सबका संचय किया है। और सदियों से पाटलीपुत्र संस्कृति, शिक्षा और ज्ञान का केंद्र बना हुआ है। 'आर्यभटीय' के विशद् अध्ययन के लिए इसकी अनेक प्रतिलिपियाँ प्रचारित की जाएँ। यह राज्यादेश है।

सभी — महाराज बुधगुप्त की जय ! आचार्य शिरोमणि आर्यभट की जय।

(सभी फ्रीज़ हो जाते हैं।)

प्रकाश केवल आर्यभट पर केंद्रित होता है।

आर्यभट — जय घोष या विरोध के स्वर— मेरे लिए दोनों ही एक समान हैं। मुझे वास्तव में हर्ष होता है जब मैं अन्वेषण के पथ पर कोई छोटा सा सूत्र, कोई छोटी-सी उपलब्धि प्राप्त कर लेता हूँ। मेरी तो यही इच्छा है कि मुझे एक अन्वेषक के रूप में याद किया जाए— अन्वेषक जो सत्य के सामने मिथ्या-ज्ञान और मिथ्या अभिमान को अस्वीकार कर देता है— अन्वेषक— जिसकी राहें, दुर्गम और लंबी होती हैं— अन्वेषक— चरेवेति-चरैवेति करता हुआ निरंतर चलता रहता है। ज्ञान की ओर, सत्य की ओर— बस मेरी तो यही कामना है आने वाले युगों में लोग मुझे एक अन्वेषक के रूप में याद करें........सत्य का एक अन्वेषक......

(धीरे-धीरे दृश्य लोप)

□

महान भारतीय गणितज्ञ
श्रीनिवास रामानुजन की जन्म-शताब्दी के उपलक्ष्य में

भारतीय गणित की यूरोप-यात्रा

गुणाकर मुले

प्राचीन भारतीय साहित्य के चेक-जर्मन मर्मज्ञ डॉ. **मॉरिट्ज विंटरनिट्ज** से एक बार किसी ने पूछा— 'वह कौन-सी चीज है जो आपकी दृष्टि में संसार को भारत की सबसे बड़ी देन है?' विंटरनिट्ज ने तुरंत उत्तर दिया — 'पशु-पक्षियों को आधार बनाकर लिखा गया भारतीय कला-साहित्य ही संसार को भारत की सबसे बड़ी देन है।'

निश्चय ही, जातक कथाएँ, पंचतंत्र, दशकुमारचरित, वेताल-पंचविंशति आदि विश्व कथा-साहित्य की अमर कृतियाँ हैं। **गीता या उपनिषदों** के नाम सुनने के सदियों पहले यूरोप के लोग पंचतंत्र की कहानियों पर फिदा हो चुके थे। ईसा की छठी सदी में ही पंचतंत्र का पहलवी और सीरियाई में अनुवाद हो चुका था। सोलहवीं सदी के अंत तक पंचतंत्र का यूनानी, लैटिन, इतालवी, स्पेनिश, जर्मन, अंग्रेजी आदि भाषाओं में अनुवाद हो चुका था। विंटरनिट्ज ने ठीक ही कहा है कि भारतीय कथा-साहित्य संसार को भारत की सबसे बड़ी देन है।

फिर भी, मैं समझता हूँ, डॉ. विंटरनिट्ज के इस कथन में एक सुधार की निश्चय ही गुंजाइश है। उनकी बात को यों कहा जा सकता है कि साहित्य के क्षेत्र में संसार को भारत की सबसे बड़ी देन है—उसका कथा-साहित्य; और विज्ञान के क्षेत्र में संसार को भारत की सबसे बड़ी देन है—भारतीय अंक-पद्धति और अंक-संकेत।

हमारी वर्तमान अंक-पद्धति में शून्य को मिलाकर कुल दस संकेत हैं। इन दस संकेतों से हम बड़ी-से-बड़ी संख्या को व्यक्त कर सकते हैं। हमारी इस अंक-पद्धति की खास बात यह है कि इसमें प्रत्येक संकेत के दोहरे मान हैं—एक निजी मान और दूसरा स्थानमान। जैसे, संख्या १२,३४१ में अंतिम १ का मान 'एक' है और पहले १ का मान 'दस हजार' है। इसीलिए इसे हम दाशमिक स्थानमान अंक-पद्धति कहते हैं। आज सारे संसार में हमारी इसी अंक-पद्धति का प्रचलन है। शून्य की धारणा इस अंक-पद्धति की एक प्रमुख विशेषता है।

अब सभी स्वीकार करते हैं कि इस दाशमिक स्थानमान अंक-पद्धति की खोज भारत में हुई। लेकिन अंक-संकेत? हिंदी या मराठी के साथ जिन अंक-संकेतों का प्रयोग होता है, उनके बारे में हम जानते हैं कि इनका विकास प्राचीन ब्राह्मी अंक-संकेतों से हुआ है। लेकिन अंग्रेजी और यूरोप की दूसरी भाषाओं के साथ जिन अंक-संकेतों का इस्तेमाल होता है, वे कहाँ से आए? बहुत-से लोग आज भी इन्हें

'अंग्रेजी अंक' कहते हैं। यूरोप के लोग इन्हें अक्सर 'अरबी अंक' कहते हैं। दोनों नाम गलत हैं। 'अंग्रेजी अंक' जैसी कोई चीज नहीं है। अरबी के अपने भिन्न अंक हैं। दरअसल, ये भारतीय अंक हैं। इनका विकास भी प्राचीन भारतीय अंकों से हुआ है। भारतीय अंक-पद्धति के साथ ब्राह्मी के ये अंक-संकेत पहले अरब देशों में पहुँचे थे, फिर यूरोप में इनका प्रचार-प्रसार हुआ। आज भारत के ये अंक-संकेत सारे संसार में फैल चुके हैं। इसीलिए आज हमने इन्हें **भारतीय अंतरराष्ट्रीय अंकों** का नाम दिया है।

भारतीय अंक-संकेतों के इस जागतिक फैलाव की कथा पंचतंत्र की किसी भी कथा से कम दिलचस्प नहीं है। पर लगता है कि हम स्वयं ही प्राचीन भारत की महान उपलब्धियों का सही मूल्यांकन नहीं कर पाते। प्राय: देखने को मिलता है कि हम अपनी श्रेष्ठतम उपलब्धियों को महत्व देने की बजाए नितांत भ्रामक बातों को अद्वितीय मानने लग जाते हैं।

वैदिक काल में लिपि का ज्ञान भले ही न रहा हो, सरल-से अंक-संकेतों का ज्ञान अवश्य था। अंक-संकेतों का ज्ञान आदिवासियों को भी होता है। वैदिक जनों को उतना हिसाब अवश्य आता था जितने की उन्हें जरूरत थी—गायों, घोड़ों और औजारों आदि की गिनती के लिए। ऋग्वेद में एक, द्वि, त्रि, चतुर, पंच, षट, सप्त, अष्ट, नव, दश, सहस्र, आदि संख्या-संज्ञाएँ देखने को मिलती हैं। गिनती की सबसे इकाई **अयुत** (१०,०००) है और ऋग्वेद में पायी जाने वाली सबसे बड़ी संख्या **षष्टि सहस्रा नवति नव** (६०,०९९) है। यजुर्वेद में यह गिनती **परार्ध** (१०,००,००,००,००,०००) तक पहुँचा दी गई है। **सिंधु सभ्यता के** लोगों की अपनी लिपि थी, अंक-संकेत थे। संख्याएँ दशगुणोत्तर थीं।

हमारे दोनों हाथों की उंगलियां दस हैं, इसलिए प्राय: सभी प्राचीन सभ्यताओं में संख्याओं का क्रम दशगुणोत्तर देखने को मिलता है। वैदिक काल की गणनाएँ भी दशगुणोत्तर हैं, पर वैदिक काल में शून्य की धारणा पर आधारित दाशमिक स्थानमान अंक-पद्धति अभी अस्तित्व में नहीं आई थी। वैदिक काल में अभी शून्य की धारणा ने जन्म नहीं लिया था। ऋग्वेद में 'शून्य' शब्द नहीं है। हाँ, 'खे' शब्द शब्द मिलता है, जिसका अर्थ है सूराख या छेद।

दरअसल, आज से तीन-चार हजार साल पहले किसी भी प्राचीन सभ्यता में हमें आधुनिक अंक-पद्धति के दर्शन नहीं होते। प्राचीन मिस्र और सुमेर-बेबीलोन की अंक-पद्धतियाँ भिन्न प्रकार की थीं, उनमें बहुत सारे अंक-संकेत थे। वैदिक समाज को भी दाशमिक स्थानमान अंक-पद्धति की जानकारी नहीं थी। इसलिए वेदों में आधुनिक उच्च गणित के सूत्र खोजना कोरी पोंगापंथी है।

ब्राह्मी के प्राचीनतम अभिलेख हैं अशोक के शिलालेख और स्तंभलेख। अशोक के कुछ लेखों में संख्या २५६ अंक-संकेतों में लिखी गई है। इस संख्या को पुरानी पद्धति से लिखा गया है। अर्थात्, इसे लिखने में क्रमश: २००, ५० और ६ के संकेतों का इस्तेमाल किया गया है। यदि यह संख्या नई दाशमिक स्थानमान अंक-पद्धति में लिखी गई होती तो २, ५ और ६ के अंकों की ही जरूरत पड़ती।

ते वू थे न २०० ५० ६ से हे वं दे वा नं पि ये

अशोक के ब्रह्मगिरि (कर्नाटक) के लेख में
पुरानी पद्धति से लिखी गई संख्या २५६.

अशोक के और कुछ कालांतर के भारत तथा मध्य-एशिया के खरोष्ठी लेखों में भी हमें नई अंक-पद्धति के दर्शन नहीं होते। सारांश यह कि, ईसा की आरंभिक सदियों तक हमारे देश में नई दाशमिक स्थानमान अंक-पद्धति ने जन्म नहीं लिया था।

वैदिक काल और अशोक के समय में तो नई अंक-पद्धति की खोज नहीं ही हुई थी, शकों और कुषाणों के लेखों में भी नई अंक-पद्धति की संख्याएँ नहीं हैं। नाणेघाट, नासिक आदि स्थलों की गुफाओं में ईसा की दूसरी-तीसरी सदियों के सातवाहनों के जो लेख मिले हैं उनमें बड़ी-बड़ी संख्याओं के उल्लेख तो हैं, पर ये संख्याएँ भी नई स्थानमान अंक-पद्धति में नहीं लिखी गईं।

और, इससे भी अधिक दिलचस्प बात यह है कि तथाकथित स्वर्णयुगीन गुप्तकाल के किसी भी लेख में हमें नई अंक-पद्धति के दर्शन नहीं होते। किसी भी गुप्त या वाकाटक नरेश के लेख में नई पद्धति की संख्याओं का इस्तेमाल नहीं हुआ है। पुरानी पद्धति में १ से ९ और १०, २०, १००, १००० आदि के लिए अलग-अलग स्वतंत्र संकेत थे और इन्हीं के मेलजोल से संख्याएँ लिखी जाती थीं। नई अंक-पद्धति का अर्थ है—शून्य का संकेत और १ से ९ तक के संकेत। इन्हीं दस संकेतों से सारी संख्याएँ लिखी जा सकती हैं।

स्वयं गुप्तों के अभिलेखों में, संभवत: पुरातन के मोह के कारण, भले ही नई अंक-पद्धति का इस्तेमाल न हुआ हो, पर स्पष्ट जानकारी मिलती है कि गुप्तकाल तक हमारे देश में शून्ययुक्त एवं दाशमिक स्थानमान अंक-पद्धति की खोज हो चुकी थी। **आर्यभट** (४९९ ई.) और उन्हीं के लगभग समकालीन **वराहमिहिर** की कृतियों से यह बात स्पष्ट हो जाती है। गणित-ज्योतिष की ये कृतियाँ पद्य में हैं इसलिए इनमें अक्षरांकों या शब्दांकों का ही प्रयोग हुआ है। आर्यभट ने संस्कृत वर्णमाला के अक्षरों को संख्यामान देकर एक नई अक्षरांक पद्धति को जन्म दिया था। अन्य गणितज्ञ-ज्योतिषियों ने भिन्न प्रकार की अक्षरांक पद्धतियाँ बनायीं या शब्दांकों का प्रयोग किया। संख्या-सूचक शब्दों का प्रयोग काफी पहले से होता आ रहा था। जैसे, 'शून्य' के लिए ख या आकाश, 'एक' के लिए चंद्र या पृथ्वी, 'दो' के लिए चक्षु या कर्ण, 'छह' के लिए रस या ऋतु, इत्यादि। स्थानमान अंक-पद्धति की खोज होने पर इन्हें **अंकानां वामतो गति:** नियम के अनुसार लिखा गया है। जैसे, **ख-पंच-इंद्रिय** का अर्थ है ५५०।

गणित-ज्योतिष के पद्य ग्रंथों में संख्या तो नहीं हैं, पर अंकगणित की **भक्षाली हस्तलिपि** में शून्य सहित दस अंक-संकेत हैं और इनका स्थानमान के अनुसार उपयोग हुआ है। उपलब्ध भक्षाली हस्तलिपि ईसा की दसवीं सदी के बाद की है, पर कई विद्वानों का मत है कि मूल भक्षाली हस्तलिपि ईसा की तीसरी-चौथी सदी की रचना है। जो भी हो, ईसा की पहली दूसरी सदी तक हमारे देश में दाशमिक स्थानमान अंक-पद्धति की खोज हो चुकी थी। किस महापंडित ने, किस स्थान पर और ठीक किस समय यह महान खोज की, इसके बारे में आज हमें कोई जानकारी नहीं मिलती।

गणितज्ञों और ज्योतिषियों के लिए ही नई अंक-पद्धति का ज्यादा महत्व था, इसलिए उन्होंने इसे जल्दी अपना लिया। अभिलेख प्राय: पुरानी पद्धति के अनुसार लिखे जाते थे, इसलिए उनमें नई अंक-पद्धति को कुछ बाद में और धीरे-धीरे अपनाया गया।

सर्वप्रथम एक गुर्जर राजा के दानपत्र में हमें नई पद्धति के संख्यांक देखने को मिलते हैं। संखेड़ा से प्राप्त यह दानपत्र ५९४ ई. का है। इस दानपत्र में दी गई तिथि है—**संवत्सरशतत्रयं (ये) षट्चत्वारिंशो (शद्) त्तरके (३४६)** ; यहाँ शब्दों और अंक-संकेतों, दोनों में तिथि दी गई है। जिस संवत् का इस्तेमाल हुआ है वह कलचुरि (चेदि) संवत् है। कलचुरि संवत् का आरंभ २४८-४९ ई. से माना जाता है। अत: कलचुरि संवत् ३४६ का अर्थ हुआ ५९४ ई.। दानपत्र में यह संख्या क्रमश: ३, ४

① = 346

② = 675

③ = 715

④ = 872

⑤ = 933
= 187
= 50

⑥
1 2 3 4 5 6 7 8 9 0

आरंभिक भारतीय अभिलेखों में नई अंक-पद्धति की संख्याएं

(१) संखेड़ा से प्राप्त किसी गुर्जर राजा के दानपत्र से (५९४ ई.)
(२) राष्ट्रकूट शासक दंतिदुर्ग के दानपत्र से (७५३ ई.)
(३) राष्ट्रकूट शासक शंकरगण के दानपत्र से (७९३ ई.)
(४) प्रतीहार शासक नागभट के लेख से (८१५ ई.)
(५) प्रतीहार शासक भोजमिहिर के समय के एक लेख से (८७६ ई.)
(६) प्रतीहार शासक भोजमिहिर की ग्वालियर-प्रशस्ति से (लगभग ८७० ई.)

और ६ के अंकों में लिखी गई है। यदि पुरानी अंक-पद्धति का उपयोग किया जाता तो यही संख्या क्रमशः ३००, ४० और ६ के अंकों से लिखी जाती। दानपत्र में संख्या ३४६ गुप्तकालीन ब्राह्मी के ३, ४ और ६ के अंकों में लखी गई है। अतः स्पष्ट है कि नई अंक-पद्धति को अपनाने पर १ से ९ तक के पुराने ब्राह्मी संकेतों को ही कायम रखा गया। संखेड़ा के दानपत्र की संख्या में शून्य नहीं है। राघोली (बालाघाट जिला, मध्य प्रदेश) से प्राप्त शैलवंशी राजा जयवर्धन-द्वितीय के एक दानपत्र (आठवीं सदी) में हमें पहली बार शून्य का संकेत (एक छोटा लघुवृत्त) देखने को मिलता है। इसके बाद अनेक लेखों में नई पद्धति की संख्याएँ देखने को मिलती हैं। लेकिन इसका मतलब यह नहीं है कि पुरानी पद्धति का प्रचलन एकदम बंद हो गया। वस्तुतः पुरानी और नई, दोनों ही पद्धतियों का प्रयोग हमारे देश में ईसा की दसवीं सदी तक जारी रहा। अक्षरांकों और शब्दांकों का भी व्यवहार होता रहा।

लेकिन ईसा की दसवीं सदी तक इस नई भारतीय अंक-पद्धति की ख्याति पूर्व में जावा-सुमात्रा-कंबोडिया तक और पश्चिम में स्पेन तक फैल चुकी थी। इस नई अंक-पद्धति के साथ शून्य और ब्राह्मी के १ से ९ तक के अंक भी दूर-दूर के देशों तक पहुँचे। दक्षिण-पूर्व एशिया के देशों में भारतीय भाषाएँ

(संस्कृत और पालि) और भारतीय लिपि (ब्राह्मी) पहुँच चुकी थी। छठी-सातवीं सदी में नई भारतीय अंक-पद्धति भी वहाँ पहुँच गई। कंबुज देश से मिले एक संस्कृत लेख में शक-संवत् ६०५ नई पद्धति के अंक-संकेतों में दिया गया है। इस प्रकार के और भी कई लेख मिले हैं जिनमें शकाब्द की संख्याएँ नई अंक-पद्धति में और भारतीय मूल के अंक-संकेतों में दी गई हैं।

ईसा की आरंभिक सदियों में रोम और सिकंदरिया के साथ भारत के व्यापक व्यापारी संबंध स्थापित हो चुके थे। लगता है कि व्यापारियों के जरिए नई भारतीय अंक-पद्धति की ख्याति पाँचवीं सदी में ही सिकंदरिया तक पहुँच चुकी थी। सिकंदरिया से भारतीय अंक-पद्धति की ख्याति भूमध्यसागर-तटवर्ती यूरोप के देशों में और पश्चिमी एशिया के देशों में फैली। पश्चिमी एशिया से इसके स्पष्ट सबूत भी मिलते हैं। इस्लाम के उदय के समय, ईसा की सातवीं सदी में, सीरियाई पंडितों ने अपनी भाषा को काफी समृद्ध बना लिया था। हम देखते हैं कि फरात नदी के तट पर एक ईसाई मठ में रहने वाला सीरियाई पंडित **सेवेरस सेबोख्त** ६६२ ई. में रचित अपनी एक पुस्तक में नौ अंकों (शून्य को प्राय: अंक नहीं माना जाता) से की जाने वाली भारतीय अंक-पद्धति की भूरि-भूरि प्रशंसा करता है। अत: स्पष्ट है कि ईसा की सातवीं सदी के मध्यकाल तक नई भारतीय अंक-पद्धति और अंक-संकेत, न केवल दक्षिण-पूर्व एशिया के देशों में फैल चुके थे, बल्कि पश्चिम एशिया के देशों में भी पहुँच चुके थे। इस्लाम का उदय होने तक अरबी मे कोई साहित्य नहीं था। अरबी पंडितों ने सबसे पहले, संस्कृत और यूनानी ग्रंथों से परिचित होने के पहले, सीरियाई ग्रंथों का अनुवाद करके ही अपनी भाषा को समृद्ध बनाया था। इसलिए, जान पड़ता है कि, अरबों को पहली बार भारतीय अंक-पद्धति की जानकारी सीरियाई स्रोतों से ही मिली होगी।

ईसा की सातवीं सदी के मध्यकाल तक इस्लामी शासन पूर्व में सिंध प्रांत तथा मध्य-एशिया तक और पश्चिम में स्पेन तक फैल चुका था. अब्बासी खलीफा **अल-मंसूर** (७५४-७७५ ई.) ने दजला नदी के पश्चिमी तट पर ७६२ ई. में राजधानी बगदाद की स्थापना की थी। बगदाद का वैभव तेजी से बढ़ता गया। अल्मंसूर के शासनकाल में ही पहली बार गणित-ज्योतिष के संस्कृत ग्रंथों का अरबी में अनुवाद-कार्य शुरू हुआ।

जानकारी मिलती है कि सिंध से एक दूत-मंडली अल्-मंसूर के दरबार में पहुँची थी। इस मंडली में **कंक** या **मंक** नाम के एक भारतीय पंडित भी थे,जो अपने साथ भारतीय गणित-ज्योतिष के कुछ ग्रंथ बगदाद ले गये थे। अल्-मंसूर के आदेश से अरबी में इन ग्रंथों का अनुवाद किया गया। यह ७७२-७३ ई. की घटना है।

अरबी में गणित-ज्योतिष के **सिंदहिंद** और **अल्-अरकंद** नामक ग्रंथों की बड़ी ख्याति रही है, हालांकि ये ग्रंथ अब उपलब्ध नहीं हैं। ये ग्रंथ महान भारतीय गणितज्ञ-ज्योतिषी **ब्रह्मगुप्त** (६२८ ई.) के क्रमश : **ब्राह्मस्फुट-सिद्धांत** और **खंड-खाद्यक** के अरबी अनुवादक थे। पता चलता है कि भारतीय पंडितों के सहयोग से फारस के विद्वान **याकूब इब्न तारिक** और अरब के **इब्राहिम अल्-फजारी** तथा उनके बेटे **मुहम्मद** ने ब्रह्मगुप्त के इन ग्रंथों का अरबी में अनुवाद किया था। बाद में ब्रह्मगुप्त के इन ग्रंथों के अरबी में कई अनुवाद हुए। **अल्-बेरुनी** (९७३-१०४३) ने भी ब्रह्मगुप्त के ग्रंथों का अनुवाद किया था।

इस प्रकार, पहली बार ब्रह्मगुप्त के ग्रंथों से ही अरबी पंडितों को भारतीय गणित और ज्योतिष सिद्धांतों की जानकारी मिली थी। अरबी में तालेमी के ज्योतिष-ग्रंथ का और यूक्लिड की ज्यामिति के ग्रंथ का अनुवाद कुछ बाद में हुआ। अल्-बेरुनी के 'भारत' के अंग्रेजी अनुवादक **डॉ. एडवर्ड सी. साचाउ** ने भी लिखा है— 'ब्रह्मगुप्त की दोनों कृतियों ने अरबी विद्वानों को बड़ा प्रभावित किया और

उन्होंने इनका खूब इस्तेमाल किया। इन ग्रंथों से अरबों को पहली बार ज्योतिष के वैज्ञानिक सिद्धांतों की जानकारी मिली। उन्हें तालेमी के ग्रंथ की जानकारी मिलने के पहले ब्रह्मगुप्त ने गणित-ज्योतिष सिखाया।'

भारतीय अंकों की जानकारी अरबों को शायद पहले ही मिल गई थी। पर ब्रह्मगुप्त के ग्रंथों के साथ उन्होंने भारतीय अंक-पद्धति को पूरी तरह अपना लिया। भारतीय अंक-पद्धति के साथ उन्होंने भारतीय अंक-संकेतों को भी स्वीकार कर लिया। इन भारतीय अंकों को वे **हरूफ अल्-गुबार** कहते थे।

ब्रह्मगुप्त पहले भारतीय गणितज्ञ हैं जिन्होंने बीजगणित को अंकगणित से पृथक् किया और इसे **कुट्टक-गणित** का नाम दिया। भारतीय गणित-ग्रंथों में अंकगणित के लिए प्राय: **पाटीगणित** शब्द का प्रयोग हुआ है। लेकिन लगता है कि यह **पाटी** शब्द संस्कृत मूल का नहीं है। तख़्ती या जमीन पर धूल बिछाकर गणनाएँ की जाती थीं, इसलिए अंकगणित को कभी-कभी **धूलिकर्म** भी कहा जाता था। पाटीगणित और धूलिकर्म शब्दों के आधार पर ही अरबी के क्रमश: **इल्म-हिसाब अल्-तख्त**

अरबी हस्तलिपियों में दायें से बायें लिखे गये भारतीय मूल के गुबार अंक

और **हिसाब अल्-गुबार** शब्द बने हैं। धूलिकर्म में जिन भारतीय अंकों का इस्तेमाल होता था उन्हें अरबी में **हरूफ अल्-गुबार** कहा गया। अनेक अरबी गणितज्ञों ने हिंद के इन गुबार अंकों की भूरि-भूरि प्रशंसा की है। पर भारतीय मूल के इन गुबार अंकों का पहले पश्चिमी एशिया में और बाद में यूरोप के देशों में प्रचार-प्रसार करने में सबसे बड़ी भूमिका अदा की महान इस्लामी गणितज्ञ **अल्-ख़्वारिज़्मी** ने।

अब्बासी खलीफा अल्-मंसूर, हारूं अल्-रशीद (७८६-८०९) और अल्-मामू (८१३-३३) का काल इस्लामी शासन का स्वर्णयुग माना जाता है। ये खलीफा ज्ञान-विज्ञान के प्रेमी थे। इनके समय में भारतीय और यूनानी ग्रंथों के अनुवादों से अरबी भाषा ज्ञान-विज्ञान के मामले में खूब समृद्ध बनी। खलीफा अल्-मामू ने बगदाद में एक विद्यापीठ (बैत अल्-हिकमत) की स्थापना की और वहाँ देश-विदेश के अनेक पंडितों को आमंत्रित किया। उन्होंने बगदाद में एक अच्छी वैधशाला बनवायी और एक ग्रंथालय भी स्थापित किया। अल्-ख्वारिज़्मी बगदाद के इस ग्रंथालय के ग्रंथपाल थे।

लेकिन अल्-ख्वारिज्मी, जिनका पूरा नाम **मुहम्मद इब्न-मूसा अल्-ख्वारिज्मी** था, अरब नहीं थे। उनका जन्म मध्य-एशिया के ख्वारेज्म प्रदेश के खीवा नगर (वर्तमान सोवियत उजबेकिस्तान) में ७८३ ई. में हुआ था। उनके करीब दो सौ साल बाद अल्-बेरूनी ख्वारेज्म ही पैदा हुए थे। अल्-ख्वारिज्मी के केवल सात दशक पहले ही ख्वारेज्म प्रदेश पर खलीफाओं का शासन स्थापित हुआ था। अल्-ख्वारिज्मी के दादा या परदादा शायद बौद्ध ही रहे होंगे। इस्लाम के पहले सोवियत मध्य एशिया में

बौद्धों का भौतिकवादी वैभाषिक संप्रदाय काफी फैला हुआ था। अब्बासी खलीफाओं के **बरामिक परिवार** के मंत्री, जिन्होंने बगदाद को एक महान विद्याकेंद्र बनाने में बड़ा योग दिया, मूलतः मध्य-एशिया के थे। अरबी का यह 'बरामिक' (या 'ब्रमुक') शब्द 'प्रमुख' से बना है। इस्लाम में दीक्षित होने के पहले इस परिवार के व्यक्ति मध्य एशिया के बौद्ध विहारों के प्रमुख या संरक्षक थे। अल्-ख्वारिज्मी के पूर्वज भी शायद बौद्ध ही रहे होंगे। अल्-मामू का मध्य एशिया में कई साल तक निवास रहा। वहीं पर उन्हें अल्-ख्वारिज्मी की प्रतिभा का परिचय मिला था। पता चलता है कि ८१९ ई. में अल्-मामू जब बगदाद लौटने लगे तो अपने साथ अल्-ख्वारिज्मी को भी ले गये। अल्-ख्वारिज्मी का शेष जीवन बगदाद में ही बीता। वहीं पर इस्लामी साम्राज्य की राजभाषा अरबी में उन्होंने अंकगणित, बीजगणित, ज्योतिष, भूगोल और इतिहास से संबंधित अपने ग्रंथों की रचना की।

अल्-ख्वारिज्मी को भारतीय अंक-पद्धति और अंक-संकेतों की जानकारी शायद मध्य-एशिया में ही मिल गई थी। उस समय के भारत की पश्चिमोत्तर सीमा से ख्वारेज्म प्रदेश (अरब सागर का दक्षिणी क्षेत्र) ज्यादा दूर नहीं था। अल्-ख्वारिज़्मी के समय तक लिखी जा चुकी अंक-गणित की **भक्षाली हस्तलिपि**, जिसमें नई अंक-पद्धति का प्रयोग हुआ है, पेशावर के पास के भक्षाली गाँव से मिली है। इसलिए असंभव नहीं कि अल्-ख्वारिज़्मी मध्य-एशिया के अपने निवास-काल में ही नई भारतीय अंक-पद्धति और अंक-संकेतों का परिचय प्राप्त कर चुके थे।

बगदाद पहुँचने पर अल्-ख्वारिज़्मी ने भारतीय अंकगणित और अंक-पद्धति के बारे में एक ग्रंथ लिखा। इस ग्रंथ का अरबी नाम था—**हिसाब अल्-हिंद या किताब अल्-जामः व तफरीक बि हिसाब अल्-हिंद** (हिंद के हिसाब में जोड़ और घटा की पुस्तक)। इस पुस्तक में शून्य पर आधारित दाशमिक स्थानमान अंक-पद्धति में अंकगणित को समझाया गया है। इस अंक-पद्धति का आविष्कार भारत में हुआ था, इसीलिए अल्-ख्वारिज़्मी तथा अन्य अनेक अरबी गणितज्ञों ने इसे **हिसाब अल्-हिंद** कहा है। अल्-ख्वारिज्मी ने अपनी पुस्तक में भारतीय मूल के गुबार अंकों का ही इस्तेमाल किया था। इस पुस्तक ने भारतीय अंक-पद्धति और अंक-संकेतों को पहले इस्लामी देशों में और बाद में यूरोप के देशों में फैलाने में बड़े महत्व की भूमिका अदा की है।

हिंद के हिसाब के बारे में अल्-ख्वारिज्मी की यह पुस्तक मूल अरबी में आज उपलब्ध नहीं है, पर इसका लैटिन अनुवाद प्राप्य है। इंग्लैंड के **बाथ-निवासी एदेलार्ड** ने ११२५ ई. के आसपास स्पेन के एक अरबी विद्या केंद्र में बैठकर इस पुस्तक का अनुवाद किया था। लैटिन में इसका नाम है—**लिबेर अल्गोरिज्मी दे न्यूमेरो इंदोरम्** (हिंद के अंकों के बारे में अल्-ख्वारिज्मी की पुस्तक)। इस पुस्तक ने यूरोप के गणितज्ञों को इतना अधिक प्रभावित किया कि वहाँ नई भारतीय अंक-पद्धति से की जाने वाली गणनाओं के लिए अल्-ख्वारिज्मी का नाम ही प्रचलित हो गया। अल्-ख्वारिज्मी का अपभ्रंश हो गया**अल्गोरिज्म या अल्गोरिथम**, और इन शब्दों का अर्थ हो गया शून्य पर आधारित दाशमिक स्थानमान अंक-पद्धति से की जाने वाली गणनाएँ। आज भी गणित में यह शब्द प्रचलित है। अब अलगोरिथम शब्द का अर्थ है—गणितीय गणनाओं के लिए उपयोगी बनने वाले व्यापक संबंध-सूत्र। आधुनिक कंप्यूटरों के गणितीय प्रोग्रामों के लिए अलगोरिथमों का बुनियादी महत्व है।

मूरों (अरबों) के जरिए भारतीय अंक-पद्धति और अंक-संकेत पहले स्पेन में पहुँचे और बाद में यूरोप के अन्य देशों में फैले। यह भी संभव है कि व्यापारियों के जरिए भारतीय अंक इटली आदि भूमध्यसागरीय देशों में कुछ पहले ही पहुँच गए थे। जो भी हो, भारतीय अंकों की स्पष्ट चर्चा करने वाले पहले यूरोपीय विद्वान हैं **झेरबार** (लगभग ९७५ ई.), जो बाद में पोप सिल्वेस्टर-द्वितीय बने। यूरोप की जिस प्राचीनतम हस्तलिपि में पहली बार भारतीय मूल के नौ अंक-संकेत देखने को मिलते हैं वह

1 Ƨ Ʒ ५ 4 6 7 8 9

स्पेन में ९७६ ई. में लिखी गई एक यूरोपीय हस्तलिपि में भारतीय मूल के अंक-संकेत

स्पेन में ९७६ ई. में लिखी गई थी। स्पेन के यहूदी विद्वान **रब्बी बेन एजरा** (१०९५-११६७) ने भी भारतीय अंक तथा अंकगणित की जानकारी देने के लिए एक पुस्तक लिखी थी। लेकिन यूरोप में भारतीय अंकों के प्रचार-प्रसार का प्रभावकारी काम इटली के पिसा नगर के गणितज्ञ **लियोनार्दो 'फिबोनकी'** (लगभग ११७०-१२४५) ने किया। फिबोनकी एक व्यापारी का बेटा था और उसने भूमध्यसागर के अनेक द्वीपों तथा देशों की यात्राएँ की थीं। उसने देखा कि भारतीय गणना-पद्धति की तुलना में अन्य सभी गणना-पद्धतियाँ निकृष्ट हैं। इसलिए उसने १२०२ ई. में **लिबेर एबैकी** नामक एक ग्रंथ लिखा और उसमें अंकगणित और बीजगणित की जानकारी दी। पंद्रह प्रकरणों में विभाजित इस ग्रंथ के पहले प्रकरण में उसने नौएम फिगुरे इंदोरम् यानी हिंद की पद्धति में लिखे और पढ़े जाने वाले नौ अंकों की जानकारी दी। उस समय तक अल-ख्वारिज़्मी के अंकगणित के ग्रंथ का लैटिन में अनुवाद हो चुका था। अल-ख्वारिज़्मी और लियोनार्दो 'फिबोनकी' के ग्रंथों ने यूरोप में भारतीय अंक-पद्धति और अंक-संकेतों के प्रचार-प्रसार में बड़े महत्व की ऐतिहासिक भूमिका अदा की है।

उस समय यूरोप में रोमन अंकों का प्रचलन था। गणित के ग्रंथों में यूनानी अक्षरांकों (अल्फा, बीटा, गामा आदि) का भी प्रयोग होता था। रोमन अंकों को ईसाई चर्च का भी प्रश्रय मिला हुआ था। इसलिए आरंभ में यूरोप के सभी लोग भारतीय अंक-पद्धति और अंक-संकेतों को अपनाने के लिए तैयार नहीं थे। पुरातन का मोह आसानी से नहीं छूटता। इसलिए जब इटली के व्यापारी अपने बहीखाते भारतीय अंकों में लिखने लगे तो आरंभ में उनका विरोध हुआ। १२९९ ई. में फलोरेंस नगर की बैंकों के नाम आदेश जारी किया गया था कि वे नये भारतीय अंकों का इस्तेमाल न करें। कारण शायद यह बताया गया था कि इन नये अंकों में शून्य (०) को बड़ी आसानी से ६ या ९ में बदला जा सकता है। सन् १३४८ में इटली के पदुआ विश्वविद्यालय के अधिकारियों ने भी आदेश जारी किया था कि पुस्तकों की सूचियाँ नये अरबी भारतीय अंकों में न तैयार की जाये। पर इन आदेशों से ही पता चलता है कि चौदहवीं सदी में यूरोप में बड़ी तेजी से भारतीय अंकों का प्रसार हो रहा था। गणितज्ञ और व्यापारी बड़ी खुशी से भारतीय अंक-पद्धति और अंकों को अपना रहे थे, क्योंकि इनसे गणनाएँ करने में उन्हें बड़ी सुविधा होती थी। फिर भी यूरोप के स्कूलों और बैंकों में १६०० ई. तक रोमन अंकों का इस्तेमाल होता रहा। उसके बाद प्रायः सभी क्षेत्रों में भारतीय अंकों को अपना लिया गया।

ईसा की बारहवीं सदी से अनेकानेक यूरोपीय हस्तलिपियों में हमें भारतीय मूल के अंक देखने को मिलते हैं। पंद्रहवीं सदी में छापाखाने स्थापित हुए, पुस्तकें छपने लगीं, तो इन भारतीय अंकों के स्वरूपों में स्थिरता आई। तब से इन अंकों में नगण्य परिवर्तन हुआ है। अब हमारे समय में ही इलैक्ट्रानिक टेक्नालाजी की सुविधा के लिए इन अंक-संकेतों के स्वरूप में थोड़ा-सा परिवर्तन हुआ है।

इस प्रकार, आज सारी दुनिया में जिस अंक-पद्धति का प्रचलन है वह भारतीय प्रतिभा की खोज है। और, यूरोप, अमरीका आदि महाद्वीपों में आज प्रचलित १,२,३,४,५,६ आदि अंक-संकेत भी भारतीय मूल के हैं, ब्राह्मी अंकों से विकसित हुए अंक हैं। अंग्रेजी के साथ ये अंक पुनः भारत में आये। यूरोप के लोग इन्हें प्रायः 'अरबी अंक' कहते हैं। पर ये अरबी अंक नहीं हैं, अरबी अंक भिन्न किस्म के

1 2 3 4 5 6 7 ८ ९ 0

12वीं सदी

1197 ई

1275 ई०

1294 ई०

1303 ई०

1360 ई०

1442 ई०

यूरोप में बारहवीं से पंद्रहवीं सदी तक भारतीय अंक-संकेतों का विकास-क्रम

हैं। यूरोप के कुछ लोग इन्हें 'इंडो-अरबिक' अंक भी कहते हैं, पर असलियत में ये भारतीय मूल के अंक हैं। अरबों नें इन्हें हिंद के गुबार अंक कहा था और आरंभ में यूरोप के पंडितों ने भी इन्हें हिंद के अंक (न्यूमेरो इंदोरम्) ही कहा है। अतः आज सारी दुनिया में प्रचलित अंक-पद्धति तो भारत की खोज है ही, अंक-संकेत भी भारतीय हैं। विज्ञान के क्षेत्र में यह संसार को भारत की सबसे बड़ी देन है।

यह समझना भी गलत है कि यूरोप का समूचा आधुनिक गणित प्राचीन यूनानी गणित से विकसित हुआ है। भारत और इस्लामी देशों में जब आर्यभट, ब्रह्मगुप्त, महावीराचार्य, भास्कराचार्य और अल्-ख्वारिज्मी जैसे महान गणितज्ञ गणित के अनुसंधान में जुटे हुए थे, तब यूरोप में ज्ञान-विज्ञान के अंधकार का लंबा दौर चल रहा था। अरबी ग्रंथों से यूरोप वालों को भारतीय और यूनानी विज्ञान जानकारी मिली, तभी बारहवीं सदी से वहाँ बौद्धिक नवजागरण का युग शुरू हुआ। यूरोप वालों को सबसे पहले अरबी ग्रंथों से ही यूक्लिड, आर्किमिदीज, तालेमी आदि यूनानी वैज्ञानिकों का परिचय मिला था। मूल यूनानी ग्रंथों से उनका साक्षात्कार बाद में हुआ। इसी प्रकार, यूरोप वालों को भारतीय गणितऔर ज्योतिष के अनेक सिद्धांतों की जानकारी अरबी ग्रंथों से ही मिली। अरबी गणितज्ञों ने भारतीय गणित की अनेक विधियों को अपनाया था। ब्रह्मगुप्त के ग्रंथों का अरबी में अनुवाद हुआ था। आर्यभट (४९९ ई.) के **आर्यभटीयम्** ग्रंथ का भी ८०० ई. लगभग जीज़ अल् **अर्जबहर** (आर्यभट का ज्योतिष-सिद्धांत नाम से अरबी में अनुवाद हुआ था। आर्यभट ने अपने ग्रंथ में अंकगणित के प्रमुख परिकर्मों के अलावा त्रिकोणमिति और बीजगणित के समीकरणों का, पहली बार प्रथम घात के अनिवार्य समीकरणों (कुट्टक-गणित) का भी, विवेचन किया है। भारतीय गणितज्ञों ने बीजगणित के अध्ययन को बहुत आगे बढ़ा दिया था. ब्रह्मगुप्त ने बीजगणित पर एक स्वतंत्र अध्याय ही लिखा था। भारतीय बीजगणित की ये विधियाँ पहले अरब देशों में पहुँची और फिर यूरोप में फैलीं।

अल्-ख्वारिज्मी ने बीजगणित पर भी एक पुस्तक लिखी थी, जिसमें उन्होंने भारतीय बीजगणित की विधियों का भी समावेश किया था। अल्-ख्वारिज्मी की इस पुस्तक का नाम है : **किताब अल्-जब्र व अल्-मुकाबिलः**। यहाँ 'जब्र' का अर्थ है 'पुनर्स्थापना' और 'मुकाबिलः' का अर्थ है। 'समान करना'। ये समीकरणों की रचना (न्याय) से संबंधित क्रियाएँ हैं। अल्-ख्वारिज्मी ने बीजगणित की

अपनी पुस्तक बगदाद में ८२५ ई. के आसपास लिखी थी।

अल्-ख्वारिज्मी की इस पुस्तक का इंग्लैंड के **चेस्टर-निवासी रॉबर्ट** ने ११४५ ई. के लगभग स्पेन के एक अरबी विद्याकेंद्र में बैठकर लैटिन में अनुवाद किया था। अल्-ख्वारिज्मी की मूल अरबी पुस्तक और इसका लैटिन अनुवाद, दोनों ही आज उपलब्ध हैं। लैटिन में बीजगणित पर यह पहली पुस्तक थी, इसलिए इसके अरबी नाम का 'अल्-जब्र' शब्द 'अलजब्र' बनकर यूरोप की भाषाओं में बीजगणित के अर्थ में प्रचलित हो गया। हम देख ही चुके हैं कि अल्-ख्वारिज्मी का नाम भारतीय अंक-पद्धति से की जानो वाली गणनाओं के अर्थ में प्रचलित हो गया था। अरबी मूल के इन्हीं दो नामों से स्पष्ट हो जाता है कि अंकगणित और बीजगणित के आरंभिक विकास के लिए यूरोप अरबी और भारतीय गणितज्ञों का कितना ऋणी है।

एक और शब्द पर विचार करने पर यह तथ्य अधिक स्पष्ट हो जाता है। पाश्चात्य त्रिकोणमिति का एक बुनियादी शब्द है **साइन**। यह 'साइन' शब्द संस्कृत के 'जीवा' शब्द के आधार पर बना है। वृत्त के दो बिंदुओं को जोड़ने वाली सीधी रेखा को जीवा कहते हैं। जीवा को 'ज्या' भी कहते हैं। आर्यभट ने **अर्धज्याओं** को आधार बनाकर अपनी त्रिकोणमिति की रचना की थी।

भारतीय गणित के ग्रंथ बगदाद पहुँचे और इनका अरबी में अनुवाद होने लगा तो 'जीवा' शब्द को देखकर अरबी पंडित थोड़े सोच में पड़ गए। उन्हें अरबी में 'जीवा' का कोई समानार्थी शब्द नहीं सूझा, तो उन्होंने इसे ज्यों-का-त्यों अपना लिया। अरबी में स्वराक्षर नहीं लिखे जाते, इसलिए उन्होंने 'जीवा' को 'ज-ब' के रूप में लिखा।

स्पेन के अरबी विद्याकेंद्रों में जब गणित के अरबी ग्रंथों का लैटिन में अनुवाद होने लगा तो यूरोप के पंडित इस 'ज-ब' शब्द को देखकर चक्कर में पड़ गये। वे जानते थे कि यह त्रिकोणमिति का एक पारिभाषिक शब्द है, पर उन्हें पता नहीं था कि यह वस्तुतः संस्कृत का 'जीवा' शब्द है। उन्होंने 'ज-ब' में स्वराक्षर स्थापित करके अनुमान लगाया कि यह अरबी का 'जेब' शब्द होगा। अरब लोग अपने कुरतों में छाती के ऊपर जेब बनाते थे। इसलिए 'ज-ब' का लैटिन में अनुवाद किया गया— 'सिनुस' यानी छाती। यही 'सिनुस' शब्द बाद में 'साइन' में बदल गया। 'जीवा' से बना हुआ यह 'साइन' शब्द स्पष्ट जानकारी देता है कि यूरोपवालों को आरंभ में त्रिकोणमिति का परिचय भारतीय गणित पर आधारित अरबी ग्रंथों से मिला था। आज भी सारी दुनिया में त्रिकोणमिति आर्यभट के मूल ढाँचे के अनुसार ही पढ़ाई जाती है, तालेमी के ढाँचे के अनुसार नहीं।

ब्रह्मगुप्त संसार के पहले गणितज्ञ हैं जिन्होंने अनिधार्य वर्ग-समीकरण अर्थ $अ य^2 + 1 = र^2$ का हल प्रस्तुत किया था। इस हल के लिए उन्होंने दो प्रमिकाएँ (लेमाज) खोजी थीं। ब्रह्मगुप्त के उपर्युक्त समीकरण को आयलर ने ही **पेल समीकरण** का नाम दिया था। पर जाने पेल (१६६८) के एक हजार साल पहले ब्रह्मगुप्त इस समीकरण का हल प्रस्तुत कर चुके थे। बाद में भास्कराचार्य (११५० ई.) ने इस समीकरण का एक बेहतर हल प्रस्तुत कर दिया था।

इस प्रकार, हम देखते हैं कि अरबी ग्रंथी के माध्यम से भारतीय गणित की अनेक विधियाँ यूरोप में पहुँची थीं। भास्कराचार्य के समय (बारहवीं सदी) तक भारत गणितीय अनुसंधान में दुनिया के किसी भी देश से पीछे नहीं था। भास्कराचार्य के बाद भी केरल में गणितीय अनुसंधान का थोड़ा-बहुत सिलसिला जारी रहा, परंतु नया बहुत कम खोजा गया। टीकाएँ ही ज्यादा लिखी गईं। भास्कर की **लीलावती** पर ३० से भी अधिक टीकाएँ उपलब्ध हैं। इस बीच यूरोप में गणित का खूब तेजी से बहुमुखी विकास हुआ। यूरोप में अनेक महान गणितज्ञ पैदा हुए। गणित में अनेक नये उपांग अस्तित्व में आये। तब गणित का प्रवाह पश्चिम से पूर्व के देशों की ओर बहने लगा।

अंग्रेजों के शासनकाल में भारत यूरोप के उन्नत गणित के संपर्क में आया। यूरोप के इस उन्नत गणित के संपर्क में आने पर जिस भारतीय गणितज्ञ ने अपनी प्रतिभा का चमत्कार दिखाया, वह थे— **श्रीनिवास रामानुजन**। गणित के इतिहासकार हर्बर्ट टर्नबुल ने लिखा है— 'रामानुजन की गवेषणाओं ने गणित में एक नये युग का सूत्रपात किया। भारत ने समय-समय पर महान प्रतिभा वाले गणितज्ञों को जन्म दिया है.... लेकिन यदि महानता के निरपेक्ष मानदंड से परखा जाए तो पूर्व के देशों के सभी गणितज्ञों में रामानुजन की प्रतिमा सर्वश्रेष्ठ सिद्ध होती है।'

रामानुजन (१८८७-१९२०) की कुंभकोणम् से कैंब्रिज तक की जीवन-यात्रा आधुनिक गणित के इतिहास की एक रोमांचक गाथा है। एक निर्धन ब्राह्मण परिवार में उनका जन्म हुआ। जीवन के आरंभिक सोलह साल कुंभकोणम् ही गुजरे। इंटर प्रथम वर्ष तक वहीं पढ़ाई की। पर दो बार प्रयास करने पर भी इंटर पास नहीं कर पाये। हालांकि उस समय तक वह गणित में इतना कुछ खोज चुके थे कि उन्हें सहज ही 'डाक्टरेट' की उपाधि मिल सकती थी। उसके बाद उन्होंने पढ़ाई छोड़ दी, पर गणित का अपना स्वतंत्र अनुसंधान जारी रखा, उनकी कापियों में गणित के नये-नये फारमूले नमूद होते गए। अंत में उन्हें नौकरी मिली, उनकी प्रतिभा को भी पहचाना गया, उन्हें सुविधाएँ मिलीं और १९१४ में वह डॉ. हार्डी के सानिध्य में कैंब्रिज विश्वविद्यालय पहुँच गये। इंग्लैंड के पाँच साल के निवास-काल में उनके दो दर्जन से ज्यादा शोध-निबंध प्रकाशित हुए। उन्हें लंदन की प्रख्यात रॉयल सोसायटी का फैलो चुना गया। तपेदिक के मरीज होकर १९१९ में भारत लौटे। अगले वर्ष केवल ३२ साल की छोटी आयु में मद्रास में उनका देहांत हुआ।

रामानुजन की अधिकांश गवेषणाएँ **संख्या-सिद्धांत** के क्षेत्र की हैं। उनकी ये गवेषणाएँ इतनी उच्च कोटि की हैं कि उनकी तुलना यूरोप के महान गणितज्ञ **गौस**, **आयलर** और **याकोबी** के साथ की जाती है। रामानुजन की गवेषणाओं पर देश-विदेश के दर्जनों गणितज्ञ आज भी शोधकार्य कर रहे हैं। यह आगे कई दशकों तक जारी रहेगा। यही कारण है कि रामानुजन को 'गणितज्ञों का गणितज्ञ' समझा जाता है।

अतीत में भारतीय अंक-पद्धति, भारतीय अंक-संकेत और आर्यभट तथा ब्रह्मगुप्त— जैसे महान भारतीय गणितज्ञों की विधियाँ अरबी ग्रंथों के माध्यम से यूरोप में पहुँची थीं और इनसे वहाँ गणित के विकास को तेज गति मिली थी। रामानुजन की प्रतिभा ने सिद्ध कर दिया है कि आधुनिक भारत भी महान गणितज्ञों को पैदा कर सकता है और गणित के क्षेत्र में पुनः गौरव का स्थान प्राप्त कर सकता है।

□

भारतीय गणित का योगदान : विदेशी विद्वानों की दृष्टि में

हिंद के निवासी सीरियाई लोगों से भिन्न हैं।.... मैं उनकी वर्णनातीत गणना-पद्धति का भी जिक्र नहीं करूँगा। मैं सिर्फ इतना कहना चाहता हूँ कि ये गणनाएँ केवल नौ अंकों से की जाती हैं। जो लोग यूनानी भाषा के जानाकार होने के कारण यह समझते हैं कि वे विज्ञान के शिखर पर पहुँच चुके हैं, वे यदि हिंद वालों की इस अंक-पद्धति को जाने, तो उन्हें यकीन हो जाएगा कि उनके अलावा दुनिया में और भी लोग हैं जो कुछ जानते हैं।

—**सेवेरस सेबोख्त** (६६२ ई.)

भारतीय गणित ने आधुनिक विज्ञान में किस हद तक प्रवेश किया है, यह जानना अत्यंत जरूरी है। आधुनिक अंकगणित और बीजगणित के भाव एवं तरीके भारतीय हैं, यूनानी नहीं। भारतीय अंक-पद्धति के उन परिपूर्ण एवं शुद्ध चिह्नों पर विचारो करो..... और फिर सोचो कि भारतीय पंडित किस श्रेय के भागी हैं। दुर्भाग्य से भारत के कई अमूल्य आविष्कार यूरोप में काफी बाद में पहुँचे। यदि वे दो-तीन सदियों पहले पहुँचते तो उनका प्रभाव निश्चय ही अधिक पड़ता।

—गणित के इतिहासकार **फ्लोरियन काजोरी**

शून्य के आविष्कार की जितनी भी स्तुति की जाए, कम है। 'कुछ नहीं' वाले इस शून्य को, न केवल एक स्थान, नाम, चिह्न या संकेत प्रदान करना, बल्कि उसमें उपयोगी शक्ति भरना, उस भारतीय मस्तिष्क की एक विशेषता है जिसने इसे जन्म दिया है। यह निर्वाण को विद्युत-शक्ति में बदलने जैसा है। गणित के किसी भी अन्य आविष्कार ने मानव बुद्धि और शक्ति को इतना अधिक बलशाली नहीं बनाया है।

—**प्रो. हालस्टेड**

अरबों ने ही सबसे पहले स्पेन में भारतीय अंक-पद्धति का प्रचार किया। यह एक नई और क्रांतिकारी अंक-पद्धति थी। इसी अंक-पद्धति ने आधुनिक विज्ञान और इंजीनियरी का पथ प्रशस्त किया है।

—गणित के इतिहासकार **अल्फ्रेड हूपर**

केवल दस संकेतों से संख्याओं को व्यक्त करने की यह अद्भुत विधि हमें भारत से प्राप्त हुई है। इसमें प्रत्येक संकेत का एक निजी मान के अलावा भिन्न-भिन्न स्थानमान भी होते हैं।.... गणनाओं को सुगम बनाने की इसकी क्षमता हमारे अंकगणित को प्रथम श्रेणी का उपयोगी आविष्कार बना देती है।

—फ्रांसीसी गणितज्ञ **लापलास** (१७४९-१८२७)

यदि बीजगणित का मतलब अंकगणित की क्रियाओं को सभी प्रकार के परिमाणों पर प्रयुक्त करना है, तो हिंदुस्तान के पंडित ही बीजगणित के सच्चे आविष्कारक हैं।

—**हरमान हांकेल** (१८७४ ई.)

□

कहानी

इति

श्रवणकुमार

कभी-कभी मनहर का मन ऐसे ही उदास हो जाता है। क्यों उदास होता है मनहर का मन, वह अपने आप से पूछता है। सभी कुछ तो है उसके पास— घर-बार, रुपया-पैसा पद-प्रतिष्ठा। कितने लोग हैं इस देश में जो यहाँ तक भी पहुँच पाये हैं! लेकिन फिर भी उसके भीतर कहीं-न-कहीं फुरफुरी-सी होती ही रहती है। जैसे कुछ अनिष्ट होने जा रहा हो। क्या अनिष्ट हो सकता है अब उसके साथ?

मनहर के पीछे अब ये पचपन-छप्पन वर्ष पसरे पड़े हैं। इन पचपन-छप्पन वर्षों में उसने क्या कुछ नहीं देखा! संघर्ष, घोर संघर्ष। तिरस्कार। अपमान, अवहेलना। अभाव। गहरा अभाव। अब कहीं जाकर कुछ टिकता-सा नज़र आता है। मकान मिला तो पूरी जद्दोजहद के बाद। पद मिला तो एक उम्र बिताकर। और प्रतिष्ठा? वह तो जैसे आँख-मिचौनी खेलती रहती है। खूब छकाया है उसने उसे। कभी-कभी पूरी तरह धता भी बता देती है। चलो, खुद आखिरी सीढ़ी तक नहीं पहुँच पाये, बच्चे तो पहुँचे। पर बच्चे भी तो अपनी राह खुद चलना चाहते हैं। वे अब सयाने हो गये हैं। उन्हें उंगली पकड़कर चलना अच्छा नहीं लगता। एक दिन छोटे बच्चे ने कह भी दिया था, 'पापा जी हमें हमेशा पढ़ने को कहते रहते हैं। खुद जो लुढ़के थे एक बार!'

कितना करारा वार किया था उस बच्चे ने उस पर। एक ही जुंबिश में पिता को चित्त कर दिया था। पिता तिलमिला उठा था। उसका गला रुंध आया था। उसकी आँखों के समाने अपने उन दिनों की याद ताज़ा हो आयी थी जब वह उतना लंबा रास्ता पैदल ही तय करके अपने कार्य-स्थल पर पहुँचता था और उसकी इतनी भी बिसात नहीं थी कि तीन पैसे खर्च करके बस या ट्राम से उस दूरी को पार कर ले। उधर कार्य-स्थल पर पहुँचना, इधर इम्तहान की तैयारी करना। आँखें धँस गयी थीं उसकी भीतर। गाल भी चिपक गये थे। चेहरे की खाल भी जैसे खिंच गयी हो। लोग उसका ज़िक्र प्रायः 'सुकुड्डू' कहकर करते थे..... क्या कभी वह इस निचाई से उबर सकेगा?

एक खस्ताहाल मकान में रहता था वह। मकान में और भी कई लोग थे। उसे उस मकान में एक कोठरी जैसा कमरा ही मिल पाया था। वहीं खाना, वहीं सोना। बस, इतनी ही जगह थी जहाँ मुश्किल से बिस्तर बिछ सके। बिस्तर भी ज़मीन पर बिछता था और उसी से थोड़ा हटकर खाना बनता था। खाना भी अपने हाथ से बनाना पड़ता था। खटमलों को शायद रूखे खाने की खुशबू अच्छी लगती थी। वे रात को बत्ती बुझते ही कतार-दर-कतार दौड़े चले आते थे और बिस्तर पर चारों ओर से चढ़ाई कर देते थे। खून

ही कितना था मनहर के शरीर में तब ! शायद इसी से वे उसे कम ही काटते थे। या यह भी हो सकता है कि मनहर की हड्डी उनके दाँत में गड़ जाती हो। कई खटमल तो सुबह मरे-मसले हुए मिलते थे। सुबह उठते ही मनहर का पहला काम उन्हें झाड़ू से बुहारना होता था। वह उन्हें बुहारता तो ज़रूर था, पर उसके दाँत भी किचकिचा उठते थे।

कितना मजबूर था मनहर उन दिनों ! पढ़-लिखकर भी बेकारी के कगार पर। चलो, बेटा बाप से तो अधिक पढ़-लिख गया। एक ज़िद थी बेटे के मन में—कि वह बाप की तरह बाबूगिरी नहीं करेगा। बाप ने बहुत चाहा था कि बेटा टाइपिंग सीखें, शॉर्ट हैंड सीखे और उनके ही दफ्तर में कहीं लग जाये। ज़्यादा पढ़ने की क्या जरुरत है ! इंटर कर लिय है, काफी है। तरक्की करते-करते इंस्पेक्टरी मिल ही जायेगी। क्या बाप को बाद में इंस्पेक्टरी नहीं मिली? उन्होंने तो केवल मैट्रिक ही किया था। पर मनहर ज्यों-त्यों करके बी.ए. कर ही लेना चाहता था—वह ज़माना और था, यह ज़माना और है। तब मैट्रिक पास की भी क़द्र थी, अब बी.ए. पास को भी कौन पूछता है ! लेकिन बी.ए. करने से कोई राह तो खुलती है। चाहो तो किसी प्रतियोगी परीक्षा में ही बैठ जाओ। प्रोफेशनल कैरियर के लिए भी तो बी.ए. पास होना जरुरी है।

मनहर किसी-न-किसी तरह एक सीढ़ी पिता से आगे बढ़ ही गया था। कहीं अध्यापन करके थोड़ा कमाता भी था पढ़ता भी था। पिता ने सब कुछ किया था पहले उसके लिए, लेकिन बाद में जाने क्यों उन्हें उसकी हर हरकत नागवार गुज़रती थी। उन्हें उसका ज़्यादा पढ़ना तो एकदम बरदाश्त नहीं था, हालाँकि वह खुद बड़ी दारुण स्थितियों में से गुज़रे थे। उनके घर में तो कोई पढ़ा-लिखा था ही नहीं और फिर गरीबी भी इतनी कि उसके बारे में सोचकर उनका दम घुटता था। मनहर को कभी-कभी अपने पिता पर तरस भी आता। चलो, यहाँ से यहाँ तक तो पहुँचे। अब तो रेखा उसे ही बढ़ानी है। बढ़ेगी यह रेखा, ज़रुर बढ़ेगी। उसे अपने पर विश्वास था। पिता गरीब घर के थे तो क्या हुआ, बुद्धि के तो गरीब नहीं थे। उनकी बुद्धि तेज़ थी। तभी तो उसे भी तेज़ बुद्धि मिली। बुद्धि उसकी माँ की भी काफी तेज़ रही होगी। अनपढ़ होने के बावजूद वह हर विषय की व्याख्या भरपूर करती थी, बल्कि इस व्याख्या में तो पिता से भी बाजी मार ले जाती थी।

मनहर को कभी-कभी अपने में अपनी माँ और बाप, दोनों के गुण दिखते। माँ तीक्ष्ण, बाप थोड़े ठहराव वाले। माँ बाप को बढ़-चढ़कर बातें कह लेती। बाप अकसर प्रतिकार करने में असमर्थ रहते। मनहर भी अपने से ज़्यादा बढ़-चढ़कर बातें करनो वालों का प्रतिकार करने में असमर्थ रहता। इस लिहाज़ से उसकी पत्नी उसकी माँ से बाज़ी मार ले गयी। वह तो हाज़िर जवाब की पुड़िया है। इधर सुनी, उधर चटाक से उत्तर ! अच्छे-खासों को भी गोता लगवा देती है। इसी से सब तरफ उसकी चलती है। यह सब जीवाणुओं का ही कमाल होगा ! उठा-पटक में भी उसका मन खूब रमता है। इससे लिया, उसको दिया। वह बेचा, यह खरीदा। उधारी करने से भी उसे कोई गुरेज़ नहीं। उधारी के बल पर ही तो वह इतने बड़े-बड़े काम कर जाती है। बेटी की शादी करनी तो मंजूर कर ली, पर पल्ले दस कौड़ी न थीं। पर मौके पर जाने कहाँ-कहाँ से पैसा अपने आप बहकर आने लगा। हर रिश्तेदार मदद को तैयार।उधर सहेलियाँ भी मदद को तैयार। कुछ धाक ही ऐसी बैठा रखी थी उसने सब पर। सब यही सोचते कि बड़ी 'निग्गी' औरत है यह। वक्त पर जरूरत किसे नहीं पड़ती ! उधर मनहर था कि चुप। बल्कि सन्न-सा हुआ टेलीफोन के पास बैठा रहता। बहुधा उदास। पत्नी ठीक अपने पिता पर गयी है। वह भी बहुत उठा-पटक करते थे कभी बिज़नेस, तो कभी नौकरी। अपने साथ ज़्यादती होती दिखी तो सरकार पर मुकदमा ठोक दिया। सरकारी नौकरी क्यों छोड़े नौकरी चाहे छोटी ही हो। 'ठीक पढ़े-लिखे होते मेरे पिता जी, तो न जाने कहाँ से कहाँ पहुँच ज़ाते।' एक बार पत्नी ने ऐसे ही बहाव में आकर कह दिया था।

अब कैसे कहें कि भाग्य नहीं होता ! शादी के लिए रिश्ता तय हुआ तो मनहर झट से ढंग की नौकरी पा गया, जो उसे धीरे-धीरे आगे सरकाती रही। यह सवाल दीगर है कि उस समय के ढाई सौ आज के पाँच हज़ार के बराबर हैं। उस समय एक रुपये की सब्ज़ी से थैला भरता था। घी चार रुपये किलो था। दूध पचास पैसे लिटर था। जेब में दो-चार रुपये हों, तब भी काम चलता था। पर अब? अब तो और-और के लिए ललक रहती है। चारों ओर लखपती ही लखपती तो हैं ! कोई करोड़पती भी हो तो मुज़ायका नहीं। अच्छी से अच्छी कोठियाँ हैं। कोठियों में बढ़िया-से बढ़िया कालीन-गालीचे हैं। रोशनी के लिए झाड़-फानूस का भी कोई हिसाब नहीं। लकड़ी को तराश देकर क्या-क्या रूप नहीं दिये गये। सच, आदमी कितना सयाना हो गया ! सच, क्या वह अपने 'विकास' के चरम को नहीं छू रहा? क्या कभी देखा था पहले किसी ने इतना पैसा? जैसे पैसे का सैलाब आ गया हो। मुर्ग, शराब,पांच तारा होटल, डिस्को स्टैप, ब्रेक स्टैप, कव्वाली की रात, गज़लों की शाम, ब्यूटी पार्लर, वीडियो पार्लर, ए.सी. कार, ए.सी. सैलून—अब क्या नहीं चलता पैसे के बल पर ! बहुत कुछ तो मनहर की शब्दावली में अब तक भी दाखिल नहीं हो पाया। भला, एक नौकरी-पेशा एक बिज़नेस वाले से क्या मुकाबला कर सकता है ! जो वह एक महीने में कमाता है, उतना वे एक दिन में कमाते हैं।.....पर मनहर के बच्चों की शब्दावली एकदम अद्यतन है। उन्हें इन अमीरों के सामने किसी तरह की झेंप नहीं होती। अमीरों के बच्चे भी मनहर के घर में कभी-कभी आ ही जाते हैं। साधारण-सा घर है मनहर का, लेकिन सब कुछ तरतीब लिये रहता है, और इसलिए सुंदर भी दिखता है। उधर उन बच्चों के कीमती घरों में सब कुछ कीमती रहने के बावजूद बहुधा असुंदर ही दिखता है। 'अरे, अब कैसे बतायें कि यह सब पैसा कैसे आता है?' एक बार मनहर की बेटी से उसकी एक सहेली ने कहा था। वह सहेली हमेशा खुद ही कार ड्राइव करके उनके यहाँ आती थी और उसकी बेटी को साथ लेकर कॉलेज जाती थी। 'पापा पहले ओवरसियर तो थे ! दस-पंद्रह साल ही नौकरी की होगी। अच्छे पैसे हाथ लग गये। फिर नौकरी छोड़ यह कारखाना लगा लिया।साथ में अपने दो-तीन रिश्तेदारों को भी ले लिया। काम दिन-ब-दिन बढ़ता ही गया। रिश्तेदार दगा देने से बाज़ थोड़े ही आते हैं ! हमारे सगे फूफा ने ही गोलमाल शुरू कर दिया। पापा इन मामलों में बहुत होशियार हैं। उन्होंने कहा यह लो अपना हिस्सा और वह रहा तुम्हारा रास्ता ! एक को रास्ता दिखाया तो दूसरों को अपने आप कान हो गये। अब इनकम टैक्स वाले हैं, सेल्स टैक्स वाले हैं, बिजली वाले हैं, पुलिस वाले हैं, लेबर वाले हैं, सब से रोज़ का वास्ता पड़ता है, और सब को खरीद रखा है पापा ने। सब का महीना बाँध रखा है। मजाल है कोई वर्कर जो थोड़ी-सी भी चूँ-चरां कर जाये। कान पकड़कर सीधे बाहर। एक बार यूनियन वालों ने शोर मचाया तो अच्छी धुनाई करवा दी पापा ने उनकी। ...अरे, पैसे से तुम क्या नहीं खरीद सकते ! हमारे पास थोड़ा सरमाया है, हमने यहाँ के अहलकार खरीद रखें हैं।जिनके पास और ज़्यादा सरमाया है, उन्होंने और बड़े अहलकार खरीद रखे हैं और जिनके पास और भी ज़्यादा सरमाया है वे सरकार ही खरीद लेते हैं ! '

मनहर की बेटी की सहेली एकदम शीशे की तरह साफ है। उस पर कहीं कोई दाग़ नज़र नहीं आता। जो मन में आया, कह डालती है। बाप के काम को तो इतना बढ़िया समझती है कि बस....। इकलौती संतान है। 'यह मत समझो, बिजनेस में ऐसे ही कमाई होती हैं'', एक बार उसने और कहा था, 'पूरी जान खपानी पड़ती है। बिजनेस वाले घरों में आदमी जान खपाते हैं, औरतें ऐश करती हैं।'

ऐशही तो करती थी वह लड़की। खुद तो करती ही थी, मनहर की बेटी को भी करवाती थी। आज इस फाइव स्टार में तो कल उस फाइव स्टार में। घर में भी ऐसे-ऐसे लवाज़मात आते कि पूछो नहीं।माँ बेचारी वही सीधी-सीधी औरत। कहने को महँगी से महँगी साड़ी पहनती, लेकिन कहीं-न-कहीं झलक

जरूर जाता कि अनाड़ी है। कोई काम न सूझता तो घर में पोंछे ही लगाने लगती। उस वक्त वह केवल पेटीकोट ही पहने होती। बेटी कहती, 'माँ, पिताजी के स्टेटस का तो ख्याल करो,' और वह बड़ी सादगी से उत्तर देती, 'पुत्तरा, अपना पहला वक्त कदी नहीं भुलना चाही दा' और इसलिए वह घर की नौकरानियों को भी कभी-कभी अपने बराबर बैठाकर खिलाती। 'वह अक्सर अपनी बेटी से कहती, 'जदो साड़डा ब्याह होया सी, ओदों ते तेरे पिताजी दे घर खान नूं वी नहीं सी लबदा' (जब हमार ब्याह हुआ था तब तेरे पिताजी को खाने के भी लाले थे) सच, पापा इतने गरीब थे! बेटी कभी-कभी ताज्जुब करती। पापा ने खुद भी एक बार उसे बताया था, ''बेटी ईश्वर तो है, यह तो मैं मानता हूँ, लेकिन ईश्वर कैसा न्यायकारी है, यह मैं आज तक भी नहीं समझ पाया। जब तक हम ईमानदारी से चलते रहे, तब तक एक-एक पैसे को तरसना पड़ता रहा। और जब सोचा, ईश्वर जो करवाता है, वही करते हैं, भला भी और बुरा भी तब से नक्शा ही कुछ और होता गया। पाकिस्तान बना, तब मेरी उम्र यही कोई सोलह-सत्रह साल की थी। मैं सब समझता था। दंगों में पिताजी को वहीं हमारी आँखों के सामने ज़िंदा जला डाला गया। बचा मैं, मेरी माँ और एक छोटी बहन। पता नहीं कैसे बच गये! शरीर में काफी जान थी उस वक्त मेरे। पिताजी का जलता शरीर आज भी मेरी आँखों के सामने फड़फड़ाता है। वह मेरे मरते दम तक फड़फड़ाता रहेगा। उस वक्त हम सब की आँखों के आँसू सूख गये थे। अपनी जान कितनी प्यारी होती है हम सब को! बाद में माँ हर वक्त रोती रही। बिल्कुल खाली हाथ आये थे हम इधर। तन पर जो कपड़े थे, बस वही थे। बिल्कुल मैले-कुचैले। इधर लाकर हमें फिरोजपुर कैंप में पटक दिया गया। कैंप में आये अभी कुछ ही दिन हुए थे कि बाढ़ आ गयी। चारों तरफ पानी ही पानी।.... देखा ईश्वर का न्याय! फिर माँ को हैज़ा हो गया और वह दो-चार दिन में पार हो गयी। सोच सकती हो कैसा वक्त होगा वह हमारा?' पिता कहे जा रहे थे और बेटी की आँखे बुरी तरह नम हो गयी थी, 'फिरोजपुर से हम किसी तरह दिल्ली पहुँचे। तुम्हारी बुआ मुझ से चार साल छोटी थी। लूट-खसोट तो उन दिनों चल ही रही थी। अब कहाँ जायें हम? हर कोई अजनबी ही अजनबी। किसी पर आसानी से विश्वास भी तो नहीं किया जा सकता था। अब ईश्वर की करनी ही कहो कि हमें पाकिस्तान से आया एक परिचित मिल गया। वह भी पूरी तरह लुटकर आया था। बिल्कुल अकेली जान। बाल-बच्चे, घर-परिवार सब फना हो चुके थे। जाने उसके मन में कैसी हुमड़ आयी कि उसने हमें अपना लिया हमें भी लगा कि हमें अपना कोई सरपरस्त मिल गया है। अपने लिए उसने एक छोटा-सा काम ढूँढ़ लिया और मेरे लिए भी ढूँढ़ दिया। साथ में मैंने पढ़ना भी शुरु कर दिया और करते-कराते ओवरसियरी के द्वार तक आ पहुँचा। ओवरसियरी का धंधा कोई बुरा नहीं है। कोई बिजनेस न भी करें, तब भी चलता है। सब ठेकेदार तुम्हारे आगे-पीछे रहेंगे। तुम न भी लो, तब भी पहुँचायेंगे। अब आती माया को कौन मना करें। हाँ, यह जरूर है कि तुम आमदनी के मुताबिक दिखावा करोगे तो झट-से गिरफ्त में आ जाओगे। इसलिए तुमने देखा होगा कि कई इंस्पेक्टर या ये ओवरसियर बड़े गरीब-से बनकर रहते हैं। और कई अपने रिश्तेदारों के नाम पर या इधर-उधर करके फैलने लगते हैं। देखा नहीं, पिछली बार जब हम अमृतसर गये थे। क्या ठाठदार कोठियाँ थीं इन ओवरसियरों की। क्या पोस्ट और क्या कोठियाँ। पर इन्हें पकड़े कौन? जो पकड़ने वाले हैं, वे खुद इन्हीं की तरह मालामाल हुए रहते हैं। बस, पूछो नहीं इस दुनिया का हिसाब-किताब। जो नहीं लेते, वे वैसे तंगी से परेशान, और जो लेते हैं.... ! यह अंतकरण नाम की चीज़ उन्हीं के लिए हैं जो इसे मानते हैं।..... यह छटपटाहट तो दोनों तरफ से रहती ही है। इसलिए तंगी में छूट-घुटकर क्यों मरें।''

मनहर को ये सब बातें अच्छी तरह याद थीं। बल्कि एक तरह से ये उसके मन पर खुदी हुई थीं। उसकी बेटी ने ही उसे बताया था यह सब। बेटी की सहेली का नाम रूपाली था। बेटी की शादी हुई तो

बाद में रूपाली की शादी भी हो गयी। जिस घर में रूपाली ब्याह कर गयी, उनके ठाठ-बाठ और भी निराले थे। कहते थे सब जगह सोना ही सोना मढ़ा नज़र आता था। हीरे-जवाहरात की भी कोई कमी न थी। पहले के राजा भी इनकी क्या ताब लायेंगे। अब पुराने राजाओं का ज़माना लद गया। अब नये राजाओं की बात करो। अब तो पुराने राजाओं को अपने ठाठ बरकरार रखने के लिए नये राजाओं के हथकंडे अपनाने पड़ेंगे ! पहले राजा गरीबों पर ज़ोर-जुल्म करते थे, उनकी बस्तियाँ जलवा डालते थे, उनकी बहू-बेटियों को सरे-आम घसीट लेते थे। आज के राजाओं को यह सब करने की जरूरत नहीं। वे इंपोर्ट-एक्स्पोर्ट का सहारा लेते हैं। बस चलता है तो कुछ तस्करी से भी बचा लेते हैं। फिर ब्लैक की दुनिया उनकी अपनी है। उसमें चाहे जैसे भी गोते लगाते रहें। किसी सुंदरी पर तबीयत आ गयी है तो उसके सामने कुछ चुग्गा फेंको, वह अपने आप बँधी चली आयेगी।

मनहर समझता सब कुछ है, पर कर कुछ नहीं पाया। बस, अपनी उसी बंधी-बंधायी तनख्वाह के सहारे चलता रहा है। ठीक है, लाखों न सही, हज़ारों तो आते ही है। देश के करोड़ों लोगों से बेहतर स्थिति में है वह ! एक बार मनहर के मन में जाने क्या आया कि वह रूपाली के पिता से मिलने चल पड़ा। उनकी मुख्य फैक्टरी मनहर के घर से ज़्यादा दूर नहीं थी। मनहर ने इधर दफ्तर से कर्ज़ लेकर एक पुरानी फियट खरीद ली थी। स्कूटर तो उसके पास पहले से था ही। वह रूपाली के बाप से मिलने अपनी फियट में ही गया। उसे उसने पहले से फोन कर दिया था। मनहर का ख्याल था कि शायद वह उसे कहीं गेट के पास ही मिल जायेगा। पर जब वह वहाँ पहुँचा तो उसे गेट-कीपर ने रोका और सिक्यूरिटी में पास बनवा लेने को कहा। सिक्यूरिटी वालों ने उससे कई प्रश्न पूछे— कि कहाँ से आये हैं, क्यों मिलना चाहते हैं। मनहर को यह सब अच्छा नहीं लगा। क्या रूपाली के पिता ने पहले से इन्हें आगाह नहीं किया था? गेट के भीतर दो मर्सीडीज़ कारें खड़ी थीं। मनहर को अपनी औकात का जैसे वहीं एहसास हो गया। पास लेकर वह आगे बढ़ा तो अब उसे रिसेप्शन पर रोक दिया गया और उससे दो-चार मिनट इंतज़ार करने के लिए कहा गया। मनहर को यह भी नागवार गुजरा। नाहक ही यहाँ आये, उसने अपने आप से कहा। बेहतरी अब इसी में है कि यहाँ से लौट चलें ! लेकिन इतने में रिसेप्शन पर बैठी लड़की ने उससे कहा कि वह भीतर जा सकता है और बायीं ओर के दरवाजे की तरफ इशारा कर दिया। दरवाजा खोलकर वह भीतर कमरे में घुसा तो उसे वह कमरा काफी सज्जित लगा। कमरे में उसी की उम्र का एक आदमी बड़ी-सी टेबल के पीछे एक गद्देदार कुर्सी पर आसीन था। जाहिर था कि रूपाली का पिता वही था। पर रूपाली से वह एकदम भिन्न दिखा। जहाँ रूपाली के चेहरे पर सहज मासूमियत थी, उसके चेहरे पर जैसे थोड़ा रुखापन थी।

खैर, मनहर को देखते ही वह एकदम अपनी कुर्सी से उठ खड़ा हुआ और बड़े तपाक से आगे बढ़कर उसने उससे हाथ मिलाया और फिर उसे पास ही रखे सोफे पर बैठाते हुए खुद भी उसके सामने बैठ गया। वह उसके सामने बैठा था तो मनहर को काफी अच्छा लग रहा था। फिर मनहर उसे एकटक देखता रहा। उस समय उसके मन में कई तरह के विचार आ रहे थे। क्या यह वही आदमी है जिसके जीवन की शुरूआत उस कद्र दोज़खी थी? खुद मनहर के जीवन की शुरूआत भी तो कम दोज़खी नहीं थीं। फिर जैसे वह और मनहर कुछ समय तक समानांतर पटरियों पर चलते रहे और आखिर अपनी-अपनी राह पर लग गये। लेकिन रूपाली के बाप ने अगर नौकरी न छोड़ी होती तो क्या वह उससे आगे निकल पाया होता? शायद नहीं। शायद कतई नहीं। ज़्यादा-से-ज़्यादा वह इस समय एक्सियन के पद पर होता, जबकि मनहर पिछले दो वर्षों से महाप्रबंधक के पद पर है। खैर, अभी बातों का सिलसिला शुरू हुआ चाहता ही था कि वर्दीधारी लड़का एस्प्रेसो कॉफी के दो प्याले और कुछ खाने का सामान उनके सामने रख

गया। मनहर ने ग़ौर किया। हर चीज़ उम्दा थी, बल्कि सलीके से थी। क्या सोफा और क्या गालीचे, क्या वेनीशियन पर्दे और क्या क्रॉकरी, और क्या दीवारों की पच्चीकारी। फैक्टरी भी सेंट्रली एयरकंडीशंड ! फिर उसने ग़ौर किया कि कमरे में क्लोज़ सर्कट टी.वी. सैट भी है जिसके पर्दे पर फैक्टरी तथा कार्यालय की हर हरकत उतरती रहती है।.... न जाने क्यों, मनहर को थोड़ी देर बाद ही वहाँ कुछ अटपटा-सा लगने लगा। वह किसी खास उद्देश्य से तो यहाँ आया नहीं था, लेकिन वह बात को आगे भी नहीं बढ़ा पा रहा था। और क्योंकि रूपाली के पिता को भी उससे कुछ लेना-देना नहीं था, इसलिए उसकी ज़बान भी ज़्यादा नहीं खुल पा रही थी। शायद मनहर के मन में एहसासे कमतरी उतर आया था। शायद उसके मन ने कहा हो—काश, मैंने भी यही राह पकड़ी होती ! खैर, वह वहाँ से चलने को हुआ तो रूपाली के पिता ने उसे रोका भी नहीं, और अपने कमरे के दरवाज़े पर उससे हाथ मिलाकर उसे रुखसत दे दी।

मनहर घर पर लौट आया था। छुट्टी का दिन था, इसीलिए वहाँ चला गया था। उसकी बेटी कई बार कहती रही थी कि वह एक बार रूपाली के डैडी से ज़रूर मिल लें। क्यों? क्यों भला? तब उसकी बेटी की शादी नहीं हुई थी और न ही रूपाली की हुई थी। तब तो वह उससे मिला नहीं, फिर आज क्यों चल दिया उससे मिलने ! शायद मनहर के मन में रहा हो कि उससे कोई काम ही सध जाये ! नौकरी से रिटायर होने में अब दो-ढाई साल ही तो बचे हैं। पर वह ऐसी कोई बात वहाँ छेड़ ही नहीं पाया था। बल्कि दोनों ओर से कुछ चुप्पी-सी ही बनी रही थी।

घर पहुँचकर मनहर उदास था। क्या एक प्रकार से यह उसकी अवहेलना नहीं है? पर ऐसी अवहेलनाएँ तो वह ज़िंदगी में कई बार सह चुका है, हर मोड़ पर, हर चप्पे पर। क्या हुआ आज अगर वह इस पद पर है। उससे ऊपर और भी तो हैं ! अगर वे आबरू उतारने पर तुल जायें तो उन्हें कौन रोक सकता है ! एक दिन प्रबंध निदेशक ने कह भी तो दिया था—तुम ठीक से केस भी पुट-अप नहीं कर सकते ! कहने को महाप्रबंधक हो। तब उसका चेहरा पिचक कर एकदम छोटा हो गया था। और एक बार तो एक ट्रैफिक कांस्टेबल ने उसे काफी झंझट में डाल दिया था और उसके यह कहने पर कि मैं एक सरकारी प्रतिष्ठान में ऊँचे ओहदे पर हूँ, उसने तड़ाक से फटकार दी थी—ऊँचे ओहदे पर होंगे आप अपने दफ्तर में ! यहाँ तो हमारा कानून चलेगा ! वाकई, वह उस समय पशोपेश में पड़ गया था। क्या वह उसके डी.सी.पी. से बात करें? पर डी.सी.पी. ने भी ऐसे ही झपट दिया तो। बेशक कानून जो है सो है ही, असली कानूनदां तो ये छोटे अहलकार ही हैं जो हर कानून को अपनी तरह से सरंजाम देते हैं। क्या उसके अपने दफ्तर में उसके अधीनस्थ कर्मचारी अगर किसी काम में अड़ंगा लगाने पर उतारू हो जायें तो अपने मन की करवाये बिना रहते हैं? तब कैसा लाचार होता है वह उस समय। उसे याद है एक बार एक कचहरी में उसे एक चपरासी ने बिना रत्ती-सा भी हिचके कहा था—अरे, कागज़ पर कुछ वज़न तो रखो, उड़ा जा रहा है। चपरासी को उस कागज पर मैजिस्ट्रेट की सिर्फ मोहर ही लगानी थी, और मैजिस्ट्रेट वहीं सामने बैठा था !

मनहर को यह अवहेलना और तिरस्कार और भी कई तरह सहना पड़ा। और तो और अपने को 'भगवान् के बंदे' कहने वालों के यहाँ उसे तिरस्कार की एक दूसरी बानगी मिली। उन दिनों वह 'भगवान के बंदों की सभा' में अक्सर शामिल होता था। सभा के संस्थापक एक बुजुर्ग व्यक्ति थे। पचासी को छू रहे होंगे, पर काठी खासी मज़बूत थी। चेहरे से जलाल भी खूब टपकता था। अपने को प्रायः वह भगवान् का अवतार ही कहते। सभा में जो कोई भी आता, उनके पाँवों पर अपना माथा रख देता, और वह सहज ही उसे अपने आशीर्वाद से सराबोर कर देते। मनहर उन दिनों एक प्रकार से अनीश्वरवादी था। उसने जब लोगों को उनके पाँवों पर माथा रखते देखा तो उसे कुछ असमंजस-सा

हुआ। वह तो केवल खड़े-खड़े ही अभिवादन करने का आदी था और उसने उनका भी उसी प्रकार अभिवादन किया। फिर एक दिन जाने किस रौ में आकर उसने भी उनके पाँव छू लिये और उन पर अपना माथा रख दिया! कुछ सुकून तो ज़रूर मिला उसे, लेकिन ऐसा भी नहीं कि वह किसी अभूतपूर्व अनुभव से गुज़र रहा हो। फिर वह धीरे-धीरे उनके पाँव छूने और उन पर माथा रखने का आदी हो गया। खूब रमता था उसका मन उस सभा में। राम-रहीम, कृष्ण-करीम में वहाँ कोई अंतर नहीं था। जुरयुष्ट्र और ईसा भी वहाँ उतने ही पूजनीय थे। वहाँ हिंदू भी आते थे और अन्य भी। पुरुष भी आते थे और स्त्रियाँ भी। विदेशी अनुयायियों की संख्या भी अच्छी-खासी थी। सभी संपन्न थे। देशी अनुयायियों में भी अधिकतर संपन्न ही थे। वे अपनी कारों में आते और भेंट-स्वरूप बढ़िया से बढ़िया चीज़ें दे जाते। मनहर के पास वैसी संपन्नता तो थी नहीं, बल्कि अधिकतर तो वह नपा-तुला ही रहता था। इसलिए हर बार भेंट-स्वरूप कुछ ले जाने में वह अपने को असमर्थ ही पाता। इससे उसमें हीनता का भाव भी जागता और वह भीतर-ही-भीतर भीरूता-सी भी अनुभव करता रहता। तीज-त्यौहार के अवसर पर तो यह भेंट का सिलसिला और भी अधिक जमता और लोग बड़ी-से-बड़ी भेंट लेकर वहाँ पहुँचते। ऐसे ही एक अवसर पर मनहर वहाँ पहुँचा तो था, पर था बिल्कुल खाली हाथ। कहाँ एक-से-एक बड़े फलों के टोकरे और मिठाइयों के डिब्बे और कहाँ मनहर खाली हाथ! उधर एक विदेशी इलैक्ट्रानिक टाइपराइटर ले आया था। भीड़ उस दिन काफी थी। इसलिए अनुयायी लोग, पंक्तिबद्ध, एक-एक करके आगे बढ़ रहे थे। वे अपनी भेंट वहीं पास में रख देते और चरण स्पर्श करके आशीर्वाद प्राप्त कर लेते। मनहर की बारी आयी तो वह आगे तो बढ़ा, उसने चरण-स्पर्श भी किया लेकिन आशीर्वाद के लिए वह इंतजार ही करता रह गया! यह क्या! क्या भगवान के बंदों में भी भेद-भाव चलता है? क्या यहाँ भी पैसे का ही बोलबाला है?

मनहर उस दिन काफी व्यग्र रहा। घर में पैसे की कमी ने उसे पहले ही काफी व्यग्र कर रखा था। एक खर्चा पूरा किया नहीं कि दूसरा तैयार है। और फिर पैसे की कीमत भी क्या है! पहले तो उसे बेटी की शादी पर उठाये कर्ज़ को चुकाना है! माना कि तनख्वाह माकूल है, लेकिन माकूल तनख्वाह क्या हर मर्ज़ का इलाज है? उससे तो किसी तरह महीना ही पार हो पाता है। कर्ज़ उतारने के लिए तो कुछ ऊपर से भी आना चाहिए। लेकिन ऊपर से आये कहाँ से? क्यों नहीं नौकरी ही ऐसी की उसने? या किसी तरह का हथकंडा ही अपनाया होता क्यों पैसे की संस्कृति से वह एक तरह से बेगाना ही रहा? क्यों नहीं उसने कुछ लोगों की तरह पैसा ही सोचा और पैसा ही जिया? क्या ऐसे लोगों के लिए बाकी सब कुछ गौण हो जाता है? जैसे कि रूपाली के बाप के लिए। अगर कोशिश की होती उसने तो क्या वह भी पैसे वाला नहीं बन सकता था? तब शायद उसे यह तिरस्कार भी बार-बार न सहना पड़ता। तब शायद उसे 'भगवान के बंदों की सभा' में स्थान भी एक प्रमुख सदस्य का मिलता और संस्थापक महोदय हर विशेष अवसर पर एक विशेष कुर्सी उसने लिए लगवाते या उसे भी अपनी बगल में ही मंच पर आसन देते।

इसी सभा में मनहर की जान-पहचान एक ऐसी महिला से हुई थी जो हर दृष्टि से उसे परिपूर्ण दिखी। स्वस्थ, सुंदर, कद्दावर और स्थैर्य वाली। ओजस्विता उसकी हर भंगिमा से प्रतिभासित होती थी। मनहर को लगा जैसे कि वह जीवन के हर रहस्य को भेद गयी है। वह वहाँ शांत भाव से आती और शांत भाव से चली जाती। प्रवचन के समय उसकी आँखें प्रायः बंद ही रहतीं और जब खुलतीं तो अपने में एक विशेष प्रकार का प्रकाश लिये होतीं। मनहर की पत्नी, उन दिनों, जाने क्यों, उसे बात-बात पर फटकार देती रहती और वह फटकार साथ सोते समय भी अक्सर बनी रहती। इससे मनहर के अवयव प्रायः पस्त ही रहते और कोशिश के बावजूद उनमें तनाव न आ पाता। या कई बार ऐसा भी होता कि प्रताड़ना का बोझ वह तमाम दिन अपने साथ लिये-लिये घूमता रहता और रात को भी उसे वह अपने मन

से उतार न पाता जिससे वह अपने को बेजान-सा महसूस करता। दो-चार बार तो उसे ऐसे भी लगा जैसे उसने अपना पौरुष खो दिया है जो अब कभी लौटेगा नहीं। कभी-कभी उसके सामने एक प्रश्न भी उठता—क्या वह भी अपनी पत्नी को वैसी ही प्रताड़ना दे जैसी कि वह उसे देती है? या दूसरा तरीका उसके प्रति एकदम क्रूर हो जाना है। क्यों नहीं? क्या शारीरिक भूख का कोई महत्व नहीं? क्या शारीरिक संसर्ग के बिना स्त्री महीनों, वर्षों काट सकती है? सभा के संस्थापक तो हमेशा यही कहते रहे कि स्त्री-पुरुष को केवल संतान-उत्पत्ति के लिए ही संसर्ग करना चाहिए। और जब संतान-उत्पत्ति की इच्छा जगे भी तो पहले गुरु से मंत्रणा लेनी चाहिए ताकि जो संतान पैदा हो, वह अपने में ईश्वर के सभी गुण लिये हुए हो। संस्थापन महोदय ऐसी संतान को 'गॉड-गाइडेड' संतान कहते थे।

ईश्वर! गॉड! कौन हो तुम भाई? ज़रा अपना स्वरूप तो दिखाओ। मनहर के एक मित्र ने कहा था कि वह तो कण-कण वासी है। उसने तब एक श्लोक भी दोहराया था जो यह अर्थ देता था—कि जैसे दर्पण को महीन से महीन पीस देने पर भी उसमें दर्पण का गुण विद्यमान रहताहै, इसी प्रकार ईश्वर भी महीन से महीन कण में अपना अस्तित्व बनाये रखता है। एक और का कहना था कि ईश्वर तो मात्र एहसास है। इसे मानो तो सब कुछ है, न मानो तो कुछ भी नहीं है। उसने इस एहसास की तुलना घंटे की खनक से की थी जिसकी अनुगूँज धीरे-धीरे दूर होते-होते गहरी भी होती जाती है। लेकिन सबसे पहले ईश्वर के एहसास को पाया किसने? आदमी की लाचारी ने? उसकी निस्सहाय अवस्था ने? अपनी नियति के सामने कितना लाचार है यह आदमी! खूब हाथ-पाँव पटक लेने पर भी कई बार वह रोता ही रहता है! और कई बार बिना अंगुली हिलाये ही सब कुछ अपने आप अनुकूल होता रहता है!

उस महिला से मनहर की कई विषयों पर बातचीत करने का मौका मिला था। हालांकि वह आत्मिक बल पर बहुत ज़ोर देती थी, लेकिन उसका यह भी कहना था कि आदमी का पहला कर्त्तव्य अपने आस-पास, अपने संपर्क में आने वालों में खुशी भरना है। आप अगर किसी को यह खुशी दे सकते हैं तो लोग जंगल में भी आपके पीछे लगेंगे, और अगर आप नफरत का ज़हर फैलाते हैं तो महलों में रहने पर भी आप से लोग दूर भागेंगे। एक दूसरे संदर्भ में उसने यह भी कहा था कि किसी भी काम को शुरू करते समय आपके भीतर दो तरह की आवाजें उठती हैं—एक मद्धिम रहती है और दूसरी प्रबल। लेकिन मद्धिम आवाज़ ही सही आवाज़ होती है जिसे लोग आम तौर पर सुन नहीं पाते और प्रबल आवाज़ के पीछे-पीछे चल पड़ते हैं।

मनहर को इन दोनों उक्तियों में जैसे कि जीवन की सच्चाई दिखी थी। काश कि वह अपने चारों ओर खुशी बिखेर पाता! उसे लगा था जैसे कि वह अब तक एक संकुचित ज़िंदगी जीता रहा है। किसी से मिलते समय उसके भीतर, जाने क्यों, कई तरह के भाव उभरते थे। कभी वह किसी से कन्नी काटना चाहता और कभी किसी को नीचा दिखाने की भी फिराक में होता। और कई बार ऐसा भी हुआ कि जब कभी उससे निचले स्तर का कोई व्यक्ति उससे मिलने आया, उसने उसे बैठने का संकेत तो ज़रूर दिया, लेकिन मन के भीतर उसे कहीं कुतरन-सी भी होती महसूस हुई। और तो और, परिस्थितिवश जब उसकी फुफेरी बहन एक बार अपने बच्चों सहित उसके यहाँ आ पहुँची थी तो कुछ अजीब तरह का भाव उसके चेहरे पर आता-जाता रहा था, जबकि इसके बरअक्स उसकी पत्नी बिलकुल सहज रही थी। बल्कि उसने स्थिति को समझा था और उस औरत को हर तरह से ढाढस बंधाती थी। तब पत्नी से ही उसे पता चला था कि पति के चले जाने के बाद यह औरत हर तरह से अपने को लाचार पा रही है और बच्चों के रिश्तों के लिए मारी-मारी शहर-दर-शहर भटक रही है। तब एक दिन मनहर ने भी गौर किया

था कि उसकी हालत वाकई गंभीर है और वह बैठे-बैठे हिलती तो रहती ही है, अपने से बातें भी करती रहती है। खैर, उस समय तो मनहर भी काफी द्रवित हो गया था, लेकिन बाद में दूसरे मुद्दों को लेकर उसने पत्नी को टोका था।

उन सब बातों को याद करके मनहर को जाने कैसा-कैसा लगने लगा था। क्यों नहीं वह भी सहज रह पाया अपनी पत्नी की तरह? क्यों वह बात-बात पर उसे टोकता रहा? फुफेरी बहन से पत्नी का रिश्ता आखिर पति के कारण ही तो है। तब कैसे पत्नी ने उसे सहज ही स्वीकार लिया जबकि वह उससे एक प्रकार की दूरी ही बनाये रहा। क्यों? क्योंकि उनका परिवार गर्दिश में फंस गया है? क्या नहीं था उनके घर में भी एक वक्त? फ्रिज, रेडियो, मोटर साइकिल! लेकिन जब गर्दिश का चक्का घूमा तो सब एकाएक गायब हो गया। मनहर को याद है—जब उनका फ्रिज बिक रहा था तो किस तरह उस फुफेरी बहन की आँखों से आँसू ढुलक रहे थे। बच्चे भी बिल्कुल छोटे थे। खुद घर के लोगों ने ही उन्हें घर से बेदखल कर दिया था। पति महोदय अपनी खुराफातों से बाज़ नहीं आते थे। अच्छी-खासी नौकरी थी। वहाँ जाने क्या गोलमाल हुआ कि नौकरी से हाथ धोने पड़ गये। घरवालों से तो पहले से उलझन थी ही। इसलिए वहाँ भी बेदखली तक की नौबत आ पहुँची।... कैसे होता है यह सब? मनहर हैरान था। कहीं तो आदमी उठता है तो उठता ही जाता है, और कहीं गिरता है तो उसे थाह नहीं मिलती? खुराफातें करने वाले तो वैसे और भी अनेक हैं। उधर हर तरह के घपले करेंगे और इधर देवी-देवताओं को मन्नत मान लेंगे। क्या ये देवी-देवता इतनी आसानी से झाँसे में आ जाते हैं? क्या वे उनकी कारगुज़ारियाँ देख नहीं पाते? कहने वाले तो यह भी कहते हैं कि हम अपनी किस्मत की डोरी खुद ही बुनते हैं, अपनी सोच से, अपने कर्मों से, अपनी इच्छा-शक्ति से। तब फुफेरी बहन के पति ने अपनी किसमत की डोरी क्या खुद ही तैयार नहीं की? और तो और, उस तंग-दस्ती में उसकी नीयत को भी शक की निगाहों से देखा जाने लगा और होते-होते नौबत यहाँ तक पहुँची कि लोग उसकी शक्ल से भी परहेज करने लगे। फिर सुनने में आया कि वह हर मिलने वाली औरत पर डोरे डालने की फिराक में रहता है और अपनी हविस की रौ में उसने अपने सगे-संबंधियों को भी नहीं बख्शा। फिर सुनने में यह भी आया कि उसने यह शहर छोड़ दिया है और राजस्थान के किसी दूसरे शहर में बस गया है। फिर सुनने में आया कि अब उसका काम ठीक चल निकला है और उसके बेटे भी उसका हाथ बँटाने लगे हैं। फिर सुनने में आया कि वह काफी खुशहाल है और अच्छी-खासी जायदाद का मालिक बन गया है। और फिर सुनने में आया कि वह तो इस दुनिया से कूच कर गया है, पर उसके बेटे घर की अच्छी सार-सँभाल कर रहे हैं। जैसे कि सब कुछ सिलसिलेवार चल रहा हो। दरअसल, यह सिलसिला ही तो है जो मनहर को परेशान किये रहता है। कहीं आपने ज़रा भी कुछ बेहक झटकने की कोशिश की तो आपको उसका सिला फौरन मिल जाता है, और कहीं लोग सब कुछ हड़पे जाते हैं और उन्हें कहीं चुभन तक नहीं होती।!

हाँ, एक वक्त वह भी था जब ईश्वर को मनहर ने बालाये ताक रख दिया था और देवी-देवताओं की ओर तो वह आँख-उठाकर भी नहीं देखता था। तब उसकी पत्नी जब मंदिर जाती तो वह बाहर खड़ा-खड़ा ही उसका इंतज़ार करता रहता। शनि-मंगल को मनाना भी उसे एक बेकार की हरकत लगती। कितनी कर्म-कांडी है यह पत्नी मेरी, वह अक्सर सोचता। लेकिन फिर जाने क्या हुआ कि उसे हर कहीं ईश्वर का चमत्कार ही दिखने लगा। आदमी की अंग-रचना। औरत की अंग-रचना। उनका एक-दूसरे में समा जाना। मन। उसकी उड़ान। आँख झपकते ही कहाँ से कहाँ पहुँच जाना। मन का उद्वेलन। उद्गार। नफरत। प्यार। रोना। हँसना। पीड़ा। उल्लास। कुछ पा लेने की ललक। आगे बढ़ते रहने की लालसा। सृष्टि का क्रम। ऊर्जा। वीर्य। रज। कोई तो है जो इस सब का संचालन करता है। कोई तो है जो नियंता-नियामक की भूमिका निभाता है। नहीं तो सब एक-दूसरे से टकरा न जायें। और जब टकराते हैं तो कैसा विनाश होता है। विनाश के वैसे और भी तो कई रूप हैं! भूकंप। बाढ़। गाज।

उन्हीं दिनों मनहर 'भगवान् के बंदों की सभा' के एक सदस्य के संपर्क में आया था और उसी ने उसे सभा की राह बतायी थी जहाँ वह ईश्वरी सत्ता का बराबर कायल होता रहा, हालांकि 'सभा' के संस्थापक से उसे एक प्रकार का धक्का ही मिला और उनसे वह धीरे-धीरे विमुख ही होता गया। पर वह महिला? उसने भी वहाँ आना एकाएक बंद कर दिया था और फिर पता चला कि वह विदेश चली गयी है।

मनहर को कुछ बातें सोचकर अभी भी अपने पर हँसी आती है। कैसे वह धीरे-धीरे स्वयं भी कर्म-कांड की ओर खिसकता चला गया? मंगल और शनि के दिन जैसे कि उसके ज़हन पर नक्श हो गये थे। हर मंगल के दिन वह प्रसाद की थैली के साथ मंदिर में पहुँचता और उसे हनुमान जी को अर्पित करने के लिए पुजारी के हवाले कर देता। इसी प्रकार हर शनिवार को जैसे ही वह 'शनि को मनावें' की गुहार सुनता, वैसे ही छाया-पात्र में चवन्नी या अठन्नी डालने के लिए तैयार हो जाता। एक बार एक ज्योतिषी ने उसे कार्य-सिद्धि के लिए एक टोटका भी बताया था और उसने विधिवत उसे पूरा किया था। टोटका क्या था, बस पुराने जूते को पुराने कपड़े में लपेटकर एक चौराहे पर इस तरह पटकना था कि कोई उसे देख न पाये, और न ही वह स्वयं मुड़कर उसे देखे। उसने पुराने कपड़े में लिपटे पुराने जूते की पोटली चौराहे पर फेंक तो दी थी, लेकिन उसे बराबर यही डर लगा रहा कि यदि किसी ने देख लिया तो क्या कहेगा ! नहीं, किसी ने उसे नहीं देखा था और ताज्जुब, कि उसका रुका हुआ काम पूरा भी हो गया था ! कैसे पूरा हुआ वह काम? क्या महज़ यह एक इत्तफाक था? क्या हमारे नक्षत्र हमें इस तरह से प्रभावित करते हैं? क्या ज्योतिष एक संपूर्ण विद्या है? उस ज्योतिषी ने उसे और भी कई बातें बतायी थीं—जैसे स्वर (नाक की साँस) को अपने अनुकूल बनाना और त्राटक दृष्टि का विकास करना !

त्राटक दृष्टि ! यानी किसी को भी अपने निक्षेप से अपने वश में कर लेना। क्या आदमी के भीतर ऐसी अपार शक्ति है? कैसे विकसित होती है यह शक्ति? कैसे आदमी धीरे-धीरे ऊर्ध्वगामी होता जाता है? कैसे आदमी एक के बाद एक ऊँचाई पार करता जाता है? तब यह अवसाद और अवहेलना उसके लिए गौण नहीं हो जाते? मनहर को लगा जैसे अवहेलना का यह भाव उसके अपने ही भीतर छिपा हुआ है जो समय-समय पर उस पर हावी होता रहता है। तब क्यों नहीं उसने उसे बाहर निकाल फेंका ? तब क्यों नहीं उसने अपने आप को पुष्ट किया? तब क्यों नहीं उसने प्यार की जगमगाहट चाही? वह महिला ठीक ही तो कहती थी—अपने को ऐसे बिंदु पर ले जाओ जहाँ से फिर कोई तुम्हें गिरा न सके। 'सीक परफेक्शन,' वह बार-बार कहती, 'द रेस्ट विल फॉलो !' मनहर की आँखों के सामने उस महिला का चेहरा अब भी बार-बार दमदमा उठता है। 'कहाँ हो, भाई !' वह जैसे उसे गुहार लगाता रहता है।

और उस महिला ने यह भी तो कहा था, 'केंद्रित मन एक ऐसा चिराग है जो हमारी आत्मा के हर कोने को उजागर करता है।' तब करो न अपनी आत्मा के हर कोने को उजागर, मनहर !

□

कविता-खंड

दो कविताएँ

जगदीश चतुर्वेदी

(एक)

स्मरण करते हुए

(१)

तुम्हें प्यार करते करते एक सफ़ेद फूल में आवाज आने लगती है
गुलाब का नाम देकर मैं शिराओं की उत्तेजना को कम नहीं करूँगा
एक भैरवी मुद्रा में तुम्हारे शरीर को खिलौना समझकर
उठा लूँगा हथेलियों के विश्वास पर

त्वचा से फूटती गंध को पीते हुए
एक समर्पण मुद्रा में मुस्कराऊँगा।

और तुम्हारे झुके से, स्मित अधरों को
झुककर आर्द्र होने से पूर्व चूम लूँगा।

(२)

समय के हाथों कटकर बह जाते हैं अंग
एकांत द्वीपों में शेष रह जाती हैं लहरें
अंधे क्रम में
केवल याद रहती हैं तुम्हारी धुली हुई दो आँखें निर्निमेष!

(३)

लाओ हवा में लिख दूँ एक नाम
परिचित होकर जब उंगलियाँ पहचान छोड़ देती हैं
कहलाती हैं निष्प्राण

हवा में कोई नहीं चलाता स्याही के कलम
उगलते हैं ओंठ से बिखरे हुए शब्द :
अनाम!

(दो)

साक्षात्कार

मैं जब बच्चा था
तो अकेलापन मुझे बहुत परेशान करता था

मैं जंगलों में निकल जाता
और चुनता रहता
गूलर के फूल
और देखता रहता
अबाबीलों के घोंसले।

मैंने पहचान लिया था
कि ज़िंदगी केवल प्यार का नाम नहीं;
ज़िंदगी एक ऐसा रेगिस्तान है
जिसमें बियाबान बंजर हैं
रेतीले ढूह हैं
और दूर तक फैले रेत के समंदर है।
यहाँ इंसानों की नहीं
सूखी कटीली झाड़ियों की मनहूस शक्लें दिखाई देती है।

मैंने अपनी शक्ल को ठीक-ठाक रखा
मैंने अपने रक्त संचार में बाधा नहीं आने दी
पर एक दिन
मेरा आइना खुद ही चटक गया
और अजीब सी अदा में
मेरे अंदर का बूढ़ा गौरिल्ला
अट्टहास करता बोल उठा :

तुमने तो अपने को दुनिया के दुःख दर्द को सौंप दिया

पर
एक क्षण को भी यह नहीं पहचान सकें
कि तुम्हारे गोरे चमकते जिस्म के अंदर
कितनी खाइयाँ हैं
कितने अविश्वास हैं
कितनी घृणा हैं
अपने आसपास के जीवन,
समाज
और सबसे ज्यादा खुद अपने आप से! □

दो कविताएँ

प्रणव कुमार वंद्योपाध्याय

(एक)

उनकी स्मृतियाँ

यादों की गाथा हमें ले आई
इस वीरान मैदान में फैली शिलाओं तक
जिनके नीचे दबी पड़ी हैं चीखें
अंतहीन चीखें !
बगीचों का चालाक वसंत
महुए की खुमारी से जब भर देता पृथिवी
मेरे बचपन के तमाम दोस्त
पत्थरों के नीचे चीख़ रहे होते !
हैरान हूँ
कोई पूछता क्यों नहीं
मेरे दोस्तों के
अचानक गायब हो जाने की ख़बर !

ये सब रोशनी के बेटे थे !
और इन्हीं से फूटती रही लगातार
महानदी-सी करुणा धारा !
यह उत्सवा पृथिवी मौसम के हर मोड़ पर
कृतज्ञ होती रही दोस्तों के सामने !
बोलो
तब मालूम था तुम्हें कुछ !
जानते थे क्या
यह महानदी एक दिन खत्म हो कर
एकदम लुप्त हो जाएगी कहीं?

देखो
कहीं तो होगा उस नदी का वजूद।
या ,कोई निशान करुणा के अतीत का!
या रोशनी की
बहुत मद्धिम हो रही
कोई उपस्थिति!
इस वीरान मैदान में कैद
पत्थरों से पूछो।
थोड़ी देर में सही
सिर्फ वे ही बता पाएंगे
रास्ते का सही पता।

चालाक वसंत मदारी की तरह
करिश्मा दिखाता रहा बरसों!
क्यों भूले थे हम
बचपन के तमाम साथी तो
इसी करिश्मे के शिकार हुए हैं!
सिर्फ ये शिलाएँ ही हैं
जो भूली नहीं कुछ।
इन्हीं के पास स्मृतियाँ बटोरने
कभी आएगा ज़रूर
नरकुल का कोई अन्वेषी मुसाफिर!

(दो)

समय फसल

रोटी और प्रेम के उत्स ढूंढ़ते हुए
जहाँ तलक पहुँचे हैं हम
क्या है वहाँ?
सिर्फ आदिशून्य?
अथाह सन्नाटे के बीच
चाँदनी-सा चमकता सीमाहीन जल
और हज़ारों बरस का एक अन्वेषी योगी!
आँखें चौंधिया जातीं
सत्य के इस वजूद के सामने!

फिर आई होगी ध्वनि।
साक्षी?
रहा होगा वही भास्वर योगी
आदिध्वनि का पहला श्रोता।

हमारी रोटियों में विचरते रहे जो
घृणा के तमाम कीड़े
उन्हीं से तो जाना हमने यह पाठ
कामना, प्रेम और इच्छाओं के पड़ाव से
मीलों आगे खड़ा
वह अन्वेषी फ़क़ीर
कीड़ों के साथ भी यारी में
लमहा-दर-लमहा मसरुफ़ रहा है!

अतलस्पर्शी कामना के बाद
घृणा के धुएँ से
हमारी आँखों में आँसू तो थे
लेकिन देखो
हमने बेचा नहीं उन्हें!
मौसम आते ही
बो दिए हमने अपने कष्ट!
देखना
ये ही उग आएंगे कभी अकाल में
समय की फसल बनकर!

रोटी की तलाश में
आज जिस मुहाने पर खड़े हैं हम
वहाँ कभी आदि सृष्टि का सन्नाटा
रहा होगा ज़रूर!
लेकिन कल?
कल क्या होगा बोलो!
वक़्त बहुत थोड़ा रह गया
कल तक
निकल जो आएगी
हमारे कष्टों के बीज से
समय फ़सल!

□

तीन कविताएँ

डॉ. शेरजंग गर्ग

(एक)

डर है

जब पूछ लिया उनसे कि किस बात का डर है
कहने लगे ऐसे ही सवालात का डर है

हर चीज़ में बिगड़े हुए अनुपात का डर है
फौलाद की औलाद को जज़्बात का डर है

यह रास्ता बेवास्ता, वह वास्ता बेरास्ता
रिश्तों में यहाँ खुद से मुलाकात कर डर है

है ख़ास ख़बर आज की, हो जाओ ख़बरदार
काग़ज़ पे सुधरते हुए हालात का डर है

हाँ, न्याय का विषपान तो करना ही पड़ेगा
एथेंस के हज़रात को सुकरात का डर है।

(दो)

मत पूछिये

मत पूछिये क्यों पाँव में रफ्तार नहीं है
यह कारवाँ मंज़िल का तलबगार नहीं है

जेबों में नहीं, सिर्फ गरेबान में झाँके
यह दर्द का दरबार है, बाज़ार नहीं

सुर्खी में छपी है, पढ़ो मीनार की लागत
फुटपाथ की हालत से सरोकार नहीं है

जो आदमी की साफ-सही शक्ल दिखा दे
वो आइना माहौल को दरकार नहीं है

सब हैं तमाशबीन, लगाये हैं दूरबीन
घर फूँकने को एक भी तैयार नहीं है

आवाज आ रही है

आवाज़ आ रही है तुमने सुना तो होगा
मज़बूरियों के हक़ में कुछ फ़ैसला तो होगा

विपरीत हैं हवायें, गुम हो गई दिशायें
जंगल के सिलसिलों में कोई रास्ता तो होगा

पूजाघरों में कैसे ये दाग़ दीखते हैं
ईश्वर भी कुछ क्षणों को थर्रा गया तो होगा

इतिहास ने कहीं भी जिनको जगह नहीं दी
कुछ मेहरबान उन पर जुगराफिया तो होगा

जो ज़िंदगी के हक़ को नाहक बना रहे हैं
उनके मुक़ाबले में कोई खड़ा तो होगा। □

तीन गीत

अनूप अशेष

(एक)

सीढ़ियों के पास

इन दीवारों में
सुरीली देह का संगीत
कोई
भर गया है।

परस पाकर उँगलियों का
बज उठे
जैसे सितार

दूर होती नाव में सुधि
काँप जाए
बार-बार,

सीढ़ियों के पास
घायल मोर
लगता-सा नया है।

वैजयंती केवड़े के
हाथ में आया
हुआ तन

गंधचारी-सी दिशाएँ
मंत्र-सा मारा
हुआ मन,

उर्वशी के बाण का
माली अकेला
घर गया है।

(दो)

जो गलत चेहरे नहीं

जो गलत चेहरे नहीं हैं
उन्हीं पर हैं
जाल
डाले गए
पाली मछलियों के।

इस भरे तालाब में
कुछ नयी लाशें
और
डूबी
हवा के संग-संग
मचलती
हुयी लहरें
और
ऊबीं,

कमल की नालें नहीं हैं
उन्हीं के से
हाथ
डूबे
महाबलियों के।

मगरमच्छों की पकड़ से
जो बचे
वे मार
में हैं

श्वेत बगुलों के
थके डैने
उधरती-पार
में हैं,

बाड़ के घेरे लगे हैं
पांव हैं
पा़बंद
कांटे
बिछी गलियों के।

(तीन)

अपने भीतर दुर्घटनाएँ

धूमिल हुयीं गाँव की यादें
दिन चिमनी का
धुआं हुआ।

हम जीते हैं महानगर की
अपने भीतर
दुर्घटनाएँ

जैसे आयी हों
सड़कों पर
चलते चलते
भूखी गाएँ,

हम रस्सियाँ तोड़ कर आए
दिन पानी का
कुंआ हुआ।

लोकल ट्रेन पाँव में बाँधे
घिसटा सूना
सूना मन

दफ्तर होटल
सट्टाघर के
हममें चिपक-से
विज्ञापन,

तन लाचार, जेब जीने को
दिन पिंजरे का
सुआ हुआ।

दो कविताएँ

राजेंद्र उपाध्याय

(एक)

पेड़ की उम्र न पूछो

किसी चिनार की उम्र न पूछो
किसी बूढ़े देवदार की उम्र न पूछो
किसी झील की उम्र न पूछो
किसी धरती की उम्र न पूछो

पेड़ था आसमाँ था जमीन थी
झील थी तब भी
जब मैं नहीं था
तब भी रहेगी झील-जमीन-पेड़-आसमाँ
जब मैं नहीं रहूँगा

छाया देते थे चिनार मेरे पिता को
छाया देते हैं ये मुझको
छाया देंगे ये मेरे बेटे को
जब कभी वह इनकी गोद में आएगा
धरती रहेगी इनके कारण सुखदा
धरती रहेगी इनके कारण सुखदा सदा सर्वदा
ये हैं तो धरती है, ये नहीं है तो धरती नहीं है
ये है तो मैं हूँ, ये नहीं हैं तो मैं नहीं हूँ।

(दो)

मैं ही हूँ कवि

मेरा कोई नाम नहीं
मेरा कोई गाँव नहीं
मेरा कोई जन्म नहीं
मेरा कोई मरण नहीं

मैं अक्षर हूँ
मैं ही कवि हूँ
मैं ही एलोरा का वास्तुकार
मैं ही कोसाम्बी का कुम्हार

मैं ही कोमल हाथों से लिखता हूँ कविता
मैं ही मोटे खुरदरे हाथों से चलाता हूँ छैनी
मैं ही पत्थरों में भरता राग
में ही बित्ते भर का होकर नाप आता ब्रहमाण्ड

मैं ही खींचता हूँ हर रेखा से बड़ी एक रेखा
मैं ही काल की हर लक्ष्मण-रेखा को पार कर आता हूँ
'अक्षर' के सहारे 'अक्षर' होकर

उस महाकाल के हाथों पराजित होना
उसके हाथों लूटा जाना मेरी नियति नहीं है
कोई मुझे मेरी दुनिया से
मेरी धरती से
मेरी जड़ से उखाड़कर नहीं ले जा सकता

मैं उसे चुनौती देता हूँ
कि पराजित नहीं होऊंगा उसके हाथों
उस महाकाल के हाथों पराजित नहीं होऊंगा
उस अवश्यंभावी नियति के हाथों
किसी के हाथों हरगिज़ पराजित नहीं होऊंगा मैं
एक शताब्दी आगे के
एक सहस्त्र वर्ष आगे के जीवित रत्नों को निगलने वाले काल को
मैं चुनौती देता हूँ कि जीता रहूँगा
क्षरण के बाद भी
मरण के बाद भी। □

गंगायमुने लोकमातरौ

डॉ. दिनेशचंद्र अग्रवाल

भारतीय संस्कृति आदि काल से ही प्रकृति के प्रति प्रगाढ़ प्रेम, सम्मान तथा आस्था की भावना से अभिभूत रही है। वैदिक संस्कृति तथा साहित्य में इसी से प्रेरित होकर जल को अत्यंत पवित्र तथा उपास्य माना गया है, वहाँ इसे 'आपो देवता' कहा गया है। सार्वभौमिक तथ्य भी यही है कि जल के बिना समस्त मानव जीवन असंभव है तथा यह उन पाँच तत्वों में से एक है जिनसे मिलकर मानव-शरीर व जीवन का अस्तित्व है। अतएव जल को अत्यादि काल से ही पूजा जाता रहा है। कहीं जल को माता के रूप में भी देखा गया था ('आपो अस्मान मातरः शुन्धयंतु।'—ऋग्वेद, १०/१७/१०) कहीं जल को अमृत भी कहा गया ('अपस्वंतरमृतमप्सु'—ऋग्वेद—१/२३/१९) इसी के साथ ही जल देवी व नदी देवी के प्रति श्रद्धा का प्रादुर्भाव हुआ —('आपोदेवीरुपहये यत्र गावः पिवंति नः सिंधुभ्यः कर्त्वं हविः। '—ऋग्वेद—१/२३/१८) नदियों के प्रति श्रद्धा और दिव्यता का भाव भी मूलतः वैदिक संस्कृति की ही देन है। ऋग्वेद के 'नदी सूक्त' से नदियों के स्तवन का आरंभ और विकास होना प्रमाणित होता है, वहाँ जिन सात पूज्य नदियों का उल्लेख हुआ है वे इस प्रकार हैः—सरस्वती, गंगा, यमुना, शतद्रु, परुष्णि, मरुदवृधा और आर्जीकीया। इन्हीं नदियों के तटों पर ही प्राचीनतम सभ्यताओं और संस्कृतियों का क्रमशः जन्म और विकास हुआ जिसके फलस्वरूप लोक जीवन एवं संस्कृति में नदियों को अति विशिष्ट महत्व प्राप्त हुआ। सिंधु, हड़प्पा, वैदिक तथा अन्य संस्कृतियाँ इस तथ्य को प्रमाणित करती हैं।

महाभारत युग में सभी नदियों को विश्व की माताएँ और महाफलदायिनी कहा गया था—('विश्वस्य मातरः सर्वाः सर्वाश्चैव महाफलाः। इत्येता सरितो राजन् समाख्याता यथा स्मृतिः।'—भीष्मपर्व, १/३७-३८ महाभारत) वैदिक कालीन संस्कृति में 'यज्ञ' का विशिष्ट महत्त्व रहा है, अधिकांश यज्ञों को नदियों के तट पर ही संपन्न किया जाता था तथा यह परंपरा महाभारत युग में भी व्याप्त थी तथा इसी से प्रेरित होकर 'महाभारत' में नदियों को यज्ञीय वेदियों की माता भी कहा गया—('एतानद्यस्तु धिष्णयानां मातरो या प्रकीर्तिताः।' वनपर्व—२१२/२४) वैदिक काल में यद्यपि सभी पूजित नदियों में सर्वोच्च सम्मान सरस्वती को ही प्राप्त था किंतु महाभारत काल में गंगा को ही सर्वाधिक लोक प्रतिष्ठा प्राप्त हुई तथा इसके अतिरिक्त, गंगा को दिव्य विभूति के रूप में महत्तम लोकास्था प्राप्त हो गयी थी। इस आस्था-परिवर्तन का प्रमुख कारण यह था कि सरस्वती तीन बार अपना प्रवाह मार्ग परिवर्तित करने के पश्चात् विलुप्त हो गयी तथा यह महान घटना महाभारत काल से पूर्व हो चुकी थी, ऐसी धारणा पुरातात्विक, भौगोलिक, ऐतिहासिक, साहित्यिक तथा अत्याधुनिक वैज्ञानिक यांत्रिक एवं अंतरिक्ष यानों से लिए मानचित्रों द्वारा परिपुष्ट हो चुकी है। महाभारत युगीन 'श्री

मद्भागवतगीता' में भगवान श्री कृष्ण द्वारा अर्जुन को अपने स्वरूप-वैराट्य का विस्तृत विवरण देते हुए स्वयं को जाह्नवी (गंगा) बताए जाने का उल्लेख है ('स्रोसामास्मि जाह्नवी' अध्याय १०, श्लोक सं. ३१) कालांतर में पैराणिक युग ने अभूतपूर्व वैराट्य, आध्यात्मिक व धार्मिक महत्व द्वारा गंगा को महिमा मंडित किया। स्वयं भगवान विष्णु द्वारा उद्भूत मान कर गंगा को भगवत् रूपा भी कहा गया (भागवत् पुराण - ७/१४/२९, ८/४/२३ तथा ब्रह्मांड पुराण - २/१६/११-२४) भगवान द्वारा उद्भूत होने के तो अनेक प्रसंग पौराणिक वाङ्मयों में भरे पड़े हैं। ब्रह्मा, विष्णु तथा महेश गंगा की अर्चना करते हैं— ('नमस्ते देव देवेशि गंगे त्रिपथगामिनि। त्रिलोचनेश्वते रूपे ब्रह्म विष्णु शिवार्चिते।।' — बृहद्धर्मपुराण - पर्व - ५/६०) 'बृहद्धर्मपुराण' में ही अन्य स्थलों (पर्व ५४-५६) पर गंगा महात्म्य का विशद् वर्णन हुआ है। पुराणों में गंगा का अविभाज्य संबंध देवताओं, ऋषियों तथा अन्य दिव्य विभूतियों के साथ होने के कारण कई कथानक मिलते हैं जिनसे गंगा को भगवद्रूपा, विष्णुपदी, जाह्नवी, जह्नुसुता, भागीरथी, त्रिपथगा, सुरनिम्नगा, त्रिस्रोता, स्वरापगा, सुरापगा, अलकनंदा, मंदाकिनी, सुरनदी, भीष्मसू तथा अन्य प्रकाश में आये हैं। विविध दार्शनिक तथा आध्यात्मिक भावों के साथ गंगा को जोड़ दिया गया। गंगा-जल के विषय में अन्यतम सर्वसिद्ध वैज्ञानिक तथ्य यह भी है कि यह जल बहुत समय तक रखे रहने पर भी न तो दूषित ही होता है और न इसमें कीड़े ही उत्पन्न होते हैं। अतएव बासी होने पर भी दैनिक जीवनोपयोग हेतु यह वर्जित नहीं है तथा सभी प्रकार के धार्मिक व पूजा कार्यों के लिये यह पवित्र माना गया है—('वर्ज्यं पर्युषिंत पुष्पं वर्ज्यं पर्युषितं जलम्। न वर्ज्य तुलसी पत्रं न वर्ज्यं जाहवी जलम्।।' स्कंद वै. मार्ग शीर्ष माहात्म्य ८/९, ८/२७ तथा नारद. पर्व.—६/१२-१३,२१ व ६/२४-२७) गंगा के तट पर अनेक तीर्थ हैं जिनमें से कई स्थानों पर विशाल मेले आयोजित होते आये हैं। हरिद्वार, प्रयाग तथा गंगा सागर के कुंभ, अर्द्धकुंभ तथा मकर संक्रांति के लोक विख्यात मेलों में लाखों नर नारी एकत्रित होते हैं।

भगवान श्री कृष्ण ने यद्यपि गंगा में अपना ही स्वरूप आरोपित किया और उसे दिव्यता की सर्वोच्य श्रेणी में सम्मिलित कर प्रतिष्ठित किया किंतु उनका आंतरिक प्रेम यमुना से ही रहा। यमुना के तट विस्तृत ब्रज क्षेत्र तथा विशेषतः वृंदावन तो उनके विशेष प्रिय ही नहीं वरन् जीवन के अभिन्न-अंग थे। यद्यपि यमुना नदी गंगा की भाँति विशिष्टता अथवा उच्चता को प्राप्त नहीं है किंतु श्री कृष्ण के जीवन तथा लीलाओं से संबद्ध होने के कारण लोक में कृष्ण-भक्ति के साथ-साथ यमुना भी श्रद्धा का पात्र बनी रही है। श्री कृष्ण के जन्म लेने के पश्चात्, उनके सर्वप्रथ चरण-स्पर्श करने का सौभाग्य यदि किसी को है तो वह यमुना ही है। मघोनि वर्षत्यसकृद यमानुजा गंभीरतोयौघजवोर्मिफेनिला भयानकावर्त-शताकुला नदी मार्गं ददौ सिंधुरिव श्रियः पतेः।'—श्री मद्भागवत १०/३/५०) यमुना में श्री कृष्ण द्वारा कालिय दमन करने के पश्चात् यमुना जी का जल पवित्र हो गया था—(श्री मद्भाग्वत - २/६०-६३) इसके अतिरिक्त श्री कृष्ण की सहस्रों धर्मपत्नियों में यमुना को भी स्थान प्राप्त है (श्री मद्भाग्वत माहात्म्य - २/८-९) यमुना तथा श्री कृष्ण के संबंधों के अनेक संदर्भ साहित्य में भरे पड़े हैं अतएव कृष्णोपासना के अंतर्गत यमुना को भी अनिवार्य रूप से स्थान दिया जाने लगा।

यमुना का सर्वप्रथम उल्लेख ऋग्वेद के नदी सूक्त में विद्यमान है। (इमं में गंगे यमुने सरस्वति.... सुशोभया।' ऋग्वेद १०/७५) महाभारत में यमुना तटवर्ती अनेक तीर्थों का वर्णन है ('यमुना-प्रभवं गत्वा समुपस्पृश्य यामुनम् अश्वमेघफलं लब्धवा स्वर्गलोके महीयते।' वनपर्व ८४,४४) मार्कन्डेय पुराण में यमुना को सूर्य की कन्या तथा यम की बहन कहा है। इसे यमी भी कहा गया है। सूर्य की उपासना तथा मान्यता वैदिक युग से ही परिपुष्ट रही है अतः यमुना को भी सूर्य का अंश मानकर ही पूजित नदियों की श्रेणी में प्रतिष्ठित किया गया। पद्म पुराण (पाताल खंड-७७) में कालिन्दी (यमुना को

अमृत वाहिनी सुषुम्णा कहा गया है तथा अत्यंत उच्च आध्यात्मिक स्तर पर प्रस्तुत किया गया है। महाकवि कालिदास ने इसे कालिंद कन्या कहा है (रघुवंशम् ६/४८)' स्मरणीय है कि कालिदास साहित्य भारतीय संस्कृति के उस स्वर्णिम युग का प्रतिबिंब है जो गुप्त वंशीय शासकों की देन थी। गुप्त युग में गंगा-यमुना में स्नान पाप नाश का साधन माना जाता था और प्रयाग में उनका संगम एक अति सम्मानित तीर्थ था (रघुवंशम् - १३/५४-७५) तथा गंगा तट पर ऋषि मुनियों के तपोवन स्थित थे (रघुवंशम् - १४-२८) दूसरी शती ई. कालीन कुषाण काल से ही गंगा-यमुना के मध्यस्थित भूमि (दोआब, अंतर्वेदी) राजनैतिक, आर्थिक तथा सांस्कृतिक दृष्टि से अत्यधिक महत्वपूर्ण हो गयी थी; इसी क्षेत्र में उच्च कोटि के ऋषियों, मुनियों तथा वेदों, ब्राह्मण ग्रंथों, पुराणों, महाभारत तथा रामायण आदि सम्मानित ग्रंथों के रचयिताओं व अन्य दिव्य प्रतिमाओं का निवास था जिसके कारण इस क्षेत्र को देव भूमि समझा जाता था। इसी भावना से दोनों नदियों का देव सेविका तथा देवी का रूप अद्भूत हुआ।

गुप्त शासकों से पूर्व भारशिव नाग शासकों ने जब — जब कुषाण शासकों का संहार किया तब—तब अश्वमेघ यज्ञ किये गये और प्रत्येक यज्ञ के बाद 'अवभृथ स्नान' इन्होंने अपने इष्ट देव विश्वनाथ शिव के काशी में निवास के निकट गंगा में संपन्न किये—(पराक्रमाधिगत-भागीरथ्यमल जल मूर्द्धाभिषिक्ता नांदशाश्व मेधावभृथस्नाताभारशिवनाग' - कॉरपस इंसक्रिपशंस इंडिकेरम् - वाल्यूम - ३, पृष्ठ २३७)

धर्म और आस्था के वशीभूत होकर साहित्यकारों तथा कालाकारों ने इन दोनों नदियों को मानवीय रूप के आवरण में प्रस्तुत करना आरंभ किया। संभवत: कालिदास ने प्रथम बार इन नदियों को देव सेविका के रूप में अभिव्यक्त किया—('मूर्ते च गंगायमुने तदानीं सचामरे देवमसेविषाताम्' - कुमार संभवम् - ७/४२) एक अन्य स्थान पर दोनों नदियों को सागर-पत्नियों के रूप में देखा गया है—('समुद्रपत्न्योर्जलसंनिपाते पूतात्मनामत्र किलाभिषेकात्'......... शरीर बंध:'। - रघुवंशम् - १३/५८) भारतीय प्रतिमाशास्त्रविधान में भी गंगा-यमुना को देवी का स्वरूप प्रदान किया गया है तथा उनके विशिष्ट लक्षण बताए गये हैं जिनसे प्रेरित होकर समय समय पर कलाकारों ने इनको सुंदर दिव्य नारी स्वरूप प्रदान कर अति आकर्षक प्रतिमाओं का निर्माण कर भारतीय कला को गौरवान्वित किया। विष्णुधर्मोत्तर पुराण में वरुण देव की प्रतिमा के विवेचन के अंतर्गत गंगा को वरुण के दाहिने पार्श्व में मकरारुढ़ व हाथ में चंवर लिये हुए तथा बांये पार्श्व में यमुना को कूर्मारुढ़ व हाथ में चंवर लिये प्रस्तुत किया गया है। इसमें मकर तथा कूर्म को जल का प्रतीक तथा क्रमश: दोनों नदियों का वाहन माना गया है - ('यक्शाज़' कुमारस्वामी, वाल्यूम - २, पृ. ४७)
('भागे तु दक्षिणे गंगा मकरस्था सचायमरा। देवी पद्मकरा कार्या चांद्रगौरी वरानना वागे तु यमुना कार्या कूर्म संस्था सचामरा। नीलोत्पलकश सौम्या नील नीरज सन्निभा।।' विष्णु धर्मोत्तर पूराण) पद्मपुराण (अध्याय - २७, श्लोक - ४५) में गंगा को चार कलशों से सुशोभित चतुर्भुजी देवी का रूप बताया गया है जिसमें कलशों गंगा के चार गुणों— मोक्ष, जीवन, समृद्धि और सत्व का प्रतीक बताया गया है।

अब तक प्राप्त हुए पुरातात्विक तथ्यों से ज्ञात होता है कि भारतीय कला में नदी देवी के प्रतिरूपण की परंपरा का आरंभ गुप्त काल से होता है। इस धारणा के परिप्रेक्ष्य में कुछ विशिष्ट पुरातन कलाकृतियों का विवरण प्रस्तुत है :

चतुर्थ शती ई. में समुद्रगुप्त के व्याघ्रांकित सिक्कों के दूसरी ओर कमल धारिणी गंगा की आकृति उत्कीर्ण पायी गयी है। कुमार गुप्त कालीन एक अन्य सिक्के पर भी गंगा की छत्रधारी आकृति अंकित है। (ब्रिटिश म्यूज़ियम में संग्रहित, दृष्टव्य फोटो - २बी - 'गुप्ता स्कल्पचर' जे.सी. हर्ले)

विदिशा (म.प्र.) में स्थित ४०२ ई. की उदयगिरि गुफाओं में गुफा सं. ६ के प्रवेश द्वार के दोनों पार्श्व के ऊपरी कोने पर गंगा व यमुना मकर पर सुशोभित हैं; दोनों आकृतियों को क्रमश: अशोक तथा आम के वृक्ष के साथ शालभंजिका प्रतिमाओं की भाँति संयोजित किया गया है। इससे ऐसा प्रतीत होता है कि कलाकारों ने प्रथम शती ई. पू. से बनती आयी शाल भंजिकाओं से प्रेरणा ग्रहण की होगी। स्मरणीय है कि शालभंजिका मूर्तियों में एक युवती को शाल वृक्ष अथवा किसी भी अन्य वृक्ष की शाखा को पकड़कर झुकाते हुए या शाखा के फूलों को पकड़े हुए विशिष्ट लयात्मक भंगिमा में प्रदर्शित किया जाता है। यह प्रतिमा भगवान बुद्ध के जीवन काल (छठी शती ई.पू.) में प्रचलित 'शालभंजिका' नामक लोकोत्सव तथा कालांतर में 'अशोक दोहद' नामक लोकोत्सव से ही मूलत: प्रेरित थी। यह आकृति गुप्त काल के बाद भी शिल्पियों का प्रिय विषय रही है।

मध्य प्रदेश में बीना अंकशन से आगे बरेठ के निकट स्थित उदयगिरि की गुफा सं. ५ जो पांचवीं शती ई. के आरंभिक दशकों में बनाई गयी थी, में विष्णु के बराह अवतार विषयक एक विशाल पैनल दीवार पर उत्कीर्ण है जिसका माप ६.५ X ३.७५ मीटर है; इस पैनल पर वराह की अधिक उभार वाली प्रतिभा है जिसके दोनों पार्श्व में गंगा यमुना विषयक पैनल उकेरे गये हैं। बांये पार्श्व वाले पैनल में ऊपर की ओर उड़ते हुए गगनचारी देवता तथा नृत्य करती व वाद्य बजाती हुई अप्सराएँ स्वर्ग की अभिव्यक्ति करती हैं। स्वर्ग से गंगा व यमुना का अवतरण लहरदार रेखाओं द्वारा प्रतीकांकित किया गया है; नदियों को क्रमश: मकर तथा कच्छप पर खड़ी हुई व हाथ में जल कलश लिये हुए नारी आकृतियों द्वारा अभिव्यक्त किया गया है; दोनों नदिवों का संगम होने के पश्चात् सागर में विलय हो जाता है। निचले भाग में एक दिव्य पुरुष जो हाथ में जल कलश लिये हुए है और घुटने तक के जल में खड़ा है, सागर का प्रतीक है। दाहिने पार्श्व वाला पैनल भी उक्त पैनल से साम्य रखता है किंतु अंतर है तो केवल इतना कि स्वर्ग में अप्सरायें नहीं हैं वरन् केवल एक देवाकृति ही अंकित है। उदयगिरि की इन कलाकृतियों को प्राचीन भारतीय कला की विशिष्ट प्रतीकात्मक कलाकृतियों में महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त है। उक्त दोनों पैनल में नदी-देवियों ने जल कलश लिया हुआ है, चँवर नहीं। यहाँ पर इनका प्रस्तुतिकरण सेविका रूप में न होकर देवी के रूप में हुआ है।

जिला मंदसौर (म.प्र.) के खिलचीपुर स्थान पर मंदसौर दुर्ग में छठी शती ई. के अत्यारंभिक काल में बनाया गया एक तोरण स्तंभ का अवशेष सुरक्षित है जिसके उत्तरी पार्श्व पर कच्छपारुढ़ यमुना को उत्कीर्ण किया गया है, इस आकृति की दैहिक भंगिमा व हस्त मुद्रा आकर्षक, भावपूर्ण तथा लयात्मक है। इसके बाँये हाथ में कमल है, दाहिना हाथ वरद मुद्रा में है और वक्ष स्थल पूर्णत: विवस्त्र है किंतु अधोवस्त्र पारदर्शी प्रतीत होता है।

गंगा की गुप्तकालीन दो अति सुंदर भंगिमाओं वाली प्रतिमाएँ विदिशा (म.प्र.) से प्राप्त हो चुकी हैं जिनमें से एक अपेक्षाकृत अधिक सुंदर कलाकृति संप्रति बोस्टन म्यूज़ियम (अमेरिका) की शोभा बढ़ा रही है और दूसरी खंडित प्रतिमा विदिशा संग्रहालय में सुरक्षित है। गंगा की ही एक अन्य उत्कृष्ट प्रतिमा मालवा क्षेत्र के तुम इन स्थान पर अवशिष्ट है (विक्रम स्मृति ग्रंथ - पृष्ठ - ७०२)

ललितपुर (उ.प्र.) के देवगढ़ स्थान पर बने गुप्त युगीन वस्तु और मूर्ति शिल्प भारतीय कला में असाधारण स्थान रखते हैं। यहाँ के मंदिरों में कलाकृतियाँ मानों बिखरी पड़ी हुई हैं जिनमें गंगा व यमुना की कई प्रतिमाएँ अवशिष्ट हैं। विशेषत: यहाँ के मंदिर (सं. ५, ९, १२, १५, १८, २०, २३, २४, २८, ३१ तथा अन्य) में इन प्रतिमाओं की विविधता और कला सौष्ठव दर्शनीय है जिनका विवरण अधिक स्थान की अपेक्षा रखता है। उत्तर प्रदेश के ही अन्य स्थानों से प्राप्त गुप्त कालीन अन्य प्रतिमाओं में राजकीय संग्रहालय लखनऊ में सुरक्षित यमुना (यमुना संग्रह सं. ५५६३) तथा राजकीय संग्रहालय

मथुरा में सग्रहित यमुना (संग्रह सं. २६५९) व गंगा (संग्रह सं. १५०७) दर्शनीय हैं।

मद्रास के सागर तट पर ७वीं शती ई. में उत्तर गुप्त कालीन पल्लव वंशीय शासकों द्वारा बनवाए महाबलीपुरम् के शिलाकार मंदिरों में एक विशाल शिलाफलक पर गंगावतरण का दृश्य उत्कीर्ण किया गया है जिसमें गंगा को पृथ्वी पर लाने के लिये भागीरथ तपस्या कर रहे हैं। संपूर्ण दृश्य गंगावतरण कथा की जीती जागती साकार अनुभूति प्रस्तुत कर देता है। इसी विषय को अभिव्यक्त करती हुई एक अन्य कलाकृति बंबई से लगभग १५ कि.मी. दूर सागर के बीच स्थित एक द्वीप पर बनाई गयी एलिफेंटा गुफाओं में दीवार पर विशाल आकार में उत्कीर्ण हुई है जो ७वी शती ई. में ही बनायी गयी है।

८वीं शती ई. में उत्तर गुप्त कालीन राष्ट्रकूट शासकों द्वारा बनवाये शिलाकाट मंदिर 'एलोरा' अपने उत्कृष्ट शिल्प और सौंदर्य के लिये विश्वविख्यात है। इस मंदिर समूह के लंकेश्वर मंदिर में एक अत्यंत सुंदर यमुना देवी की प्रतिमा प्रतिष्ठित है, खंडित होते हुए भी इस प्रतिमा की मूल भव्यता की कल्पना की जा सकती है। यहीं पर गंगा की भी प्रतिमा खोजी जा चुकी है जो संप्रति राष्ट्रीय संग्रहालय नयी दिल्ली की शोभा बढ़ा रही है। ये मंदिर भूतपूर्व रियासत हैदराबाद दकिन के औरंगाबाद जिले के निकट स्थित हैं तथा एक पूरी पहाड़ी शिला में से काट कर बनाये गये हैं।

गुप्त काल की मृण्मय मूर्तिकाल (पकाई मिट्टी की मूर्तिकला टैरोकोटा) भारतीय कला में अद्वितीय मानी जाती है। ५वीं शती ई. के पूर्वाद्ध में निर्मित, जिला कानपुर के भीतर गाँव में पकाई मिट्टी की ईटों से बना मंदिर अपनी जर्जरित अवस्था में भी अपनी प्राचीन भव्यता का परिचय दे रहा है। इस मंदिर के प्रवेश द्वार के बायीं ओर (मंदिर की पूर्वी दीवार पर) एक टैराकोटा पैनल में गंगा देवी को उत्कीर्ण किया गया है जिसके हाथ में चँवर है तथा दोनों पार्श्व में छोटे आकार की सेविकाएँ हैं। गंगा देवी के मुख से धड़ तक का भाग टूट चुका है। ठीक दूसरी ओर, पश्चिमी दीवार पर यमुना विषयक पैनल जड़ा हुआ है जो क्षत-विक्षत दशा में है। इसी शैली की अन्य टैराकोटा मूर्तियाँ इलाहाबाद जनपद के गढ़वा स्थित मंदिर के प्रवेश द्वार पर भी अवशिष्ट हैं। इनके अतिरिक्त जिला बरेली (उ.प्र.) के अहिच्छत्र (संप्रति रामनगर) स्थान पर छठी शती ई. में निर्मित शिव मंदिर से दो महत्वपूर्ण टैराकोटा प्लेक (पकाई मिट्टी के फलक) प्राप्त हुए हैं जिन पर मानवाकार में गंगा तथा यमुना को ऊंचे उभार में उत्कीर्ण किया गया है। दोनों प्रतिमाएँ संप्रति राष्ट्रीय संग्राहाल्य नयी दिल्ली में भारतीय कला के अध्येताओं का ध्यानाकर्षण कर रही हैं। इनके पार्श्व में उत्कीर्ण छोटे आकार के सेवक सेविकाएँ इन पर छत्र लगाये हुए हैं जिससे इनकी विशिष्टता तथा महानता का बोध होता है। दोनों देवियों ने जल कलश धारण किया हुआ है। इनकी वेशभूषा, आभूषण तथा केशप्रसाधन उत्कृष्ट गुप्त कला तथा संस्कृति की विशिष्ट देन हैं। इनके चेहरों से गम्भीर्य तथा सौम्य भाव की अनुभूति होती है जो उस काल की मथुरा मूर्ति शैली की विशेषता रही है। इनके अतिरिक्त इसी काल के मिट्टी के बर्तनों की हत्थियों पर भी गंगा व यमुना की आकृतियाँ पायी गयी हैं।

गंगा की एक अन्य उल्लेखनीय प्रतिमा, काले पत्थर में उत्कीर्ण व बारहवीं शती ई. में निर्मित किंतु भग्नावस्था में है। यह प्रतिमा विविध अलंकारों से लदी हुई है। उत्तर गुप्त युगीन शिल्प के गुणों को वहन करती हुई यह प्रतिमा राजशाही संग्रहालय ढाका (बंगला देश) में सुरक्षित है। इसी शती की एक अन्य दर्शनीय 'गंगा' प्रतिमा खिचिंग संग्रहालय-खिचिंग (मयूरभंज) उड़ीसा में संग्रहित है। दैहिक सौंदर्य, चेहरे पर मुस्कान, स्नेह व ममत्व का भाव लिये हुए तथा कलात्मक सौष्ठव से परिपूर्ण यह प्रतिमा विशेष अध्ययन की अपेक्षा करती है (भारत का मूर्ति शिल्प चार्ल्स: फैब्री चित्र. सं. ४७)

लेखक को अपनी शोध यात्रा के अंतर्गत कुल्लू मनाली से लाहुल-स्पीती घाटियों को जाते हुए रोहतांग दर्रे को पार करने पर लाहुल क्षेत्र में पट्टन की घाटी में चंद्रभागा नदी के दाहिने तट पर मिरकुल गाँव में मिरकुला देवी का मंदिर देखने को मिला जो नवीं से पंद्रहवीं शती तक बनता-बिगड़ता व बनता रहा है। इस मंदिर के गर्भ गृह की बाहरी दीवार काष्ठनिर्मित हैं किंतु कलात्मक अलंकार से भरपूर है। गर्भ गृह के द्वार पर दोनों पार्श्वों प मकरवाहिनी गंगा व कच्छपवाहिनी यमुना को उत्कीर्ण किया गया है। पुरातत्व विभाग ने इस मंदिर को अभी तक अनदेखा छोड़ रखा है।

मध्यकाल की बारहवीं शती के पश्चात् नदी-देवियों की प्रतिमा-रचना का प्रवाह एकाएक अवरुद्ध हो गया। सदियों तक कलाकार इनको प्रायः भुलाये रहे। लेखक को जिला सहारनपुर (उ.प्र.) के भित्तिचित्रों पर शोध कार्य के अंतर्गत इस जिले में स्थित भगवानपुर, मंगलौर तथा गंगोह उपनगरों के मंदिरों व हवेलियों में चार चित्र गंगा व यमुना देवी के मिले हैं जो लगभग १९वीं शती पूर्वार्द्ध में बनाये गये थे। इनको चतुर्भुजी देवी के रूप में कहीं मकर पर तो कहीं मछली पर आरुढ़ दिखाया गया है। वह प्रत्येक हाथ में एक-एक कलश लिये हुए हैं, चेहरा एक चश्म है, नाक में बहुत बड़े आकार की नथ, कानों में झुमकेदार कर्णफूल, ऊँची चोली तथा लहंगा दिखाये गये हैं जो तत्कालीन स्थानीय लोक संस्कृति तथा प्रचलित चित्रण शैली की देन हैं। १८वीं शती ई. में पंजाब के पहाड़ी क्षेत्र (बसोहली, चंबा, काँगड़ा तथा कुल्लू आदि) में बने लघु चित्रों में भी इन देवियों को रेखाओं तथा रंगों से अभिव्यक्त किया गया जो इधर-उधर संग्रहालयों में सुरक्षित हैं।

आधुनिक युग में भी इन दोनों नदियों के प्रति सम्मान तथा आस्था के ज्वलंत उदाहरण कलाकृतियों के रूप में प्रशंसा को प्राप्त हुए हैं। १९७२ ई. में निर्मित, लुधियाना (पंजाब) के एक गुलाब उद्यान में २० फीट ऊँची गंगा की प्रतिमा नगर की शोभा में अभिवृद्धि कर रही है तथा १९७९ ई. में गोबिंदगढ़ (पंजाब) के एक उद्यान में यमुना की प्रतिमा नगर में आकर्षण का केंद्र बनी हुई है। दोनों प्रतिमाएँ मूर्तिकार रामसुतार द्वारा एलोरा मूर्तिशिल्प शैली में लाल सीमेंट से बनायी गयी हैं। यहाँ उल्लेखनीय है कि नदी-देवी-प्रतिमाओं की परंपरा से प्रेरित होकर ही मध्य प्रदेश प्रशासन ने चंबल नदी पर गाँधी सागर बाँध के प्रतीकात्मक अलंकरण हेतु ४५ फीट ऊँची चम्बल देवी-प्रतिमा का निर्माण कोणार्क शिल्प शैली में १९५८ ई. में कराया था जिसकी भव्यता और विशालता से तब पंडित जवाहर लाल नेहरू भी विशेषतः प्रभावित हुए थे तथा मूर्ति के शिल्प तथा भाव-सौंदर्य को मुक्त कंठ से सराहा था। मुसलमानों कवि-चिंतकों ने भी गंगा का सम्मान किया था, उन्होंने भी गंगा भक्ति और प्रेम में हिंदू भक्तों को भी पीछे छोड़ दिया था। अबदुर्रहीम खानखाना की वंदना अलंकार तथा भावों की दृष्टि से ध्यातव्य है :

'जलं हि गांगं त्यजतामिहांगं, पुनर्नचांगं यदि वापि चांगम्।
करे रथानं शयने भुजंगं, याने विहगं चरणे च गांगम्।
सुरधुनि मुनि कन्ये, पुण्यवंतं पुनीषे,
सतरति निजं पुण्यात, तज किं ते महत्वम्।
यदि दिव यवन जातं, पापिनं माँ पुनातु,
तदिह तब महत्वम् तनमहत्वम् महत्वम्।'

नदियों के देवी या नारी रूप को जितना महत्व भारतीय कला तथा संस्कृति में प्राप्त हुआ वैसा विश्व में अन्यत्र कहीं नहीं। यहाँ की नदियाँ जन जीवन की प्राण हैं और संस्कृतियों की पोषक। इस प्रकार दोनों देव नदियाँ विविधता में एकता लिये, सभी को अपनाती हुई, सदियों की सभ्यता की परतें अपने आंचल में समेटे हुए, तट की व्यर्थ दूषित गंद को भी अपने में सहर्ष स्वीकार कर पुनः मानव

जीवन को सुख व सुगंध प्रदान करती हुई भारतीय संस्कृति और कला की पर्याय बन गयी हैं। वे तो हम सबकी माँ हैं जो अपनी संतान से प्रशंसा नहीं वरन् स्नेह तथा सम्मान की अपेक्षा करती हैं। गंगा जैसी महान नदियाँ जीवन दायिनी ही हैं। उनके बिना मानवीय जीवन सभ्यता और संस्कृति के विकास की कल्पना ही नहीं की जा सकती। आज पृथ्वी पर जो प्रदूषण बढ़ रहा है, पर्यावरण और प्रकृति का संतुलन बिगड़ रहा है उसकी रक्षा नदियों के जल को शुद्ध रख कर हो सकती है। गंगा-शुद्ध अभियान जीवन-रक्षा के हित में जन-जन का अभियान बनना चाहिए। □

तमाम सरोकारों के बावजूद

डॉ. रणजीतकुमार साहा

जब भी किसी कहानीकार का ऐसा कोई संकलन प्रकाशित होता है तो इस बात की आशंका अवश्य होती है कि क्या कथा-साहित्य की सबसे महत्वपूर्ण विधा — जो इस शताब्दी के छठे दशक में अपने उत्कर्ष पर थी — क्रमश: पतन की ओर बढ़ती जा रही है। तब सर्वश्री जैनेंद्र कुमार, अज्ञेय, अमृतलाल नागर, अमृतराय, भीष्म साहनी, निर्मल वर्मा, राजेंद्र यादव और कमलेश्वर के साथ-साथ श्रवण कुमार और उनकी पीढ़ी के तमाम कहानीकार किसी-न-किसी रूप में सक्रिय तौर पर जुड़े थे। कहानी सृजन के साथ, उसके तमाम सरोकारों, दशा, दिशा और दायित्व पर सार्थक ढंग से बहस भी होती रही थी। हिंदी के तमाम कथाकार कहानी लेखन को मात्र सृजन के स्तर पर नहीं, आंदोलन के स्तर पर ले रहे थे और इन प्रयत्नों में अपनी हिस्सेदारी बँटा रहे थे। हिस्सेदारी के इसी ऐतिहासिक साक्ष्य के तौर पर प्रतिनिधि कहानीकारों द्वारा लिखित और चर्चित कहानियों का समुच्चय या संकलन की श्रृंखला आरंभ हुई और पाठकों ने इस योजना का भरपूर स्वागत किया। लेकिन धीरे-धीरे ऐसे संकलन 'कहानी' से कहीं अधिक 'कहानीकार' को समर्पित हो गये और उन्होंने पाठकों की अपेक्षा के साथ बहुत न्याय नहीं किया। आज, आठवें दशक के अंत में, प्रतिष्ठित या प्रतिनिधि कथाकारों के नये, ताज़े और अभिनव संकलनों की अपेक्षा उनकी 'सर्वश्रेष्ठ', 'प्रतिनिधि', 'चुनी हुई', 'प्रिय' और 'चर्चित' कहानियों के संकलन कहीं-न-कहीं यह आशंका अवश्य पैदा करते हैं, कि कहानी का वर्तमान उसके 'निवर्तमान' या अतीत से कहीं दयनीय तो नहीं हो चला है। ऐसे संकलनों का महत्व इतना अवश्य है कि इससे पाठकों को किसी रचनाकार को एक विशिष्ट हस्ताक्षर के तौर पर पहचान पाने का सुयोग मिल पाता है।

श्रवणकुमार (जन्म १३ अगस्त, १९३१) की **चुनी हुई कहानियाँ**— भाग२ भी (भाग १ की ही तरह) उसी पाठकीय अपेक्षा के अनुरूप प्रकाशित हुई हैं — जिसमें उनके कथा-संसार की श्रेष्ठांश — १२ कहानियों के रूप में — संकलित है। ये कहानियाँ १९५४ से १९८६ के बीच,

---

* श्रवण कुमार की चुनी हुई कहानियाँ – २,/विनीत प्रकाशन दिल्ली-११००९१/प्रथम संस्करण १९८७, पृ. १०४, सजिल्द, डिमाई, मूल्य ३० रुपये।

लगभग तीस-पैंतीस वर्षों के दौरान लिखी गयी थीं और महत्वपूर्ण पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित हुई थीं। इस संकलन की कहानियाँ इस अर्थ में विशिष्ट हैं कि हर कहानी की कथा वस्तु अलग-अलग है। परिवेश, संदर्भ और न्यास अलग-अलग हैं। कहानीकार ने भी दबावों और तनावों के तहत अपने आपको बदला है और सच पूछा जाय तो इन कहानियों को उसकी अप्रत्यक्ष लचीली पात्रता और पारदर्शिता ही— महत्वपूर्ण बनाती है। वह अपने और पाठक के अनुभव के बीच जो सेतु रचता है, वह कहीं भी आरोपित-सा नहीं लगता।

संकलन की सभी कहानियाँ पठनीय हैं और रचनाकार के सरोकार से रेखांकित हैं। 'जंगल' में प्रतीकात्मक ढंग से, 'विरोध' में पीली पत्रकारिता के नज़रिये से, 'कहकहे' और 'बवण्डर' में व्यंग्य के तौर पर, 'खंडहर' और 'चेहरे में विडम्बनापूर्ण यथार्थवादी दृष्टि से, 'मामूली लोग' और 'डायन' में देश को बँटवारे के दंश और 'धब्बा' में पिछड़े और सवर्ण के बीच के द्वन्द्व को कहानीकार की आँखों से देखा जा सकता है। 'भिखमंगे' कहानीकार की आरंभिक कहानियों (रचना काल १९५४) में से एक है लेकिन कृतिधर्मिता के साथ-साथ वह कहानी आज भी, आम रचनाकार की अभिशत चर्या का बड़ा ही मार्मिक और त्रासदायक हवाला सामने रखती है।

इन हवालों को आत्मनिष्ठ ढंग से अंकित करता हुआ, कहानीकार सामयिक या तात्कालिक तौर पर अपने कथा-मर्म से जुड़ा प्रतीत होता है लेकिन कहानी की संरचना जैसे ही समाप्त होती है— वह उससे परे हो जाता है और बड़े ही उन्मुक्त और असम्बद्ध भाव से अपना व्यक्तव्य रखता है। उदाहरण के लिए 'नहीं, यह कोई कहानी नहीं' में एक पत्रकार के रूप में वह शरबतिया के रूप में एक ऐसी पात्रा को पा लेता है जो संघर्ष को आँच दे सकती है और समय, समाज और सत्ता को झिंझोड़ सकती है। लेकिन कहानी को कहानी के मर्म तक सीमित रखने के आग्रह और हस्तक्षेप के लिए उठे हाथ के कलम हो जाने के भय ने प्रस्तुत कहानीकार के दायित्व की इतिश्री इस पंक्ति के साथ कर दी है कि 'बड़े अधिकारियों के बीच में पड़ने से वह (बात) टल गयी।' (पृ. १६)

इसी तरह 'बवंडर' कहानी में दफ्तर के चपरासी पर टिप्पणी करता हुआ लेखक इस मामले में अवश्य ही चूक जाता है, जब वह अपनी रौ में लिख जाता है, 'चपरासी को खुश करने का मेरे पास एक ही तरीका है कि मैं हर महीने कुछ इनाम देता रहूँ X X X 'शायद चपरासी बीड़ी पीते-पीते कुर्सी में अधलेटा-सा' 'जय रामजी' कह दे। कभी-कभी वह कह भी देता है। उस समय मेरे अहम को बड़ी ढाढ़स बँधती है।' (पृ. ६६, ६७)

अगर ये छोटी-छोटी टिप्पणियाँ किसी दफ्तरी बाबू की मानसिकता को द्योतित करती हैं तो ऐसा नहीं है कि कहानीकार का विरोध उसमें सम्मिलित नहीं है। लेकिन यह विरोध अपने अधीनस्थ जनों के प्रति तो मुखर है... उन लोगों के प्रति लेखक कठोर नहीं हो पाता जो 'यथास्थिति' बनाये हुए हैं। तब यह आशंका बलवती हो उठती है कि कहानीकार का संघर्ष— आत्म संघर्ष तक ही सीमित नहीं। वह किसी बड़ी लड़ाई के लिए तैयार भी है या सिर्फ़ ऐसा ठहाका लगाने के इंतज़ार में है,... "जिससे दरो-दीवार हिल जायें... जिससे भूकंप आ जाये।" (पृ. ६९)

तब, क्या लेखक स्वयं इस स्थिति में होगा कि भूकंप से अपनी रक्षा कर पायेगा। कहानीकार ने स्थितियों की विडम्बना को अपनी समझ से पहले तो विकसित किया हैं और फिर व्यापक संदर्भ में कुछ इस तरह निरुपित किया है, जो न केवल प्रवंचना का पर्याय है बल्कि अपनी खाल बचाते हुए, अपना वक्तव्य इस रूप में रखा है :

"सच सच कहूँ... तो पर सच होता भी क्या है? सच और झूठ के बीच अब अंतर रह भी कितना गया है? वैसे हर सिक्के के दो पहलू होते हैं। पर अब गलत पहलू को सही पहलू साबित करना

उतना मुश्किल नहीं रह गया है।'' (पृ. ८९)

यही बात, एक प्रस्ताव की शक्ल में, प्रकारांतर से, 'बवंडर' कहानी में कही गयी है :

''इतने बड़े-बड़े महाविद्यालय और विश्वविद्यालय में पढ़ने को कोई ज़रूरत नहीं। केवल थोड़ा-सा सत्य का अर्थ बदलिए या अंत:करण को किसी गड्ढे में दफ़ना दीजिये और देखिये अपनी करामात का कमाल। इससे लिया.. उसको दिया। थोड़े-थोड़े में ही एक दिन क्रम बँध जायेगा। हूलाहूप की तरह।'' (पृ. ६६)

समीक्ष्य संकलन यह विश्वास पैदा करने में सक्षम है कि श्रवणकुमार अकारण या बैठे-ठाले कहानियाँ नहीं लिखते, अपने समय की विडंबनाओं और विरोधाभासों को वे स्तर देते रहे हैं। उनकी कहानियों की एक स्पष्ट पृष्ठभूमि होती हैं जिसमें वे अपने अनुभव (जो सौभाग्य से अमूर्त या अबूझ नहीं) पाठक के साथ मिल-बाँटकर समृद्ध करते हैं। लेकिन एकाध कहानी (धब्बा और डायन) को छोड़कर उनका रचनात्मक तेवर या अहम, अपने स्पष्ट वक्तव्य या संकेतों के बावजूद, अनिवार्य तौर पर अनुपस्थित रहता है। इसलिये स्थितियाँ जैसी भी हैं अनगढ़, प्रतिकूल या बेमानी — वे अपनी तरफ़ से उन्हें रँगने-पोतने का उपक्रम नहीं करते। इसलिए कथानक का ढाँचा बेतरतीब है, पात्रों की जुबान लड़खड़ा रही है या फिर किसी झटके या धचके के साथ तमाम सिलसिले किसी गढ़े में औंधे मुँह रपट जाते हैं — इसकी परवाह कहानीकार नहीं करता। दूसरे शब्दों में, किसी नाटकीय प्रभाव या अन्विति की विशिष्ट या अतिरिक्त रक्षा का आग्रह इन कहानियों में नहीं है। फलत: कहानी पाठक को साथ लिए, उतनी ही रफ्तार के साथ चलती है, जितनी कि ज़रूरी है। ऐसा नहीं है कि लेखक कहानी की प्रभावान्विति के प्रति लापरवाह है लेक़िन वह उसे किसी 'बिजली के झटके' में तब्दील करना नहीं चाहता।

श्रवणकुमार अनावश्यक 'डिटेल्स' में भी नहीं जाते। वे पात्र और परिवेश की पहचान मुहय्या कराने के बाद, हट जाते हैं। शायद इसलिए कि कहानी अपनी 'बात' कह सके। विवरण की बारीकियाँ या व्यक्ति या पात्र-चित्रण के नाम पर 'नख-सिख' वर्णन कहानी को कहानी नहीं रहने देते। ऐसे पात्र या स्थान विशेष के 'सर्वे' या अंकन से कहानीकार ने अपनी कहानियों को बचाया है। वे दो स्थिर-चित्रों या पारदर्शियों, परिस्थितियों या कालखण्डों के बीच पर्याप्त 'स्पेस' रखते हैं। उसकी न तो कोई मुद्रा है और न उधार का मुखौटा। दूसरे शब्दों में, हम कह सकते हैं कि वह जितना अपनी तरफ़ से जोड़ते नहीं, उससे कहीं ज्यादा अपने को कलात्मक ढंग से नियंत्रित रखते हैं। साथ ही, पाठकों की सक्रिय भागेदारी को आमंत्रित करते चलते हैं ताकि अपने-अपने ढंग से, और अपने अर्जित जीवनानुभव और ज़रूरत के अनुरूप वे रंग और बोध भर सकें। अपने अनुभव के बूते पर स्थितियों का दंश झेलने वाले कहानीकार के विवरण... वक्तव्य... संघर्ष... तिरस्कार में ही नहीं, उसके ठहाके और कहकहे में भी शामिल हो सकें। 'खंडहर', 'डायन' और 'चेहरे' जैसी कहानियों में यह गुंजाइश थी कि कहानीकार पाठकों के मन में अतिरिक्त संवेदना या सहानुभूति का उद्रेक पैदा करे। लेकिन दो अलग-अलग ध्रुवांत की कहानियों में कहानीकार भरसक तटस्थ बना रहता है। वह किसी मामले या नतीजे की तरफ़दारी नहीं करता लेकिन बदलाव का संकेत अवश्य देता चलता है। यही विवेक और सरोकार इन कहानियों को अधिक पठनीय और विश्वसनीय बनाते हैं। 'चेहरे' की नायिका — जो एक स्टेनोग्राफ़र है — बस में अभद्र मर्दाना ठहाके और ठहाकों के बीच में शालीन बनी रहती है। लेकिन 'भीड़ के घने जंगल को चीरती और शरीर के कई भागों में तरह-तरह के दबाव सहती' जब वह बस से उतरती है तो किसी की फ़बती (व्हाट ए प्रिटी फ़ेस) के जवाब में वह यह तय ज़रूर करती है कि 'इन चेहरों को अब बिना अधिक समय खोये बदलना होगा... नहीं तो...' (पृ. ८३)

दरअसल संकलित कहानियों में संयोजित स्थितियाँ फूहड़ हैं, करुण हैं और कुरूप भी, लेकिन कहानीकार जहाँ-जहाँ उनसे टकराता है, वह सामान्य नहीं रह पाता। उसका विवेक उसे अपमानित और लांछित ही करता है। जहाँ वह 'व्यक्ति' से हटकर किसी पात्र में अपना निवेश या 'परकाय प्रवेश' करता है वहाँ उसकी स्थिति और भी बदतर हो जाती है — चाहे वह 'मामूली लोग' या 'डायन' की बुढ़िया हो या, 'नहीं यह कहानी नहीं' की शरबतिया। ये सब की सब ले-देकर कुत्ते से भी बदतर ज़िंदगी जी रही हैं। लेकिन जुगुप्सा या करुणा पैदा करने की अपेक्षा प्रस्तुत कहानीकार ने सामाजिक संबंधों और संदर्भों की विडंबनाओं को रेखांकित किया है। और कोई भी कहानीकार अगर अन्यथा किसी बहस या आंदोलन में शामिल नहीं है तो इससे ज़्यादा कुछ कर भी नहीं सकता, अपनी उपस्थिति और अपनी ढेर सारी कहानियों के बावजूद।

□

पत्र-पत्रांश

''गगनांचल' का वर्ष १०, अंक २, १९८७ अंक प्राप्त हुआ। सामग्री चयन, मुद्रण और आवरण सज्जा हर दृष्टि से अंक सुंदर और उपयोगी है। अज्ञेय जी पर संपादकीय टिप्पणी तथा अन्य सामग्री उस विधा प्रवर्तक मनीषी के प्रति सच्ची श्रद्धांजलि है।

डॉ. प्रभात शास्त्री/प्रधानमंत्री, हिंदी साहित्य सम्मेलन/इलाहाबाद-३

''गगनांचल'' का अद्यतन अंक सामने है। अनेक रचनाओं में वस्तुवादी चेतना का गहन स्वरूप देखने में आता है तथा शुरू से अंत तक पठनीय सामग्री पाठक की क्षुधातृप्ति करती है। विश्वास है अगले अंकों में भी इसी भाँति रचनाधर्मिता का निर्वाह आप करते रहेंगे।

शंकर दयाल सिंह/कामता सदन/बोरिंग रोड/ पटना

''गगनांचल'' पहले से ही एक स्तरीय पत्रिका थी, लेकिन जबसे आप इसका संपादन करने लगे हैं, इसमें और निखार आया है और अब मुझे यह साहित्य एवं संस्कृति की एक संपूर्ण पत्रिका लगने लगी है। लगता है आपके मन में भी ऐसी ही पत्रिका की अवधारणा है जो एक ओर तो साहित्य की विविध विधाओं का प्रतिनिधित्व करे तो दूसरी ओर संस्कृति के विभिन्न पक्षों पर विचारपरक एवं शोधपरक दृष्टि से चिंतकों, विचारकों एवं लेखकों के मंतव्यों एवं निष्कर्षो को सामने लाए और बहस का एक मंच बन सके। हर अंक में भरपूर सामग्री मिलती है।

अंक तीन को ही लें। 'कहाँ थी कृष्ण की द्वारिका' (क्षमा करें शब्द 'द्वारका' है न कि द्वारिका, इसी तरह से 'मौसल पर्व' है न कि 'मौषल पर्व'), शब्दों को जाने दें तो द्वारका के इतिहास पर नयी नज़र से सोचने को प्रेरित करता है। गुणाकर मुले का यह लेख हो या फिर कैलाश वाजपेयी का 'आदमी की संपूर्णता का संदेश', कृष्ण को नए आलोक में देखने की कामना है और साथ ही खुद के इतिहास को विज्ञान एवं दर्शन की आँख से देखने की लालसा। आज के किसी भी बुद्धिजीवी की यही भूख है।

रूसी कहानी 'भूमि के भीतर वह भयावह दुर्ग' मन को गहरे चीर जाती है। नाज़ियों की बर्बरता की दास्तानें पहले भी पढ़ी हैं, इतिहास का हिस्सा बन जाने के बावजूद यह दास्तान रोम-रोम में सुइयों सी चुभती है। ऊब और आतंक के माहौल को कहानीकार ने इतनी सहजता से खड़ा किया है कि आदमी

खुद को कहीं बीच में पाता है। दहशत खाता है। कुछ अरसा हुआ सार्त्र की एक कहानी पढ़ी थी 'दि वाल' (दीवार), उसने कई दिन सोने नहीं दिया। इसी तरह से लियोन यूरिस का उपन्यास 'एम्जोड्स' आज भी परेशान करता है। सर्गेई स्मिर्नोव की यह कहानी भी यही एहसास ज़िंदा रखेगी। आदमी अपनी सारी संस्कृति और सभ्यता के बावजूद कितना क्रूर हो सकता है। यह आदिम आग कब तक ज़िंदा रहेगी उसके अदर। पता नहीं।

डॉ. नरेंद्र मोहन का आलेख 'लोक संस्कृति से लोक-गाथा-गीत तक' 'लोक-गाथा-गीत' के बहाने संस्कृति की समझ पैदा करने की कोशिश करता है।

हाँ! इस अंक की कविताएँ बहुत पसंद नहीं आयीं।

प्रताप सहगल/एफ-१०१/राजौरी गार्डन/नई दिल्ली-२७

इस अंक के लेखक

अमृतराय — प्रख्यात लेखक एवं गहन विचारक। बहु-आयामी प्रतिभा। गद्य की लगभग सभी विधाओं में सर्जनात्मक एवं चिंतन-प्रधान समर्थ लेखन। उपन्यास, कहानी, आलोचना, रेखाचित्र, जीवनी, सामाजिक व्यंग्य, नाटक, अनुवाद, व्यक्ति-लेख की ३० से अधिक उल्लेखनीय कृतियाँ। साहित्य की प्रगतिशीलधारा के अग्रणी उन्नायक। प्रेमचंद की परंपरा को आगे बढ़ाते हुए 'हंस' मासिक पत्रिका को १९४०-५० के बीच नव-लेखन का प्रतिनिधि मंच बनाने का महत्वपूर्ण संपादन कार्य। 'प्रेमचंद : कलम का सिपाही' (जीवनी), बीज, सुख दुख, धुंआ, सरगम, आदि-विद्रोही जैसी प्रसिद्ध कृतियाँ। 'नेहरू फेलोशिप' के अंतर्गत अंग्रेजी में मौलिक गवेषणापूर्ण कार्य।
पता — बी-१८, न्याय मार्ग, इलाहाबाद (उ.प्र.)।

डॉ. नगेंद्र — आधुनिक हिंदी साहित्य के वरिष्ठतम आलोचक। इतिहासकार, शिक्षाविद्, गद्यशैलीकार। पचास से अधिक मानक कृतियों के प्रणेता। अंग्रेजी साहित्य के मूर्धन्य विद्वान। हिंदी कविता पर अंग्रेजी में अनेक पुस्तकों का संपादन। आकाशवाणी और बाद में दिल्ली विश्वविद्यालय के महत्वपूर्ण पदों पर रहने के बाद निवृतमान हिंदी विभागाध्यक्ष। प्रोफेसर 'एमेरिट्स'।
पता — १६६ वैशाली, पीतमपुरा, दिल्ली।

डॉ. रामेश्वर शुक्ल 'अंचल' — छायावादोत्तर काल के प्रख्यात कवि, कथाकार, आलोचक, चिंतक। चौथे दशक में नव-रोमानी एवं सामाजिक चेतना के संवाहक, शिक्षाविद्। नई प्रगीत विधा में अमूल्य योगदान।
संप्रति : सभापति, हिंदी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग।
पता — पचपैढ़ी, दक्षिणी सिविल लाइंस, जबलपुर (म.प्र.)।

डॉ. निर्मला जैन — आधुनिक हिंदी साहित्य की मान्य विदुषी। प्रतिष्ठित आलोचक, इतिहासकार एवं शिक्षाशास्त्री। एम.ए., पी-एच.डी., 'रस-सिद्धांत' पर डी.लिट्.। दिल्ली विश्वविद्यालय के दक्षिणी परिसर में हिंदी विभाग की प्रोफेसर। भाषा एवं साहित्य संबंधी अनेक राष्ट्रीय/अंतर्राष्ट्रीय आयोजनों में महत्वपूर्ण योगदान। उत्तरप्रदेश, मध्यप्रदेश, महिला लेखन मंच 'रचना' (कलकत्ता) एवं सोवियत लैण्ड नेहरू पुरस्कार से समादृत।
पता — २४/८, माल रोड, दिल्ली-७।

डॉ. प्रभाकर माचवे	आधुनिक हिंदी प्रयोगवादी कविता के मूर्धन्य हस्ताक्षर। बहुआयामी प्रतिभा के धनी। प्रख्यात कवि, आलोचक, कथाकार, व्यंग्यकार। बहुभाषाविद्। चित्रकार। दर्शनशास्त्र, अंग्रेजी साहित्य, हिंदी, संस्कृत तथा मराठी साहित्य के अधिकारी विद्वान। आकाशवाणी में कार्य। 'साहित्य अकादमी' के पूर्व सचिव। संघ लोक सेवा आयोग एवं भारतीय भाषा परिषद्, कलकत्ता के पूर्व हिंदी निदेशक। पता—ई/१८०, ग्रेटर कैलाश-२, नई दिल्ली-४८.
डॉ. रामजी पांडेय	सुपरिचित कवि, आलोचक, निबंध लेखक। हिंदुस्तानी एकेडमी, इलाहाबाद के उपसचिव। महादेवी जी की स्मृति में नवगठित 'साहित्यकार सहकार न्यास' के सचिव। पता — सी १७, अशोक नगर, इलाहाबाद (उ.प्र.)।
डॉ. जगदीश गुप्त	'नई कविता' के प्रसिद्ध कवि, आलोचक, मनीषी साहित्यकार तथा अत्यंत सिद्धहस्त चित्रकार। छठे दशक में 'नई कविता' आंदोलन के सूत्रधारों में प्रमुख भूमिका। पुरातत्व में विशेष रुचि और बहुमूल्य निजी संग्रहालय का निर्माण। निवृतमान प्रोफेसर, हिंदी विभाग, प्रयाग विश्वविद्यालय। संप्रति : सचिव, हिंदुस्तानी, अकादमी, इलाहाबाद। पता — १८१-ए/१, नागवासुकि, दारागंज, इलाहाबाद।
जगदीशप्रसाद चतुर्वेदी	हिंदी के वरिष्ठ पत्रकार। जनसंचार विशेषज्ञ। पिछले ४५ वर्षों से स्वतंत्र लेखन। भारतीय पत्रकार संघ के अध्यक्ष रहे। फीजी, मारीशस, बर्मा तथा अन्य देशों की समय-समय पर यात्राएँ और वहाँ के साहित्य पर महत्वपूर्ण कार्य। पत्रकारिता द्वारा हिंदी के प्रमुख उन्नायकों में। पता — ५५, काका नगर, नई दिल्ली।
प्रताप सहगल	समकालीन पीढ़ी के सुपरिचित कवि, समीक्षक, नाटककार। प्रस्तुत नाटक 'अन्वेषक' भारत के अमर वैज्ञानिक आर्यभट्ट के मौलिक अवदान पर पहला रचनात्मक प्रयास। तीन कविता-संग्रह। पाँच नाटक, जिनका सफल मंचन हुआ।
श्रवण कुमार	सुपरिचित कथाकार, उपन्यासकार एवं निबंधकार। जनसंचार माध्यमों के विशेषज्ञ। संप्रति : निदेशक, हिंदी विभाग, रक्षा मंत्रालय, नई दिल्ली। पता — ४-सी, पॉकेट-बी, फेज़-२, एस.एफ.एच. फ्लैट्स, मयूर विहार, दिल्ली-९१।
डॉ. शेरजंग गर्ग	हिंदी की नई पीढ़ी के लोकप्रिय कवि। दस पुस्तकों के प्रणेता। 'आधुनिक हिंदी कविता में व्यंग्य' पर विशेष शोध। एम.ए., पी-एच.डी। संप्रति : उपप्रबंधक (हिंदी), भारत हैवी इलेक्ट्रीकल्स लिमिटेड, अशोक इस्टेट, बाराखंबा रोड, नई दिल्ली। पता — जी-२६१/ए, सेक्टर-२२, नोएडा (उ.प्र.)।

प्रणकुमार बंदोपाध्याय — आधुनिक हिंदी कविता की नई पीढ़ी के सुपरिचित कवि एवं कहानीकार। हिंदी, अंग्रेजी, बंगला में समान रूप से गति। दिल्ली में हिंदी अध्यापन। सात काव्य-संकलनों के प्रणेता। एशिया, अफ्रीका, यूरोप, उत्तरी तथा दक्षिणी अमेरिका की अनेक यात्राएँ।
पता — डी-२४०, सर्वोदय एन्कलेव, नई दिल्ली-१७.

अनूप अशेष — युवा पीढ़ी के सुपरिचित गीतकार। नवगीत में आधुनिक संवेदना और सामाजिकता की ताज़ी अभिव्यक्ति। दो कविता संकलन एवं काव्य-नाटकों के रचयिता।
संप्रति : 'सहभूमि विकास बैंक', सतना (म.प्र.) में मैनेजर।
पता — द्वारा अतुल मेडिकल स्टोर, हॉस्पीटल रोड, सतना।

राजेंद्र उपाध्याय — नई पीढ़ी के कवि, समीक्षक, पत्रकार। समकालीन हिंदी कविता पर आलोचनात्मक लेखन। सह-संपादक प्रकाशन विभाग, भारत सरकार, पटियाला हाउस, नई दिल्ली।

डॉ. दिनेशचंद्र अग्रवाल — प्राचीन मिथक, भारतीय प्रतीकों, चित्रकारी, रेखांकन, सांस्कृतिक परंपरा, उत्सवों आदि के विद्वान लेखक। रीडर, जे.बी. जैन कालेज, सहारनपुर।

गुणाकर मुले — वैज्ञानिक विषयों के प्रसिद्ध लेखक। भारत के प्राचीन गणित, खगोलशास्त्र, नक्षत्रगणना, वास्तुशिल्प, धातुकर्म, रसायन, पुरावशेषों आदि में पारंगत विद्वान। वेद, उपनिषद्, संस्कृत वांग्मय का गहन अनुशीलन। प्राचीन सांस्कृतिक परंपराओं का आधुनिक अवधारणाओं के संदर्भ में वैज्ञानिक विश्लेषण का महत्वपूर्ण कार्य।
पता — 'अमरावती', सी-२१०, पांडवनगर, दिल्ली-९२।

डॉ. रणजीत कुमार साहा — सुपरिचित लेखक, आलोचक, निबंधकार। संस्कृत, बंगला के समर्थ विद्वान।
प्रकाशित कृतियाँ — सहजसिद्ध : साधना एवं सर्जना, श्रीरास, किरंतन, (संपादित) मृत्युंजय (ज्ञानपीठ पुरस्कार से सम्मानित असमिया उपन्यास का अनुवाद) विश्व भारती, शांति निकेतन में लगभग एक दशक तक शोध कार्य एवं हिंदी अध्यापन। फिर दिल्ली विश्वविद्यालय के एसोशिएट।
संप्रति : सहायक-संपादक साहित्य अकादमी, नयी दिल्ली।